भारतीय दर्शन

एम.ए. संस्कृत (पूर्वार्द्ध)

njLFk f'k{kk funs'kky;
egf"kZ n;kuUn fo'ofo|ky;
jksgrd&124 001

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय-सूची

पाठ्यक्रम एम०ए० (प्रथम वर्ष)

संस्कृत

भारतीय दर्शन ः(द्वितीय पत्र)

पूर्णांक : १००

इकाई : एक	तर्कसंग्रह	अंक : २०
इकाई : दो	सांख्यकारिका (१ से २१ कारिका)	अंक : २०
इकाई : तीन	सांख्यकारिका (२२ से अन्त तक़)	अंक : २०
इकाई : चार	अर्थसंग्रह	अंक : २०
इकाई : पाँच	वेदान्तसार	अंक : २०

दिशा निर्देश :-

१. प्रथम इकाई से चार व्याख्याएँ पूछी जायेंगी जिनमें से दो करनी होंगी।

२. द्वितीय और ततीय इकाई से चार कारिकाओं की व्याख्या तथा दो प्रश्न पूछे जायेंगे जिसमें से दो कारिकाओं की व्याख्या तथा एक प्रश्न का उत्तर देना होगा।

३. चतुर्थ इकाई में से दो प्रश्न पूछे जायेंगे जिनमें से एक का उत्तर देना होगा।

४. पचम इकाई से चार व्याख्यायें पूछी जायेंगी जिनमें से दो करनी होंगी।

नोट :– *२० अंक का उत्तर संस्कृत भाषा के माध्यम से लिखना अनिवार्य है।*

तर्कसंग्रह

भूमिका

न्याय का अर्थ :- न्याय दर्शन पद में न्याय शब्द का अर्थ है अनुमान। 'न निर्णीते अर्थे न्यायः प्रवर्तते अपितु सन्दिग्धे' इस पंक्ति से इस पद के अनुमान अर्थ होने का ही बोध होता है। न्यायशास्त्र के अन्तर्गत इसके द्वारा स्वीकृत प्रमाणादि षोडश पदार्थों में से प्रथम पदार्थ प्रमाण का ही विस्तत विवेचन हुआ है। प्रमाणों में भी अनुमान प्रमाण का विवेचन बहुत विस्तार से हुआ है। अनुमान प्रमाण के विस्तत विवेचन के कारण ही न्याय दर्शन भारतीय तर्कशास्त्र का आधार माना जाता है।

वैशेषिक का अर्थ :– विशेष की परिकल्पना से सम्बद्ध होने के कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक पड़ा है। वस्तुतः वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता आचार्य कणाद परमाणु सिद्धान्त के प्रथम प्रतिपादक माने जाते हैं। सर्वप्रथम उन्होंने ही अखण्डनीय कण परमाणु की परिकल्पना प्रस्तुत की। इस परिकल्पना को प्रस्तुत करते हुए आचार्य कणाद के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि जब सबसे लघु अखण्डनीय कण परमाणु ही मूल कण हैं तब उनसे बनने वाली सष्टि में भेद कैसे होता है ? क्योंकि जगत् के अन्तिम अखण्डनीय मूल कण परस्पर भिन्न नहीं हो सकते। पुनः उन्हीं अणुओं से पथिवी, उन्हीं से जल तथा उन्हीं से अग्नि आदि भिन्न द्रव्यों की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य कणाद ने विशेष पदार्थ को प्रस्तुत किया और यह बताया कि परमाणुओं में विशेष नाम का नित्य पदार्थ रहता है। पथिवी के परमाणुओं में पथिवी विशेष, जल के परमाणुओं में जल विशेष रहता है। अतः पार्थिव परमाणु पथिवी की ही उत्पत्ति करते हैं, जल की नहीं। ऐसे ही जलीय परमाणुओं से जल ही उत्पन्न होता है पथिवी नहीं। इस प्रकार विशेष पदार्थ की सैद्धान्तिक परिकल्पना के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक है।

तर्कसंग्रह का अर्थ :– तर्कसंग्रह न्याय वैशेषिक परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यहाँ तर्क शब्द का अर्थ है द्रव्यादि सप्त पदार्थ – तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति तर्काः द्रव्यादिसप्तपदार्थाः। न्याय में तर्क शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं। इस शब्द का उक्त अर्थ जो यहां दिया गया है वह असाधारण है। संग्रह शब्द यह संक्षेप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वाक्य–विवत्ति के अनुसार संग्रह के अन्तर्गत उद्देश, लक्षण और परीक्षा आते हैं। उद्देश का अर्थ है परिगणन। किसी पदार्थ के असाधारण धर्म का कथन उसका लक्षण कहलाता है तथा लक्षित पदार्थ में लक्षण ठीक ठीक बैठता है अथवा नहीं इस प्रकार का विचार करना परीक्षा कहलाती है।

इस प्रकार तर्क संग्रह का अर्थ है द्रव्यादि सप्त पदार्थों के परिगणन के साथ उनके लक्षण तथा उन लक्षणों की परीक्षा का संक्षिप्त रूप से प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ।

यह ग्रन्थ न्याय वैशेषिक का प्रकरण ग्रन्थ है। प्रकरण की परिभाषा इस प्रकार की गई है :–

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।

अर्थात् 'शास्त्र के अंश से सम्बद्ध तथा शास्त्र के (विशिष्ट) विषय के अन्दर स्थित (ग्रन्थ) को विद्वान् लोग प्रकरण नामक ग्रन्थ का भेद कहते हैं।' इस परिभाषा के अनुसार 'प्रकरण' सम्पूर्ण शास्त्र के विषय से सम्बद्ध न होकर उसके किसी विशिष्ट विषय से सम्बद्ध होना चाहिए। 'प्रकरण' शब्द जब ग्रन्थ के अंग के अर्थ में आता है तब तो सदैव ऐसा ही होता है किन्तु जब यह स्वतन्त्र ग्रन्थ के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो हम सदैव उसमें शास्त्र के एक ही विषय का विवेचन प्राप्त नहीं करते। कुछ प्रकरण तो अवश्य ऐसे पाये जाते हैं जहाँ शास्त्र के एक ही विषय का निरूपण है, जैसे शंकराचार्यकृत 'पचीकरणप्रक्रिया', किन्तु अधिकांश प्रकरण–गन्थ ऐसे हैं जिनमें शास्त्र के सम्पूर्ण विषयों का संक्षेप में विवेचन है। न्याय–वैशेषिक के सप्तपदार्थी, तर्कभाषा, तर्कसंग्रह आदि ग्रन्थ ऐसे ही हैं।

न्याय वैषेशिक परम्परा :– न्याय वैशेषिक परम्परा के प्रथम आचार्य कणाद हैं। इनकी प्राचीनता के विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। वे वैशेषिक सूत्रों के रचनाकार हैं। इनका अपर नाम कणभक्ष भी माना जाता है। संभवतः क्षेत्रों में बिखरे हुए धान्यकणों के संग्रह से अपनी भोजन व्यवस्था करने के कारण अथवा कण अर्थात् परमाणु सिद्धान्त के प्रणेता होने के कारण इनका नाम कणाद पड़ा। पदार्थों के अन्तर्गत विशेष की परिकल्पना करने के कारण इनके दर्शन का नाम वैशषिक पड़ा।

इस परम्परा के दूसरे प्राचीन आचार्य गौतम हैं। जो मेधातिथि गौतम या अक्षपाद गौतम के नाम से जाने जाते हैं। इनका समय ई० पू० ५०० से ३०० ई० के मध्य माना जाता है। ये न्याय सूत्रों के प्रणेता हैं।

अगले आचार्य, वात्स्यायन हैं। इनका समय ३०० ई० माना जाता है। इन्होंने गौतम के न्यायसूत्रों पर भाष्य लिखा है जो वात्स्यायन भाष्य नाम से प्रसिद्ध है।

इस परम्परा में अगले आचार्य, प्रशस्तपाद हैं। इनका समय चतुर्थ शताब्दी है। इन्होंने वैशेषिक सिद्धान्त पर पदार्थं धर्म संग्रह नाम का स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है।

आचार्य प्रशस्तपाद के बाद उघोतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त, भासर्वज्ञ, व्योम शिव, श्रीधर, उदयनाचार्य, केशव मिश्र, गङ्गेशोपाध्याय, शंकर मिश्र, गोपीनाथ ठक्कुर, लौगाक्षिभास्कर, गदाधर भट्टाचार्य, जयराम पचानन, विश्वनाथ पचानन तथा अन्नम्भट्ट आदि विद्वान् इस परम्परा के प्रमुख आचार्य हुये हैं। आचार्य अन्नम्भट्ट तर्कसग्रह के प्रणेता हैं। इनका समय १६२५ से १७०० ई० माना जाता है। तर्क संग्रह पर आचार्य अन्नम्भट्ट ने ही 'तत्त्वदीपिका' नामक महत्त्वपूर्ण टीका भी लिखी है।.

प्रमुख विवेचनीय विषय

१. पदार्थ

२. सष्टि और संहार

३. ईश्वर की सिद्धि

४. ज्ञान

५. कारण

६. प्रत्यक्ष प्रमाण

७. षड्विध संन्निकर्ष

८. अनुमान-प्रमाण

९. हेत्वाभास

१०. शब्द-प्रमाण

११. प्रामाण्यवाद

१२. अभाव

१३. जीवन का चरम लक्ष्य

१. पदार्थ

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव–ये सात पदार्थ हैं।

दीपिका में पदार्थ का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति पर आधारित है। पद का अर्थ पदार्थ है–पदस्य अर्थः। इसे ही दूसरे शब्दों में कह सकते हैं–अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षम्। अर्थ उसे कहते हैं जिसके प्रति इन्द्रियाँ गतिशील होती हैं–ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सः। सिद्धान्तचन्द्रोदय में पदार्थ को 'ज्ञेयत्व' द्वारा और सप्तपदार्थी में 'प्रमितिविषयत्व' द्वारा कहा गया है। वस्तुतः जो पदार्थ ज्ञेय होगा वह अभिधेय भी होगा ही।

हम देखते हैं कि सभी दर्शनकारों ने पदार्थों की भिन्न–भिन्न संख्या मानी है। गौतम ने १६ पदार्थ माने, वेदान्तियों ने चित् और अचित् दो पदार्थ माने, रामानुज ने उनमें एक ईश्वर और जोड़ दिया। सांख्यदर्शन में २५ तत्त्व हैं और मीमांसकों में ८। वस्तुतः इन सभी दर्शनों में 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किसी एक विशिष्ट अर्थ में नहीं किया गया, प्रत्युत उन सभी विषयों का, जिनका विवेचन तत्तत् दर्शनों में है, पदार्थ नाम दे दिया गया।

दीपिका में यहां इस विषय का भी विवेचन है कि यहां सप्त शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। इस पर उत्तर दिया गया है कि यहां सप्त का ग्रहण अधिक पदार्थों की संभावना का निषेध करने के लिये है। वस्तुतः वैशेषिक दर्शन में छः और गौतम दर्शन में १६ पदार्थ थे। कणाद के बतलाये गये छः पदार्थों में परवर्ती टीकाकारों ने अभाव और जोड़ दिया। दीपिका में अन्त में गौतम द्वारा दिये गये १६ पदार्थों का भी सप्त पदार्थों में ही अन्तर्भाव किया गया है। न्यायबोधिनी टीका में यह शंका

उठाई गई है कि शक्ति को भी अष्टम पदार्थ क्यों न मान लिया जाये। मणि विशेष के रहने पर ईंधन के पास अग्नि रखने पर भी दाह नहीं होगा और मणि न होने पर दाहानुकूल शक्ति उत्पन्न हो जाती है अतः शक्ति भी एक अष्टम पदार्थ है। इसका उत्तर यह है कि मणि का अभाव ही दाह का कारण है और यदि मणि के संयोंग और वियोग को पदार्थ मानें, तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिये पदार्थ सात ही हैं।

उन (पदार्थों) में पथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन – ये नौ ही द्रव्य हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में दीपिका और न्यायबोधिनी दोनों टीकाओं में यह प्रश्न उठाया गया है तक क्या तमस् दसवां द्रव्य नहीं है ? द्रव्य में गुण और क्रिया आवश्यक मानी गई हैं। ये दोनों तमस् में हैं क्योंकि 'नील तम चलता है'–यहां नील गुण और गति क्रिया दोनों का आश्रय तमस् को माना है। तमस् का रूप है अतः यह अन्तिम पांच (आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन) में तो अन्तर्भूत नहीं हो सकता क्योंकि वे पांचों तो रूप रहित हैं। इसी कारण तमस् वायु भी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त तमस् में स्पर्श भी नहीं है और न निरन्तर गति ही है इसलिए भी उसका वायु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि इसका रूप भास्वर नहीं है और न ही इसका स्पर्श उष्ण है, अतः यह तेज भी नहीं हो सकता। इसका वर्ण नील है और इसका स्पर्श शीत भी नहीं है, अतः यह जल भी नहीं हो सकता। इसमें न गन्ध है न स्पर्श, अतः यह पथ्वी के अन्तर्गत भी समाविष्ट नहीं होता। अतः तमस् को दसवां द्रव्य मानना ही चाहिये। किन्तु सिद्धान्त पक्ष यह है कि तमस् केवल तेज का अभाव है, स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। यदि इसे दसवां द्रव्य मानें तो या तो यह रूपवान् होगा या रूपरहित। नीला प्रतीत होने के कारण यह रूप रहित तो माना नहीं जा सकता और इसे रूपवान् भी नहीं मान सकते क्योंकि रूपवान् को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है जबकि तमस् को देखने के लिए किसी प्रकार के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार – ये चौबीस गुण हैं।

कणाद ने १७ गुण गिनाये हैं–रूपरसगन्धस्पर्शसंख्याः परिमाणानि पथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः। टीकाकारों ने 'च' शब्द का सहारा लेकर इसमें ७ गुण और जोड़ दिये–गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। शंकर मिश्र ने यह कहकर इसकी व्याख्या की है कि क्योंकि वे सात गुण सर्वविदित हैं अतः सूत्रकार ने उन्हें नहीं गिनाया। स्पष्ट है कि यह व्याख्या अधूरी है। १७ की अपेक्षा २४ गुण संभवतः सर्वप्रथम प्रशस्तपाद ने गिनाये। नव्यन्याय में केवल २१ गुण ही माने जाते हैं। नव्यनैयायिक 'परत्व' 'अपरत्व' की 'विप्रकृष्टत्व' और 'संनिकृष्टत्व' या 'ज्येष्ठत्व' और 'कनिष्ठत्व' में अन्तर्निहित मान लेते हैं और पथकत्व को अन्योन्याभाव का ही एक रूप मानते हैं।

उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अवक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुचन (समेटना) प्रसारण (फैलाना) और गमन (गति)–ये पांच कर्म हैं।

कर्म का पाँच भागों में विभाजन पर्याप्त वैज्ञानिक है–भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्व उज्ज्वलन, तिर्यग्गमन इत्यादि गमन में ही आ जायेंगे। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार तो उत्क्षेपण आदि भी गमन में आ जायेंगे। किन्तु नीलकठ ने यह कहकर इसका समाधान किया है कि ऋषि स्वतन्त्र इच्छा वाले हैं और उनके मत में नियोग पर्यनुयोग अर्थात् प्रश्नोत्तर नहीं हो सकता, अतः यही विभाजन ठीक है।

अन्नम्भट्ट सामान्य की परिभाषा यह देते हैं–नित्यमेकमनेकानुगतम्। उनके अनुसार सामान्य द्रव्य गुण और कर्म तीन में रहता है। इसकी तीन विशेषतायें हैं–१. यह नित्य है, २. यह एक है, ३. यह अनेकों में रहता है। यद्यपि संयोग और द्वित्व आदि अनेक में रहते हैं, किन्तु नित्य नहीं है। अणु नित्य भी है और अनेकों में रहता है किन्तु एक नहीं है। अत्यन्ताभाव नित्य भी है और अनेकों में रहता है। यद्यपि संयोग और द्वित्व आदि अनेकों में रहता है किन्तु वह अनुगत नहीं है।

सामान्य के दो रूप–पर और अपर–माने गये हैं और उदाहरण के रूप में क्रमशः सत्ता और द्रव्यत्व को दिया गया है। किन्त यह पर और अपर सापेक्ष हैं। सत्ता की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर है पर घटत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व पर है। कुछ ने सामान्य के तीन भेद माने हैं। उदाहरणतः तर्कामत में व्यापक, व्याप्य और व्याप्यव्यापक ये तीन प्रकार के सामान्य माने हैं। सत्ता व्यापक है, घटत्व व्याप्य और द्रव्यत्व व्याप्य–व्यापक। इस प्रकार पर और अपर का विभाजन जो सापेक्ष है, तर्कामत में निरपेक्ष रूप से तीन भागों में बांट दिया गया।

विशेष पदार्थ की सत्ता का यह सिद्धान्त वैशेषिकदर्शन का इतना महत्त्वपूर्ण अंग है कि इसके आधार पर इस दर्शन का नाम ही वैशेषिक दर्शन पड गया यद्यपि कणाद ने इस पर इतना अधिक बल कहीं नहीं दिया। केवल एक सूत्र–अन्यत्रान्त्येभ्यो

विशेषेभ्यः—में इसका उल्लेख किया है। उन्होंने यह बतलाया है कि यह विशेष पदार्थों के परमाणुओं में रहता है। इसी स्थल पर प्रशस्तपाद ने विशेष के सिद्धान्त का ऊहापोहपूर्वक प्रतिपादन किया जिसका बहुत से नव्यनैयायिकों ने खण्डन भी किया, यद्यपि वे नव्यनैयायिक अन्यथा वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों को मानते हैं। उनका यह कहना है कि यदि एक परमाणु को दूसरे परमाणु से पथक् मानने के लिए विशेष की आवश्यकता है तो एक विशेष को दूसरे विशेष से पथक् मानने के लिए भी एक पदार्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यदि यह कहा जाए कि स्वयं विशेषों में ही एक ऐसी शक्ति है कि वे एक दूसरे से पथक् हो जाते हैं, तो यह शक्ति परमाणुओं में ही क्यों न मान ली जाये। यदि ऐसी शक्ति माननी है तो विशेष की अतिरिक्त सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष तो अनन्त ही हैं।

समवाय का शब्दार्थ है घनिष्ठ सम्बन्ध या दो वस्तुओं का परस्पर एक दूसरे के निकट आना। यह ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध को बतलाता है जो उन दो वस्तुओं में रहता है। जिनका सम्बन्ध बिना उन्हें नष्ट किये नहीं नष्ट किया जा सकता।

अन्नम्भट्ट ने समवाय को केवल एक ही बतलाया है। और ऐसा बलपूर्वक कहा है—समवायस्त्वेक एव। ऐसा अन्नम्भट्ट ने जानबूझ कर किया है क्योंकि प्रभाकर मीमांसक और नव्यनैयायिकों में कुछ लोग ऐसा नहीं मानते। समवाय का नित्यत्व यह कहकर सिद्ध किया जाता है कि भावकार्य केवल उपादान कारण में ही समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा मानें तो समवाय भी उत्पन्न होने के लिए एक अन्य समवाय की अपेक्षा रखेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः समवाय को अनुत्पाद्य अर्थात् नित्य मानना चाहिए।

अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

यहाँ अभाव के चार भेद बतलाये गये हैं। प्रागभाव वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाला अभाव है। प्रध्वंसाभाव वस्तु के नष्ट हो जाने पर होने वाला अभाव है। अत्यन्ताभाव वस्तु का आत्यन्तिक अभाव है, और अन्योन्याभाव पारस्परिक अभाव। कई ग्रन्थों में इन चार अभावों को दो मूल भागों में विभाजित कर दिया है। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। संसर्गाभाव के तीन रूप हैं जब हम कहते हैं—इह भूतले घटो नास्ति—उस समय हम भूतल के घट के संसर्ग का अभाव बतलाते हैं। इसी प्रकार प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव भी अधिकरण में पदार्थ का अभाव बतलाते हैं। जबकि अन्योन्याभाव दो पदार्थों का पारस्परिक अभाव बतलाता है। वस्तुतः अन्योन्याभाव दो संसर्गाभावों को मिलाकर बनता है—घटः पटो नास्ति इसके दो अर्थ है—घटे पटत्वं नास्ति और पटे घटत्वं नास्ति। अन्योन्याभाव में दोनों पदार्थ समानाधिकरण होते हैं और प्रथमा में रखे जाते हैं जबकि संसर्गाभाव में एक अधिकरण होता है, एक आधेय।

कणाद ने अपने सूत्रों में अभाव को गिनवाया भी नहीं है। किन्तु टीकाकारों ने कणाद के अन्य सूत्रों में जैसे—कारणाभावात् कार्याभावः' और असति क्रियागुणव्यपदेशाभावदर्थान्तरम्—में अभाव शब्द को देखकर अभाव को एक पथक् पदार्थ मान लिया।

२. सष्टि और संहार

अतः तर्कदीपिका में इस स्थान पर यह विवेचन किया है कि किस प्रकार पथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि इन चार तत्त्वों के मेल से सष्टि होती है। परमाणु में ईश्वरीय इच्छा से गति होती है और उस गति के कारण द्वयणु, त्रसरेणु और चतुरणु बनते हैं और इनसे ही पथ्वी, जल, तेज और आकाश बनता है।

इसके विपरीत क्रम से सष्टि का विलय होता है और ये परमाणु विपरीत क्रम टूटते—टूटते केवल अणु के रूप में रह जाते हैं। इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में सभी नैयायिक एकमत हैं किन्तु पदार्थों के नाश के सम्बन्ध में थोड़ा सा मतभेद है। प्राचीन नैयायिकों का यह मत है कि कार्य का नाश कारण के नाश होने पर होता है किन्तु इसका द्वयणुक अपवाद है क्योंकि द्वयणुक का नाश परमाणुनाशाधीन नहीं होता, क्योंकि परमाणु नित्य है। किन्तु द्वयणुकों का विनाश परमाणुओं के संयोग के नाश से होता है। नैयायिक इसके विपरीत यह मानते हैं कि इस सब विलय की शंखला के कारण पदा र्थ का नाश नहीं मानना चाहिए प्रत्युत कारण पदार्थों के संयोग का नाश ही कारण मानना चाहिए। प्राचीन नैयायिकों की भांति अन्य सब शंखलाओं में तो पदार्थ का नाश और अन्तिम स्थिति में संयोग का नाश कारण मानने से गौरव आता है और इस प्रकार संयोग जो कि कार्य का असमवायी कारण है, वही नष्ट होता है, पदार्थ नष्ट नहीं होता।

इस मतभेद से एक गहरा मतभेद उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार कार्य के विनाश से पहले उसके अंशों का नाश आवश्यक है। जब परमाणु पथक् होते हैं तो द्वयणुक नष्ट हो जाते हैं और जब द्वयणुक नष्ट होते हैं तो त्रसरेणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अन्तिम कार्य सब से अन्त में नष्ट होता है जबकि यह उत्पन्न भी सबसे अन्त में ही होता है। यह

वेदान्तियों के मत के सर्वथा विपरीत है। ब्रह्मसूत्र में इसके विपरीत सष्टि का क्रम दिया है अर्थात् अन्तिम कार्य नाश के समय सबसे पहले नष्ट होता है, तदनन्तर उसके अंश और इस प्रकार हम अन्तिम कारण तक पहुंचते हैं। हम लोग भी इस बात को प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि किसी चीज का निर्माण करते समय जो क्रम होता है, उसके नाश के समय, वह क्रम उससे विपरीत होता है। किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। शंकराचार्य ने इस मत में दोष दिखलाते हुए यह कहा है कि यदि कारण के नाश के बाद कार्य का नाश होगा तो उस अन्तराल के समय में, जो कारण के नाश के और कार्य के नाश के बीच रहता है, कार्य कहाँ रहेगा ? कारण तो नष्ट हो चुका और अन्तिम कारण जो परमाणु हें, उनमें वह कार्य रह नहीं सकता क्योंकि उन दोनों के अन्तराल में अनेक व्यवधान हैं। यह सिद्धान्त ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि घर की छत तो न गिराई जाय, पर नींव उखाड़ दी जाये। अतः प्राचीन नैयायिकों की दष्टि असंगत लगती है। नव्यनैयायिकों का यह कहना कि पदार्थों के संयोग का नाश होने पर कार्य का नाश हो जाता है, जहां एक ओर प्राचीननैयायिकों के सिद्धान्त से मेल खाता है, वहां दूसरी ओर वेदान्त के सिद्धान्तों से भी मेल खा सकता है। इस प्रकार यह मत अधिक संगत लगता है।

३. आत्मा

तर्कसंग्रह में आत्मा को ज्ञानाधिकरण कहा है। यहां अधिकरण से अभिप्राय समवाय सम्बन्ध से अधिकरण है अन्यथा कालिक और देशिक सम्बन्ध से तो काल और दिक् सभी पदार्थों के अधिकरण हैं। आत्मा को दो प्रकार का माना गया है—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ है जबकि जीवात्मा विभु, नित्य और प्रत्येक प्राणी में पथक्—पथक् है। अमूर्त होने के कारण आत्मा केवल अनुमेय है। इन्द्रियां और उनके विषय का पारस्परिक सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि उनका ज्ञाता और भोक्ता कोई होना चाहिए।

आत्मा की दो परिभाषायें हैं—आत्मत्वसामान्यवान् तथा अमूर्तसमवेतद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वम्। इनमें दूसरी परिभाषा के अनुसार आत्मत्व अमूर्त पदार्थ—समवेत है। आकाश, काल, दिक् और आत्मा चार अमूर्त पदार्थों में से प्रथम तीन तो केवल एक—एक ही हैं, अतः उनकी जाति नहीं हो सकती। आत्मत्व ही एक जाति हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि आत्मत्व भी सब आत्माओं में नहीं रह सकता क्योंकि आत्मा भी दो प्रकार की है—जीवात्मा और परमात्मा। किन्तु इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि सभी प्रकार की आत्माओं में ज्ञान रहता है, अतः उनकी एक जाति हो सकती है। किन्तु इस उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैयायिक दो भिन्न प्रकार के पदार्थों में भी यदि एक समान गुण देखते थे तो उसे एक जाति मान लेते थे। परमात्मा और जीवात्मा में से एक सर्वज्ञ और एक है, दूसरा अल्पज्ञ और अनेक है। एक स्रष्टा है, दूसरा उस स्रष्टा के हाथ का खिलौना। एक सुख दुख रहित है, दूसरा सुख दुख का अनुभव करता है। फिर भी उन दोनों को एक ही जाति के अन्तर्गत मान लिया गया है जबकि जिस एक गुण, ज्ञान के आधार पर उनकी एक जाति मानी गई है, वह ज्ञान भी परमात्मा में नित्य है और जीवात्माओं में अनित्य। इसी कारण की परिभाषा ज्ञानाधिकरण दी गई है।

परमात्मा और जीवात्मा को एक ही जाति में जिस प्रकार रखा गया है, उससे कुछ लोगों को यह अनुमान है कि कणाद का अभिप्राय आत्मा से केवल जीवात्मा था, परमात्मा नहीं और बाद के टीकाकारों ने परमात्मा को उसमें जोड़ दिया। जो तर्क जीवात्मा को सिद्ध करने के लिये दिये जाते हैं, वे परमात्मा पर लागू भी नहीं होते। कणाद या गौतम ने कहीं परमात्मा का नामतः निर्देश भी नहीं किया। कुछ लोगों का कहना है कि मूलतः न्याय और वैशेषिक दर्शन नास्तिक थे। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गौतम और कणाद का उद्देश्य दश्यमान् जगत् का विश्लेषण करना है और इसलिए उन्होंने परमात्मा की चर्चा नहीं की। स्वयं प्रशस्तपाद ने भी परमात्मा का कोई निर्देश नहीं किया। किन्तु उसके टीकाकार श्रीधर ने जीवात्माओं के साथ परमात्मा का भी उल्लेख किया। यद्यपि परमात्मा में केवल ६ और जीवात्मा में १४ गुण हैं। किन्तु नैयायिक प्रायः जब आत्मा कहते हैं तो उनका उद्देश्य जीवात्मा से ही होता है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने अन्य जड़ पदार्थों के साथ ही आत्मा का भी उल्लेख कर दिया है और इस प्रकार जड़ और चेतन में जो मौलिक भेद हैं, उसे कोई महत्त्व नहीं दिया गया।

दीपिका में आत्मा की परिभाषा 'सुखाद्याश्रयः' कहकर दी गई है। जीव को कभी इन्द्रियाद्यधिष्ठाता, कभी बन्धमोक्षयोग्य, कभी जन्यज्ञानवान् कहा जाता है। ये सभी गुण जीवात्मा को परमात्मा से विविक्त करने के लिये हैं। चार्वाक के अनुसार शरीर ही आत्मा है क्योंकि जब हम कहते हैं कि मैं ब्राह्मण हूँ या मेरा शरीर है या 'मैं' अन्धा हूँ तो हम 'मैं' से देह को ही कहते हैं चाहे वह देह हो या उसका एक भाग या उसकी एक इन्द्रिय। दीपिका इसके विरुद्ध यह युक्ति देती है कि यदि इन्द्रियों को ही आत्मा माना जाये तो शरीर में बहुत सी आत्माएं माननी होंगी और यह अनुभूति कि जिसने घट को देखा वही उसे छू रहा है, नहीं हो सकेगी क्योंकि घट को देखा चक्षु ने था और छू स्पर्शेन्द्रिय रही हैं। जीवात्माएं न्यायदर्शन में अनेक मानी जाती है

क्योंकि हरेक को सुख दुख का पथक्–पथक् अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त नवजात शिशु में भी स्तनपान आदि क्रियायें इतने स्वाभाविक ढंग से होती हैं कि यदि वह पूर्व जन्म संस्कार लेकर आया हो तभी यह हो सकता है और इस प्रकार पूर्व जन्म का सिद्धान्त भी मानना होगा। आत्मा या तो सर्वव्यापक हो सकती है या मध्यम परिमाण वाली। यदि आत्मा को परमाणु के परिमाण वाली मानें तब तो समस्त शरीर के भिन्न–भिन्न भागों में होने वाले सुख और दुख का अनुभव वह नही कर सकेगी। यदि आत्मा को मध्यम परिमाण वाली मानें तो उसके परिमाण को घटा या बढ़ा कर नष्ट किया जा सकेगा। यदि आत्मा को शरीर परिमाणी मानें, जैसा कि जैन लोग मानते हैं, तो यह कठिनाई आयेगी कि बालक के छोटे शरीर की छोटी आत्मा बालक के बढ़ जाने पर बढ़ कैसे जाती है और इसप्रकार एक जन्म में चींटी के परिमाण वाली आत्मा दूसरे जन्म में हाथी के परिमाण वाली कैसे हो जाती है। यह भी मानना उस स्थिति में कठिन होगा कि वह एक ही आत्मा है जिसके भिन्न–भिन्न परिमाण हैं। अतः आत्मा को सर्वव्यापक मानना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो सबके सुख–दुख का अनुभव उसे होना चाहिए। किन्तु इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वयं अनुभव नहीं करती केवल मन की सहायता से अनुभव करती है और यह मन हर शरीर में पथक्–पथक् है।

४. ईश्वर की सिद्धि

तर्कदीपिका में ईश्वर की सिद्धि के लिए तर्क दिया गया है। यह तर्क चार्वाक और बौद्ध लोगों के खण्डन के रूप में है जिनका यह कहना है कि परमात्मा न तो प्रत्यक्षगोचर है, न बुद्धिगम्य और न उसमें सुख दुख की अनुभूति है। परमात्मा अनुमान से भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह ऐसा पदार्थ है जिसके समर्थन में कोई तत्सदश उदाहरण नहीं दिया जा सकता। आगम प्रमाण तो इसलिए नहीं माना जा सकता कि प्रथम तो आगम सर्वसम्मत नहीं है और दूसरे वेदों की प्रामाणिकता ईश्वर के अस्तित्व पर ही आधारित है। दीपिकाकार ने ईश्वर की सिद्धि के लिये निम्न अनुमान दिया है–क्षित्यंङ्कुरादिकं कर्तजन्यं कार्यत्वात्। यद्यत्कार्यं तत्कर्तजन्यं यथा घटः। अर्थात् विश्व यदि कार्य है तो इसका कोई कर्ता भी होना चाहिए और यही कर्ता परमात्मा है। यहां यह तर्क चार मान्यताओं पर आधारित है–१. सर्वत्र कार्यकारण भाव है, अर्थात् प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है। २. प्रत्येक कार्य का कर्ता कोई चेतन होता है। ३. संसार एक कार्य है। ४. इस कार्य का कर्ता एक असाधारण सत्ता है। कार्यकारण सम्बन्ध तो स्वतः सिद्ध है और अनुभव सिद्ध भी है। दूसरे सत्य को भी हम अनुभव के आधार पर सिद्ध कर सकते हैं। सष्टि के लिये परमाणुओं में गति चाहिए और उस गति के पीछे कोई प्रयत्न या इच्छा चाहिये। और इच्छा केवल चेतन सत्ता में ही हो सकती है और यह चेतन सत्ता ऐसी होनी चाहिए जो संसार की सष्टि से पूर्व भी हो। संसार एक कार्य है–यह तो देखने में ही आता है क्योंकि यहां पदार्थों का जन्म, वद्धि और मत्यु होती है। इसके अतिरिक्त संसार में प्रत्येक घटना इतनी नियमितता से हो रही है कि हमें यह मानना पड़ेगा कि उसके पीछे किसी बुद्धिमान सत्ता का हाथ है। वह केवल अदष्ट की रचना नहीं हो सकती और ईश्वर के सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् मानने पर ही यह सम्भव होगा कि हम उसे सष्टि का स्रष्टा और ध्वंस करने वाला मान सकें।

दीपिका में कर्तत्व की यह परिभाषा दी है–उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। अर्थात् कर्ता को उपादान कारण का साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, कार्य की इच्छा होनी चाहिए और कार्यानुकूल प्रयत्न होना चाहिए। ज्ञान, इच्छा और कृति परस्पर सम्बद्ध हैं बिना ज्ञान के इच्छा और बिना इच्छा के कृति नहीं हो सकती। उपादान कारण का भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कार्यकारी है, परोक्ष ज्ञान नहीं। कुछ विचारकों का मत है कि केवल कृतिमत्त्व ही कर्तत्व की पर्याप्त परिभाषा है क्योंकि कृति में ज्ञान और इच्छा तो पदार्थों के परमाणुओं का, जिनसे यह विश्व बनता है, साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, सजन की इच्छा होनी चाहिए और तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिए। इनसे ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान स्वतः सिद्ध हो जाता है।

सभी नैयायिक ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं। कुछ उसको किसी प्रकार का अदष्ट न होने के कारण अशरीरी मानते हैं, क्योंकि शरीर को भोगायतन माना गया है और भोग अदष्ट के बिना नहीं होता। एक दूसरे मत के लोग यह मानते हैं कि ईश्वर के अदष्ट न होने पर अन्य जीवों के अदष्टाधीन उसका शरीर हो सकता है। कुछ लोग परमाणुओं को ईश्वर का शरीर मानते हैं। एक अन्य मत यह है कि एक तो ईश्वर का अपना शरीर है और एक उसका शरीर यह संसार है। एक ऐसा विचित्र मत भी है कि जिस प्रकार प्रेत किसी मनुष्य शरीर को धारण कर लेता है, उसी प्रकार ईश्वर भी शरीर को धारण कर लेता है। मूल प्रश्न यह है कि बिना शरीर के और इन्द्रियों के ईश्वर सजन कैसे कर सकता है ?

संख्या, परिमाण, पथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इचछा और प्रयत्न–ईश्वर के ये आठ गुण हैं। उसमें धर्म अधर्म नहीं है। उसमें दुख भी नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद है कि उसमें आनन्द है या नहीं। नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म–जैसे श्रुति

वाक्यों में नव्य नैयायिक आनन्द का अर्थ सुख मानते हैं किन्तु प्राचीन नैयायिक आनन्द का अर्थ केवल दुःखाभाव मानते हैं।

५. ज्ञान

सब व्यवहार का हेतु गुण बुद्धि है (और वही) ज्ञान है। यह दो प्रकार की है—स्मरण और अनुभव। जो संस्कार मात्र से उत्पन्न हो वह स्मरण है उसके अतिरिक्त ज्ञान अनुभव है।

बुद्धि शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—ज्ञान, ज्ञान का साधन और जानने की क्रिया। न्यायवैशेषिक दर्शन में बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हुआ है। बुद्धि को यहां आत्मा का गुण कहा गया है। ज्ञान गुण है जबकि ज्ञान की क्रिया, क्रिया है और ज्ञान का साधन द्रव्य है। यह ज्ञान का साधन नैयायिकों ने मनसः शब्द से कहा है। सांख्य और वेदान्ती बुद्धि को महत्तत्त्व के अन्तर्गत एक पदार्थ मानते हैं और इसकी क्रियाओं को अनेक भागों में बांट देते हैं जैसे कि अहंकार, अन्तःकरण इत्यादि। अतः वे बुद्धि को ज्ञान का साधन मानते हैं। किन्तु नैयायिक बुद्धि को ज्ञान मानते हैं और ज्ञान का साधन मन को मानते हैं, जो कि अणु परिमाण है और प्रत्यक्षगम्य नहीं। अतः यहां बुद्धि को ज्ञान ही माना है, ज्ञान का साधन नहीं।

बुद्धि की जो परिभाषा यहां दी है, वह व्यवहार के लिए उपयोगी होने पर भी शास्त्रीय दष्टि से उतनी ठीक नहीं है, अतः दीपिका में एक दूसरी परिष्कृत परिभाषा दी है—जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्। अर्थात् बुद्धि वह ज्ञान है, जो अनुव्यवसाय (मैं जानता हूं इस प्रकार के ज्ञान का) विषय बनता है। नैयायिकों के अनुसार ज्ञान के तीन प्रकार हैं—इन्द्रियार्थ, सन्निकर्ष, ज्ञान तथा अनुव्यवसाय। घट के देखने पर चक्षु इन्द्रिय से उसका सन्निकर्ष है, अयं घटः इस बुद्धि में परिणत हो जाता है और यह बुद्धि घटज्ञानवान् आत्मा का ज्ञान करवाती है, जोकि अहं के साथ मिलकर घटज्ञानवानहमस्मि या घटमहं जानामि के रूपमें परिणत हो जाती है। यह अन्तिम स्थिति अनुव्यवसाय है। अतः 'अयं घटः' घटमहं जानामि का विषय माना गया है। सांख्य और वेदान्ती अयं घटः को अनुव्यवसाय का गम्य ज्ञान नहीं मानते किन्तु अनुव्यवसाय को ही स्वयं एक ज्ञान मानते हैं।

ज्ञान दो प्रकार का है—स्मति और अनु भव। स्मति संस्कार—मात्र—जन्य ज्ञान है, संस्कार भावना है जो अनुभव से पैदा होती है और स्मति का कारण है। अर्थात् अनुभव और स्मति के बीच में रहने वाला व्यापार भावनासंस्कार है। व्यापार का लक्षण है—तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः। अर्थात् हेतु से उत्पन्न होकर अपने कार्य को उत्पन्न कर देने वाला। भावनासंस्कार अपने हेतु अनुभव से उत्पन्न होकर अपने कार्य, स्मति को, उत्पन्न करता है, अतः वह एक 'व्यापार' है।

स्मति की परिभाषा में मात्र शब्द का प्रयोग बहुत विवादास्पद है। कहा जाता है कि संस्कार से उत्पन्न होने वाली प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार से ही उत्पन्न नहीं होती, उसके लिये पदार्थ का प्रत्यक्ष भी होना चाहिये। प्रत्यभिज्ञा और स्मति में यही भेद है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए पदार्थ का उपस्थित होना जरूरी है, स्मति में पदार्थ अनुपस्थित ही रहता है। महावत और हाथी दोनों को एक साथ देखने पर उन दोनों में सो एक को देखने पर दूसरे की स्मति होती है और जिसकी स्मति होती है वह हमारे सामने नहीं होता, हमारे सामने जो होता है वह उद्बोधक कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा में वह पदार्थ जिसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, हमारे सम्मुख होता है और केवल संस्कार मात्र जन्य नहीं है बल्कि प्रत्यक्षसहकृतसंस्कारजन्य है। तर्कसंग्रह की कुछ प्रतियों में 'मात्र' शब्द नहीं है और दीपिका में इस सम्बन्ध में जो व्याख्या दी है, वह भी नहीं है। सिद्धान्तचन्द्रोदय के सामने ये दोनों पाठ थे, और उन्होंने 'मात्र' पाठ को उपयुक्त माना है। जो लोग 'मात्र' शब्द को परिभाषा में नहीं रखते हैं, उनका कहना है कि प्रत्यभिज्ञा संस्कार से उत्पन्न ही नहीं होती किन्तु संस्कार से उत्पन्न होने वाली 'तत्ता' अर्थात् 'यह वही है' इस ज्ञान से उत्पन्न होती है। अतः यहां यदि 'मात्र' शब्द न भी रखें तो कोई हानि नहीं। नीलकण्ठ इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा का कारण तादात्म्य का संस्कार है, मध्यवर्ती स्मति का नहीं। एक दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि स्मति संस्कारमात्रजन्य नहीं, प्रत्युत अनुभवजन्य भी है। किन्तु यहां जन्य का अर्थ या तो साक्षात् जन्य मानना चाहिए और या जैसा नीलकण्ठ ने किया है, इसका अर्थ 'चक्षुराद्यजन्यत्वे सति (संस्कारजन्यत्वे सति नहीं) संस्कारजन्यत्वम्' लेना चाहिए। यहां 'ज्ञान' पद के ओने से संस्कारध्वस में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह संस्कारमात्र जन्य तो है, किन्तु ज्ञान नहीं है।

स्मति के अतिरिक्त सभी ज्ञान अनुभव माने जाते हैं, अर्थात् वे ज्ञान जो नये हैं और पुराने ज्ञान की आवत्ति मात्र नहीं हैं अनुभव हैं। अनुभव की यह निषेधात्मक परिभाषा इसलिए दी गई है कि अनुभव सभी मानसिक प्रक्रियाओं का अन्तिम मूल है और सारी मानसिक प्रक्रियायें अनुभव से ही बनती हैं। स्मति और बुद्धि को निकाल देने पर जो प्रक्रिया रहती है, वह अनुभव ही है बुद्धि का यह विभाजन गौतम के अनुसार है।

यह अनुभव दो प्रकार का है यथार्थ और अयथार्थ। जो पदार्थ जैसा हो उसमें उसी प्रकार का अनुभव यथार्थ है।

यही प्रमा भी कहलाता है। जो पदार्थ जैसा न हो उसमें वैसा ज्ञान होना अयथार्थ है। यही अप्रमा भी कहलाता है, जैसे सीप में 'यह चांदी है' ऐसा ज्ञान।

अन्नम्भट्ट के अनुसार स्मति भी दो प्रकार की है—यथार्थ और अयथार्थ, यद्यपि स्मति की प्रामाणिकता के आधार भिन्न हैं। कुछ नैयायिक स्मति को एक ही प्रकार की मानते हैं। अयथार्थ अनुभव का विवेचन हम आगे करेंगे। प्रमा के जो चार विभाग किये गये हैं, वे अयथार्थ अनुभव पर भी लागू होते हैं। इन्द्रियों के या दूसरे कारणों में किसी विकार या त्रुटि के कारण अप्रमा हो सकती है या तर्क के गलत होने से अप्रमा हो सकती है या एक गलत उपमा द्वारा या शब्दों को गलत समझने से हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है। ये सभी प्रकार के ज्ञान विपर्यय माने जायेंगे जब तक कि उनमें संशय और तर्क के लिये जो शर्तें अनिवार्य हैं, वे भी न पायी जायें।

६. कारण

जो कार्य के पूर्व नियत रूप में रहे वह कारण कहलाता है।

कारण की परिभाषा यह है कि जो कार्य के नियत रूप में पूववर्ती हो। स्पष्ट है कि कार्य के पहले कारण को होना ही चाहिए। किन्तु कारण के अतिरिक्त कार्य से पूर्व अन्य भी अनेक पदार्थ रह सकते हैं। घट बनाने से पूर्व घट बनाने की मिट्टी बैलगाड़ी में भी आ सकती है, और गधे पर भी। किन्तु ये दोनों हीं घड़े के कारण नहीं माने जायेंगे, क्योंकि वे घट के पूर्व नियत रूप से नहीं रहते।

इस मूल परिभाषा में भी दीपिका ने 'अनन्यथासिद्धत्वे सति' जोड़ा अर्थात् कारण को कार्य के साथ दूरवर्ती सम्बन्ध वाला नहीं होना चाहिए। उदाहरणतः कुम्भकार का पिता भी घट के पूर्व नियतरूप से होता ही है। क्योंकि उसके बिना कुम्भकार नहीं हो सकता और कुम्भकार के बिना घट नहीं हो सकता। किन्तु कुम्भकार का पिता का सम्बन्ध घट के साथ बहुत दूरवर्ती है। अतः वह घट का कारण नहीं है। इसी प्रकार दण्ड घट का कारण है किन्तु दण्ड का रूप नहीं, यद्यपि कार्य से पहले भी होता अवश्य है।

कारण की परिभाषा में मूल पुस्तक में अनन्यथासिद्ध शब्द नहीं दिया गया। सम्भवतः दीपिका ने बाद में इसे जोड़ा। अनन्यथासिद्ध अन्यथासिद्ध का उल्टा है। अन्यथासिद्ध का अर्थ है जो कार्य में अनुपयोगी होकर स्थित रहे। जैसे दण्ड के साथ रहने वाली दण्डत्व जाति। दण्डरूप भी अन्यथासिद्ध ही है।

दीपिका में अनन्यथासिद्ध के तीन प्रयोजक बताये हैं—१. कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध। जैसे पट के पूर्ववर्ती तन्तु में रहने वाला तन्तुत्व या तन्तु रूप। २. जिनका पूर्ववर्तित्व अन्य के पूर्ववर्तित्व से सापेक्ष हो वहाँ वे अन्यथासिद्ध सिद्ध होते हैं। जैसे कुम्भकार से पहले रहने वाला कुम्भकार का पिता। ३. कारण के साथ समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त सम्बन्ध से रहने वाले तत्त्व जैसे रूपप्रागभाव गन्ध का कारण नहीं है, यद्यपि यह गन्धप्रागभाव का सहवर्ती है।

कारण तीन प्रकार का है समवायी, असमवायी और निमित्त। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायी कारण है जैसे तन्तु पट के और पट अपने रूप का। कार्य या कारण के साथ एक पदार्थ (अधिकरण) में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला कारण असमवायिकारण है जैसे तंतु का संयोग पट का आैर तन्तु का रूप पट के रूप का। इन दोनों से भिन्न कारण निमित्त कारण है जैसे तुरी और वेमा आदि पट के।

पट का तन्तु समवायिकारण है क्योंकि पट तन्तु में समवायी सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पट रूप का भी समवायिकरण पट है। पदार्थ के खण्ड उस समुदायात्मक पदार्थ के समवायिकारण होते हैं और उसके गुण और कर्म के भी।

कार्य और समवायिकारण एक श्रंखला है। यह दो प्रकार का है—एक उपादान कारण का समवायिकरण जो कि कार्य का समानाधिकारण होता है, तन्तुओं का संयोग जो पट के बनाने में कारण है, असमवायिकारण है। किन्तु यह तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से रहता है और पट का समानाधिकरण है। यह तन्तु संयोग पट के लिए अनविार्य है क्योंकि इसके बिना केवल तन्तुओं का समूह हो सकता है, पट नहीं बन सकता। दूसरे प्रकार के असमवायिकारण का उदाहरण तन्तु रूप है, जो पट रूप का असमवायिकरण है। यहां पटरूप पट में रहता है और तन्तुरूप तन्तु में। अतः दोनों का सामानाधिकरण्य नहीं है और कार्यकारण का सामानाधिकरण्य अपेक्षित है। अतः जहां साक्षात् सामानाधिकरण्य नहीं हो पाया, वहाँ परम्परासम्बन्ध से सामानाधिकरण्य दिखाया गया है। क्योंकि यह समवायितन्तुओं से समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है और पट रूप का समवायिकरण है।

उपादानकरण वह कारण है जो कार्य के लिये अनिवार्य है और साथ ही उसके पथक् भी नहीं किया जा सकता। किन्तु दण्ड चक्र इत्याति जो घट की उत्पत्ति के लिए आवश्यक हैं, किन्तु उससे पथक् रहते हैं, निमित्त कारण हैं।

निमित्त कारण दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य निमित्त आठ हैं—ईश्वर, उसका ज्ञान, कृति, दिक्, काल तथा धर्म अधर्म। विशेष निमित्त कारण असंख्या हैं।

कुछ लोगों ने कारण को पहले दो भागों में बांट लिया है—मुख्य और गौण। इनमें मुख्य के उपर्युक्त तीन भाग किये हैं—इन तीन में समवायिकारण तो सदा द्रव्य ही होता है। असमवायिकारण या कर्म होता है या गुण और निमित्त कारण कोई भी हो सकता है। अभाव केवल निमित्त कारण ही बन सकता है।

असमवायिकारण केवल वे ही कारण नहीं हैं जो कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध न हों। क्योंकि इस प्रकार तो निमित्त कारण भी असमवायी मान लिये जाएंगे और असमवायिकारण का एक प्रकार असमवायी न माना जाएगा। ऐसा लगता है कि नैयायिकों ने दो प्रकार के कारण पहले माने—एक जो कार्य से पथक् किए जा सकें, जो कि निमित्त कारण हैं, और दूसरे वे जो पथक् न किए जा सकें। वे दो प्रकार के हैं—समवायी और असमवायी। इस प्रकार असमवायिकारण वह है जो समवायी से भिन्न है और कार्य से पथक् नहीं किया जा सकता। दूसरे दर्शन अवमवायिकारण को नहीं मानते।

७. प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। वह दो प्रकार का है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। इनमें निष्प्रकारक (विशेषणविशेष्य—सम्बन्ध—ज्ञान रहित) ज्ञान निर्विकल्पक है। सप्रकारक (विशेषणविशेष्य—सम्बन्ध—ज्ञान सहित) ज्ञान सविकल्पक है। जैसे यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है।

प्रत्यक्ष शब्द, प्रमाण और ज्ञान, दोनों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। किन्तु अन्य लेखकों ने ज्ञान को साक्षात्कार कहा है और प्रमाण को साक्षात्कार—ज्ञानकरणम् कहा है। कुछ लोगों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रत्यक्षप्रमाकरणम् या साक्षात्कारिप्रमाकरणम् भी दी है। किन्तु अन्नम्भट्ट ने ज्ञान शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया है ताकि उसमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का ज्ञान आ सके। जो प्रमा के चार भेद हैं वही अप्रमा के भी हैं। कोई ज्ञान शुद्ध है या अशुद्ध इसका निश्चय दोषाभाव से होता है। इन्द्रियसन्निकर्ष तो दोनों दिशाओं में एक जैसा ही है। निश्चित है कि यदि ज्ञान शुद्ध या अशुद्ध होगा तो उसका प्रभाव प्रमाण पर भी पड़ेगा। प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति है 'प्रतिगतमक्षम्' अथवा 'अक्षस्य प्रतिविषयं वत्तिः'। अर्थात् प्रत्येक विषय के साथ इन्द्रिय का रहना। जब प्रत्यक्ष का अर्थ ज्ञान होता है तो इसकी दूसरी व्युत्पत्ति दी जाती है—'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते अथवा प्रतिगतमाश्रितमक्षम्। अर्थात् वह ज्ञान जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है। यहां ज्ञान शब्द का प्रयोग सन्निकर्षध्वंस में अतिव्याप्ति रोकने के लिए है जबकि इन्द्रियार्थ शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि प्रत्यक्ष को दूसरे अनुमित्यादिक ज्ञानों से भिन्न किया जा सके।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है तो हमें ऐसा आभास होता है कि कुछ है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। इसे निष्प्रकारक भी कहते हैं। किन्तु कुछ अधिक निकटता होने पर हमें उस पदार्थ की विशेषता ज्ञात होती है। यह सविकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान में संसर्ग और प्रकारता का अवगाहन नहीं होता। उसमें विशेषण और विशेष्य असम्बद्ध रूप से उपस्थित रहते हैं। सविकल्प ज्ञान में संसर्गता और प्रकारता रहती है तथा विशेषण और विशेष्य परस्पर सम्बद्ध रूप से प्रतीत होते हैं। प्रकार, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, वह है जो एक ज्ञान विशेष को दूसरे ज्ञान विशेष से पथक् करता है जिस प्रकार घटत्व वह प्रकार है जो घटज्ञान से पथक् करता है। स्पष्ट है कि हम घट को तब तक सहप्रकारक नहीं जा सकते, जब तक हमें घटत्व का ज्ञान भी न हो।

यद्यपि सभी नैयायिक तो दो प्रकार के—निर्विकल्पक और सविकल्पक—ज्ञान मानते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में बौद्धों का बहुत मतभेद है। वे केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही सत्य मानते हैं और सविकल्पक को सत्य नहीं मानते। उनके अनुसार धर्मों की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। सप्रकारक ज्ञान विषयगत नहीं है, विषयिगत है और वंध्यापुत्र के समान अवास्तविक है। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान पदार्थ की वास्तविक स्थिति का बोध कराता है। बौद्धों का यह सिद्धान्त उनके शून्यवाद पर आधारित है। किन्तु यहां हमारा तात्पर्य केवल इतना कहने से है कि सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सीधा ज्ञान नहीं है, प्रत्युत दो ज्ञानों का समूह होने से अनुमिति या उपमिति की तरह परोक्ष ज्ञान है।

वस्तुतः इन्द्रिय संनिकर्ष से प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है। सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के बाद होता है। समुद्र में आने वाला जहाज दूर से काला पदार्थ सा दिखाई देता है। जैसे—जैसे वह निकट आता है, हमें उसके मस्तूल का अनुमान होता है, और हम उसे जहाज जान लेते हैं। इसी प्रकार घट ज्ञान में भी हमें घट जैसा कोई पदार्थ दीखता है, तब हम उसके घट होने का अनुमान करते हैं। यहां उपमान की प्रक्रिया काम करती है। घट को घट कहने के लिए शाब्द ज्ञान भी आवश्यक है। इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः परोक्ष ही है। इस सम्बन्ध में बेन की डिडेक्टिव लॉजिक में प० ३६—३७ पर कहा गया

है–"जब हम तथ्य या प्रत्यक्ष की बात करते हैं तो वस्तुतः यह एक पूर्णतः अकेला या व्यक्तिगत ज्ञान नहीं होता। हम कहते हैं कि अमुक स्थान पर पानी बहता है। किन्तु यह एक ज्ञान का परिणाम नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान करने के लिए अनेक ज्ञान चाहिएं। पूर्व ज्ञान के आधार पर हम जानते हैं कि कुतुबनुमा को देख रहे हैं और इसका मुख उत्तर की ओर है। इस प्रकार साधारण प्रत्यक्ष भी आन्तरिक ज्ञान और अनुमान का मिश्रण है और हम इन दोनों को मिलाते हैं, यह हमारे बहुत सारे प्रत्यक्ष ज्ञानों का गलत होने का कारण है।

जब बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं तो क्या वे ठीक नहीं हैं ? नैयायिक सविकल्पक ज्ञान को कैसे प्रत्यक्ष मानते हैं ? किन्तु हम यदि बौद्धमत को स्वीकार कर लें, तो हमें शून्यवाद भी मानना पड़ेगा क्योंकि यदि निर्विकल्पक ज्ञान ही माना जाए, तो कोई भी मानसिक चित्र हम बना ही न सकेंगे, और संसार में सब शून्य ही रह जायेगा। सविकल्पक ज्ञान भी हमारे मानसिक चित्रों का आधार है। यदि हम इसे न मानें तो संसार की सत्ता ही नहीं रह जाती और न हमें ज्ञान ही हो पायेगा।

८. षड्विध सन्निकर्ष

प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रिय और पदार्थ का संनिकर्ष छः प्रकार का है–संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवेतसमवाय और विशेषण–विशेष्य भाव। आँख के घट का प्रत्यक्ष होने में संयोग संनिकर्ष है। घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्तसमवायसंनिकर्ष है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से होता है। रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवेतसमवायसंनिकर्ष है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है और उसमें रूपत्व समवाय सम्बन्ध से है। श्रोत्र से शब्द का साक्षात्कार करने में समवाय संनिकर्ष है क्योंकि कान के छिद्र में जो आकाश (शून्य स्थान) है वह श्रोत्र है और शब्द आकाश का गुण है तथा गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। शब्दत्व के साक्षात्कार में समवेतसमवाय निष्कर्ष है क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है, अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषण–विशेष्य–भाव संनिकर्ष होता है क्योंकि भूतल घटाभाववत् है यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है। इस प्रकार छः संनिकर्षों से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है; उसका साधन इन्द्रियां हैं। अतः इन्द्रियां ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, यह सिद्ध होता है।

इनमें से तीन संनिकर्ष, संयोग, समवाय और विशेषण–विशेष्यता मौलिक हैं। शेष तीन पहले दो के समन्वय से बनते हैं। वे तीन हैं–संयुक्त समवाय, संयुक्त–समवेत–समवाय और समवेत–समवाय। चक्षुरिन्द्रिय घटादि पदार्थों के सीधा सम्पर्क में आते हैं और यह संनिकर्ष संयोग कहलाता है। चक्षु घट के गुण, रूप को और घट में रहने वाली घटत्व जाति को भी ग्रहण करता है, किन्तु चक्षु स्वयं द्रव्य है और इसलिए घट–द्रव्य के गुण और जाति से इसका सीधा सम्पर्क नहीं होता। अतः घटरूप और घटत्व दोनों घट में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और घट का चक्षु से संयोग होता है। घट–रूप–गत रूपत्व जाति भी चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण होती है, क्योंकि 'येनेन्द्रियेण यद्गह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तदभावश्च गह्यते" अर्थात् जो इन्द्रिय किसी पदार्थ को ग्रहण करती है, वही उसकी जाति, समवाय और अभाव को भी ग्रहण करती है। अतः घट–रूपत्व चक्षु द्वारा संयुक्त –समवेत–समवाय सन्निकर्ष से ग्रहण होता है। यहां घट का इन्द्रिय के साथ संयोग रूप के साथ संयुक्त–समवाय और रूपत्व के साथ संयुक्त–समवेत–समवाय सन्निकर्ष है। चौथा सन्निकर्ष समवाय–सन्निकर्ष है, जोकि श्रोत्र द्वारा शब्द के ग्रहण करने पर होता है। श्रोत्र आकाश–रूप है और शब्द उसका गुण होने के कारण उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। यहां केवल श्रोत्रेन्द्रिय की चर्चा है क्योंकि दूसरी इन्द्रियां जैसे–चक्षु, घ्राण और रसना क्रमशः तेज, पथ्वी और जल के विकार से बनती हैं। किन्तु श्रोत्र स्वयं आकाश ही है, आकाश के विकार से बनने वाली इन्द्रिय नहीं है। अतः शब्द का श्रोत्र से सीधा समवाय सम्बन्ध है। शब्द का ग्रहण समवाय से होता है तो स्वभावतः' ही शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति, शब्दत्व, का ग्रहण समवेत–समवाय सम्बन्ध से होगा।

चक्षु के अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय भी सीधा पदार्थ को ग्रहण करती है। किन्तु घ्राण, रसना और श्रोत्र केवल गुण को ग्रहण करने वाली इन्द्रिया हैं। छः इन्द्रियां होने के कारण प्रत्यक्ष भी घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रोत्रिय और मानस छः प्रकार का माना गया है। द्रव्य तो, जैसा कि हमने ऊपर कहा, चक्षु और स्पर्श से ही ग्रहण होते हैं शेष चारों इन्द्रियां केवल गुणों का ग्रहण करती है।

द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य प्रथम पांच प्रकार के सन्निकर्ष से जान लिये जाते हैं। किन्तु विशेष परमाणु का धर्म है और प्रत्यक्ष–गोचर नहीं है। समवाय और अभाव विशेषण–विशेष्य–भाव सन्निकर्ष द्वारा जाने जाते हैं। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ का कहना है–अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रिय–संबद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः। नैयायिकों के अनुसार समवाय को अनुमानगम्य ही मानते हैं। अतः उनके अनुसार विशेषण–विशेष्य–भाव द्वारा केवल अभाव का प्रत्यक्ष होता

है। अभाव का ज्ञान संयोग या समवाय द्वारा तो हो नहीं सकता, क्योंकि यह स्वयं तो होता नहीं, और न किसी दूसरे पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रह सकता है, क्योंकि न यह गुण है, न कर्म, न जाति। इसका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? नैयायिकों का कहना है कि अधिकरण का धर्म होता है। अतः भूतल घटाभाववान् है, यहाँ घटाभाव भूतल का विशेषण है, और भूतल विशेष्य है। उनका परस्पर विशेषण–विशेष्य–भाव है, जो वत् प्रत्यय द्वारा ज्ञात होता है। हम भूतल देखते हैं, उस पर घट नहीं देखते, भूतल को हम संयोग सम्बन्ध द्वारा जानते हैं। किन्तु घटाभाव चक्षु और भूतल के संयोग द्वारा भूतल पर जाना जा सकता है। इस प्रकार भूतल पर घटाभाव चक्षु और भूतल के संयोग और भूतल और घटाभाव के परस्पर सम्बन्ध अर्थात् विशेषण–विशेष्य–भाव द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार घटाभाव संयुक्त–विशेषण–विशेष्य–भाव द्वारा जाना जाता है। अब यदि इसे दो भागों में विभक्त करें तो घटाभाव और भूतल का विशेषण सम्बन्ध और भूतल का घटाभाव से विशेष्य का सम्बन्ध है। इस प्रकार घटाभाव के प्रत्यक्ष में दो सन्निकर्ष होते हैं–इन्द्रिय का भूतल से सन्निकर्ष और भूतल का घटाभाव से सन्निकर्ष। घट को हम एक ही सन्निकर्ष से जान सकते हैं; किन्तु क्योंकि घटाभाव दो प्रकार से कहा जा सकता है–१. भूतल घटाभाववान् है, २. भूतल पर घटाभाव है; इसलिए यहां दो सन्निकर्ष माने गये हैं। इन दोनों को ही संक्षेप में विशेषण–विशेष्य–भाव सन्निकर्ष कह दिया गया है।

यहां दीपिका में मीमांसक और वेदान्तियों द्वारा माने गये अनुपलब्धि नामक प्रमाण की भी चर्चा है। मीमांसक और वेदान्ती यह मानते हैं कि इन्द्रिय और अभाव में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि द्वारा होता है जिस द्वारा अभाव के प्रतियोगी का, किन्तु इसके लिए विशेषण–विशेष्य–भाव नाम का सन्निकर्ष मानना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि मीमांसक अधिक मानते है। इस सम्बन्ध में दोनों मतों में पर्याप्त विवाद है।

६. अनुमान प्रमाण

अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण है। परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। जैसे 'यह पर्वत वह्निव्याप्य (वह्निव्याप्ति विशिष्ट) धूम वाला है'–यह ज्ञान परामर्श है, इससे उत्पन्न होने वाला 'पर्वत वह्निमान है'–यह ज्ञान अनुमिति है। 'जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है' यह साहचर्य नियम व्याप्ति है। व्याप्य का पववर्तादि में रहना पक्षधर्मता है।

अनुमान साधन है अनुमिति उसका फल है और परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अतः अनुमिति परामर्श पर आधारित है। परामर्श का इसलिए अधिक महत्त्व है कि यदि परामर्श ठीक होगा तो उसका फल अनुमिति भी शुद्ध होगा। अतः न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्त्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिंग या हेतु वह है जिससे किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। लिंग और साध्य (जिस पदार्थ का अनुमान करना है) का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस सम्बन्ध के अनुसार लिंग और साध्य सदा साथ–साथ रहते हैं।

हेतु और साध्य और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति–यदि इन तीन को समझ लिया जाये तो अनुमान का ज्ञान हो सकता है। साध्य तो वह पदार्थ है जिसका अनुमान करना है। साध्य का अनुमान हेतु और साध्य के सम्बन्ध, अर्थात् व्याप्ति, से होता है। यह सम्बन्ध व्याप्य–व्यापक–भाव रूप है। व्याप्यव्यापक भाव का निश्चय साहचर्य दर्शन से होता है। इस नियमित साहचर्य को ही व्याप्ति कहते हैं। एतादश व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श में व्याप्ति हेतु में विशेषण बनती है और हेतु पक्ष में।

अतः लेखक ने परामर्श का लक्षण व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान बतलाया है। किन्तु वह हेतु व्याप्ति–विशिष्ट के साथ–साथ पक्षधर्मताविशिष्ट भी होना चाहिये। वस्तुतः हेतु–व्याप्तिविशिष्ट तो होता है, क्योंकि जब हम 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र बह्निः' कहते हैं। तब हेतुधूम का बह्नि के साथ व्याप्तिसम्बन्ध तो स्पष्ट हो ही जाता है, किन्तु यही पर्याप्त नहीं है। हेतु व्याप्तिविशिष्ट होने के साथ–साथ पक्ष में रहने वाला धर्म भी होना चाहिये। इस प्रकार ये दोनों मिलकर परामर्श को जन्म देते हैं। प्रसिद्ध न्यायवाक्य में परामर्श का यह स्वरूप होगा–बह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः। इस स्थान पर हेतु पक्ष धर्म भी है और व्याप्तिविशिष्ट भी है।

पक्षधर्मता का अर्थ है––(हेतोः) "पक्षवत्तित्वम्' या 'पक्षसंबन्धः' अर्थात् हेतु का पक्ष में रहना। किन्तु पर्वत पर धूम के अतिरिक्त वक्ष इत्यादि भी रहते हैं। किन्तु वह्नि का अनुमान प्रकाश या जली हुई राख आदि से भी हो सकता है किन्तु धूम से वह्नि के अनुमान की प्रक्रिया में इसका कोई उपयोग नहीं है। अतः सब पक्षधर्म नहीं हैं। इसी प्रकार पर्वत पर रहने वाला धूम ही पक्ष धर्म है, अन्य धूम नहीं क्योंकि पर्वत पर रहने वाले धूम से वह्नि का अनुमान होता है। हमें धूम और वह्नि के व्याप्ति–ज्ञान से तब तक कोई लाभ न होगा जब तक ज्ञान कहा गया है। केवल पर्वत पर धूम देख लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु वह धूम ऐसे पर्वत पर होना चाहिये जो पक्ष भी हो। अतः पक्षधर्मता का लक्षण है–पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविषयता। इसकी

व्याख्या इस प्रकार की जाती है–कि पक्षता का जो अवच्छेदक है पर्वतत्व उससे जो अविच्छन्न धूम है, वह पक्ष–धर्मता है। यह पक्षधर्मता अनुमान का कारण बनती है। किन्तु इसके साथ व्याप्ति का ज्ञान भी चाहिए। इसीलिये अनुमिति का कारण व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् है। अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान। पर्वत पर धुआं का दिखाई देना पक्षधर्मता का ज्ञान है। यह जब व्याप्ति स्मरण के साथ मिल जाता है तो परामर्श बन जाता है। अर्थात् व्याप्ति पक्षधर्मता का विशेषण नहीं है बल्कि पक्षधर्मता ज्ञान का एक प्रकार है। यह धुआँ का धर्म नहीं है किन्तु पर्वत पर धुआँ के ज्ञान का धर्म है। यह स्पष्ट है कि व्याप्ति व्यक्ति के ज्ञान में रहती है धुआं में नहीं रहती। अतः धूम व्याप्तिविशिष्ट नहीं है। धूमज्ञानव्याप्त्यव्छिन्न–प्रकारता–निरूपित है। नीलकण्ठ ने परामर्श की परिभाषा यह दी है–व्याप्त्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशाली निश्चयः। परामर्श का उदाहरण है–वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः, जो कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति से पहले अवश्य रहता है।

व्याप्ति :- न्याय की अनुमान प्रक्रिया में व्याप्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्याप्ति का लक्षण है–साहचर्यनियम। व्याप्ति का उदाहरण है जहां धुआं है वहां वह्नि है। किन्तु इस उदाहरण से व्याप्ति का स्वरूप शास्त्रीय रूप में स्पष्ट नहीं होता। व्याप्ति के दो भाग हैं–साहचर्य और सार्वभौमिकता। साहचर्य का अर्थ है–समानाधिकरण अर्थात् हेतु और साध्य का एक साथ रहना। यदि यह साहचर्य सार्वभौमिक हो तो नियत कहलाता है। जहां धूम होता है वहाँ वह्नि अवश्य होती है। अतः वह्नि धूम की व्यापक है। किन्तु जहां वह्नि होती है वहां धूम सदा नहीं होता। अतः धूम वह्नि का व्यापक नहीं है। अतः यह व्याप्ति एकपक्षीय है। वह्नि की धूम के साथ व्याप्ति है, धूम की वह्नि के साथ नहीं अतः व्याप्ति का अर्थ यही नहीं होता है कि दो चीजें साथ–साथ ही रहें, प्रत्युत उनमें से एक व्यापक हो और दूसरी व्याप्य भी होनी चाहिये, यद्यपि कहीं–कहीं व्यापक और व्याप्य का क्षेत्र समान ही होता है। नैयायिकों के नियत साहयर्च वाले लक्षण में ऐसे उदाहरण भी समाविष्ट हो जाते हैं।

व्यापक और व्याप्य का अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जो क्षेत्र या परिणाम में बड़ा हो वह व्यापक है। उदाहरणतः बीस की संख्या दस की व्यापक नहीं कही जा सकती–क्योंकि जहाँ बीस होंगे वहां दस तो होंगे किन्तु जहां दस होंगे वहां बीस नहीं होंगे। अर्थात् यहां दस की संख्या बीस की संख्या की अपेक्षा व्यापक है, यद्यपि परिणाम से यह कम है। ५० जहाँ १०० हों वहां तो होंगे ही किन्तु अन्यत्र जहां ७०–८० हों वहाँ भी होंगे। अतः यहाँ ५० ही व्यापक हैं। अतः व्यापक का परिमाण या क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जहाँ हेतु और साध्य का क्षेत्र समान हो उन स्थानों के अतिरिक्त व्याप्ति एकपक्षीय होती है अर्थात् दो में से एक व्यापक होता है, एक व्याप्य। अतः साहचर्य नियम व्यापक का व्याप्य के साथ रहना है, व्याप्य का व्यापक के साथ रहना नहीं। दीपिका में यह व्याप्य की यह परिभाषा की है–हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरण्यम्। इस परिभाषा के अनुसार व्यापक व्याप्य के साथ रहता है। उदाहरणतः धूम व्यापक है जो अग्नि व्याप्य के साथ रहता है।

व्याप्ति के भेद :– व्याप्ति दो प्रकार की है–अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। अन्वय व्याप्ति वह है जहां साध्य हेतु के साथ नियत रूप में सहचर हो। व्याप्ति का एक दूसरा भेद है व्यतिरेक व्याप्ति। हर अन्वय–व्याप्ति की व्यतिरेक–व्याप्ति भी अवश्य होती है क्योंकि यदि हेतु और साध्य में व्याप्य व्यापक भाव हो तो उनके अभाव में भी उससे विपरीत क्रम में व्याप्य व्यापक भाव होगा। उदाहरणतः यदि हम यह कह सकते है। कि जहां–जहां धूम है वहां–वहां वह्नि भी है तो यह कहना भी ठीक होगा कि जहां–जहां वह्नि का अभाव है वहां–वहां धूम का भी अभाव है। इस उदाहरण में व्यतिरेक–व्याप्ति और अन्वय–व्याप्ति का भेद स्पष्ट है। अन्वय व्याप्ति में साध्य है हेतु व्याप्य जबकि व्यतिरेक व्याप्ति में हेत्वभाव व्यापक है और साध्याभाव व्याप्य।

अनुमान दो प्रकार का है–स्वार्थ और परार्थ। इनमें स्वार्थ वह है जिसमें स्वयं को अनुमिति हो। जैसे कोई स्वयं ही बार–बार देखकर 'जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है, ऐसी रसोईघर में व्याप्ति ग्रहण करके पर्वत के समीप जाकर उसमें अग्नि का संदेह होने पर पर्वत में धूम को देखकर 'जहाँ–जहाँ धुआँ है वहाँ–वहाँ अग्नि है'। ऐसी व्याप्ति स्मरण करता है। इसके अनन्तर पर्वत वह्निव्याप्य धूम वाला है यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यही लिङ्गपरामर्श कहलाता है। इससे पर्वत वह्नि वाला यह अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। यह स्वार्थानुमान है।

जो स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिए पंचावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह परार्थानुमान है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है जो–जो धूमवान् होता है वह वह निमान् होता है, जैसे रसोईघर, वैसा ही यह भी है, अतः इसमें भी वैसी ही अग्नि है'। इस प्रकार कहे गये लिङ्ग से दूसरा भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है।

स्वार्थ और परार्थ का शब्दार्थ स्पष्ट है। जो अपने लिये हो वह स्वार्थ है और जो दूसरे के लिये हो वह परार्थ। स्वार्थ अनौपचारिक और परार्थ औपचारिक अनुमान होता है। स्वार्थानुमान से व्यक्ति स्वयं अनुमान लगाता है परार्थानुमान से वह अनुमान दूसरे तक पहुंचाया जाता है। इसलिए परार्थानुमान में स्वार्थानुमान छिपा हुआ है। स्वार्थानुमान में हम अपने अनुभव

से तुरन्त अनुमान लगा लेते हैं किन्तु परार्थानुमान में उस अनुमान को हम भाषा में दूसरे तक प्रेषित करते हैं। इस प्रकार स्वार्थानुमान की अपेक्षा परार्थानुमान में भाषा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः तो अनुमान का कारण रूप होने के कारण स्वार्थानुमान ही अनुमान है। किन्तु परार्थानुमान भी सरलता के लिए कारण में कार्य का उपचार करके अनुमान ही मान लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि स्वार्थानुमान कारण है, परार्थानुमान कार्य। किन्तु हम उसे भी कारण ही मान लेते हैं। परार्थानुमान दूसरे शब्दों में ज्ञान प्रेषित करने के कारण वस्तुतः शब्दबोध ही है। किन्तु क्योंकि इसका आधार अनुमान है इसलिये हम इसे भी अनुमान ही मान लेते हैं। वस्तुतः परार्थानुमान में परामर्शजन्य ज्ञान ही प्रधान रहता है। नीलकण्ठ ने यह विषय स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि परार्थानुमान के शब्द दूसरे व्यक्ति के लिये होते हैं तथापि वे उसे अनुमान के द्वारा ही ज्ञान कराते हैं। परार्थानुमान और स्वार्थानुमान में कोई विशेष भेद नहीं है। क्योंकि हर परार्थानुमान स्वार्थानुमान पर ही आधारित होता है और स्वार्थानुमान परार्थानुमान के रूप में बदला जा सकता है।

अनुमान के अन्य भेदों में गौतम ने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदष्ट भेद बतलाये हैं। पूर्ववत् का अर्थ है कारण से कार्य का अनुमान। जैसे घने बादलों से वर्षा का अनुमान। शेषवत् का अर्थ है कार्य से कारण का अनुमान। इसके अतिरिक्त जितने अनुमान हैं ये सामान्यतोदष्ट हैं। वात्स्यायन ने इन तीनों प्रकारों के लक्षण कुछ भिन्न रूप में दिये हैं। उन्होंने पूर्ववत् का अर्थ दिया है ऐसा अनुमान जो हम साहचर्य के आधार पर करते हैं जैसे धुएं से अग्नि का अनुमान। शेषवत् का अर्थ दिया है कि एक पदार्थ का अनुमान इस आधार पर करना कि वह वही पदार्थ है क्योंकि वह कोई अन्य पदार्थ नहीं है। उदाहरणातः शब्द गुण है क्योंकि वह द्रव्य है न कर्म। सामन्यतोदष्ट कारण–कार्य सम्बन्ध के आधार पर परोक्ष पदार्थ का अनुमान है। उदाहरणतः आत्मा परोक्ष है किन्तु बुद्धि इत्यादि गुणों के अधिष्ठान के रूप में इसका अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार सामान्यतोदष्ट और पूर्ववत् का एक प्रकार से विरोध ही है। वाचस्पति ने पूर्ववत् को इसलिए दष्टस्वलक्षणसामान्य विषय और सामान्यतोदष्ट को अदष्टस्वलक्षण–सामान्यविषय बताया है। पूर्ववत् स्वलक्षण द्वारा समान्य का अनुमान है जो कि हमने पहले देखा है। सामान्यतोदष्ट में हमने इसे देखा नहीं है। वाचस्पति ने इन दोनों प्रकारों को वीतानुमान कहा है। इन दोनों में अनुमान विधिपरक अन्वयव्याप्ति से होता है जबकि शेषवत् में अनुमान निषेधपरक व्यतिरेक व्याप्ति से होता है।

अनुमान का विभाजन केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, और अन्वयव्यतिरेकि के रूप में भी किया गया है। ऐसा निर्णय जो केवलान्वयी हेतु के आधार पर हो केवलान्वयि और जो केवलव्यतिरेकी हेतु के आधार पर हो केवलव्यतिरेकि कहलाता है। जहाँ हेतु ऐसा हो जो अन्वयी भी हो और व्यतिरेकि भी वहां यह अनुमान अन्वयव्यतिरेकि कहलाता है। अन्वयव्यतिरेकि अनुमान में हम उसे अन्वय द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं और व्यतिरेक द्वारा भी। निर्णय दोनों दशाओं में एक ही होगा। अतः अन्नम्भट्ट ने इसे लिंग का विभाजन माना है अनुमान का नहीं। प्रशस्तपाद ने स्वार्थानुमान को भी दो भागों में बांटा है–दष्ट और सामान्यतोदष्ट। दष्ट में जिस पदार्थ का अनुमान होता है वह ठीक वैसा ही होता है जैसा कि हमारे पहले ज्ञान में था जैसे कि कम्बल से गौ का अनुमान। सामान्यतोदष्ट में यह अनुमान अन्य पदार्थ में होता है। जैसे कि जड़ पदार्थ में किसी रोग का अनुमान क्योंकि ऐसा अनुमान प्राणियों के आधार पर किया जाता है। दष्ट अनुमान सविकल्प प्रत्यक्ष या स्मरण जैसा ही लगता है जबकि सामान्यतोदष्ट सामान्य अनुमान जैसा है।

१०. लिङ्ग अथवा हेतु

लिङ्ग तीन प्रकार का है–अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि। अन्वय और व्यतिरेक दोनों से व्याप्तिमान् हो वह अन्वयव्यतिरेकि है। जैसे वह्नि साध्य होने पर धूमवत्त्व। 'जहाँ धुआं है, वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में–यह अन्वयव्याप्ति है। जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धुआँ भी नहीं है जैसे सरोवर में–यह व्यतिरेकव्याप्ति है। जिसकी केवल अन्वयव्याप्ति हो वह केवलान्वयि है। जैसे घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है यथा पट। यहाँ प्रमेयत्व और अभिध्येत्व की व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है क्योंकि सभी कुछ प्रमेय और अभिधेय है। जिसकी केवल व्यतिरेक व्याप्ति हो वह केवलव्यतिरेकि है जैसे–पथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि उसमें गन्धवत्त्व है। जो इतर पदार्थों से भिन्न नहीं है वह गन्धवान् नहीं है जैसे जल, यह ऐसी नहीं है इसलिए यह इतर पदार्थों से भिन्न है। यहाँ जो गन्धवान् है वह इतर पदार्थों से भिन्न है इसका अन्वय दष्टान्त नहीं है क्योंकि पथ्वी मात्र ही पक्ष है।

विधि–निषेध–परक लिंगों में दोनों प्रकार की व्याप्ति संभव है। किन्तु विधिपरक में केवल विधिपरक व्याप्ति और निषेधपरक में केवल निषेधपरक व्याप्ति संभव है। उदाहरणतः 'घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है।' इस व्याप्ति का निषेधपरक उदाहरण नहीं मिल सकता। क्योंकि वस्तु मात्र अभिधेय और प्रमेय है। अतः इसका विपक्ष नहीं है। जहां केवल निषेधपरक ही उदाहरण हो सकता है उसका उदाहरण यह है कि 'पथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसमे गंध है।' इसका सपक्ष दष्टान्त

नहीं हो सकता। क्योंकि जहां भी गंध होगा वह पथ्वी ही हो सकती है कोई और पदार्थ नहीं। इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि समस्त पदार्थ दो भागों में बंटे हैं—पथ्वी और पथ्वीतर। पथ्वी तो इस अनुमान में पक्ष ही है और हेतु है गंध। अतिरिक्त पथ्वी के और कहीं नहीं है। अतः हम इसका कोई अन्वय उदाहरण नहीं दे सकते।

अन्वय और व्यतिरेक

दीपिका में हेतु और साध्य की व्याप्ति को अन्वय बताया है जबकि उनके अभाव की व्याप्ति को व्यतिरेक बताया है। हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यतिरेक व्याप्ति में अन्वय व्याप्ति के व्याप्य और व्यापक अपना क्रम बदल देते हैं।

केवलान्वयी

जिसका साध्य केवलान्वयी हो वह केवलान्वयी लिंग कहलाता है। केवलान्वयी साध्य वह होता है जिसका अत्यन्ताभाव कहीं भी न हो। उदाहरणतः अभिधेयत्व का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। यहां यह समझने योग्य है कि दीपिका ने केवलान्वयत्व को साध्य से सम्बद्ध माना है, हेतु से नहीं। क्योंकि केवलान्यपि अनुमान के लिए हेतु के अत्यन्ताभाव का न होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः 'घटोभिधेय' घटत्वात्' केवलान्वयि है। क्योंकि इसमें व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती। किन्तु जो यहां हेतु दिया है, घटत्व, उसका अत्यन्ताभाव तो बहुत जगहों पर है। अतः केवलान्वयी वहां होता है जहां ऐसी चीज साध्य हो जो सत्ता मात्र में रहती हो। कोई कह सकता है कि विश्व में ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके नाम नहीं हैं या जिन्हें हम जान नहीं सकते। दीपिकाकार कहना है कि कोई पदार्थ चाहे हमारे ज्ञान में न आए परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में आ ही जाता है। अतः अप्रमेय कुछ भी नहीं।

केवलव्यतिरेकी

केवलव्यतिरेकि का जो उदाहरण दिया है वह थोड़ा—सा जटिल है किन्तु हम उसकी व्याख्या ऊपर कर चुके हैं। पथ्वी इतरभेदवती गन्धवत्वात्। यहाँ अन्वय व्याप्ति नहीं हो सकती। यत्र यत्र गन्धवत्त्वं तत्र पथिवीतरभेदः नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गन्धवान् तो सभी पदार्थ पथिवीत्व में ही आ जायेंगे। किन्तु ऐसे पदार्थ अनेक हैं जहां पथ्वीतरत्व है और गन्धाभाव भी है। अतः यह केवलव्यतिरेकि का उदाहरण है।

यहाँ दीपिका में जो तक—वितर्क दिये हैं वह चाहे विशेष उपयोगी तो नहीं किन्तु तब भी यहां इसलिए दिये जाते हैं कि न्यायशास्त्र में किस प्रकार सूक्ष्म चर्चाएं हुई हैं, इसका थोड़ा—सा आभास मिल सके। आक्षेप किया जाता है कि पथ्वी में इतर भेद का अनुमान नहीं हो सकता। यहां उभयतः पाश है। यदि इतर भेद पहले से ज्ञात है तो या तो वहां गंध सहित ज्ञात है, या गंध रहित। यदि दूसरे स्थानों पर हेतु साध्य में व्याप्त है तो वह सपक्ष दष्टान्त हो गया और यहाँ अन्वय व्याप्ति हो गई किन्तु यदि हेतु किसी अन्य पदार्थ में व्याप्त नहीं है तो फिर यह पक्ष का विशेष धर्म हो गया और इसके आधार पर न कोई व्याप्ति हो सकती है, न अनुमान। यदि यह मानें कि साध्य ज्ञात ही नहीं है तो फिर कोई अनुमिति भी न हो सकेगी क्योंकि अनुमिति एक विशिष्ट ज्ञान होता है और विशिष्ट ज्ञान विशेषण के ज्ञान के बिना हो नहीं सकता। उदाहरणतः दण्ड का ज्ञान हुए बिना दण्डी का ज्ञान नहीं हो सकता। वह्नि का ज्ञान हुए बिना वह्निमान् पर्वत का ज्ञान नहीं हो सकता और यदि साध्य अज्ञात ही है तो फिर उससे अनुमिति कैसे होगी अर्थात् जब तक हम इतर भेद को न जानें इतरभेदवती पथ्वी को कैसे जान सकते हैं ? इसी प्रकार अभाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान पर आधारित है और अगर इतर भेद का अभाव अज्ञात है तो व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती अर्थात् 'जहाँ इतर—भेद का अभाव है वहां गन्धवत्वाभाव भी है,' यह व्याप्ति नहीं होगी। अतः केवल व्यतिरेकि अनुमान नहीं होता। यह पूर्वपक्ष है।

इस मत का खण्डन भी दीपिका में इस प्रकार किया गया है। वस्तुतः १३ अन्योन्याभाव का पथ्वी में अभाव सिद्ध करना अभिप्रेत है। अन्योन्याभाव दो पदार्थों का होता है और इस प्रकार यहाँ १३ अन्योन्याभाव हैं। ये १३ अन्योन्याभाव १४ पदार्थों में परस्पर हैं। इनमें से प्रत्येक शेष १३ में रहता है। जैसे जलभेद, जल के अतिरिक्त तेज इत्यादि १३ पदार्थों में रहता है और तेजोभेद तेज के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में तो रहते हैं किन्तु वे सभी एक समय ही सब में नहीं रह सकते। किन्तु वे पथ्वी में रहते हैं और इस प्रकार पथ्वी उन १३ से भिन्न हैं अर्थात् यहाँ हमारा साध्य है—त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदस्यैकाधिकरणवत्तित्वम् अर्थात् १३ के १३ अन्योन्याभाव का युगपद् एक चीज में रहना। किन्तु क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण हमें ज्ञात नहीं, जहां ये १३ के १३ अन्योन्याभाव एक साथ रहते हों; हम यह नहीं जान सकते, कि हेतु वहां है या नहीं। अतः हेतु यहां न अन्वयी है न साधारण। उभयतः पाश के एक अंश का यह उत्तर हुआ। दूसरा जो अंश है कि यदि साध्य अज्ञात ही है तो अनुमिति हो ही नहीं सकती। उसमें भी कोई बल नहीं है। क्योंकि यहाँ हमें मालूम ही है कि जलादि भेद कूट १३ पदार्थों में रहता ही है। किन्तु पूर्व पक्ष का कहना है कि १३ अन्योन्याभावों को हम पथक्—पथक् जो जानते हैं किन्तु उनका समुदाय तो ज्ञात नहीं है तो फिर

यह साध्य ज्ञात कैसे माना जाएगा। इस पर नैयायिकों का उत्तर है कि हमें समुदाय का निषेध करना साध्य नहीं हैं किन्तु पथक्–पथक् अन्योन्याभावों का अभाव ही साध्य है। अतः यहां साध्यविशिष्टानुमिति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों ही संभव हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि गौतम ने हेतु का साधर्म्य और वैधर्म्य विभाजन किया था। लिंग और अनुमान का विभाजन बाद में हुआ। हेतु के जो दो भाग थे, साधर्म्य और वैधर्म्य उससे उदाहरण, उपनय और निगमन के भी दो भेद हो गये। साधर्म्य और वैधर्म्य दष्टान्त का था, किन्तु जब दष्टान्त का स्थान व्याप्ति ने ले लिया तो फिर अनुमान का ही साधर्म्य और वैधर्म्य में विभाजन कर दिया गया। और इस प्रकार अन्वयी और व्यतिरेकी नाम के दो लिंग बन गए। जब तक यह व्याप्ति का विभाजन था तब तक तो ठीक था, किन्तु जब नव्यनैयायिकों ने इसे और भी आगे ले जाकर यह सिद्ध किया कि दो प्रकार की व्याप्ति तीन प्रकार से हो सकती है, या केवल अन्वय से या व्याप्ति से या दोनों से, तो फिर कठिनाई हो गई। वस्तुस्थिति यह है कि अधिकतर तो अन्वय–व्यतिरेकी लिंग ही होते हैं। केवल अन्वयी और केवल व्यतिरेकी तो अपवाद ही हैं।

केवल अन्वयी और व्यतिरेकी के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियां भी हैं। किन्तु आपत्तियों के बारे में हमें यही कहना है कि शायद केवल व्यतिरेकी अनुमान इसलिए माना गया कि मीमांसकों का अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ऐसे स्थानों पर अनुमान करते हैं। अतः वेदान्तियों के अनुसार केवल व्यतिरेकी अनुमान का कोई महत्त्व नहीं।

११. हेत्वाभास

हेत्वाभास पांच हैं–सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

हेत्वाभास का एक अर्थ हो सकता है–हेतुवदाभासते अर्थात् जो हेतु जैसा लगे पर हेतु हो नहीं, अथवा हेतोराभासः=सदशः जो हेतु जैसा दिखाई पड़े। जो हेतु दुष्ट होता है वह हेत्वाभास होता है। यदि हेत्वाभास का अर्थ हेतोः हेतौ वाभासः किया जाए तो इसका अर्थ होगा–हेतु के दोष। वस्तुतः हेत्वाभास में हेतु के दोषों के ही प्रकार बताये गये हैं, दुष्ट हेतु के प्रकार नहीं बताये गये; क्योंकि एक हेतु में इन पाँच दोषों में से एक से अधिक दोष भी हो सकते हैं। उदाहरणतः इस अनुमान में 'वायुर्गन्धवान् स्नेहात्' पांचों ही दोष हैं। 'ह्रदो वह्निमान धूमात्' में तीन दोष हैं–बाधित, सत्प्रतिपक्ष और स्वरूपासिद्ध। 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' में दो दोष हैं–साधारणसव्यभिचार और व्याप्यत्वासिद्ध। यदि दुष्टहेतु के भेद करने लगें तो फिर इस प्रकार हेतुओं का अन्तर्भाव कहां किया जाएगा। अतः यह हेतुओं के दोषों का ही भेद किया गया है। दीधिति में भी यही बात कही गई है–न्यायोद्दोषगतसंख्यामादाय दुष्टहेतौ पंचत्वादिसंख्याव्यवहारः। (अन्नभट्ट ने हेत्वाभास का कोई लक्षण नहीं दिया। केवल दीपिका में हेतुदोष का लक्षण दिया है।) नीलकंठ का कहना है कि तर्कसंग्रह में अन्नभट्ट ने हेत्वाभास का अर्थ दुष्टहेतु किया है और दीपिका में हेतुदोष। न्यायबोधिनी में दुष्ट हेतु के पांच भाग किए हैं–व्यभिचार, विरोध, प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाध। जो इन पाँच दोषों से युक्त हो, वह क्रमशः सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित कहलाता है।

दीपिका में हेतुदोष का यह लक्षण दिया है–अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थ–ज्ञानविषयः अर्थात् जो ठीक अनुमिति द्वारा यथार्थ ज्ञान न होने दे। इस प्रकार 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' में यदि हमें यह ज्ञान न हो कि सरोवर में धुंआ नहीं है तो यह अनुमान हमें हो जाएगा और यह ज्ञान अनुमितिप्रतिबंधक है और इसलिए हेतुदोष है। किन्तु यथार्थ ज्ञान कहने का क्या अभिप्राय है ? यथार्थ का यह अभिप्राय है कि दोष पर भी यथार्थ ज्ञान हो तो वह अनुमिति नहीं है।

किन्तु यह लक्षण उन हेतुदोषों पर लागू नहीं होता जो सीधे अनुमिति में प्रतिबन्धक न होकर व्याप्ति ज्ञान या परामर्श में प्रतिबन्धक होने के कारण अनुमिति में परम्परया बाधक हैं। अतः यहां अनुमिति के अर्थ में अनुमिति के करण अर्थात् परामर्श, व्याप्तिज्ञान और लिंगज्ञान भी समाहित हैं। अतः व्यभिचार आदि जो दोष अनुमिति के करण में सीधे प्रतिबन्धक नहीं हैं, वे भी अनुमिति में प्रतिबन्धक मान ही लिये जायेंगे।

गौतम के अनुयायी नैयायिक और अन्नभट्ट भी पांच हेत्वाभास मानते हैं। वैशेषिक तीन हेत्वाभास मानते हैं–सव्यभिचार, विरुद्ध और असिद्ध। किन्तु यह मतभेद मौलिक नहीं हैं। क्योंकि वैशेषिक सत्प्रतिपक्ष और बाधित को आश्रयासिद्ध, सव्यभिचार या अनैकातिक के अन्तर्गत मान लेते हैं। गौतम ने पांच हेत्वाभास इस प्रकार गिनाये हैं–सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल। इनमें दो तो वही हैं जो तर्कसंग्रह में हैं। प्रकरणसम वह हैं जहां निर्णय संदिग्ध हो और जहां समान बलवान तर्क उसके विरुद्ध भी हो अर्थात् प्रकरणसम तर्कसंग्रह का सत्प्रतिपक्ष है, साध्यसम असिद्ध और कालातीत बाधित है। प्रशस्तपाद ने कणाद के अनुसार विरुद्ध असिद्ध और संदिग्ध तीन हेत्वाभास माने हैं। इनमें संदिग्ध सव्यभिचार या अनैतिकांतिक के अन्तर्गत आ जाता है। बौद्धों ने तीन वही हेत्वाभास माने हैं जो कणाद ने माने हैं। सव्यभिचार और असिद्ध नवीन लेखकों की कल्पना

है। यहां सत्प्रतिपक्ष और बाधित के सम्बन्ध में ही विशेष मतभेद हैं ओर इसका एक कारण है। ये दोनें हेत्वाभास तर्क की प्रक्रिया से नहीं, बल्कि पदार्थ से सम्बद्ध हैं। अतः इनका विवेचन कुछ लेखकों ने ठीक नहीं माना।

सव्यभिचार अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

सव्यभिचार का अर्थ है कि व्यभिचारसहित, व्यभिचार का अर्थ है हेतु का साध्याभाव के साथ रहना। यथा 'पर्वतो बह्निमान् प्रमेयत्वात्' यहाँ प्रमेयत्व साध्य के अभाव अर्थात् सरोवर में भी है। अतः यहाँ सव्यभिचार दोष है। इसे अनैकांतिक भी कहते हैं। व्यभिचार जिसका लक्षण साध्यसंदेहजनकोभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपवत्वम् दिया गया है अनैकांतिक जैसा ही है। अर्थात् अव्यभिचार वह है जिससे साध्य और साध्य का अभाव दोनों सिद्ध होते हैं। अतः कणाद ने अनैकांतिक को संदिग्ध नाम दिया है।

सव्यभिचार के तीन भेद हैं—साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी। साधारण वह है जिसमें अतिव्याप्ति ही अर्थात् जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहे या यों कहें कि जो साध्य और साध्य के अभाव दोनों में व्याप्त हो। अन्नम्भट्ट ने साधारण को केवल साध्याभाव के साथ ही व्याप्त माना है किन्तु तर्ककौमुदी में उसे सपक्ष—विपक्ष—वत्ति माना है। अन्नम्भट्ट का विचार है कि अन्वयी हेतु में सपक्ष—वत्तित्व तो होती है है। अतः इसका देना आवश्यक नहीं है।

असाधारण साधारण का विरुद्ध है अर्थात् जो न सपक्ष में हो न विपक्ष में। विपक्ष में तो कोई हेतु रहता ही नहीं किन्तु असाधारण हेत्वाभास सपक्ष में भी नहीं रहता। साधारण अतिव्याप्त है तो असाधारण अव्याप्त, क्योंकि यह जहां व्याप्त होना चाहिए उस सपक्ष में भी व्याप्त नहीं होता। असाधारण का अर्थ है कि वह पक्ष के अतिरिक्त और कहीं नहीं रहता; पक्ष का ही असाधारण गुण होता है। उदाहरणतः यदि हम कहें कि 'शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है' तो शब्दत्व पक्ष, शब्द, का असाधारण धर्म है, और कहीं रह नहीं सकता। अतः यह असाधारण हेत्वाभास हुआ।

अनुपसंहारी हेत्वाभास वह है जिसका न सपक्ष दष्टान्त हो न विपक्ष दष्टान्त। अर्थात् जो पक्ष के अतिरिक्त जहां—जहां साध्य हो वहां—वहां न रहे। यह तभी हो सकता है जब समस्त पदार्थों को पक्ष बना दिया जाये। और जब सब कुछ पक्ष हो जाए तो फिर सपक्ष या विपक्ष बनने के लिये कुछ रह नहीं जायेगा। उदाहरणतः सर्वमनित्यं, प्रमेयत्वात्'। यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्रानित्यवम्। यथा घटे पटे कुड्ये वा ? अब यहां सब ही पक्ष हैं तो फिर उदाहरण के रूप में घट, पट, कुड्य नहीं दिये जा सकते। यह कहा जा सकता है कि पक्ष में तो साध्य संदिग्ध है पर घट पट आदि में नहीं, अतः यहाँ सपक्ष दष्टान्त दिया जा सकता है। नव्यनैयायिकों ने अनुपसंहारि का लक्षण 'केवलान्वयिधर्मसाध्यकः' दिया है अर्थात् जहाँ साध्य हेतु के साथ केवल विधि रूप में सम्बद्ध हो। किन्तु यह लक्षण तो केवलान्वयी सद्धेतु पर भी लागू हो जायेगा। अतः ऊपर जो आक्षेप किया गया है उसका उत्तर यह है कि चाहे पथक्—पथक् पदार्थों में अनित्यत्व निश्चित हो किन्तु उसके आधार पर कोई व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती। क्योंकि पक्ष में तो जो विस्ततत्तम क्षेत्र है वह अन्तर्भूत है। इसे अनुपसंहारि इसलिए कहते हैं क्योंकि यहां पक्ष में सभी समाविष्ट हो जाता है और उससे कुछ बचता नहीं।

जो हेतु साध्याभाव से व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है।

विरुद्ध का अर्थ है ऐसा हेतु जो साध्य के अभाव के साथ व्याप्त हो। उदाहरणतः — शब्द नित्य है क्योंकि उसमें कृतकत्व है। अब कृतकत्व नित्यत्वाभाव के साथ व्याप्त है किन्तु नित्यत्व के साथ नहीं। अर्थात् इस हेतु से तो जो हम सिद्ध करना चाहते हैं उससे विरुद्ध बात ही सिद्ध हो जाती है।

विरुद्ध कभी भी सपक्ष में नहीं रहता किन्तु साधारण सव्यभिचार सपक्ष में भी रहता है। विरुद्ध विपक्ष में रहता है, असाधरण सव्यभिचार सपक्ष में भी रहता है, असाधारण सव्यभिचार विपक्ष में नहीं रहता। अनुपसंहारी में हेतु की व्याप्ति अपूर्ण या दुष्ट होती है जबकि विरुद्ध में वह व्याप्ति विपरीत दिशा में होती है।

जहां साध्याभाव साधक दूसरा हेतु हो वहाँ सत्प्रतिपक्ष माना जाता है। विरुद्ध में जो हेतु साध्य का साधक दिया जाता है वही साध्याभाव का साधक बन जाता है, जबकि सत्प्रतिपक्ष में साध्याभाव साधक दूसरा हेतु होता है। उदाहरणतः 'शब्दौ नित्यः श्रवणत्वात्' 'शब्दोनित्यः कृतकत्वात्।' यहाँ साध्य नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व का साधक दूसरा हेतु कृतकत्व दिया गया है। अतः यहाँ सत्प्रतिपक्ष है। सत्प्रतिपक्ष के अन्तर है। बाधित में अनुमान का साध्य वस्तुतः बलवत्तर प्रमाण द्वारा असिद्ध किया जाता है। उदाहरणतः यदि कोई कहे कि अग्नि शीतल है क्योंकि यह द्रव्य है, तो प्रत्यक्ष द्वारा इस अनुमान का बाध हो जाता है क्योंकि अग्नि छूने पर उष्ण है किन्तु सत्प्रतिपक्ष में ऐसा नहीं होता। वहां दो समान बल वाले अनुमान एक—दूसरे के विरोधी होते हैं और इसलिए किसी एक के लिए हमारा निर्णय नहीं हो पाता। गौतम ने इस हेत्वाभास का इसीलिये प्रकरणसम नाम रखा है।

प्रकरण का अर्थ है निर्णय। सम का अर्थ है–समान। अर्थात् जहां दोनों हों अथवा समान बल वाला निर्णय हो। वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या–प्रकरणमनतिवर्तमानः कहकर की है अर्थात् जहाँ निर्णय किया ही न जा सके। सत्प्रतिपक्ष का भी यही अर्थ है। जहां दो परस्पर विरोधी अनुमानों में दो हेतु होते हैं वे दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्ष होते हैं और उनके कारण निर्णय में बाधा होती है। जहाँ तुल्य बल वाले विरोधी हेतु हों वहीं सत्प्रतिपक्ष होता है अन्यथा नहीं। जब एक पक्ष बलवान् हो जाता है तो वह बाधित हो जाता है। उदाहरणतः यदि एक अनुमान को श्रुति बाधा पहुंचा रही हो तो वह बाधित होगा क्योंकि श्रुति प्रमाण, अनुमान प्रमाण का तुल्य बल नहीं है प्रत्युत अधिक बलवान् है।

असिद्ध तीन प्रकार का है–आश्रयसिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वसिद्ध :–

गौतम ने असिद्ध को साध्यसम कहा है। अर्थात् जो साध्य के समान हो। अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार साध्य संदिग्ध होता है उसी प्रकार जहाँ हेतु भी संदिग्ध हो वह साध्यसम है। असिद्धि का अर्थ है सिद्धि न होना अर्थात् व्याप्य हेतु का पक्ष में न होना। इस प्रकार असिद्धि परामर्श में बाधा डालती है। परामर्श के तीन भाग हैं–व्याप्ति पक्षता और पक्षधर्मता या हेतुता। जहा ंपक्ष में कोई दोष हो वहां आश्रयासिद्ध, जहां हेतु में दोष हो स्वरूपासिद्ध, और जहां व्याप्ति में दोष हो वहां व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है।

अन्नम्भट्ट ने असिद्ध का कोई लक्षण नहीं दिया। आश्रयासिद्ध का लक्षण है–पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकः अर्थात् जहाँ हेतु पक्ष को अविच्छन्न न करे। उदाहरणतः–गगनारविंद सुगन्धित है क्योंकि वह अरविन्द है। अब यहां गगनारविंद ही नहीं है अर्थात् अरविन्द को जिस गगनीयत्व से विशिष्ट बतलाया जा रहा है, वह गगनीयत्व अरविन्द में रहता ही नहीं। इस प्रकार यहाँ गगनीयत्व पक्षतावच्छेदक धर्म है क्योंकि यह गगनारविंद का धर्म है और वह अरविंद में नहीं है। जब विशेष्य विशिष्ट में न रह सके तो फिर उसे विशेषण में मान लिया जाता है–सति विशेष्ये बाधे विशिष्ट बुद्धिर्विशेषणमुपसंक्रामति। वर्तमान उदाहरण मे यद्यपि आश्रय अरविन्द असिद्ध नहीं है किन्तु उसमें गगनीयत्व असिद्ध है। एक ऐसा असिद्ध भी हो सकता है जहां पक्ष की सत्ता ही न हो। दीपिका में सिद्ध साधन भी आश्रयासिद्ध है। नव्यनैयायिक इसे निग्रहस्थान मानते हैं।

स्वरूपासिद्ध इस कारण स्वरूपासिद्ध कहलाता है क्योंकि इसमें हेतु स्वयं ही असिद्ध होता है। उदाहरणतः यदि कोई शब्द को चाक्षुष होने के कारण नित्य कहे तो यह हेतु स्वरूपासिद्ध होगा क्योंकि चाक्षुषत्व शब्द में रहता ही नहीं। आश्रयासिद्ध में आश्रय ही असिद्ध होता है जबकि स्वरूपासिद्ध में आश्रय तो वास्तविक होता है किन्तु उसमें हेतु नहीं होता। इस सम्बन्ध में स्वरूपासिद्ध, सहव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाधितता का पूरक है। सव्यभिचार सपक्ष सत्त्व, विपक्ष व्यावत्ति में बाधा पड़ने पर होते हैं जबकि सत्प्रतिपक्ष और बाधित अन्तिम दो शर्तों असत्प्रतिपक्षत्व तथा अबाधितत्व के पूरा न होने पर होते हैं। स्वरूपासिद्ध पहली शर्त अर्थात् पक्ष–धर्मत्व के न होने पर होता हैं। यहां हेतु वास्तविक है किन्तु उसमें पक्षधर्मता नहीं है।

व्याप्यत्वासिद्ध वहां होता है जहां लिंग सोपाधिक हो। जब हेतु साध्य के साथ व्याप्त नहीं होता तो वह व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। स्वरूपासिद्ध हेतु पक्ष में नहीं रहता जबकि व्याप्यत्वासिद्ध हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती। स्वरूपासिद्ध हेतु से पक्षधर्मता दुष्ट होती है, व्याप्यत्वासिद्ध हेतु से व्याप्ति। उदाहरणतः – पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् व्याप्यत्वासिद्ध है।

व्याप्ति की यह असिद्धि या तो तब होती है जबकि उस व्याप्ति की सिद्धि न हो सके या उपाधि या किसी शर्त के लग जाने से उस व्याप्ति की साधुता अप्रमाणित हो जाए। इस प्रकार व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का है–(१) साध्येनासहचरितः (२) सोपाधिकसाध्यसंबंधः अर्थात् या तो किसी साध्य के साथ व्याप्ति न हो या साध्य के साथ व्याप्ति हो तो सोपाधिक ही हो। उदाहरणतः – शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यद्यत्सत्तत्क्षणिकं यथा घनः। यहां सत्त्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती। ऊपर जो कांचनमय धूम का उदाहरण दिया है वह भी इसी प्रकार का है। सोपाधिक अनुमान का उदाहरण है – पर्वतो धूमवान् वह्नेः यहां वह्नि धूमव्याप्य नहीं है। किन्तु वह एक शर्त पूरा करे तो धूमव्याप्य होती है। वह शर्त है–आर्द्रेन्धनसंयोगे सति अर्थात् जहां वह्नि के साथ आर्द्र ईंधन होगा तभी वहां धूम होगा। इस प्रकार आर्द्र ईंधन का संयोग एक शर्त हो गई है। इन दोनों ही स्थानों पर व्याप्यत्वासिद्ध दोष है। अन्नम्भट्ट ने व्याप्यत्वासिद्ध को सोपाधिक हेतु कहा है।

असिद्ध और सव्यभिचार में आखिर भेद क्या है ? व्याप्यत्वासिद्ध और साधारण सव्यभिचार का भेद और भी सूक्ष्म है। व्यभिचार विधिपरक है, व्याप्यत्वासिद्ध निषेधपरक। व्यभिचार में व्याप्ति वस्तुतः बाधित होती है, असिद्ध में व्याप्ति का केवल अभाव होता है। व्यभिचार में व्याप्ति मिथ्या होती है, असिद्ध में इस सम्बन्ध में संदेह रहता है कि वह सत्य है या मिथ्या। अतः व्यभिचार अधिक स्पष्ट दुष्ट हेतु है। असिद्ध का दोष उतनी सरलता से नहीं पकड़ा जा सकता। बहुत स्थानों पर हमें असिद्ध का आभास तो हो जाता है किन्तु वहां हम उपाधि नहीं खोज पाते।

सोपाधिक जानने के लिये उपाधि का जानना आवश्यक है। उदयन ने उपाधि का अर्थ दिया है–उप समीपवर्तिनी

आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः। अर्थात् जो अपने गुणों को अपने निकटवर्ती पदार्थ में संक्रमित कर दे। जैसे जपाकुसुम स्फटिक में अपनी लालिमा को प्रतिबिम्बित कर देता है यद्यपि स्फटिक वस्तुतः लाल नहीं होता। तो यह कुसुम उपाधि हुआ। इस प्रकार उपाधि परिस्थिति या शर्त है जोकि किसी पदार्थ को थोड़ी देर के लिए हमें किसी और रूप में दिखला देती है। जैसे धुआं साधारणतः तो अग्नि से ही उत्पन्न होने वाला मालूम होता है, किन्तु इसके उत्पादन का वास्तविक कारण गीला ईंधन है। अतः गीला इंधन उपाधि हुआ। किन्तु यह नियम नहीं है कि जहां अग्नि हो वहां गीला ईंधन हो ही। उदाहरणतः प्रतप्त लोहे के गोले में गीला इंधन नहीं होता। दीपिका में चार प्रकार की उपाधि हैं–(१) जो साध्य के साथ सदा रहती है (२) जो पक्षधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ केवल रहती है (३) जो साधनावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है (४) जो उदासीनधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है। गीले इंधन का संयोग प्रथम प्रकार की उपाधि है क्योंकि जहां साध्य धुआं होगा वहां गीला इंधन जरूर होगा। दूसरे प्रकार की उपाधि का उदाहरण है–वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्। यहाँ उद्भूत रूपवत्त्व होने पर ही प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु मानस प्रत्यक्ष में यह उद्भूत रूपतत्त्व नहीं होने पर भी प्रत्यक्षत्त्व होता है। अतः उद्भव रूपवत्त्व केवल बाह्य पदार्थ सम्बन्धी प्रत्यक्ष के लिये ही आवश्यक है। इस प्रकार उद्भूत रूपवत्त्व एक उपाधि है जो कि केवल बाह्य द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये ही आवश्यक होती है और यह बहिर्द्रव्य–प्रत्यक्षत्व पक्ष, वायु में रहता है।

तीसरा भेद थोड़ा जटिल है। इसका उदाहरण है–ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात् यहाँ भावत्व उपाधि है क्योंकि 'यद्यज्जन्यं तत्तद्विनाशि यह व्याप्ति भाव पदार्थों के बारे में ही सत्य है, और इसके साथ 'भावत्वे सति' की शर्त है। जो पदार्थ अनित्य हो उसके लिए भावत्व की शर्त जरूरी है। यह वही है जहां कि पदार्थ जन्य है। क्योंकि प्रागभाव भाव वस्तु नहीं है किन्तु अजन्य और अनित्य है। अतः भावत्व जन्य पदार्थों के अनित्यत्व की ही उपाधि है, अजन्य पदार्थों के अनित्यत्व की नहीं। किन्तु ऊपर के उदाहरण में जन्यत्व साधन है और अनित्यत्व साध्य है। इस प्रकार भावत्व साधनावच्छिन्नसाध्य व्यापक है। इसी प्रकार गर्भस्थो ंमित्रातनयः श्यामः, मित्रातनयत्वात्, मित्रातनयवत् में शाकपाकजत्व उपाधि है। क्योंकि श्याम वर्ण पुत्र वही हैं जिनके गर्भ में होने पर मित्रा ने वनस्पति खाई है, दूध इत्यादि नहीं। मित्रा के दूसरे पुत्र जिन्हें मित्रा ने दूध इत्यादि का भोजन करते हुए जन्म दिया, काले नहीं हैं।

'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' चौथी प्रकार की उपाधि का उदाहरण है। यहां भावत्व उपाधि है क्योंकि वही प्रमेय पदार्थ जो भावरूप है, विनाशी है, किन्तु भावत्व अनितत्व की उपाधि है और वह भी वहीं जहाँ पदार्थ अन्य हों अर्थात् यह जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्व की उपाधि है। यहां जन्यत्व न साधन है, न पक्षधर्म प्रत्युत एक उदासीन धर्म है।

बाधित हेत्वाभास वहां होता है जहां साध्याभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित हो जाये। यहाँ वह प्रमाणान्तर, जिससे साध्याभाव निश्चित हो, साध्य के साधक प्रमाण से बलवत्तर होना चाहिये, क्योंकि यदि दोनों प्रमाण तुल्यबल होंगे तो सत्प्रतिपक्ष होगा बाधित नहीं। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रमाणान्तर से जो साध्याभाव का ज्ञान हो, वह प्रमाणात्मक होना चाहिये, किन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार यह आवश्यक नहीं है।

१२. शब्द प्रमाण

शब्द प्रमाण आप्त व्यक्ति का वाक्य है। आप्त यथार्थवक्ता को कहते हैं।

आप्तवाक्य द्वारा हमें पदार्थ का यथार्थ का ज्ञान होता है। जिस शब्द द्वारा यथार्थ ज्ञान हो वही शब्द प्रमाण है और यथार्थ वक्ता ही आप्त है। वाक्यविवतिकार का कहना है कि जो शब्द द्वारा वह शाब्दिक ज्ञान करवाये जो वास्तव में पदार्थ का स्वभाव हो वह आप्त है–प्रकृतवाक्यार्थविषयकयथार्थशाब्दबोधविषयकतात्पर्यवान्। आप्त और यथार्थ की ये परिभाषायें इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इनमें वक्ता पर इतना बल नहीं दिया गया जितना बल शब्द के पदार्थ के साथ तालमेल पर दिया गया है। आप्त की परिभाषा देने के बाद अन्नम्भट्ट ने वाक्य को शब्दसमूह के रूप में परिभाषित किया है और शब्द उसे कहा है कि जिममें अर्थ बतलाने की शक्ति हो।

ये दोनों परिभाषायें महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि यहां नैनायिकों में और मीमांसकों में मतभेद है। नैयायिकों का मत है–पदानामन्वय एव शक्तिः। जबकि मीमांसको का मत है–;पदानामन्वयविशिष्टे शक्तिः। मीमांसको का सिद्धान्त और वैयाकरणों का सिद्धान्त एक ही है। दोनों के अनुसार वाक्य में क्रिया प्रधान होती है। क्रिया ही शब्दों के परस्पर सम्बद्ध होने के कारण होती है। यदि कोई केवल देवदत्तः ग्रामम् कहे, तो ये शब्द परस्पर सम्बद्ध नहीं होते। किन्तु गच्छति कहते ही इनमें परस्पर सम्बन्ध जुड़ जाता है। अर्थात् देवदत्त का ग्राम के प्रति गमन। यहां गमन की क्रिया विशेष्य है। देवदत्त और ग्राम उसके विशेषण हैं। गच्छति का अर्थ है गमन। देवदत्त कहने से वह क्रिया एक विशेष व्यक्ति की है, यह सीमा बन जाती है। ग्राम कहने से वह

क्रिया एक विशेष स्थान के प्रति है, यह सीमा बन जाती है। वाक्य का पूरा अर्थ होता है–देवदत्तकर्तक–ग्रामकर्मक–गमनक्रिया। स्पष्ट है कि यहां विशेष्य क्रिया ही है। वाक्य के सब शब्द अन्योन्याश्रित होते हैं। किन्तु वे तब तक कोई अर्थ नहीं देते, जब तक क्रिया न आये। 'घटं' का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु जब हम उसके साथ 'आनय' लगा देते हैं, तो घटम् का अर्थ आनयनक्रियानिरूपितकर्मव्यक्ति हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द क्रिया के साथ जुड़ कर ही कुछ अर्थ देता है। अन्नम्भट्ट ने दीपिका के अन्त में इसे ही इतरा (क्रिया) न्विते शक्तिरिति प्राभाकराः कहकर स्पष्ट किया है। दीपिकाकार ने यह भी बतलाया है कि नैयायिक इस प्रकार वाक्य में जुड़ने से पहले शब्दों के अर्थ जानने की कोई आवश्यकता नहीं मानते। इस प्रकार नैयायिकों के मत में शक्ति अन्वय में होती है, अन्वित पदों में नहीं। जब वे पद जो आकांक्षा, संनिधि और योग्यता से रहित होते हैं वाक्य में अन्वित होते हैं तभी वे शाब्दबोध कराते हैं। वाक्य शक्त पदों का समूह है। और ये यदि ऐसे शक्त पद एकसाथ हों तो क्रियावाचक शब्द के न होने पर भी अर्थबोध होता है। उदाहरणतः काच्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः। यहां क्रिया नहीं है किन्तु अर्थ का बोध हो रहा है। इसी प्रकार त्रय, कालाः कहने पर भी बिना क्रिया के ही अर्थ का बोध हो जाता है। वस्तुतः यहां 'सन्ति' या 'ज्ञायन्ते' क्रिया लगाई ही नहीं जा सकती। क्योंकि 'सन्ति' भूत और भविष्य के बारे में कहा ही नहीं जा सकता और मनुष्य तीनों कालों को जान भी नहीं सकते। अतः त्रयः कालाः में कोई क्रियान्वय नहीं होता। मीमांसक और वैयाकरणों के अनुसार चैत्रस्तण्डुलं पचति का अर्थ होगा–चैत्रकर्तक–तण्डुलक

र्मक पाकक्रिया। अर्थात् क्रिया विशेष्य होगी शेष विशेषण होगा। किन्तु ऊपर जैसे उदाहरणों में क्रिया न होने से ऐसा नहीं हो सकता। वहां वाक्य प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक होगा अर्थात् ऊपर के वाक्य का अर्थ होगा–चैत्रनिष्ठकृतिजन्यपाकजन्यफलशाली तण्डुलः। इसका फल यह होता है कि मीमांसक केवल क्रियाबोधक वाक्य ही वाक्य मानते हैं जबकि सिद्धार्थबोधक वाक्य को वे अर्थवाद कहते हैं, जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और जो क्रियाबोधक वाक्य का अंग होकर ही सार्थक होता है। नैयायिक दोनों प्रकार के वाक्यों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। अतः परिभाषा में वाक्य को पदसमूह कहा है जिसकी वाक्यविवत्ति में इस प्रकार व्याख्या की है–पदसमूहादेव शाब्दबोधो नैकस्मादिति भावः। अर्थात् केवल क्रियाबोधक पद ही शाब्दबोध नहीं कराते प्रत्युत् सभी पद शाब्दबोध कराते हैं।

वाक्य में कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों रहते हैं। क्रिया कर्तनिष्ठ होती है और कर्त्ता और कर्म में सम्बन्ध बतलाती हैं। उदाहरणः देवदत्त गच्छति से गमनशील देवदत्त का बोध होता है।

पद का लक्षण दिया है शक्ति। किन्तु शक्ति का अर्थ है वह ईश्वरेच्छा जिसके अनुसार एक शब्दविशेष का एक अर्थविशेष होता है। इसके अनुसार भाषा का उद्भव ईश्वर से हुआ। यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। नव्यनैयायिक इच्छामात्र को शक्ति कहते हैं। अर्थात् किसी शब्द में मनुष्य की इच्छा से ही शक्ति उत्पन्न हो सकती है। प्राचीन नैयायिक भी इस प्रकार के शब्दों को मानते हैं किन्तु वे इन्हें पारिभाषिक या रूढ़ शब्द कहते हैं। वास्तविक अर्थों में तो वे ही पद शक्त हैं जिनका अर्थ ईश्वरेच्छा से निर्धारित हुआ है। किन्तु वस्तुतः पारिभाषिक या इतर शब्दों में कोई मौलिक भेद तो है नहीं। जिस प्रकार घट से घट का बोध होता है उसी प्रकार देवदत्त भी एक व्यक्ति का बोध कराता है। अतः बाद के लेखों ने पारिभाषिक शब्दों को भी ईश्वर संकेत से ही शाब्दबोध कराने वाला मान लिया है। तर्कप्रकाश का कहना है कि वेद १२वें दिन नामकरण संस्कार का आदेश देता है और पिता उस श्रुति प्रमाण से बालक का नामकरण करता है। अतः यह भी ईश्वरेच्छा का ही फल है। किन्तु यह कुशकाशावलम्बन हुआ। अर्थात् एक निर्बल बात का समर्थन करने के लिये दूसरे निर्बल तर्क का सहारा लेना हुआ। मनुष्य तो नये–नये पदार्थों के लिए नए–नए शब्द घड़ता ही रहता है। अतः सभी शब्द ईश्वरेच्छा द्वारा शाब्दबोध कराते हैं, यही नहीं कहा जा सकता। अतः अन्नम्भट्ट ने दीपिका में शक्ति का लक्षण अर्थस्मत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः माना है। इसका अर्थ है कि शक्ति, पद और पदाथों में वह सम्बन्ध है जोकि उस शब्द का उच्चारण करने पर हमें उस पदार्थ का बोध करा देती है।

इस प्रकार पद शक्त को कहा जाता है। किन्तु पद में केवल शक्ति ही नहीं होती, लक्षणा भी होती है। लक्षणा और अभिधा के साथ जो शब्द का सम्बन्ध है वह वत्ति कहलाता है। अभिधा शब्द के साथ सदा लगा रहने वाला अर्थ है; लक्षणा अभिधा पर निर्भर करने वाला शब्द के प्रासंगिक प्रयोग से प्राप्त होने वाला अर्थ है। अतः जब हम पद को शक्त कहते हैं तो लाक्षणिक पदों में अव्याप्ति नहीं होती क्योंकि लाक्षणिक पद भी शक्त तो होते ही हैं। अभिधा भी तीन प्रकार से शब्दों के अर्थ को बताती है। पाचक जैसे शब्द यौगिक हैं और ये अपना अर्थ प्रत्यय द्वारा बतला देते हैं। घट जैसे शब्द रूढ़ हैं क्योंकि इनकी वस्तुएं या तो हमें ज्ञात नहीं हैं और यदि ज्ञात हैं भी तो उस ओर हमारा कोई ध्यान नहीं जाता। पंकज जैसे शब्द जिनका धात्वर्थ स्पष्ट है किन्तु जो अपने सम्पूर्ण यौगिक अर्थ को बतलाते नहीं हैं, योगरूढ़ कहलाते हैं। पंकज का शब्दार्थ तो कीचड़ में उत्पन्न

होने वाला है किन्तु यह शब्द केवल कमल का ही बोध कराता है। मछली इत्यादि का नहीं। कुछ लोग यौगिक रूढ़ नाम से चौथे प्रकार को भी मानते हैं, जहां यह विकल्प रहता है कि चाहे हम उस शब्द का अर्थ रूढ़ि से लें चाहे योग से जैसै उद्भिज्ज।

दूसरी वत्ति लक्षणा है जिसका अर्थ है—स्वशक्य सम्बन्ध अर्थात् अपने श क्य अर्थ से सम्बद्ध। जब मुख्यार्थ में बाधा होती है तब इसका प्रयोग होता है। उदाहरणतः गंगायां घोषः। गंगा का अर्थ जल की धारा है और उस पर तो घोष हो नहीं सकता। अतः गंगा का अर्थ धारा से जुड़ा हुआ गंगा का तट है। अन्नम्भट्ट शक्ति के सम्बन्ध मं प्राचीनन्याय का अनुसरण करते हैं और लक्षणा के सम्बन्ध में प्राचीनन्याय का। प्राचीनन्याय के अनुसार लक्षणा के लिए अन्वय की अनुपपत्ति होना आवश्यक हैं किन्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां' अर्थात् कौओं से ही दही की रक्षा नहीं चाहता, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि से भी चाहता है। अतः दीपिका में अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का कारण न मानकर तात्पर्य की अनुपपत्ति को लक्षणा कारण माना है। नव्यनैयायिक लक्षणा के तीन भाग करते हैं—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था तथा जहदजहत्स्वार्था। जहल्लक्षणा में मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया जाता है जैसे—मंचाः क्रोशन्ति में मंच अपना अर्थ बिल्कुल नहीं देता, प्रत्युत मंच पर बैठा हुआ व्यक्ति अर्थ होता है। अजहत्स्वार्था में मुख्यार्थ नहीं छूटता जैसे ऊपर जो उदाहरण हमने दिया है वहां केवल कौओं से ही दही की रक्षा तो अभिप्रेत नहीं है, किन्तु बिल्ली आदि से भी दही की रक्षा अवश्य अभिप्रेत है। जहदजहत्स्वार्था का उदाहरण है—सोयं देवदत्तः अथवा तत्त्वमसि। यहां अंशतः मुख्यार्थ बना रहता है और अंशतः छूट भी जाता है। सोयं देवदत्तः में सः का अर्थ है—तात्कालिक देवदत्त और अयं का अर्थ है एतत्कालिक देवदत्त। दोनों को एक बतलाने के लिए तत्कालिक और एतत्कालिक विशेषण तो छूट जायेंगे पर देवदत्त विशेष्य बना रहेगा। इसी प्रकार तत्त्वमसि में तत् का अर्थ है—निर्गुणब्रह्म और त्वम् का अर्थ सगुण जीव। यहाँ निर्गुण और सगुण की विशेषता छोड़ दी जाती है और तब दोनों में तादात्म्य स्थापित होता है।

वाक्य शब्दों का समूह है किन्तु 'घटः पटः गौ भित्तिः' जैसे शब्दों के समूह से वाक्य नही बनता। वाक्य बनने के लिए उन शब्दों में आकांक्षा, योग्यता और संनिधि तीनों होनी चाहिएं।

आकांक्षा का अर्थ है—अभिधानापर्यवसानम् अर्थात् किसी शब्द के न आने से किसी शब्द का पूर्ण अर्थ न दे पाना। अन्नम्भट्ट कहता है कि पद पूरा अर्थ नहीं दे सकता जब तक कि उसके साथ दूसरा पद न हो। उदाहरणतः 'घट' कहने से आकांक्षा बनी रहती है। उस आकांक्षा की पूर्ति 'आनय' कहने पर होती है। अन्य पद को जानने की यह इच्छा ही आकांक्षा है। घटमानय में चार अर्थ निहित है—घट जिसका अर्थ है घड़ा, अम्प्रत्यय जिसका अर्थ है कर्मत्व, आनी—जिसका अर्थ है लाना और मध्यमपुरुष एकवचन लोट् लकार जिसका अर्थ है—आदंश। इन चारों में से यदि एक भी अनुपस्थित हो तो अर्थ पूर्ण नहीं होता। किन्तु यही भाव घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः कहकर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि घटमानय मे ंजो जो अर्थ है वह इसमें नहीं है।

योग्यता का अर्थ है पदाथो ं में अविरोध। हम कह सकते हैं कि वह्निना सिचति यहां आकांक्षा तो है किन्तु योग्यता नहीं। क्योंकि वह्नि और सिंचन का परस्पर विरोध है।

संनिधि का अर्थ है दो या दो से अधिक पदों का बिना अन्तराल कहना। वाक्यार्थ अनेक पदों के समूह से बनता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जब तक हम दूसरे पद को सुनें तब तक पहले पद के अर्थ का संस्कार समाप्त नहीं हो जाना चाहिये। किन्तु यदि लम्बा अन्तराल हो जाए, तो पहला संस्कार समाप्त हो जायेगा और इस प्रकार अर्थ अधूरा बना रहेगा। दीपिका का कहना है कि संनिधि के अर्थ शब्दों में निरन्तर बोध है। उसके लिए वास्तविक रूप में शब्द का उच्चारण आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः मुद्रित पुस्तक में बिना उच्चारण भी हम वाक्य का अर्थ समझ ही लेते हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है कि वाक्य का पूरा अर्थ समझनें के लिए आकांक्षा, योग्यता और संनिधि का होना आवश्यक है। अपने आप में वे आवश्यक नहीं हैं; हमें उसका ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी वाक्य में गलती से ये तीनों मान ले तो वह उस वाक्य का अर्थ समझ ही जायेगा। किन्तु इसके विपरीत यदि किसी वाक्य में ये तीनों हों भी, किन्तु श्रोता उन्हें समझ न पाए, तो वह उस वाक्य का अर्थ नहीं समझ पाएगा।

आकांक्षा आदि से रहित, वाक्य अप्रमाण है जो 'गौ अश्व पुरुष हाथी' यह प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसमें आकांक्षा नहीं है। 'आग से सींचे' यह भी प्रमाण नहीं है क्योंकि इसमें योग्यता नहीं है। एक—एक प्रहर के बाद 'गौ' 'लाओ' इत्यादि पद भी प्रमाण नहीं हैं क्योंकि इनमें सानिध्य नहीं है।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक वाक्य भी चार प्रकार के हैं—श्रुति, स्मति, इतिहास और पुराण। जिनमें से पूर्वपूर्वतर अधिक प्रामाणिक हैं। जो परिभाषा तर्कसंग्रह में दी गई है वह केवल वेद पर ही लागू होगी। क्योंकि स्मति,

इतिहास और पुराण तो मनुष्यकृत है। श्रुति का अर्थ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं। जब श्रुति मौन हो या श्रुति में विरोध हो तो स्मति प्रमाण होती है। इतिहास और पुराण तभी प्रमाण होते हैं जब न श्रुतिप्रमाण मिले, न स्मतिप्रमाण।

यहां जो वैदिक वाक्यों को प्रामाणिक कहा है वह यह मानकर कि आप्त वाक्य की सभी शर्तें वेद में पूरी होती हैं।

दीपिका में मीमांसक और नैयायिकों के पारस्परिक शास्त्रार्थ का उल्लेख है। पहला विवाद का विषय यह है कि वेद नित्य है या ईश्वर के बनाये हुए। मीमांसक और नैयायिक दोनों ही वेदों को अपौरुषेय तो मानते हैं किन्तु अपौरुषेय का अर्थ क्या है ? मीमांसकों का कहना है कि अपौरुषेय का अर्थ है नित्य। प्रथम तो वेदों का कोई कर्त्ता बतलाया ही नहीं जाता। ऋषि तो मन्त्रद्रष्टा है, कर्त्ता नहीं। दूसरे स्वयं वेद में ही वेदवाणी को नित्य कहा है–'वाचा निरूपनित्यया' 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदग्वेदो यजुर्वेदः। नैयायिक इन युक्तियों का खण्डन यह कह कर करते है। कि वेदों में वेदों के सजन का उल्लेख है–'इदं सर्वमसजत ऋचोयजूंषि सामानि'। किन्तु इससे भी बढ़कर वे यह अनुमान करते हैं–वेदवाक्यरचना वक्तयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात्, अस्मदादिवाक्यरचनावत्। किन्तु मीमांसकों का कहना है कि इस अनुमान में स्मर्यमाणकर्तकत्व की उपाधि है अर्थात् यह हेतु सोपाधिक है। उपर्युक्त अनुमान वहीं लागू जहां हमें लेखक का ज्ञान हो। नैयायिकों का कहना है कि वेदों के ऋषि इत्यादि हमें परम्परा से ज्ञात ही हैं। इसके अतिरिक्त यदि वेद नित्य होते तो उनके वर्णों में आनुपूर्वी न होती और उसके बिना न आकांक्षा होती न शाब्दबोध। अतः उनका कर्ता अवश्य होना चाहिए। वेदान्तियों का कहना है कि वेद सर्ग के आदि में उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में विनष्ट। मध्य में उसकी उत्पत्ति या नाश नहीं होता। यही बात श्रुति के इस वाक्य में कही गई है–धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

वेद नित्य हैं इस प्रश्न का एक पक्ष यह भी है कि शब्द नित्य है या नहीं। आकाश नित्य है, अतः उसका गुण शब्द भी नित्य होना चाहिए। भेरी और दण्ड का संयोग तो केवल उस शब्द को प्रकट करने में निमित्त बनता है। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। उसका अनुमान इस प्रकार है–शब्दोनित्य। सामान्यवत्त्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयत्वात् लौकिकप्रत्यक्षविशेषत्वाद्वा घटवत्। गौतम ने शब्द के अनित्य होने के तीन कारण माने हैं–पहला, इसका प्रारम्भ होता है, दूसरा ये इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है, तीसरा इससे कार्य की विशेषताएं पाई जाती हैं। हम एक शब्द को पहचान जाते हैं, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह शब्द नित्य है क्योंकि एक दीपशिखा को अनित्य होने पर भी सादश्य के आधार पर हम पहचान लेते हैं।

१३. प्रामाण्यवाद

दीपिका में स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की चर्चा की गई है और यह चर्चा प्रमाणों के प्रसंग में बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब हम जानते हैं कि यह घट है तो यह कैसे निर्धारित किया जाये कि हमारा यह ज्ञान प्रमा है या नहीं। हमें वस्तुतः घट दिखाई पड़ता है। या घट का भ्रम ही होता है यह निश्चय करना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना प्रवत्त्यादि नहीं हो सकती। यही चर्चा स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की चर्चा है।

सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानते हैं। नैयायिक दोनों को परतः, बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः, प्रामाण्य को परतः, मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः।

प्रामाण्य के स्वतः होने का अर्थ है–तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। यहां तीन शर्तें हैं–पहली शर्त है कि सत्य का ज्ञान उसी कारण से होता है जिस कारण से ज्ञान होता है। दूसरी शर्त है कि कारण में, ज्ञान की उत्पत्ति में जो भी साधन है, सभी शामिल हैं और तीसरी शर्त है कि उसमें कोई भी ऐसी चीज शामिल नहीं है, जो ज्ञान की सत्यता में बाधक बने। अन्तिम दो शर्तों की आवश्यकता दीपिका ने बतलाई है। इस लक्षण में समस्त कारण सामग्री ली गई है ताकि इसमें वह अनुमान भी जा सके जो उसका प्रामाण्य सिद्ध कर सके चाहे हम उसे आप्त वाक्य से पहले भी क्यों न जान चुके हों और यह इदं ज्ञानमप्रमा के ज्ञान का भी बहिष्कार करता है जो कि प्रामाण्य के जानने में बाधक हो सकता है। हां, यह आवश्यक है कि यह बाधक ज्ञान के सम्बन्ध में ही हो, अनुव्यवसाय के सम्बन्ध में नहीं। इसके अतिरिक्त नैयायिक स्वयं भी अंशतः स्वतः प्रामाण्य को मान ही लेते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं यह घट घटत्व और उनका सम्बन्ध अनुव्यवसाय द्वारा जाना जाता है। अतः वे उनकी प्रामाणिकता को भी उसी अनुव्यवसाय द्वारा जान लेंगे। किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। नैयायिकों का कहना है कि स्वतः प्रामाण्य मानने पर संदेह का कोई स्थान ही न रह जायेगा। यदि प्रामाण्य स्वतः ही जान लिया गया तो फिर सन्देह का अवकाश नहीं है। अतः प्रामाण्य तो केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा जाना जाता है। पहले हम जल देखते हैं, तब हममें इच्छा होती है और तब प्रवत्ति। यदि प्रवत्ति सफल हो जाए, तो हमारा ज्ञान प्रामाणिक होता है। अतः ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार प्रवत्ति की सफलता है। इसी प्रकार शाब्द ज्ञान भी यथार्थ होने पर ही प्रामाणिक होता है।

परतः प्रामाण्यवादियों का कथन है कि प्रमा गुणजन्य है। अप्रमा किसी दष्टिदोष आदि दोषविशेष से उत्पन्न होती है। स्वतः प्रामाण्यवादियों के अनुसार प्रमा के लिये गुणविशेष की आवश्यकता नहीं केवल दोषाभाव ही प्रमा को उत्पन्न करता है। स्वतः प्रामाण्यवादी का कहना है कि यदि एक प्रमा के लिये प्रामाणन्तर आवश्यक हो तो फिर उस प्रमाण के लिए दूसरा प्रमाण चाहिये और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।

१४. अभाव

अभाव का अर्थ है भाव–भिन्न। अभाव के चार भेद पहले ही बतलाये जा चुके हैं। प्रागभाव सान्त किन्तु अनादि होता है। प्रध्वंसाभाव सादि किन्तु अनन्त होता है। अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त होते हैं। अर्थात् पहले दो अभाव नित्य हैं और शेष दो अनित्य। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव कार्य से सम्बद्ध हैं। प्रागभाव कार्य के उत्पन्न होने से पहले होता है, प्रध्वंसाभाव कार्य नष्ट होने के बाद। किन्तु जो कार्य नष्ट होकर दोबारा उत्पन्न हो जाए, क्या यह सिद्ध नहीं कर देगा कि ध्वंस का भी अन्त हो गया ? नैयायिकों का उत्तर है कि नहीं। क्योंकि दूसरा कार्य प्रथम कार्य से भिन्न है। जो नष्ट हो गया वह फिर नहीं उत्पन्न होगा और जो कार्य उत्पन्न हुआ था, वह पहले नहीं था। दीपिका कहती है कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव प्रतियोगी के उपादान कारण में रहते हैं। उदाहरणतः घटाभाव मत् परमाणु में रहता है। दूसरे वे प्रतियोगी के कारण और कार्य के क्रमशः उत्तरदायी हैं। तीसरे उन्हीं के कारण हम यह कह सकते हैं कि यहां यह होगा या यहां यह हो चुका है।

अत्यन्ताभाव नित्य होता है तथा अत्यन्ताभावी प्रतियोगिता तादात्म्यभिन्नसंसर्गा वाच्छन्ना होती है। अन्योन्याभाव भी नित्य है किन्तु इसकी प्रतियोगिता तादात्म्यसंसर्गाविच्छिन्ना होती है। उसका प्रतियोगी दो पदार्थों के परस्पर तादात्म्य के सम्बन्ध से नित्य होता है। अत्यन्ताभाव प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव से भिन्न है क्योंकि यह त्रैकालिक है। अत्यन्ताभाव का अर्थ है जो अन्त का अतिक्रमण कर जाए।

एक पदार्थ जिस सम्बन्ध में दूसरे में रहता है वह संसर्ग कहलाता है। घट अधिकरण में जिस सम्बन्ध से रहता है वह संयोग–सम्बन्ध है और गंध पथ्वी में समवाय सम्बन्ध से रहती है। ये दोनों ही सम्बन्ध संसर्ग हैं। यदि घट भूतल पर दिखाई दे तो हम घटवद्भूतलम् कहेंगे जिसका अर्थ होगा–संयोगसंबन्धेन घटवत् और भूतले घटो नास्ति का अर्थ संयोगसम्बन्धावच्छिन्न भूतलनिष्ठघटाभाव समझा जायेगा और घटाभावी प्रतियोगिता संयोग सम्बन्धावच्छिन्ना मानी जायेगी। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि संयोगेन घटवत्ता बुद्धि संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटाभाववत्ता बुद्धि के प्रति ही विरोधी है न कि समवायाच्छिन्न घटाभाववत्ता बुद्धि के प्रति। जहां भी किसी पदार्थ का अत्यन्ताभाव कहा जाता है वहां यह समझा जाता है कि जिस संसर्ग विशेष से वह पदार्थ अधिकरण में ज्ञात हुआ था उसी संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाव।

अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव से भिन्न है क्योंकि यह दूसरे प्रकार के सम्बन्ध पर आधत है। अन्योन्याभाव में कोई पदार्थ किसी अभाव का प्रतियोगी होता है जो कि किसी दूसरे पदार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, संयोग या समवाय सम्बन्ध से नहीं। अत्यन्ताभाव में वह संयोग या समवाय सम्बन्ध से रहता है। संक्षेप में अन्योन्याभाव में हम प्रतियोगी और अनुयोगी में कोई सम्बन्ध नहीं मानते जबकि अन्योन्याभाव में हम केवल दोनों के तादात्म्य सम्बन्ध का ही निषेध करते हैं। जब हम कहते हैं भूतलं घटो न, तो हम यही कहना चाहते हैं कि वे दोनों एक नहीं हैं। किन्तु जब हम 'भूतले घटो नास्ति' कहते है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि भूतल और घट में केवल तादात्म्य का ही अभाव नहीं है प्रत्युत उनका एक दूसरे से सम्बन्ध भी नहीं है। अत्यन्ताभाव दो पदार्थों में संसर्ग का निषेध करता है, अन्योन्याभाव तादात्म्य का।

१५. जीवन का चरम लक्ष्य

न्याय के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य स्वर्ग नहीं, मोक्ष है। दीपिका का कहना है कि पदार्थों का विवेचन यह जानने के लिए है कि पदार्थ और आत्मा भिन्न–भिन्न है। गौतम ने मोक्ष का अर्थ आत्यन्तिकी दुःखनिवत्ति माना है जबकि कणाद ने आत्मा का शरीर से पथक् हो जाना और अदष्ट के अभाव में उनका फिर न मिल पाना मोक्ष माना है। इन दोनों ही दर्शनों के अनुसार मोक्ष में सुख नहीं, केवल दुःख का अभाव होता है। ज्ञान ही से मोक्ष है, कर्म से नहीं। कर्म मन को निर्मल बनाकर मोक्ष में परम्परया सहायक हो सकते हैं। जब ज्ञान ध्यान द्वारा परिपक्व होता है तो मोक्ष का कारण होता है। गौतम ने दुःख, जन्म, प्रवत्ति और मिथ्याज्ञान ये पांच कारण माने हैं जिनमें से उत्तरोत्तर का नाश होने पर पूर्वपूर्व स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् मिथ्या ज्ञान न रहे तो दोष, दोष न रहे तो प्रवत्ति, प्रवत्ति न रहे तो जन्म, और जन्म न रहे तो दुःख न रहेगा। यही न्याय का अन्तिम लक्ष्य है। इसलिए सर्वप्रथम मिथ्या ज्ञान हटाना चाहिए। इस मिथ्या ज्ञान का कारण हमारा यह अज्ञान है कि शरीर और आत्मा को एक ही मान लेते हैं। पदार्थों का यथार्थतः जानने से यह अज्ञान दूर हो जाता है।

तर्कसंग्रहः

(तर्कदीपिकया समेतः)

१. निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम्।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रह ।।

हृदय में विश्वनाथ को रखकर गुरुवन्दना करके, बालकों के सुखपूर्वक बोध के लिये तर्कसंग्रह लिखा जाता है।

तर्कदीपिका

विश्वेश्वरं साम्बमूर्तिं प्रणिपत्य गिरं गुरुम्।
टीकां शिशुगद्धितां कुर्वे तर्कसंग्रहदीपिकाम्।।

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकमिष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं निबन्धनंश्चिकीर्षितं ग्रंथादौ प्रतिजानीते–निधायेति।

ननु मङ्गलस्य समाप्तिसाधनत्वं नास्ति; मङ्गले कृतेपि किरणावल्यादौ समाप्त्यदर्शनात्, मङ्गलाभावेपि कादम्बर्यादौ समाप्तिदर्शनादन्वयव्यतिरेकव्यभिचारादिति चेत्, –न; किकरणावल्यादौ विघ्नबाहुल्यात्समाप्त्यभावः। कादम्बर्यादौ तु ग्रन्थाद्बहिरेव मङ्गलं कृतमतो न व्यभिचारः।।

मनु मङ्गलस्य कर्तव्यत्वे किं प्रमाणमिति चेत्, – न; शिष्टाचारानुमितश्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। तथाहि–मङ्गलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिकाविगीतशिष्टाचारविषयत्वाद् दर्शादिवत्। भोजनादौ व्यभिचारवारणाय–अलौकिकेति। रात्रिश्राद्धादौ व्यभिचारवाणाय–अविगीतेति। 'शिष्ट'पदं स्पष्टार्थम्। "न कुर्यान्निष्फलं कर्म" इति जलताडनादेरपि निषिद्धत्वादिति।।

तर्कसंग्रह इति। तर्क्यन्ते=प्रतिपाद्यन्त इति तर्का=इव्यादिसप्तपदार्थाः, तेषां संग्रहः=संक्षेपेण स्वरूपकथनं क्रियत इत्यर्थः। कस्मै प्रयोजनायेत्यत आह–सुखबोधायेति। सुखेनानायासेन बोधः =पदार्थज्ञानं तस्मा इत्यर्थः।। ननु बहुषु तर्कग्रन्थेषु सत्सु किमर्थमपूर्वग्रन्थः क्रियत इत्यत आह–बालानामिति। तेषामतिविस्ततत्वाद्बालानां बोधो न भवतीत्यर्थः। ग्रहणधारणपटुर्बालः, न तु स्तनन्धयः। किं कृत्वा क्रियत इत्यत आह–निधायेति। विश्वेशं=जगन्नियन्तारं शिहदि निधाय=नितरां स्थापयित्वा, सर्वदा तद्ध्यानपरो भूत्वेत्यर्थः। गुरूणां=विद्यागुरूणां वन्दनं=नमस्कारं विधाय=कृत्वेत्यर्थः।।

विशेष :- परम्परा का पालन करते हुए अन्नम्भट्ट अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण से करते हैं ताकि वह निर्विघ्न साक्षात् हो सके। मंगलाचरण से ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के सम्बन्ध में दो प्रमाण हैं–श्रुति और अनुमान। यद्यपि ऐसी श्रुति शब्दतः उपलब्ध नहीं होती जहाँ मंगलाचरण का आदेश दिया गया हो किन्तु शिष्टाचार द्वारा ऐसी श्रुति का अनुमान अवश्य किया जा सकता है। जैमिनि का कथन है कि जहां श्रुति शब्दशः कुछ न कहे और शिष्टाचार विषयता हो वहाँ उसका अनुमान लगा लेना चाहिए। तर्कदीपिका में मंगलाचरणसम्बन्धी श्रुति के अनुमान के सम्बन्ध में निम्न विवेचन किया गया है :– मंगलाचरण श्रुतिसम्मत है, क्योंकि वह १. अलौकिक है, और २. अविगीत है। 'अलौकिक' का अभिप्राय यह है कि रागादि वश नहीं किया जाता और 'अविगीत' का अभिप्राय यह है कि श्रुति में इसका कहीं निषेध नहीं। भोजन आदि रागादी वश किये जाते हैं अतः ये अलौकिक नहीं और रात्रि–श्राद्ध आदि श्रुति–निषिद्ध हैं अतः वे अविगीत नहीं।

दूसरा प्रमाण जो मंगलाचरण के पक्ष में दिया जाता है वह अनुमान का है। जिन ग्रन्थों का प्रारम्भ मंगलाचरणपूर्वक हुआ वे निर्विघ्न समाप्त हो गये अतः यह अनुमान किया जाता है कि मंगलाचरण से ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति होती है। यदि कहीं इसका अपवाद देखने में आये तो यह समझना चाहिए कि यदि मंगलाचरण होने पर भी ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त नहीं हुआ तो वहा विघ्न अधिक थे, उदाहरणतः किरणावली। और यदि मंगल के अभाव में भी ग्रन्थ समाप्त हुआ देखने में आये तो यह समझना चाहिए कि वहाँ लेखक ने ग्रन्थ से बाहर ही मंगलाचरण कर लिया है, जैसे–कादम्बरी।

इस मंगल लोक की दूसरी पंक्ति में अनुबन्ध–चतुष्टय अर्थात् किसी भी ग्रन्थ के सम्बन्ध में अवश्य ज्ञातव्य चार विषय कहलाये गये हैं। इस ग्रन्थ का अधिकारी 'बाल' अर्थात् वह है जो न तो सर्वथा शिशु है न सर्वथा प्रौढ है। 'सुखबोधाय' शब्द द्वारा इस ग्रंथ का प्रयोजन दिया गया है। तर्क के विषय पर अनेक ग्रंथ होने पर भी यह ग्रंथ इसलिये लिखा गया है कि विषय का बोध सुखपूर्वक हो सके। वाक्यविवत्ति के अनुसार सुख अर्थात् मोक्ष का बोध इस ग्रंथ का प्रयोजन है। तर्कसंग्रह शब्द विषय और सम्बन्ध दोनों को बतलाता है। तर्क अर्थात् जिनका विवेचन किया जाता है वे द्रव्यादि सप्त पदार्थ तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यान्त

इति तर्काः द्रव्यादिसप्तपदार्थाः। न्याय में 'तर्क' के अनेक अर्थ दिये हैं पर जो अर्थ यहां किया है वह एक दष्टि से असाधारण ही है। 'संग्रह' शब्द यहाँ संक्षेप के अर्थ में आया है।

२. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाशव–ये सात पदार्थ हैं।

(तत्व दीपिका) पदार्थान्विभजते–द्रव्येत्ति। 'पदस्यार्थः = पदार्थ':' इति व्युत्पत्त्याभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्।। नन्वत्र विभागादेव सप्तत्वे सिद्धे 'सप्त' ग्रहणं व्यर्थमिति चेत्–न; अधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थत्वात्।। नन्वतिरिक्तः पदार्थः प्रमितो न वा ?। नाद्यः; प्रमितस्य निषेधायोगात्। नान्त्यः, प्रतियोगिप्रमितिं विना निषेधानुपपत्तेरिति चेत्, – न; पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यमिति व्यवच्छेदार्थत्वात्।। ननु सप्तान्यतमत्वं सप्तभिन्नभिन्नत्वमिति वक्तव्यम्। एवं च सप्तभिन्नस्याप्रसिद्धत्वात्सप्तान्यतमत्वं कथम् ? इति चेत्, – न; द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं द्रव्यादिभेदसप्तकाभावत्त्वमित्युक्तत्वात्। एवमग्रेपि द्रष्टव्यम्।।

विशेष :- दीपिका में पदार्थ का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति पर आधारित है। पद का अर्थ पदार्थ है–पदस्य अर्थः। इसे ही दूसरे शब्दों में कह सकते हैं–अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षम्। अर्थ उसे कहते हैं जिसके प्रति इन्द्रियाँ गतिशील होती हैं–ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सः। सिद्धान्तचन्द्रोदय में पदार्थ को 'ज्ञेयत्व' द्वारा और सप्तपदार्थी में 'प्रमितिविषयत्व' द्वारा कहा गया है। वस्तुतः जो पदार्थ ज्ञेय होगा वह अभिधेय भी होगा ही।

हम देखते हैं कि सभी दर्शनकारों ने पदार्थों की भिन्न–भिन्न संख्या मानी है। गौतम ने १६ पदार्थ माने, वेदान्तियों ने चित् और अचित् दो पदार्थ माने, रामानुज ने उनमें एक ईश्वर और जोड़ दिया। सांख्यदर्शन में २५ तत्त्व हैं और मीमांसकों में ८। वस्तुतः इन सभी दर्शनों में 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किसी एक विशिष्ट अर्थ में नहीं किया गया, प्रत्युत उन सभी विषयों का, जिनका विवेचन तत्तत् दर्शनों में है, पदार्थ नाम दे दिया गया।

दीपिका में यहां इस विषय का भी विवेचन है कि यहां सप्त शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। इस पर उत्तर दिया गया है कि यहां सप्त का ग्रहण अधिक पदार्थों की संभावना का निषेध करने के लिये है। वस्तुतः वैशेषिक दर्शन में छः और गौतम दर्शन में १६ पदार्थ थे। कणाद के बतलाये गये छः पदार्थों में परवर्ती टीकाकारों ने अभाव और जोड़ दिया। दीपिका में अन्त में गौतम द्वारा दिये गये १६ पदार्थों का भी सप्त पदार्थों में ही अन्तर्भाव किया गया है। उसका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ न्यायबोधिनी टीका में यह शंका उठाई गई है कि शक्ति को भी अष्टम पदार्थ क्यों न मान लिया जाये। मणि विशेष के रहने पर ईंधन के पास अग्नि रखने पर भी दाह नहीं होगा और मणि न होने पर दाहानुकूल शक्ति उत्पन्न हो जाती है अतः शक्ति भी एक अष्टम पदार्थ है। इसका उत्तर यह है कि मणि का अभाव ही दाह का कारण है और यदि मणि के संयोंग और वियोग को पदार्थ मानें, तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिये पदार्थ सात ही हैं।

३. तत्र द्रव्याणि पथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।।

उन (पदार्थों) में पथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन – ये नौ ही द्रव्य हैं।

(तत्त्व दीपिका) द्रव्यं विभजते–तत्रेति। तत्र द्रव्यादिमध्ये द्रव्याणि नवैवेत्यन्वयः। कानि तानीत्यत आह–पथिवीत्यादि। ननु तमसो दशमद्रव्यस्य विद्यमानत्वात्कथं नवैव द्रव्याणि ?। तथाहि–'नीलं तमश्चलति' इत्यबाधितप्रतीतिबलाशीलरूपाधारयता क्रियाधारतया च द्रव्यत्वं तावत्सिद्धम्। तत्र तमसो नाकाशादिपचकेन्तर्भाः; रूपवत्त्वात्। अतः एव न वापौ; स्पर्शाभावात् सदागतिमत्त्वाभावाच्च। नापि तेजसि; भास्वररूपाभावादुष्णस्पर्शाभावाच्च। नापि जले; शीतस्पर्शाभावान्नीलरूपाश्रयत्वाच्च। नापि पथिव्याम्; गन्धवत्त्वाभावात् स्पर्शरहित्वाच्च। तस्मात्तमो दशमद्रव्यमिति चेत्, –न; तमसस्तेजोभावरूपत्वात्। तथाहि–तमो हि न रूपवद्द्रव्यमालोकसहकृतचक्षुर्पाह्यत्वादालोकाभावत्। रूपिद्रव्यचाक्षुवप्रमालोकस्य कारणत्वात्। तस्मात्प्रौढप्रकाशकतेजःसामान्या–भावस्तमः। तत्र 'नीलं तमश्चलति' इति प्रत्ययो भ्रमः। अतो नव द्रव्याणीति सिद्धम्।।

विशेष :- प्रस्तुत प्रसंग में दीपिका और न्यायबोधिनी दोनों टीकाओं में यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या तमस् दसवां द्रव्य नहीं है ? द्रव्य में गुण और क्रिया आवश्यक मानी गई हैं। ये दोनों तमस् में हैं क्योंकि 'नील तम चलता है'–यहां नील गुण और गति क्रिया दोनों का आश्रय तमस् को माना है। तमस् का रूप है अतः यह अन्तिम पांच (आकाश, काल, दिक्–गुण, आत्मा और मन) में तो अन्तर्भूत नहीं हो सकता क्योंकि वे पांचों तो रूप रहित हैं। इसी कारण तमस् वायु भी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त तमस् में स्पर्श भी नहीं है और न निरन्तर गति ही है इसलिए भी उसका वायु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि इसका रूप भास्वर नहीं है और न ही इसका स्पर्श उष्ण है, अतः यह तेज भी नहीं हो सकता। इसका वर्ण नील है और इसका स्पर्श शीत भी नहीं है, अतः यह जल भी नहीं हो सकता। इसमें न गन्ध है न स्पर्श, अतः यह पथ्वी के अन्तर्गत भी समाविष्ट

नहीं होता। अतः तमस् को दसवां द्रव्य मानना ही चाहिये। किन्तु सिद्धान्त पक्ष यह है कि तमस् केवल तेज का अभाव है, स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। यदि इसे दसवां द्रव्य मानें तो या तो यह रूपवान् होगा या रूपरहित। नीला प्रतीत होने के कारण यह रूप रहित तो माना नहीं जा सकता और इसे रूपवान् भी नहीं मान सकते क्योंकि रूपवान् को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है जबकि तमस् को देखने के लिए किसी प्रकार के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। अतः तमस् को 'प्राढप्रकाशतेजःसामान्याभावः' कहा है। यहां 'समान्य' शब्द से यह माना गया है कि किसी भी प्रकार के तेज का अभाव अभिप्रेत है न कि किसी सूर्यचन्द्रादि के तेज विशेष का। 'प्रकाशक' शब्द यहां इसलिए रखा गया कि यद्यपि स्वर्ण तैजस् है किन्तु प्रकाशक नहीं है अतः स्वर्ण के होने पर भी तमस् का होना सम्भव है। 'प्रौढ' का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म प्रकाश से अन्धकार दूर नहीं होता। दीपिका में अन्धकार में नील वर्ण और गति की प्रतीति को भ्रान्ति माना है। श्रीधर ने न्यायकन्दली में अन्धकार को किसी पदार्थान्तर पर नीलवर्ण का आरोप मात्र माना है और इस प्रकार इसे अभाव न मानकर एक गुण तो माना है किन्तु द्रव्य नहीं। प्राभाकर मीमांसकों में से कुछ इसे तेज के ज्ञान का अभाव मानते हैं तेज का अभाव नहीं। न्यायबोधिनी में यह भी चर्चा की गई है कि तेज को ही अन्धकार का अभाव क्यों न मान लिया जाए। किन्तु उसके उत्तर में यह कहा गया है कि अष्ण स्पर्श का आश्रय होने के कारण तेज को अभाव रूप नहीं माना जा सकता। अन्धकार में नील रूप की प्रतीति दीपक के अपसरण की क्रिया के कारण होने वाली भ्रान्ति ही है।

दीपिका मे यहां द्रव्य का लक्षण करते समय लक्षण के तीन दोषों की भी चर्चा की गई है। लक्षण को असाधारण धर्मयुक्त होना चाहिए। असाधारण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्। लक्षण को तीन दोषों से रहित होना चाहिए—१. अव्याप्ति अर्थात् ऐसे धर्म जो लक्ष्य पदार्थ के एक अंश में रहें जैसे—गौ का 'कपिलत्व'। २. अतिव्याप्ति जो ल्रक्ष्य से अतिरिक्त पदार्थों में भी रहें जैसे गौ का 'श्रंगित्व'। ३. असम्भव जो किसी भी लक्ष्य में न रहे जैसे गौ का 'एकशफवत्व'। इस विवेचन से हमें यह पता चलेगा कि भारतीय तार्किक किसी पदार्थ का लक्षण करते समय उसके सब अनिवार्य धर्मों का परिगणन आवश्यक नहीं मानते थे; प्रत्युत केवल ऐसे धर्मों का निर्देश ही पर्याप्त समझते थे जो लक्ष्य को इतर पदार्थों से विविक्त कर दें। इस कारण कई स्थानों पर लक्षण केवल कुछ गुणों का परिगणनव या वर्णन मात्र रह गये हैं।

४. रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विशंतिगुणाः।।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार – ये चौबीस गुण हैं।

(तत्त्व दीपिका) गुणं विभजते—रूपेति। द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः। गुणत्वजातिमान्वा। ननु लघुत्वमदुत्वकठिनत्वादीनां विद्यमानत्वात्कथं चतुर्विशर्तिगुणाः ? इति चेत्, न; लघुत्वस्य गुरुत्वाभावरूपत्वात्, मदुत्व—कठिन—त्वयोरवयवसंयोगविशेषरूपत्वात्।।

विशेष :- दीपिका में गुण की परिभाषा गुणत्वजातिमान् भी है, जोकि द्रव्य की प्रथम परिभाषा के समान केवल शाब्दिक परिभाषा मात्र है। गुण की दूसरी परिभाषा है—द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान्। नैयायिकों के अनुसार सामान्य अथवा जाति द्रव्य, गुण और कर्म में रहती है। अतः ऐसे सामान्यवान् पदार्थ को गुण कहा जा सकता है जो न द्रव्य हो न कर्म। इसे ही दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जाता है—द्रव्यावत्ति—नित्यवत्ति—जातिमान्। अर्थात् जो न द्रव्य है और न अनित्य और जातिमान् भी है वह गुण है। यहां 'नित्य' शब्द से कर्म का निराकरण हो जाता है। भाषापरिच्छेद में गुण की परिभाषा अधिक पूर्ण दी है—अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः। अर्थात् गुण द्रव्य में रहते हैं किन्तु स्वयं गुण और क्रिया रहित होते हैं। कणाद ने गुण की जो परिभाषा दी है वह इससे बहुत मिलती—जुलती है—द्रव्याश्रयी न गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। यहा 'संयोगविभागष्वकारणम्' पद द्वारा कर्म में अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है, क्योंकि कर्म संयोग और विभाग में कारण है।

उपर्युक्त परिभाषों पर ध्यान दें तो यह पता चलेगा कि वास्तविक समस्या गुण को द्रव्य और कर्म से भिन्न करने की है। द्रव्य अधिकरण है, गुण और कर्म दोनों ही उसके आश्रित हैं। बोडास का मत है कि गुण स्थायी है, कर्म अस्थायी। जब तक प्रक्रिया चलती है तब तक कर्म कहलाता है किन्तु जब प्रक्रिया स्थिर हो जाती है तो गुण कहलाता है। उदाहरणत?ः वाहन की गति कर्म है क्योंकि वह किसी भी क्षण रुक सकती है किन्तु पथ्वी और नक्षत्रों की गति गुण है क्योंकि वह उनका स्थायी स्वभाव है। किन्तु बोडास का यह विवेचन शास्त्रसम्मत नहीं है।

ऊपर जो २४ गुण दिये हैं उनका आधार कोई गम्भीर विवेचन नहीं प्रतीत होता। किसी पदार्थ के स्वरूप का तात्त्विक

विवेचन करके गुणों का परिगणन भारतीय तार्किकों ने सम्भवतः नहीं किया। कणाद ने १७ गुण गिनाये हैं—रूपरसगन्धस्पर्शसंख्याः परिमाणनि पथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः। टीकाकारों ने 'च' शब्द का सहारा लेकर इसमें ७ गुण और जोड़ दिये—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। शंकर मिश्र ने यह कहकर इसकी व्याख्या की है कि क्योंकि वे सात गुण सर्वविदित हैं अतः सूत्रकार ने उन्हें नहीं गिनाया। स्पष्ट है कि यह व्याख्या अधूरी है। १७ की अपेक्षा २४ गुण संभवतः सर्वप्रथम प्रशस्तपाद ने गिनाये। नव्यन्याय में केवल २१ गुण ही माने जाते हैं। नव्यनैयायिक 'परत्व' 'अपरत्व' की 'विप्रकृष्टत्व' और 'संनिकृष्टत्व' या 'ज्येष्ठत्व' और 'कनिष्ठत्व' में अन्तर्निहित मान लेते हैं और पथकत्व को अन्योन्याभाव का ही एक रूप मानते हैं।

कुछ टीकाकारों ने गुणों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न भी किया है। दीपिका में लघुत्व, मदुत्व और कठिनत्व को तथा सिद्धान्तचन्द्रोदय में आलस्य को पथक् गुण गिनाया है। किन्तु यह कहा जाता है कि लघुत्व केवल गुरुत्व का अभाव है और मदुत्व तथा कठिनत्व संयोग की सघनता की क्रमिकता पर आश्रित है। आलस्य प्रयत्न का विरोधी है किन्तु यदि इसी आधार पर यह कहा जाये कि अधर्म भी तो धर्म का विरोधी है तो यह उत्तर दिया गया है कि अधर्म केवल धर्म का अभाव ही नहीं है प्रत्युत पाप रूप एक पथक् गुण है। यही बात संयोग—वियोग परत्व—अपरत्व और सुख—दुःख के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यह एक दूसरे के विपरीत तो हैं पर विरोधी नहीं हैं।

यदि हम विचार करें तो प्रतीत होगा कि यह विवेचन बहुत सूक्ष्म नहीं है। लघुत्व को गुरुत्व का विरोधी तभी माना जा सकता है जबकि गुरुत्व का अर्थ 'भारीपन' किया जाये। किन्तु गुरुत्व का अर्थ 'वजन' भी है और इस स्थिति में लघुत्व, गुरुत्व का विरोधी नहीं प्रत्युत क्रमिक न्यूनांश मात्र है। इसी प्रकार यदि द्रवत्व को संयोग का ही क्रमिक सघनता अंश होने पर भी स्वतन्त्र गुण माना जाए तो मदुत्व और कठिनत्व को भी स्वतन्त्र गुण ही मानना चाहिये। आलस्य भी स्थिति—स्थापक है और एक स्वतन्त्र गुण है, प्रयत्न का अभाव मात्र नहीं है। बुद्धि के बाद आने वाले नौ गुणों का सम्बन्ध आत्मा से है अतः उनका वर्गीकरण पथक् होना चाहिये।

सामान्य के दो भाग किये जाते हैं—अखंड और सखंड। अखंड जाति है सखंड उपाधि। पहला साक्षात् रूप से सम्बद्ध सामान्य है, दूसरा परम्परया सम्बद्ध सामान्य। द्रव्यत्व कर्मत्व प्रथम के उदाहरण हैं, प्रमेयत्व और दण्डित्व दूसरे के हैं। अभिप्राय यह है कि द्रव्यत्व से सीध सम्बद्ध है, किन्तु दण्डी का दण्डित्व से सम्बन्ध दण्ड के माध्यम से ही है; यदि दण्डसंयोग हट जाये तो दण्डित्वधर्म भी हट जायेगा। अतः यह परम्परया सम्बन्ध है, द्रव्य और द्रव्यत्व के बीच कोई ऐसा माध्यम नहीं है। प्रत्येक सामान्य गुण जाति नहीं होता यद्यपि बहुत से व्यक्ति अन्धे, लंगड़े या काले हो सकते हैं ये जाति नहीं कहलायेंगे। उदयनाचार्य ने छः कारण दिये हैं जिनके कारण एक सामान्य गुण भी जाति नहीं बन सकता।

१. जो पदार्थ एक ही हो, वह जाति नहीं बनाता जैसे आकाशत्व जाति नहीं है। २. जो पदार्थ एक ही हों उनकी पथक् पथक् जाति नहीं होती जैसे घटत्व और कलशत्व पथक्—पथक् जाति नहीं हो सकती। ३. जिन गुणों में परस्पर सांकर्य हो वे जाति नहीं बनाते जैसे भूतत्व और मूर्तत्व। आकाश भूत है और मूर्त नहीं है और मनस् मूर्त है पर भूत नहीं है, जबकि आकाश के अतिरिक्त शेष चारों तत्त्व भूत भी हैं और मूर्त भी। ४. स्वयं जाति की जाति नहीं होती। अन्यथा अनवस्था दोष आ जायेगा। ५. विशेष की विशेषत्व जाति नहीं होती। क्योंकि विशेष का स्वरूप ही ऐसा है कि वह जाति के विरुद्ध है। ६. जो परस्पर असम्बद्ध हों उनकी जाति नहीं हो सकती। जैसे समवायत्व।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायेगा कि अन्नभट्ट ने द्रव्य, गुण और कर्म की जाति मानी है अन्तिम चार पदार्थों की नहीं। द्रव्य में भी कुछ ऐसे द्रव्य हैं—जैसे आकाश या काल—जिनकी जाति नहीं हो सकती। फलतः उपाधि वह गुण है जो अनेक व्यक्तियों में रहता हो जबकि जाति एक विशेष प्रकार की उपाधि है जो ऊपर दी गई शर्तें पूरी होने पर ही हो सकती है। उदाहरणतः यदि सौ व्यक्तियों का हम उनकी राष्ट्रीयता, भाषा और शिक्षा के अनुसार वर्गीकरण करें तो एक ही व्यक्ति भाषा की दष्टि से एक वर्ग में, वर्ण की दष्टि से दूसरे वर्ग में, और राष्ट्रीयता की दष्टि से अन्य वर्ग में आएगा, अतः यह वर्गीकरण नहीं बन सकता। मनुष्य एक जाति अवश्य है क्योंकि वह आकृतिग्राह्य है किन्तु काला एक जाति नहीं है क्योंकि उसमें मनुष्य के अतिरिक्त काले पशुओं को भी लेना पड़ेगा। इस प्रकार भारतीय न्यायशास्त्र में जाति और उपाधि का यह सूक्ष्म भेद दिया गया है और यह उसकी एक विशेष देन है।

५. उत्क्षेपणावक्षेपणाकुचनप्रसारणगमनानि पच कर्माणि।

उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अवक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुचन (समेटना) प्रसारण (फैलाना) और गमन (गति)—ये पांच कर्म हैं।

(तत्त्व दीपिका) कर्म विभजते—उत्क्षेपणेति। संयोगभिन्नत्वे सत्ति संयोगासमवायिकारणं कर्म, कर्मत्वजातिमद्वा।। ननु भ्रमणादेरप्यतिरिक्तस्य कर्मणः सत्त्वात् पचेत्यनुपपन्नमिति चेत्,—न; भ्रमणादीनामपि गमनेन्तर्भावान्न पचविधत्व—विरोधः।।

विशेष :- यहाँ कर्मों का विभाजन सर्वथा कणाद के सूत्रानुकूल हुआ हैं दीपिका में गुण की तरह गर्म की भी दो परिभाषाएं दी हैं जिनमें वस्तुतः प्रथम—संयोंग का असमवायी कारण है परन्तु स्वयं संयोग नहीं है। असमवायी कारण की व्याख्या हम बाद में करेंगे। यहां केवल यह कहना पर्याप्त है कि केवल कर्म और कुछ गुण ही द्रव्य या गुणों के असमवायी कारण हो सकते हैं। उदाहरणतः यदि हाथ से पुस्तक को छुएं तो हाथ की गति, हाथ और पुस्तक के संयोग का कारण होगी। किन्तु साथ ही कभी—कभी एक संयोग ही दूसरे संयोग का असमवायी कारण होता हैं, उदाहरणतः हाथ से पुस्तक छूते समय हाथ और पुस्तक का संयोग शरीर और पुस्तक के संयोग का कारण है। अतः परिभाषा में यह कहा गया है कि संयोग का कारण होने पर भी कर्म स्वयं संयोग नहीं होता।

कर्म का पाँच भागों में विभाजन पर्याप्त वैज्ञानिक है—भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्व उज्ज्वलन, तिर्यग्गमन इत्यादि गमन में ही आ जायेंगे। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार तो उत्क्षेपण आदि भी गमन में आ जायेंगे। किन्तु नीलकठ ने यह कहकर इसका समाधान किया है कि ऋषि स्वतन्त्र इच्छा वाले हैं और उनके मत में नियोग पर्यनुयोग अर्थात् प्रश्नोत्तर नहीं हो सकता, अतः यही विभाजन ठीक है। किन्तु इस विभाजन में भी एक वैज्ञानिक आधार है। गति तीन प्रकार की हो सकती है ऊपर से नीचे, नीचे ये ऊपर या वक्र। वक्र गति भी दो प्रकार की है—दूरगामी और निकट लाने वाली। और यही चार गतियां यहां दी गई हैं। शेष प्रकार की गतियां गमन में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। अतः कर्म का विभाजन करते समय यादच्छिक विभाजन नहीं किया गया, प्रत्युत इसका एक वैज्ञानिक आधान मन में रखा गया है।

६. परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम्।।

पर और अपर—दो प्रकार का सामान्य है।

(तत्त्व दीपिका) सामान्यं विभजते—परमिति। परमधिकदेशवत्ति। अपरं न्यूनदेशवत्ति। सामान्यादिचतुष्टये जातिर्नास्ति।।

विशेष :- अन्नम्भट्ट सामान्य की परिभाषा यह देते हैं—नित्यमेकमनेकानुगतम्। उनके अनुसार सामान्य द्रव्य गुण और कर्म तीन में रहता है। इसकी तीन विशेषतायें हैं—१. यह नित्य है, २. यह एक है, ३. यह अनेकों में रहता है। यद्यपि संयोग और द्वित्व आदि अनेक में रहते हैं, किन्तु नित्य नहीं है। अणु नित्य भी है और अनेकों में रहता है किन्तु एक नहीं है। अत्यन्ताभाव नित्य भी है और अनेकों में रहता है। यद्यपि संयोंग और द्वित्व आदि अनेकों में रहता है किन्तु वह अनुगत नहीं है।

सामान्य के दो रूप—पर और अपर—माने गये हैं और उदाहरण के रूप में क्रमशः सत्ता और द्रव्यत्व को दिया गया है। किन्त यह पर और अपर सापेक्ष हैं। सत्ता की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर है पर घटत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व पर है। कुछ ने सामान्य के तीन भेद माने हैं। उदाहरणतः तर्कामत में व्यापक, व्याप्य और व्याप्यव्यापक ये तीन प्रकार के सामान्य माने हैं। सत्ता व्यापक है, घटत्व व्याप्य और द्रव्यत्व व्याप्य—व्यापक। इस प्रकार पर और अपर का विभाजन जो सापेक्ष है, तर्कामत में निरपेक्ष रूप से तीन भागों में बांट दिया गया।

विशेष पदार्थ की सत्ता का यह सिद्धान्त वैशेषिकदर्शन का इतना महत्त्वपूर्ण अंग है कि इसके आधार पर इस दर्शन का नाम ही वैशेषिक दर्शन पड गया यद्यपि कणाद ने इस पर इतना अधिक बल कहीं नहीं दिया। केवल एक सूत्र—अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः—में इसका उल्लेख किया है। उन्होंने यह बतलाया है कि यह विशेष पदार्थों के परमाणुओं में रहता है। इसी स्थल पर प्रशस्तपाद ने विशेष के सिद्धान्त का ऊहापोहपूर्वक प्रतिपादन किया जिसका बहुत से नव्यनैयायिकों ने खण्डन भी किया, यद्यपि वे नव्यनैयायिक अन्यथा वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों को मानते हैं। उनका यह कहना है कि यदि एक परमाणु को दूसरे परमाणु से पथक् मानने के लिए विशेष की आवश्यकता है तो एक विशेष को दूसरे विशेष से पथक् मानने के लिए भी एक पदार्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यदि यह कहा जाए कि स्वयं विशेषों में ही एक ऐसी शक्ति है कि वे एक दूसरे से पथक् हो जाते हैं, तो यह शक्ति परमाणुओं में ही क्यों न मान ली जाये। यदि ऐसी शक्ति माननी है तो विशेष की अतिरिक्त सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

७. नित्यद्रव्यवत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।।

नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष तो अनन्त ही हैं।

(तत्त्व दीपिका) विशेषं विभजते—नित्येति। पथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणव आकाशादिपचकच नित्यद्रव्याणि।।

विशेष :- कणाद विशेष को अन्त में रहने के कारण अन्त्य कहते हैं। अन्त्य का अर्थ है कि वह अवसान में रहने वाला

है। आगे चलकर अन्नम्भट्ट बतलायेंगे कि विशेष वह है जो नित्य पदार्थों में रहता है और उन्हें एक दूसरे से पथक् करता है। ये विशेष अनन्त हैं क्योंकि प्रत्येक नित्य पदार्थ के अपने–अपने पथक्–पथक् हैं। विशेष की दूसरी परिभाषा है–स्वतो व्यावर्तकत्वम्। अर्थात् जो स्व से स्व को पथक् करे। विशेष सजातीय परमाणुओं में परस्पर भेदसिद्धि के लिये माना जाता है। पथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं में और आकाश, काल, दिग्, आत्मा और मन में विशेष रहता है।

इन गुणों का सामान्य और विशेष इन दो भागों में विभाजन किया जाता है। विशेष गुण का दीपिका में यह लक्षण दिया है–द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावत्ति–द्रव्यकर्मावत्ति–जातिमान्। जिसका सरल शब्दों में यह अर्थ है कि वह गुण जो एक समय में एक ही द्रव्य में रहे विशेष गुण कहलाता हैं सामान्य गुण दो द्रव्यों में या दो से अधिक द्रव्यों में एक साथ रहते हैं। २४ गुणों में से बुद्धि आदि ६, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक, द्रवत्व, अदष्ट, भावना और शब्द विशेष गुण माने जाते हैं। संख्या से लेकर अपरत्व तक और असांसिद्धिक, द्रवत्व, गुरुत्व तथा वेग ये सामान्य गुण माने गये हैं।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श एकेन्द्रिय–ग्राह्य गुण हैं। संख्या, परिमाण, पथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा स्नेह, द्वीन्द्रियग्राह्य गुण हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म और संस्कार अतीन्द्रिय गुण हैं।

८. समवायस्त्वेक एव।।

समवाय तो एक ही है।

(तत्त्व दीपिका) समवायस्य भेदो नास्तीत्याह–समवायस्त्विति।।

विशेष :- समवाय का शब्दार्थ है घनिष्ठ सम्बन्ध या दो वस्तुओं का परस्पर एक दूसरे के निकट आना। यह ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध को बतलाता है जो उन दो वस्तुओं में रहता है। जिनका सम्बन्ध बिना उन्हें नष्ट किये नहीं नष्ट किया जा सकता।

अन्नम्भट्ट ने यहाँ समवाय को केवल एक ही बतलाया है। और ऐसा बलपूर्वक कहा है–समवायस्त्वेक एव। ऐसा अन्नम्भट्ट ने जानबूझ कर किया है क्योंकि प्रभाकर मीमांसक और नव्यनैयायिकों में कुछ लोग ऐसा नहीं मानते। समवाय का नित्यत्व यह कहकर सिद्ध किया जाता है कि भावकार्य केवल उपादान कारण में ही समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा मानें तो समवाय भी उत्पन्न होने के लिए एक अन्य समवाय की अपेक्षा रखेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः समवाय की अपेक्षा रखेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः समवाय को अनुत्पाद्य अर्थात् नित्य मानना चाहिए। हां, यह नित्यत्व होने का अर्थ है कि कार्य को उत्पन्न किये बिना न इसे उत्पन्न किया जा सकता है और कार्य को नष्ट किये बिना इसे नष्ट भी नहीं किया जा सकता। यहां नैयायिकों का कहना है कि समवाय प्रत्यक्ष है, अतः उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं किन्तु वैशेषिक, जिनमें अन्नम्भट्ट भी सम्मिलित हैं, समवाय को प्रत्यक्ष नहीं मानते। वे इसका यह कारण देते हैं कि कभी–कभी जिन दो पदार्थों में समवाय होता है, उनमें से एक परोक्ष होता है। उदाहरणतः आकाश शब्द का समवाय कारण है और स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है। अतः समवाय प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्युत अनुमेय है। अन्नम्भट्ट आगे चलकर अपनी टीका में इसका विवेचन करते हैं।

न्यायदर्शन में समवाय का बहुत अधिक महत्त्व है। उनका सारा कार्यकारण सिद्धान्त इसी पर आधारित है और यही सिद्धान्त उन्हें वस्तुवादी बनाता है। वेदान्त के मायावाद के विरोध में नैयायिकों का विशेष मत वस्तुवाद ही है। अतः सांख्य और वेदान्त में इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक खण्डन किया गया है। भाट्ट मीमांसक भी समवाय का खंडन करने में वेदान्तियों का साथ देते हैं। नैयायिकों का परमाणुवाद भी समवाय के सिद्धान्त पर आधारित है। ब्रह्मसूत्र की टीका में शंकराचार्य ने समवाय सिद्धान्त का खंडन किया है। उनका कहना है कि जब समवाय दो भिन्न पदार्थों का सम्बन्ध है, तो यह संयोग ही हुआ। यदि संयोगी द्रव्यों में संयोग समवाय सम्बन्ध से रहता है, तो समवायी द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। नैयायिकों का कहना है कि समवाय गुण नहीं है प्रत्युत पदार्थ है और समवाय समवायियों में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, प्रत्युत तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। वेदान्तियों का कहना है कि यदि ऐसा है तो संयोग और संयोगी में भी तादात्म्य सम्बन्ध क्यों न मान लिया जाये। संयोग गुण है और समवाय पदार्थ है ऐसा कहना सर्वथा आधाररहित है। यह कहना भी गलत है कि समवाय नित्य होने के कारण संयोग से पथक् है क्योंकि कोई–कोई संयोग भी नित्य होते हैं, उदाहरणतः परमाणु का काल या आकाश से संयोग नित्य है जबकि समवाय वस्तुतः नित्य नहीं है क्योंकि कार्य के नष्ट हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है। मूल प्रश्न यह है कि यदि समवाय का कार्य और कारण से तादात्म्य मानें तो या कार्य का ही कारण से तादात्म्य मानना अधिक सरल नहीं रहेगा ? इसमें लाघव है। अतः वेदान्त और सांख्य कार्य और कारण में समवाय सम्बन्ध नहीं मानते प्रत्युत तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं।

९. अभावश्चतुर्विधः-प्रागभावः प्रध्वंसाभावोत्यन्ताभावोन्योन्याभावश्चेति।।

अभाव चार प्रकार का है–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

(तत्त्व दीपिका) अभावं विभजते–अभावेति।

विशेष :- यहाँ अभाव के चार भेद बतलाये गये हैं। प्रागभाव वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाला अभाव है। प्रध्वंसाभाव वस्तु के नष्ट हो जाने पर होने वाला अभाव है। अत्यन्ताभाव वस्तु का आत्यन्तिक अभाव है, और अन्योन्याभाव पारस्परिक अभाव। कई ग्रन्थों में इन चार अभावों को दो मूल भागों में विभाजित कर दिया है। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। संसर्गाभाव के तीन रूप हैं जब हम कहते हैं–इह भूतले घटो नास्ति–उस समय हम भूतल के घट के संसर्ग का अभाव बतलाते हैं। इसी प्रकार प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव भी अधिकरण में पदार्थ का अभाव बतलाते हैं। जबकि अन्योन्याभाव दो पदार्थों का पारस्परिक अभाव बतलाता है। वस्तुतः अन्योन्याभाव दो संसर्गाभावों को मिलाकर बनता है–घटः पटो नास्ति इसके दो अर्थ है–घटे पटत्वं नास्ति और पटे घटत्वं नास्ति। अन्योन्याभाव में दोनों पदार्थ समानाधिकरण होते हैं और प्रथमा में रखे जाते हैं जबकि संसर्गाभाव में एक अधिकरण होता है, एक आधेय।

कणाद ने अपने सूत्रों में अभाव को गिनवाया भी नहीं है। किन्तु टीकाकारों ने कणाद के अन्य सूत्रों में जैसे–कारणाभावात् कार्याभावः' और असति क्रियागुणव्यपदेशाभावदर्थान्तरम्–में अभाव शब्द को देखकर अभाव को एक पथक् पदार्थ मान लिया। उदयनाचार्य ने किरणावली में अभाव को सूत्र में न गिनने का यह कारण दिया है–एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टा अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् न तुच्छत्वात्। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अभाव की स्वतन्त्र स त्ता है। इतना निश्चित है कि चाहे तात्त्विक दष्टि से अभाव की सत्ता न हो किन्तु व्यवहार के लिए इसकी सत्ता मानकर चलने से तार्किक पद्धति में बहुत सुविधा हो जाती है। अभाव, प्रतियोगी और अनुयोगी कुछ ऐसे ही शब्द हैं जिनकी वास्तविक सत्ता चाहे नहीं है, किन्त जिनका प्रयोग भारत के सभी दार्शनिकों ने किया है और इससे उन्हें बहुत सुविधा भी हुई है।

१०. गन्धवती पथिवी। सा द्विविधा-नित्यानित्या च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मत्पाषाणादिः।।

गन्धवती (जिसमें गन्ध समवाय सम्बन्ध से हो) पथ्वी है। वह दो प्रकार की है–नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्य (घटादि) रूप। फिर वह (?) तीन प्रकार की है–शरीर, इन्द्रिय और विषय। शरीर हमारा (पार्थिव प्राणियों का) है। इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय है जो नासिका के अग्रभाग में स्थित है। विषय मिट्टी पत्थर आदि हैं।

(तत्त्व दीपिका) तत्रोद्देशादिक्रमानुसारात्पथिव्या लक्षणमाह–गन्धवतीति। नाम्ना पदार्थसंकीर्तनमुद्देशः। उद्देशक्रमे च सर्वत्रेच्छैव नियामिका। ननु सुरभ्यसुरभ्यवयावारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्तिः। न च तत्र गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्; अवयवगन्धस्यैव तत्र प्रतीतिसंभवेन चित्रगन्धानङ्गीकारात्।। किचोत्पन्नविनष्टघटादावव्याप्तिरिति चेत्, न; गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वस्यैव विवक्षितत्वात्। ननु जलादावपि गन्धप्रतीतेरतिव्याप्तिरिति चेत्,–न; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पथिवीगन्धस्यैव तत्र भानाङ्गीकारात्। ननु तथापि कालस्य सर्वाधारतया सर्वेषां लक्षणानां कालेतिव्याप्तिरिति चेत्–न; सर्वाधारताप्रयोजकसंबन्धभिन्नासंबन्धेन लक्षणस्याभिमतत्वात्।।

पथिवीं विभजते–सा द्विविधेति। नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वम्। ध्वंसप्रतियोगित्वमनित्यत्वम्।। प्रकारान्तरेण विभजते–पुनरिति। आत्मनो भोगायतनं शरीरम्। यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनम्। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारों भोगः।। शब्देतरोद्भूतविशेष–गुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः–संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः। एवच गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्, गन्धवदिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम् गन्धवान्विषयः पार्थिवविषय इति तत्तल्लक्षणं बोध्यम्।। पार्थिवशरीरं दर्शयति–शरीरमिति। पार्थिवेन्द्रियं दर्शयति–इन्द्रियमिति। गन्धग्राहकमिति प्रयोजनकथनम्। घ्राणमिति संज्ञा। नासाग्रेत्याश्रयोक्तिः। एवमत्तरत्रापि ज्ञेयम्। पार्थिवविषयं दर्शयति–विषयेति।।

यहाँ पथ्वी का लक्षण गन्धवती किया है जिसका अर्थ है गन्धसमवायिकारणम्। यहाँ 'वत्' का अर्थ है–समवाय, अन्यथा तो काल और दिक् भी कालिक और देशिक सम्बन्ध से गन्ध के साथ सम्बद्ध रहते हैं; अतः अतिव्याप्ति दोष आ जायेगा। दीपिका में अन्य तीन आक्षेप भी उठाये गये हैं। पहला यदि एक पदार्थ में सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों मिलकर उसे गन्धरहित कर दें तो उसमें यह लक्षण नहीं घटेगा। अतः वहाँ भी यह लक्षण घट जाए, इसके लिए यह आवश्यक है कि यहां 'वत्' का अर्थ या तो समवाय माना जाय, अथवा एक चित्रगन्ध की उपस्थिति मानी जाए। चित्रगन्ध की उपस्थिति यहां नहीं मानी जा सकती क्योंकि अलग–अलग भागों की अलग–अलग गन्ध प्रतीति में आती है अतः 'वत्' का अर्थ समवाय ही हैं। दूसरा आक्षेप वही है जो द्रव्य

को गुणवत् कहने में आती है, अर्थात् जैसे ही द्रव्य उत्पन्न होता है उस क्षण वह निर्गुण होता है और इसलिए उसमें गन्ध भी नहीं होगी। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि यहाँ गन्ध–समानाधिकरणद्रव्यत्वापर–जातिमत्त्व ही विवक्षित है। तीसरा आक्षेप यह है कि जल इत्यादि में भी गन्ध देखने में आती है किन्तु इसका उत्तर यह है कि वह गन्ध पार्थिव कणों के संयोग के कारण ही हैं चौथा आक्षेप जो दीपिका ने नहीं दिया, और बोडास ने अपनी टिप्पणी में दिया है, वह यह है कि पाषाण इत्यादि पार्थिव पदार्थ भी निर्गन्ध होते हैं। किन्तु इसका उत्तर यह है कि उनमें गन्ध अनुद्भुत होती है यद्यपि इसकी सत्ता वहाँ अवश्य होती है। काल के सर्वाधार होने के कारण पथ्वी का कारण उसमें भी अतिव्याप्त हो जायेगा, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वाधार होने के कारण होने वाला सम्बन्ध यहाँ या अन्य लक्षणों में अभिप्रेत नहीं है।

यद्यपि यहाँ गन्ध को पथ्वी का लक्षण माना है। किन्तु गन्ध पथ्वी का एकमात्र गुण नहीं है। कणाद ने अपने सूत्रों में पथ्वी के चार गुण माने हैं–रूपरसगन्धस्पर्शवती पथिवी, और शंकर मिश्र ने इसके आधार पर पथ्वी के चार वैकल्पिक लक्षण भी माने हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, पथ्वी में दस गुण और रहते हैं और इस प्रकार पथ्वी में कुल १४ गुण हैं किन्तु लक्षण कोटि में असाधारण धर्म का ही निर्देश रहता है। पथ्वी का असाधारण धर्म गन्धमात्र ही है।

नित्य और अनित्य पथ्वी-

दीपिका में नित्य का अर्थ दिया है–ध्वंसाप्रतियोगित्वम् और अनित्य का अर्थ दिया है–ध्वंसप्रतियोगित्वम्। जो नष्ट न हो सके वह नित्य है और जो नष्ट हो सके वह अनित्य है।

पथ्वी को शरीर, इन्द्रिय और विषय की दष्टि से त्रिधा विभाजित किया जाता है। मनुष्य इत्यादि का शरीर पार्थिव शरीर है, नासिका या घ्राणेन्द्रिय इन्द्रिय है, जबकि पत्थर इत्यादि उसके विषय हैं। कणाद ने भी इन तीन प्रकार की पथ्वियों का वर्णन किया है। किन्तु इस विषय में मतभेद हैं कि पथ्वी का यह त्रिधा विभाजन कार्यरूपा पथ्वी का है या सभी प्रकार की पथ्वी का। यहां तर्कसंग्रह के पाठ पर भी इसका निर्णय निर्भर करता है, क्योंकि एक स्थान पर 'पुनस्त्रिविधा' से पहले 'सा' पाठ मिलता है और यदि इस पाठ को मानें तो यह विभाजन कार्यरूपा पथ्वी का ही मानना होगा। यह पाठ कणाद के निम्न सूत्र के आधार पर भी युक्तिसंगत माना जा सकता है, क्योंकि इस सूत्र में कार्य पथ्वी के ही ये तीन भेद माने हैं–तत्पुनः पथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्। किन्तु यहां यदि 'सा' पाठ न भी मानें तो भी पुनः शब्द के आधार पर यही अर्थ निकाला जा सकता है और सिद्धान्तचन्द्रोदय में वस्तुतः निकाला भी गया है। 'सा' शब्द के यहाँ पढ़ने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बाधा यह है कि दीपिका ने यहाँ टिप्पणी करते हुए लिखा है–प्रकारान्तरेण विभजते। अर्थात् यह विभाजन एक प्रकार से किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि यह एक उपविभाजन नहीं है प्रत्युत प्रकारान्तर से किया जाने वाला एक स्वतंत्र विभाजन है। यह बात सिद्धान्तचन्द्रोदय के भी विरोध में जाती है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अन्नम्भट्ट कणाद के सूत्रों के विरोध में जा सकते हैं ? जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कणाद के सूत्रों में ये तीन विभाजन कार्य पथ्वी के ही माने गये हैं और प्रशस्तपाद ने अपनी टीका में इसे और भी स्पष्ट कर दिया है–त्रिविधं चास्याः कार्यम्। शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्। यदि अन्नभट्ट इसे पथ्वी–मात्र का विभाजन मानें तो यह इस समस्त परम्परा के विरुद्ध चला जायेगा। अतः जैसा कि नीलकण्ठ ने कहा है–चाहे हम कोई सा ही विभाजन मानें, वस्तुस्थिति यह है कि यह विभाजन नित्या पथ्वी पर लागू नहीं होगा–अत्र नित्यपथिव्याः शरीरेन्द्रियभिन्नत्वरूपविषयलक्षणाक्रान्तत्वेन विषयान्तर्गतत्वमिति पथिव्यास्त्रिविधत्वमत एव मूले पुनस्त्रिविधेत्युक्तिः संगच्छत इति ध्येयम्। नित्या पथ्वी वस्तुतः ततीय प्रकार के विभाजन के अन्तर्गत आयेगी और इस प्रकार इन तीन प्रकारों में उसका भी समावेश हो जायेगा। इस प्रकार दोनों ही दष्टियों का समन्वय हो सकता है।

शरीर की परिभाषा है–आत्मनो भोगायतनम्। इससे भी अधिक उपयुक्त परिभाषा है–अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टात्रयम्। अर्थात् जिसमें स्वतन्त्र चेष्टा है और जो अन्तिम अवयवी हो, वह शरीर है। अन्तिम अवयवी की परिभाषा है–अवयवजन्यत्वे सत्यवयव्यजनकत्वम्। अर्थात् जो स्वयं किन्हीं अवयवों से मिलकर बना है किन्तु स्वयं किसी अवयवी का जनक न हो। जैसे घट और हमारा शरीर। हमारा शरीर स्वयं एक अवयवी है किन्तु अन्य अवयवी का अवयव नहीं है। चेष्टा की परिभाषा दी गई है–हितहितप्राप्तिपरिहारार्थः स्पन्दः। अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवत्ति के लिए की जाए। अतः अन्तिम अवयवी नहीं कहला सकते। शरीर दो भागों में विभक्त है–योनिज और अयोनिज। शुक्र, शोणित इत्यादि के संयोग से उत्पन्न शरीर योनिज है जैसा कि मनुष्य, पशु और पक्षी का। स्वेद से उत्पन्न होने वाले कीटाणुओं का, वक्षों का, और मनु इत्यादि सिद्ध पुरुषों का शरीर अयोनिज है क्योंकि वह स्वयंभू है। इस वर्गीकरण के अन्तर्गत नैयायिकों नें समस्त प्राणियों का विभाजन कर दिया।

इन्द्रिय-

इन्द्रिय की दीपिका में यह परिभाषा दी गई है–शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयम्। अर्थात् जो मन के संयोग से ज्ञान का कारण बने, किन्तु स्वयं शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य विशेष गुण का आश्रय न हो। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया सिद्धान्त चन्द्रिका में इस प्रकार दी है–आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमथन ततः प्रत्यक्षम्। अर्थात् इन्द्रियां एक ओर बाह्य विषयों से सम्बद्ध होती है, और दूसरी ओर से मन से जोकि आत्मा से श्रृंखला का कार्य करता है। अतः मन आत्मा और इन्द्रिय दोनों से सम्बन्ध रखता है और ये दोनों ही सम्बन्ध ज्ञान का कारण हैं। उपर्युक्त परिभाषा में शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति इसलिए कहा गया है कि इन्द्रय का लक्षण आत्मा में अतिव्याप्त न हो जाए क्योंकि आत्मा में तो, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, १४ गुण होते हैं। किन्तु इस पर यह आक्षेप उठाया जा सकता है कि इन्द्रियाँ भी जिन–जिन पदार्थों से बनती हैं, उन–उन के गुणों का आश्रय होता ही है। उदाहरणतः पथ्वी से निर्मित इन्द्रिय में गन्ध और तेज से निर्मित इन्द्रिय में रूप होना ही चाहिए। उत्तर यह है कि उनमें गुण रहते अवश्य हैं, किन्तु व्यक्त नहीं होते। इसीलिये परिभाषा में विशेष का उद्भूत विशेषण दिया गया है। किन्तु इस प्रकार यह परिभाषा अव्याप्त हो जायेगी क्योंकि श्रोत्र में तो जोकि आकाश स्वरूप है, शब्द गुण उद्भूत ही रहता है अतः परिभाषा में 'शब्देतर' पर जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार इन्द्रियों की कुछ अन्य परिभाषाएं भी हैं जैसे–शरीरसंयुक्तं ज्ञानकारणमतीन्द्रियम् तथा स्मत्यजनक–ज्ञानजनक–मनःसंयोगाश्रयत्वम्। प्रथम परिभाषा में अतीन्द्रिय शब्द से आत्मा और बाह्य पदार्थों का निराकरण हो जाता है और शरीर–संयुक्त पद से निर्विकल्प ज्ञान का निराकरण हो जाता है जोकि सविकल्प ज्ञान का आभ्यन्तर कारण है। दूसरी परिभाषा में स्मत्यजनक पद द्वारा आत्मा का निराकरण किया गया है। इन्द्रियां दो प्रकार की हैं–बाह्य और आभ्यान्तर। मन आभ्यन्तर है शेष इन्द्रियां बाह्य। इनमें से घ्राण, रसना और श्रोत्र केवल गुणों को ग्रहण करते हैं, जबकि चक्षु और स्पर्श द्रव्य तथा गुण दोनों को ग्रहण करते हैं।

विषय-

इसके अन्तर्गत समस्त निर्जीव पार्थिव पदार्थ आते हैं। 'ये' यहाँ परसमस्त ज्ञेय पदार्थों के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि इन्द्रियों को हम ज्ञेय नही बना सकते, अतः वे विषय के अन्तर्गत नहीं आती किन्तु कम से कम हमारे शरीर के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के शरीर ज्ञेय हैं अतः वे तो विषय ही होने चाहिएं। स्वयं का शरीर तो विषयी (आध्यात्मिक) है किन्तु अन्यों के शरीर अवश्य विषय हैं। अतः उन्हें विषयों के अन्तर्गत मानना चाहिए। किन्तु यहाँ विषय शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में किया गया है सब ज्ञेय पदार्थों के अर्थ में नहीं। अन्य मनुष्यों के शरीर भी चाहे हमारी दष्टि से विषय हों, पर उनकी अपनी दष्टि से विषयी हैं। किन्तु पाषाण इत्यादि हमेशा विषय ही रहेंगे, विषयी नहीं हो सकते क्योंकि उनमें ज्ञान नहीं है। इस कठिनाई की ओर सिद्धान्तचन्द्रिका का ध्यान गया था क्योंकि उसमें लिखा है–"यद्येतल्लक्षणं शरीरादावतिव्याप्तमिति विभाव्यते तदा शरीरन्द्रिये भिन्नत्वमेव तदनुसरम्। वस्तुतस्तु शरीरादिकमपि विषय एव। भेदेन कीर्तनं तु बालधीवैशद्याय। अर्थात् भोगोपयोगी सभी पदार्थ विषय हैं तो शरीर और इन्द्रियाँ भी विषय के अन्तर्गत आयेंगी। किन्तु बालबुद्धि लोगों के लिए उनका अलग वर्गीकरण किया गया है। वस्तुतः सिद्धान्तचन्द्रिका का यह विचार मुक्तावली की निम्न पंक्ति से लिया गया प्रतीत होता है–शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः। ऐसा लगता है कि इन टीकाकरों ने इस बात पर विचार नहीं किया जो हमने ऊपर कही है कि यहाँ विषय का अर्थ उस पदार्थ से है जो हर स्थिति में विषय ही बने रहते हैं विषयी नहीं बन सकते। ध्यान देने की बात है कि अन्नम्भट्ट ने विषय को शरीरेन्द्रिय भिन्न कहा है, भोग या उपभोग का कोई निर्देश नहीं किया।

११. शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधाः - नित्या अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपाः अनित्याः कार्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।

शीत स्पर्श वाला जल है। वह दो प्रकार का है–नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्यरूप है। फिर वह तीन प्रकार का है–शरीर, इन्द्रिय और विषय। शरीर वरुणलोक में है। इन्द्रिय रस को ग्रहण करने वाली रसेन्द्रिय है जो जिह्सा के अग्रभाग में स्थित है। विषय नदी, समुद्र आदि हैं।

(तत्त्व दीपिका) अपां लक्षणमाह–शीतेति। उत्पन्नविनष्टजलेव्याप्तिवारणाय शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वे तात्पर्यम्। 'शीतं शिलातलम्' इत्यादौ जलसंबन्धादेव शीतस्पर्शभानमिति नातिव्याप्तिः। अन्यत्सर्व पूर्वरीत्या व्याख्येयम्।।

विशेष :- शीतल स्पर्श जल का लक्षण है। इसका विभाजन भी पथ्वी की भांति प्रथम नित्य, अनित्य और फिर शरीर, इन्द्रिय और विषय के रूप में किया गया है। जलीय शरीर वरुण लोक माना गया है। जिह्वा का अग्रभाग जो स्वाद ग्रहण करता है इसकी इन्द्रिय है और नदी, समुद्र इत्यादि इसके विषय है। ऐसा लगता है कि एकरूपता की दष्टि से आपः और तेजस् पर

भी लिखे गए दोनों गद्यांश पथ्वी के गद्यांश के ढाँचे पर ढाले गये हैं। इससे यह विचित्रता आ गई है कि पार्थिव शरीर तो प्रत्यक्ष ही देखने में आते हैं, किन्तु जलीय और तैजस, जो प्रत्यक्ष दष्टिगोचर नहीं होते, वरुण और आदित्य लोक में मान लिये गये हैं। कणाद ने आपः की यह परिभाषा दी है–रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः; और यह भी कहा है कि जल का स्पर्श शीतल होता है किन्तु इसका कोई वर्गीकरण नहीं किया जो कि बाद के टीकाकारों ने जोड़ा है। एक बार जब टीकाकारों ने यह वर्गीकरण कर दिया तो फिर इसके पक्ष में उठने वाले समस्त आक्षेपों का समाधान अनिवार्य हो गया, चाहे वह समाधान बहुत बार उचित न भी रहा हो। उदाहरणतः यहि आक्षेप किया जाता है कि जलीय शरीर तो जल के बुलबुले की तरह बिल्कुल तरल होगा और भोग भोगने में असमर्थ होगा। किन्तु इसका उ त्तर यह दिया जाता है कि जलीय शरीर वस्तुतः प्रधान रूप से जलीय परमाणुओं से बनते हैं किन्तु उनमें पार्थिव परमाणुओं का भी इतना अंश अवश्य रहता है कि वे एक सूत्र में गुथे रहें। जलीय शरीर केवल अयोनिज माने जाते हैं।

पाषाण में जो हमें शीतलता का अनुभव होता है, वह उसमें जलीय तत्त्व की सत्ता के कारण ही है। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में जो बात हम पथ्वी का वर्णन करते हुए कह चुके हैं, वही लागू होती है। जल में रहने वाले गुणों का भी हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं।

१२. उष्णस्पर्शवत्तेजः। तद्द्विविधिम्-नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधम्-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधः-भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।।

उष्ण स्पर्श वाला तेज है। वह दो प्रकार का है–नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्यरूप। फिर वह तीन प्रकार का है–शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। शरीर, आदित्यलोक में है। इन्द्रिय रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय है, जो काली पुतली के अग्रभाग में स्थित है। विषय चार प्रकार का है–भौम (भूमिकासम्बन्धी) दिव्य, उदर्य (उदरसम्बन्धी) तथा आकरज। भौम अग्नि आदि हैं। जल ही जिस की इन्धन है ऐसी विद्युदादि दिव्य है। खाये हुए को पचाने वाला औदर्य है। आकरज सुवर्ण आदि हैं।

(तत्त्व दीपिका) तेजसो लक्षणमाह–उष्णस्पर्शवदिति। 'उष्णं जलम्' इति प्रतीतेस्तेजः संबन्धानुविधायित्वान्नातिव्याप्तिः। विषयं विभजते–भौमेति। ननु सुवर्णं पार्थिवं, पीतत्वाद्गुरुत्वाद्धरिद्राविदिति चेत् न; अत्यन्तानलसंयांगे सति घतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, जलमध्यस्थघतादौ द्रवत्वनाशादर्शनेन, असति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रव्यद्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावावधारणात्। सुवर्णस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वेन पार्थिवत्वानुपपत्तेः। तस्मात्पीतद्रव्यद्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ नैमित्तिकद्रवत्वाधिकरणतया जलत्वानुपपत्तेः, रूपवत्तया वाय्वादिष्वनन्तर्भावात्, तैजसत्वसिद्धिः। तत्रोष्णस्पर्शभास्वररूपयोरूपष्टम्भकपार्थिवरूपस्पर्शाभ्यां प्रतिबन्धादनुपलब्धिः। तस्मात्सुवर्णं तैजसमिति सिद्धम्।।

विशेष :- इस प्रकरण में यह उल्लेखनीय है कि यहां तेजस् के विषय चार प्रकार के माने गए हैं–१. पार्थिव अर्थात् साधारण अग्नि और जुगुनू आदि २. दिव्य अर्थात् विद्युत् और वाड़वाग्नि, ३. औदरिक जो भोजन को पचाने में सहायक होता है, ४. चौथा आकरज जैसे सुवर्ण इत्यादि। इनमें भौम और दिव्य तो निश्चय ही तेज के स्वरूप हैं किन्तु अन्तिम दोनों केवल लाक्षणिक अर्थों में ही तेजस् माने जा सकते हैं। भोजन को पचाने और शरीर में उष्णता उत्पन्न करने के कारण औदर्य को भी तेज कह देते हैं।

मूल सूत्रों में तैजस का यह विभाजन नहीं मिलता। यह विभाजन प्रशस्तपाद के भाष्य में से लिया गया है। उपस्कार के लेखक, शंकर मिश्र ने तेज का एक अन्य विभाजन भी दिया है–१. जिनमें रूप भी है और स्पर्श भी, जैसे सूर्य का प्रकाश। २. जिनमें रूप है, किन्तु स्पर्श व्यक्त रूप में नहीं है, जैसे चन्द्रमाका प्रकाश। ३. जिनमें रूप और स्पर्श अर्ध–व्यक्त है जैसे–नेत्र की ज्योति। ४. जिनमें रूप अर्धव्यक्त है किन्तु स्पर्श पूर्ण–व्यक्त है, जैसे लाल गर्म घट। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने रूप का ग्राहक चक्षु में कृष्ण तारिका का अग्रभाग माना है किन्तु आधुनिक विज्ञान इस कृष्ण तारिका की बाह्य प्रकाश के अन्दर जाने का मार्ग मात्र मानता है और रूप का वास्तविक ग्राहक रैटीना को मानता है। दूसरा एक अन्य सिद्धान्त जिस पर आक्षेप किया गया है वह यह है कि चक्षु प्राप्यकारी इन्द्रिय है अर्थात् दग् इन्द्रिय आंख से बाहर दश्य पदार्थ तक जाकर उसे छूती है। इस पर जैन–नैयायिकों ने भी आक्षेप किया है और यह माना है कि दग् इन्द्रिय बाहर नहीं जाती प्रत्युत पदार्थ पर पड़ने वाली सूर्य की किरणें ही उस पदार्थ को रैटीना तक ले जाती है।

नैयायिकों ने बहुत से कारण दिये हैं कि धातुओं को भी क्यों तैजस माना जाए ? तर्कदीपिका कहती है कि सुवर्ण न पथ्वी है, न जल, न वायु। यह अन्तिम पांच तत्त्वों के अन्तर्गत तो माना ही नहीं जा सकता। सुवर्ण पथ्वी नहीं है क्योंकि इसे

चाहे कितनी भी गर्मी पहुंचाए यह नष्ट नहीं होता, जिस प्रकार मक्खन गर्मी पहुंचाये जाने पर लुप्त हो जाता है। सुवर्ण जल भी नहीं हो सकता क्योंकि इसकी तरलता की प्रकृति स्वाभाविक नहीं है प्रत्युत उपाधिजन्य है। यह वायु भी नहीं हो सकता क्योंकि इसका रूप है। अतः स्वर्ण तैजस ही हो सकता है और इसकी उष्णता पार्थिव पदार्थों के आधिक्य द्वारा छिपा ली गई है।

किन्तु ये तर्क निर्दोष नहीं हैं। प्रत्येक पार्थिव पदार्थ पिघलने पर नष्ट नहीं होता। वस्तुतः ठोस और द्रवीभूत होना पदार्थ का कोई गुण नहीं है प्रत्युत एक ही पदार्थ की दो विभिन्न अवस्थाएं हैं। दूसरे यदि यह माना जाए कि पथ्वी तत्त्व की अधिकता स्वर्ण की उष्णता को छिपा लेती है तो हम क्या यही नहीं मान सकते कि स्वर्ण के पिघलने पर इसके नाश न होने का कारण भी पार्थिव तत्त्वों की सत्ता ही है। आधुनिक विज्ञान यह जानता है कि धातुओं को वायवीय रूप नहीं दिया जा सकता और प्राचीन भारतीय दार्शनिक भी इससे परिचित थे। इस कठिनाई को उन्होंने यह कहकर दूर कर दिया कि ये धातुएं पार्थिव नहीं हैं प्रत्युत तैजस हैं। अतः नैयायिकों ने उनमें एक चमक देखकर उन्हें तैजस के अन्तर्गत मान लिया। किन्तु मीमांसक इसके भी आगे गये और उन्होंने धातुओं को एक पथक् ही द्रव्य माना।

१३. रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधो नित्योनित्यश्च। नित्यः परमाणरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः -शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक्सर्वशरीरवर्ति। विषयो वक्षादिकम्पनहेतुः।।

शरीरान्तःसंचारी वायुः प्राणः। स चैकोप्युपाधिभेदात्प्राणापानादिसंज्ञां लभते।।

रूपरहित तथा स्पर्शवान् वायु होती है। वह दो प्रकार की है–नित्य तथा अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्यरूप है। फिर वह तीन प्रकार की है–शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। शरीर वायुलोक में होते हैं। इन्द्रिय स्पर्श को ग्रहण करने वाली त्वगिन्द्रिय है जो समस्त शरीर के अग्रभाग में है। विषय वक्षादि को कँपाने वाली पवन है।

शरीर के अन्दर सचरण करने वाली वायु प्राण है। वह एक होने पर भी विभिन्न स्थानों में स्थिति के भेद से प्राण, अपान आदि नामों से जानी जाती है।

(तत्त्व दीपिका) वायुं लक्षयति–रूपरहितेति। आकाशादातिव्याप्तिवारणाय–स्पर्शवानिति। पथिव्यादावतिव्याप्तिवारणाय–रूपरहितेति। ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भाव इत्यत आह–शरीरेति। स चेति। एक एव प्राणः स्थानभेदात्प्राणापानादिशब्दैर्व्यवह्रियत इत्यर्थः। स्पर्शानुमेयो वायुः। तथाहि–योहं वायौ वाति सत्यनुष्णाशीतस्पर्शो भासते स स्पर्श क्वचिदाश्रितो गुणत्वाद्रूपवत्। न चास्य पथिव्याश्रय उद्भूतस्पर्शवतः पार्थिवस्योद्भूतरूपवत्त्वनियमात्। न जलतेजसी; अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वात्। न विभु चतुष्टयम्; सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात्। न मनः; परमाणुस्पर्शस्यातीन्द्रियत्वात्। तस्माद्यः प्रतीयमानस्पर्शाश्रयः स वायुः।। ननु वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वाद् घटवदिति चेत्, –न; उद्भूतरूपवत्त्वस्योपाधित्वात्। यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वमिति घटादौ साध्यव्यापकत्वम्। यत्र प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नास्तीति पक्षे साधनाण्यापकत्वम्। न चैवं तप्तवारिस्थतेजसोप्यप्रत्यक्षत्वापत्ति; इष्टत्वात्। तस्माद्रूपरहितत्वाद्वायुरप्रत्यक्षः।।

इदानीं कार्यरूपपथिव्यादिचतुष्टयस्योत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते। ईश्वरस्य चिकीर्षावशात्परमाणुषु क्रिया जायते। ततः परमाणुद्वयसंयोगे सति द्वयणुकमुत्यपद्यते। त्रिभिर्द्वयणुकैस्त्र्यणुकम्। एवं चतुरणुकादिक्रमेण महती पथिवी महत्य आपो महत्तेजो महान्वायुरुत्यद्यते। एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य संजिहीर्षावशात्परमाणुषु क्रिया। क्रियया परमाणुद्वयविभागे सति द्वयणुकनाशः। ततस्त्र्यणुकनाशः। ततश्चतुरणुकस्येत्येवं महापथिव्यादिनाशः।। असमवायिकारणनाशाद्द्वयणुकनाशः, समवायिकारणनाशात्त्र्णुकनाश इति संप्रदायः। सर्वत्रासमवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशः–इति नवीनाः।।

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ? उच्यते,–जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमं यद्रज उपलभ्यते तत्सावयवम्, चाक्षुषद्रव्यत्वात्पटवत्। त्र्यणुकावयवोपि सावयवः, महदारम्भकत्वात्तन्तुवत्। यो द्वयणुकावयवः स परमाणुः। स च नित्यः; तस्यापि कार्यत्वेनवस्थाप्रसङ्गात्। तथा च मेरुसर्षपयोरपि समानपरिमाणत्वापत्तिः। सष्टिप्रलयसद्भावे "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम्। सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोवान्तरप्रलयः। सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलय इति विवेकः।।

विशेष :- वायु का भी अन्नम्भट्ट ने वही विभाजन किया है जो पथ्वी, अपस् और तेजस् का। वायु को स्पर्शवान् और रूपरहित माना है। यह भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की है। इसका शरीर वायु लोक में प्राप्त होता है। हमारे शरीर का जो चर्म स्पर्श को ग्रहण करता है वह इसका ग्राहक इन्द्रिय है और इसका विषय वह वायु है जो बहती है और वक्ष इत्यादि को हिलाती है।

वायु का एक अन्य प्रकार प्राण वायु है, जो वस्तुतः वायु ही है किन्तु वह शरीर में विचरण करता है। इस विषय में पर्याप्त मतभेद हैं किस प्राण को किस प्रकार वायु के अन्तर्गत माना जाए। प्रशस्तपाद और प्राचीन नैयायिक प्राण को वायु का

एक चतुर्थ रूप मानते हैं और उसे शरीर, इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न मानते हैं। किन्तु नव्य नैयायिक उसे विषय के ही अन्तर्गत मानते हैं। इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है कि अन्नम्भट्ट की क्या दष्टि है। न तो वे प्रशस्तपाद की भांति उसे चौथे प्रकार का मानते हैं और न उसे विषय के अन्तर्गत ही गिनाते हैं। दीपिकाकार ने भी इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला और प्राण को पांच, 'प्राण', 'अपान', 'व्यान', 'समान', और 'उदान' के अन्तर्गत ही मान लिया और यह भी कहा कि प्राण इन पाँचों का सामूहिक नाम ही है। वस्तुतः यह एक ही प्राण वायु है जो शरीर के भिन्न–भिन्न भागों से संचरण करने के कारण और भिन्न–भिन्न क्रिया में सहायक होने के कारण भिन्न–भिन्न नाम पा लेती है।

तर्कदीपिका में यह कहा गया है कि जिसका हम अनुष्ण और अशीत स्पर्श अनुभव करते हैं, वही वायु है, क्योंकि यह एक गुण है जो किसी द्रव्य में रहना चाहिए। यह द्रव्य पथ्वी नहीं हो सकता क्योंकि इसमें उद्भूत रूप नहीं है। यह न शीतल है न उष्ण, इसलिए यह न जल हो सकता है, न तेज। यह आकाश, काल, दिक् और आत्मा भी नहीं है क्योंकि यह सर्वव्यापक नहीं है। वायु मन नहीं हो सकता, क्योंकि मन अणु है अतः पथक् वायु की स त्ता माननी होगी।

उपर्युक्त विवेचन में आधुनिक विज्ञान का अंश नहीं है। नैयायिकों को यह ज्ञान नहीं था कि वायु में स्पर्श के अतिरिक्त भी कुछ और गुण है। पथ्वी, जल और वायु आज के विज्ञान के ठोस, तरल और गैस के समान हैं और तेज एक प्रकार की शक्ति है।

सष्टि की उत्पत्ति :- अब तक हमने पथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों का विवेचन किया। ये चार तत्त्व इन्द्रियगम्य हैं और मूर्त हैं। अतः तर्कदीपिका में इस स्थान पर यह विवेचन भी किया है कि किस प्रकार इन चार तत्त्वों के मेल से सष्टि होती है। परमाणु में ईश्वरीय इच्छा से गति होती है और उस गति के कारण द्वयणु, त्रसरेणु और चतुरणु बनते हैं और इनसे ही पथ्वी, जल, तेज और आकाश बनता है।

इसके विपरीत क्रम से सष्टि का विलय होता है और ये परमाणु विपरीत क्रम टूटते–टूटते केवल अणु के रूप में रह जाते हैं। इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में सभी नैयायिक एकमत हैं किन्तु पदार्थों के नाश के सम्बन्ध में थोड़ा सा मतभेद है। प्राचीन नैयायिकों का यह मत है कि कार्य का नाश कारण के नाश होने पर होता है किन्तु इसका द्वयणुक अपवाद है क्योंकि द्वयणुक का नाश परमाणुनाशाधीन नहीं होता, क्योंकि परमाणु नित्य है। किन्तु द्वयणुकों का विनाश परमाणुओं के संयोग के नाश से होता है। नैयायिक इसके विपरीत यह मानते हैं कि इस सब विलय की शृंखला के कारण पदा र्थ का नाश नहीं मानना चाहिए प्रत्युत कारण पदार्थों के संयोग का नाश ही कारण मानना चाहिए। प्राचीन नैयायिकों की भांति अन्य सब शृंखलाओं में तो पदार्थ का नाश और अन्तिम स्थिति में संयोग का नाश कारण मानने से गौरव आता है और इस प्रकार संयोग जो कि कार्य का असमवायी कारण है, वही नष्ट होता है, पदार्थ नष्ट नहीं होता।

इस मतभेद से एक गहरा मतभेद उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार कार्य के विनाश से पहले उसके अंशों का नाश आवश्यक है। जब परमाणु पथक् होते हैं तो द्वयणुक नष्ट हो जाते हैं और जब द्वयणुक नष्ट होते हैं तो त्रसरेणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अन्तिम कार्य सब से अन्त में नष्ट होता है जबकि यह उत्पन्न भी सबसे अन्त में ही होता है। यह वेदान्तियों के मत के सर्वथा विपरीत है। ब्रह्मसूत्र में इसके विपरीत सष्टि का क्रम दिया है अर्थात् अन्तिम कार्य नाश के समय सबसे पहले नष्ट होता है, तदनन्तर उसके अंश और इस प्रकार हम अन्तिम कारण तक पहुंचते हैं। हम लोग भी इस बात को प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि किसी चीज का निर्माण करते समय जो क्रम होता है, उसके नाश के समय, वह क्रम उससे विपरीत होता है। किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। शंकराचार्य ने इस मत में दोष दिखलाते हुए यह कहा है कि यदि कारण के नाश के बाद कार्य का नाश होगा तो उस अन्तराल के समय में, जो कारण के नाश के और कार्य के नाश के बीच रहता है, कार्य कहाँ रहेगा ? कारण तो नष्ट हो चुका और अन्तिम कारण जो परमाणु हें, उनमें वह कार्य रह नहीं सकता क्योंकि उन दोनों के अन्तराल में अनेक व्यवधान हैं। यह सिद्धान्त ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि घर की छत तो न गिराई जाय, पर नींव उखाड़ दी जाये। अतः प्राचीन नैयायिकों की दष्टि असंगत लगती है। नव्यनैयायिकों का यह कहना कि पदार्थों के संयोग का नाश होने पर कार्य का नाश हो जाता है, जहां एक और प्राचीननैयायिकों के सिद्धान्त से मेल खाता है, वहां दूसरी ओर वेदान्त के सिद्धान्तों से भी मेल खा सकता है। इस प्रकार यह मत अधिक संगत लगता है।

१४. शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।।

शब्द है गुण (समवायसम्बन्ध से) जिसका वह आकाश है और वह एक, सर्वव्यापक तथा नित्य है।

(तत्त्व दीपिका) आकाशं लक्षयति–शब्दगुणकमिति। नन्वाकाशमपि किं पथिव्यादिवन्नाना ?। नेत्याह–तच्चैकमिति। भेदे

प्रमाणाभावादित्यर्थः। एकत्वादेव सर्वत्रोपलब्धेर्विभुत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याह—विभ्विति। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्। मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं क्रियावत्त्वं वा। विभुत्वादेवात्मवन्नित्यमित्याह—नित्यं चेति।।

विशेष :- आकाश की परिभाषा में यह विशेषता है कि जहां अन्य परिभाषाओं में गुण शब्द नहीं दिया गया है, वहां आकाश की परिभाषा में गुण शब्द भी दिया गया है, वाक्यवत्ति और सिद्धान्तचन्द्रोदय के अनुसार इस शब्द का यहाँ समावेश भाट्टमीमांसकों के इस मत का खण्डन करने के लिए किया गया है, कि शब्द गुण नहीं है प्रत्युत पदार्थ है। न्यायबोधिनीकार और नीलकण्ठ का कहना है कि यहाँ गुण शब्द का प्रयोग विशेष गुण के अर्थ में किया गया है। अर्थात् इस शब्द के द्वारा यहाँ यह बतलाया गया है कि शब्द आकाश का गुण है और केवल आकाश का ही गुण है, अन्य किसी पदार्थ का नहीं। रूप, रस, इत्यादि अनेक पदार्थों से पाये जाते हैं किन्तु शब्द केवल आकाश में ही पाया जाता है और यही बतलाने के लिये यहाँ गुण शब्द का प्रयोग है। जहां तक मीमांसा के इस मत का सम्बन्ध है कि शब्द पदार्थ है, उसका खण्डन तो पहले ही शब्द को २४ गुणों के अन्तर्गत मानकर कर दिया गया है।

कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्रों में यह सिद्ध किया है कि क्योंकि शब्द किसी अन्य द्रव्य का गुण नहीं हो सकता अतः वह आकाश का गुण है। वस्तुस्थिति यह है कि परम्परा से चले आने वाले पांच तत्त्वों में आकाश की गणना प्रारम्भ से ही की जाती थी और नैयायिकों ने अपने सिद्धान्त के अनुकूल बनाकर उसका भी यहां समावेश कर लिया। यहां आकाश को एक बतलाया गया है क्योंकि जो हम घटाकाश या मठाकाश का प्रयोग करते हैं, वह केवल उपाधि के कारण है। आकाश सर्वव्यापक है, अतः उसे नित्य तो होना ही चाहिए। वह विभु है। दीपिका में विभुत्व की यह परिभाषा दी है—सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्। और कूर्तत्व की परिभाषा परिच्छन्नपरिमाणत्वम् दी है। अर्थात् जिसका परिमाण सीमित है, वह मूर्त है और जिसका समस्त मूर्त पदार्थों से सम्बन्ध है, वह विभु है। न्यायबोधिनी में मूर्तत्व को क्रियावद्द्रव्यत्वम् कहा है। ये दोनों परिभाषाएं लगभग एक जैसी हैं क्योंकि वही द्रव्य जो सीमित परिमाण वाला है, क्रिया कर सकता है। मूर्त द्रव्य पांच हैं—आकाश, पथ्वी, तेज, वायु और मन। इनकी गणना और गुणों का वर्णन भाषापरिच्छेद में इस प्रकार किया गया है—

क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी।।

इनमें से प्रथम चार मूर्त हैं और भूत भी। किन्तु मनस् केवल मूर्त है भूत नहीं है। और आकाश केवल भूत है मूर्त नहीं है। मूर्त द्रव्य सीमित परिमाण वाले होते हैं। जबकि भूत द्रव्य के लिए यह आवयक शर्त नहीं है। उनके लिए आवश्यक यह है कि वे किसी कार्य का उपादानकारण बनें और इसीलिये मन जो किसी कार्य का उपादानकारण नहीं बनता, भूत द्रव्य नहीं है और आकाश शब्द का उपादानकादण बनने के कारण भूत है। आत्मा ज्ञान का अधिकरण है, उपादानकारण नहीं है और यह न भूत है, न मूर्त।

१५. अतीतादिव्यवहारेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।।

अतीतादि व्यवहार का जो (निमित्त) कारण हो वह काल और वह एक, सर्वव्यापक और नित्य है।

(तत्त्व दीपिका) कालं लक्षयति—अतीतेति। सर्वाधारः कालः सर्वकार्यनिमित्तकारणं च।।

विशेष :- अन्नम्भट्ट ने काल की जो परिभाषा दी है वह व्यवहार के लिये ठीक है किन्तु उससे काल के तात्विक स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अन्नम्भट्ट ने भूत, भविष्य आदि के व्यवहार के हेतु को काल कहा है। वाक्यवत्ति में व्यवहार का अर्थ वाक्य प्रयोग रूप किया है। हेतु शब्द का अर्थ यहां असाधारण निमित्तकारण है। काल व्यवहार का निमित्त कारण है जबकि आकाश उसका उपादानकारण है क्योंकि व्यवहार शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काल भूत भविष्यादि व्यवहार का असाधारण कारण है, इसलिये यह असाधारण निमित्तकारण है जबकि यह अन्य भी बहुत से कार्यों का निमित्त कारण है, किन्तु वहां इसकी असाधारण कारणता नहीं है। इस प्रकार यहां हेतु शब्द का असाधारण कारण अर्थ करने से आकाश में और दिशा आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती और यह काल जो अन्य पदार्थों का भी कारण होता है, उसमें अव्याप्ति नहीं होती। किन्तु यहाँ काल की जो परिभाषा दी है उससे अतिरिक्त इसके कि जो हमारे भूत, भविष्य और वर्तमान के प्रयोग का कारण बनता है, वह काल है, कुछ ज्ञान नहीं होता। यह हमारे प्रतिदिन ज्ञान में आता है और हम इसे स्वतन्त्र द्रव्य इसी कारण मानते भी हैं

विश्वनाथ ने काल की एक दूसरी परिभाषा दी है—

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।।

इसे संक्षेप में इस रूप में भी कह सकते हैं—परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यकारणं द्रव्यं कालः। अर्थात्! जिसके द्वारा हमें पौर्वापर्य या यौगपद्य या चिर और क्षिप्रता का ज्ञान होता है, वह काल है। इस परिभाषा में अन्नम्भट्ट के व्यवहार शब्द की जगह प्रत्यय शब्द का प्रयोग है। व्यवहार का अर्थ है भाषा और प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान। वस्तुतः भाषा और ज्ञान अन्योन्याश्रित है।

व्यवहार और प्रत्यय का हेतु होने के अतिरिक्त काल का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह अभी भी विवादास्पद है। सांख्यदर्शन ने काल को आकाश के अन्तर्गत माना जबकि कुछ नव्य नैयायिक काल और दिशा को ईश्वर रूप मानते हैं। काल अमूर्त है, और अदश्य है, अतः केवल अनुमेय है। जो परत्व अपरत्व का असमवायी कारण है वह काल है। काल के ही औपाधिक भेद क्षणादि हैं।

१६. प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका, विभ्वी नित्या च।।

प्राची, आदि व्यवहार की जो कारण हो वह दिशा है। और वह एक, सर्वव्यापिनी तथा नित्य है।

(तत्त्व दीपिका) दिशो लक्षणमाह—प्राचीति। दिगपि कार्यमात्रे निमित्तकारणम्।

विशेष :- दिक् की परिभाषा भी लगभग काल की परिभाषा के आधार पर दी गई है। विश्वनाथ ने इसकी परिभाषा दी है—दूरान्तिकादिधीहेतुः। दिशा के जो चार या दस भेद माने जाते हैं वे उपाधि जन्य हैं। यद्यपि समय और दिशा का भेद स्पष्ट है किन्तु वह भेद बहुत सूक्ष्म है। काल कालिकपरत्व का कारण है और दिक् देशिकपरत्व का। काल की उपाधि या तो कोई जन्य पदार्थ है या क्रिया। किन्तु दिक् की उपाधि मूर्त पदार्थों से सम्बद्ध है। एक दूसरा भेद भी काल और दिक् में किया जाता है—नियतोपाध्युन्नायकः कालः। अनियतोपाध्युन्नायिका दिक्। अर्थात् काल के सम्बन्ध निरन्तर होते हैं क्योंकि जब एक पदार्थ की अपेक्षा किसी काल को भूत या भविष्य कहा जाता है तो उस पदार्थ की अपेक्षा वह काल भूत या भविष्य ही बना रहता है। किन्तु दिक् के क्षेत्र में एक दिशा एक पदार्थ के पूर्व में है, तो दूसरे समय वही दिशा उस पदार्थ के पश्चिम में भी हो सकती है किन्तु यह भेद बहुत सूक्ष्म दष्टि से नहीं किया गया। क्योंकि जो घटना एक समय की अपेक्षा भूतकाल की हे, वही घटना दूसरे समय की अपेक्षा वर्तमान या भविष्यकाल की हो सकती है। आकाश की तरह दिक् भी अनुमेय है।

दिक् और आकाश का अन्तर बहुत सूक्ष्म है, तथापि वह स्पष्ट है। आकाश भूत है, दिक् नहीं है। आकाश का शब्द विशेष गुण है, दिक् का कोई विशेष गुण नहीं है। दिक् काल की तरह सभी कार्यों का साधारण कारण है अर्थात् शब्द का। आकाश का सम्बन्ध भूतों से है, दिक् का सम्बन्ध मन से। आकाश की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, दिक् प्रमाता के अनुभव पर आधारित है। किन्तु प्रश्न यह है कि नैयायिकों ने आकाश और दिक् का जो स्वरूप दिया है, चाहे वह स्वरूप परस्पर भिन्न हो, किन्तु इन दोनों को पथक्—पथक् मानने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसा लगता है कि शब्द को उत्पन्न करने वाले आकाश से सभी कार्यों के साधारण कारण रूप, स्थान को भिन्न मानना आवश्यक था। जो शब्द को जन्म देता है, वह भूत होना चाहिए किन्तु जो परत्व अपरत्व जैसे सम्बन्धों का निमित्त कारण मात्र है, उसकी सत्ता वास्तविक नहीं, प्रत्युत मानसिक है। ऐसा लगता है कि पंचभूतों के अन्तर्गत आकाश को परम्परा के अनुसार मान लेने के बाद नैयायिकों को एक ऐसे अतिरिक्त पदार्थ की भी कल्पना करनी पड़ी जो परत्व, अपरत्व जैसे सम्बन्धों का कारण बने।

१७. ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः-परमात्मा जीवात्मा च। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।।

ज्ञान का जो (समवायसम्बन्ध से) अधिकरण हो वह आत्मा है। वह दो प्रकार का है—परमात्मा और जीवात्मा। इनमें सर्वज्ञ परमात्मा तो एक ही है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न—भिन्न है, सर्वव्यापक और नित्य है।

(तत्त्व दीपिका) आत्मनो लक्षणमाह—ज्ञानेति।। आत्मानं विभजते—स द्विविध इति। परमात्मनो लक्षणमाह—तत्रेति नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम्।। नन्वीश्वरस्य सद्भावे किं प्रमाणम् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तद्धि बाह्यमाभ्यन्तरं वा ?। नाद्यम्, अरूपिद्रव्यत्वात्। नान्त्यम्, आत्मसुखादिव्यतिरिक्तत्वात्। नाप्यनुमानम्; लिङ्गाभावातानाप्यागमः, तथाविधागमाभावादिति चेत्—न; क्षित्यंकुरादिकं कर्तजन्यं कार्यत्वाद्, घटवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। उपादानगोचरा परोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तत्वम्। उपादानं समवायिकारनम् सकलपरमाण्वादिसूक्ष्मदर्शित्वात्सर्वज्ञत्चम्। "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम्।।

जीवस्य लक्षणमाह—जीव इति। सुखाद्याश्रयत्वं जीवलक्षणम्। ननु 'मनुष्योहं, ब्राह्मणोहम्' इत्यादौ सर्वत्रहंप्रत्यये शरीरस्यैव विषयत्वाच्छरीरमेवात्मेति चेत्—न; शरीरस्यात्मत्वे करपादादिनाशे सति शरीरनाशादात्मनोपि नाशप्रसङ्गात्। नापीन्द्रियाणामात्मत्वम्; तथात्वे 'योहं घटमद्राक्षं सोहमिदानीं त्वचा स्पशामि' इत्यनुसंधानाभावप्रसङ्गादन्यानुभूतेन्यस्यानुसंधानायोगात्।

तस्माद्देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो जीवः। सुखदुःखादिवैचित्र्यात्प्रतिशरीरं भिन्नः। स च न परमाणुपरिमाणः; शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न मध्यमपरिमाणः; तथा सत्यनित्यत्वप्रसङ्गेन कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। तस्मान्नित्यो विभुर्जीवः।।

विशेष :- आत्मा को ज्ञानाधिकरण कहा है। यहां अधिकरण से अभिप्राय समवाय सम्बन्ध से अधिकरण है अन्यथा कालिक और देशिक सम्बन्ध से तो काल और दिक् सभी पदार्थों के अधिकरण हैं। आत्मा को दो प्रकार का माना गया है–परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ है जबकि जीवात्मा विभु, नित्य और प्रत्येक प्राणी में पथक्–पथक् है। अमूर्त होने के कारण आत्मा केवल अनुमेय है। इन्द्रियां और उनके विषय का पारस्परिक सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि उनका ज्ञाता और भोक्ता कोई होना चाहिए।

आत्मा की दो परिभाषायें हैं–आत्मत्वसामान्यवान् तथा अमूर्तसमवेतद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वम्। इनमें दूसरी परिभाषा के अनुसार आत्मत्व अमूर्त पदार्थ–समवेत है। आकाश, काल, दिक् और आत्मा चार अमूर्त पदार्थों में से प्रथम तीन तो केवल एक–एक ही हैं, अतः उनकी जाति नहीं हो सकती। आत्मत्व ही एक जाति हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि आत्मत्व भी सब आत्माओं में नहीं रह सकता क्योंकि आत्मा भी दो प्रकार की है–जीवात्मा और परमात्मा। किन्तु इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि सभी प्रकार की आत्माओं में ज्ञान रहता है, अतः उनकी एक जाति हो सकती है। किन्तु इस उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैयायिक दो भिन्न प्रकार के पदार्थों में भी यदि एक समान गुण देखते थे तो उसे एक जाति मान लेते थे। परमात्मा और जीवात्मा में से एक सर्वज्ञ और एक है, दूसरा अल्पज्ञ और अनेक है। एक स्रष्टा है, दूसरा उस स्रष्टा के हाथ का खिलौना। एक सुख दुख रहित है, दूसरा सुख दुख का अनुभव करता है। फिर भी उन दोनों को एक ही जाति के अन्तर्गत मान लिया गया है जबकि जिस एक गुण, ज्ञान के आधार पर उनकी एक जाति मानी गई है, वह ज्ञान भी परमात्मा में नित्य है और जीवात्माओं में अनित्य। इसी कारण की परिभाषा ज्ञानाधिकरण दी गई है।

परमात्मा और जीवात्मा को एक ही जाति में जिस प्रकार रखा गया है, उससे कुछ लोगों को यह अनुमान है कि कणाद का अभिप्राय आत्मा से केवल जीवात्मा था, परमात्मा नहीं और बाद के टीकाकारों ने परमात्मा को उसमें जोड़ दिया। जो तर्क जीवात्मा को सिद्ध करने के लिये दिये जाते हैं, वे परमात्मा पर लागू भी नहीं होते। कणाद या गौतम ने कहीं परमात्मा का नामतः निर्देश भी नहीं किया। कुछ लोगों का कहना है कि मूलतः न्याय और वैशेषिक दर्शन नास्तिक थे। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गौतम और कणाद का उद्देश्य दश्यमान् जगत् का विश्लेषण करना है और इसलिए उन्होंने परमात्मा की चर्चा नहीं की। स्वयं प्रशस्तपाद ने भी परमात्मा का कोई निर्देश नहीं किया। किन्तु उसके टीकाकार श्रीधर ने जीवात्माओं के साथ परमात्मा का भी उल्लेख किया। यद्यपि परमात्मा में केवल ६ और जीवात्मा में १४ गुण हैं। किन्तु नैयायिक प्रायः जब आत्मा कहते हैं तो उनका उद्देश्य जीवात्मा से ही होता है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने अन्य जड़ पदार्थों के साथ ही आत्मा का भी उल्लेख कर दिया है और इस प्रकार जड़ और चेतन में जो मौलिक भेद हैं, उसे कोई महत्त्व नहीं दिया गया।

दीपिका में आत्मा की परिभाषा 'सुखाद्याश्रयः' कहकर दी गई है। जीव को कभी इन्द्रियाद्यधिष्ठाता, कभी बन्धमोक्षयोग्य, कभी जन्यज्ञानवान् कहा जाता है। ये सभी गुण जीवात्मा को परमात्मा से विविक्त करने के लिये हैं। चार्वाक के अनुसार शरीर ही आत्मा है क्योंकि जब हम कहते हैं कि मैं ब्राह्मण हूँ या मेरा शरीर है या 'मैं' अन्धा हूँ तो हम 'मैं' से देह को ही कहते हैं चाहे वह देह हो या उसका एक भाग या उसकी एक इन्द्रिय। दीपिका इसके विरुद्ध यह युक्ति देती है कि यदि इन्द्रियों को ही आत्मा माना जाये तो शरीर में बहुत सी आत्माएं माननी होंगी और यह अनुभूति कि जिसने घट को देखा वही उसे छू रहा है, नहीं हो सकेगी क्योंकि घट को देखा चक्षु ने था और छू स्पर्शेन्द्रिय रही हैं। जीवात्माएं न्यायदर्शन में अनेक मानी जाती है क्योंकि हरेक को सुख दुख का पथक्–पथक् अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त नवजात शिशु में भी स्तनपान आदि क्रियायें इतने स्वाभाविक ढंग से होती हैं कि यदि वह पूर्व जन्म संस्कार लेकर आया हो तभी यह हो सकता है और इस प्रकार पूर्व जन्म का सिद्धान्त भी मानना होगा। आत्मा या तो सर्वव्यापक हो सकती है या मध्यम परिमाण वाली। यदि आत्मा को परमाणु के परिमाण वाली मानें तब तो समस्त शरीर के भिन्न–भिन्न भागों में होने वाले सुख और दुख का अनुभव वह नही कर सकेगी। यदि आत्मा को मध्यम परिमाण वाली मानें तो उसके परिमाण को घटा या बढ़ा कर नष्ट किया जा सकेगा। यदि आत्मा को शरीर परिमाणी मानें, जैसा कि जैन लोग मानते हैं, तो यह कठिनाई आयेगी कि बालक के छोटे शरीर की छोटी आत्मा बालक के बढ़ जाने पर बढ़ कैसे जाती है और इसप्रकार एक जन्म में चींटी के परिमाण वाली आत्मा दूसरे जन्म में हाथी के परिमाण वाली कैसे हो जाती है। यह भी मानना उस स्थिति में कठिन होगा कि वह एक ही आत्मा है जिसके भिन्न–भिन्न परिमाण हैं। अतः आत्मा को सर्वव्यापक मानना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो सबके सुख–दुख का अनुभव

उसे होना चाहिए। किन्तु इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वयं अनुभव नहीं करती केवल मन की सहायता से अनुभव करती है और यह मन हर शरीर में पथक्–पथक् है।

ईश्वर की सिद्धि :– तर्कदीपिका में ईश्वर की सिद्धि के लिए तर्क दिया गया है। यह तर्क चार्वाक और बौद्ध लोगों के खण्डन के रूप में है जिनका यह कहना है कि परमात्मा न तो प्रत्यक्षगोचर है, न बुद्धिगम्य और न उसमें सुख दुख की अनुभूति है। परमात्मा अनुमान से भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह ऐसा पदार्थ है जिसके समर्थन में कोई तत्सदश उदाहरण नहीं दिया जा सकता। आगम प्रमाण तो इसलिए नहीं माना जा सकता कि प्रथम तो आगम सर्वसम्मत नहीं है और दूसरे वेदों की प्रामाणिकता ईश्वर के अस्तित्व पर ही आधारित है। दीपिकाकार ने ईश्वर की सिद्धि के लिये निम्न अनुमान दिया है–क्षित्यंङ्कुरादिकं कर्तजन्यं कार्यत्वात्। यद्यत्कार्यं तत्कर्तजन्यं यथा घटः। अर्थात् विश्व यदि कार्य है तो इसका कोई कर्ता भी होना चाहिए और यही कर्ता परमात्मा है। यहां यह तर्क चार मान्यताओं पर आधारित है–१. सर्वत्र कार्यकारण भाव है, अर्थात् प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है। २. प्रत्येक कार्य का कर्ता कोई चेतन होता है। ३. संसार एक कार्य है। ४. इस कार्य का कर्ता एक असाधारण सत्ता है। कार्यकारण सम्बन्ध तो स्वतः सिद्ध है और अनुभव सिद्ध भी है। दूसरे सत्य को भी हम अनुभव के आधार पर सिद्ध कर सकते हैं। सष्टि के लिये परमाणुओं में गति चाहिए और उस गति के पीछे कोई प्रयत्न या इच्छा चाहिये। और इच्छा केवल चेतन सत्ता में ही हो सकती है और यह चेतन सत्ता ऐसी होनी चाहिए जो संसार की सष्टि से पूर्व भी हो। संसार एक कार्य है–यह तो देखने में ही आता है क्योंकि यहां पदार्थों का जन्म, वद्धि और मत्यु होती है। इसके अतिरिक्त संसार में प्रत्येक घटना इतनी नियमितता से हो रही है कि हमें यह मानना पड़ेगा कि उसके पीछे किसी बुद्धिमान सत्ता का हाथ है। वह केवल अदष्ट की रचना नहीं हो सकती और ईश्वर के सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् मानने पर ही यह सम्भव होगा कि हम उसे सष्टि का स्रष्टा और ध्वंस करने वाला मान सकें।

दीपिका में कर्तत्व की यह परिभाषा दी है–उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। अर्थात् कर्ता को उपादान कारण का साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, कार्य की इच्छा होनी चाहिए और कार्यानुकूल प्रयत्न होना चाहिए। ज्ञान, इच्छा और कृति परस्पर सम्बद्ध हैं बिना ज्ञान के इच्छा और बिना इच्छा के कृति नहीं हो सकती। उपादान कारण का भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कार्यकारी है, परोक्ष ज्ञान नहीं। कुछ विचारकों का मत है कि केवल कृतिमत्त्व ही कर्तत्व की पर्याप्त परिभाषा है क्योंकि कृति में ज्ञान और इच्छा तो पदार्थों के परमाणुओं का, जिनसे यह विश्व बनता है, साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, सजन की इच्छा होनी चाहिए और तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिए। इनसे ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान स्वतः सिद्ध हो जाता है।

सभी नैयायिक ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं। कुछ उसको किसी प्रकार का अदष्ट न होने के कारण अशरीरी मानते हैं, क्योंकि शरीर को भोगायतन माना गया है और भोग अदष्ट के बिना नहीं होता। एक दूसरे मत के लोग यह मानते हैं कि ईश्वर के अदष्ट न होने पर अन्य जीवों के अदष्टाधीन उसका शरीर हो सकता है। कुछ लोग परमाणुओं को ईश्वर का शरीर मानते हैं। एक अन्य मत यह है कि एक तो ईश्वर का अपना शरीर है और एक उसका शरीर यह संसार है। एक ऐसा विचित्र मत भी है कि जिस प्रकार प्रेत किसी मनुष्य शरीर को धारण कर लेता है, उसी प्रकार ईश्वर भी शरीर को धारण कर लेता है। मूल प्रश्न यह है कि बिना शरीर के और इन्द्रियों के ईश्वर सजन कैसे कर सकता है ?

संख्या, परिमाण, पथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इचछा और प्रयत्न–ईश्वर के ये आठ गुण हैं। उसमें धर्म अधर्म नहीं है। उसमें दुख भी नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद है कि उसमें आनन्द है या नहीं। नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म–जैसे श्रुति वाक्यों में नव्य नैयायिक आनन्द का अर्थ सुख मानते हैं किन्तु प्राचीन नैयायिक आनन्द का अर्थ केवल दुःखाभाव मानते हैं।

१८. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च।।

जो इन्द्रिय सुखादि के ज्ञान का साधन है वह मन है और वह प्रत्येक आत्मा से (पथक् पथक्) सम्बद्ध होने के कारण अनन्त, परमाणुरूप और नित्य है।

(तत्त्व दीपिका) मनसो लक्षणमाह–सुखेति। स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम्। मनो विभजते–तच्चेति। एकैकस्यात्मन एकैकं मन आवश्यकम्। इत्यात्मनोनेकत्वान्मनसोप्यनेकत्वमित्यर्थः। परमाणु रूपमिति। मध्यमपरिमाणत्वेनित्यत्व–प्रसङ्गादित्यर्थः। ननु मनो नाणु, किन्तु विभु, स्पर्शरहितद्रव्यत्वादाकाशवदिति चेत्, न; मनसो विभुत्व आत्मनःसंयोगस्यासमवायिकारण–स्याभावाज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च विभुद्वयसंयोगोस्त्विति वाच्यम्; तत्संयोगस्य नित्यत्वेन सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात्। पुरीतद्व्यतिरिक्तप्रदेश आत्ममनः संयोगस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्। अणुत्वे तु यदा मनः पुरीतति नाड्यां प्रविशति तदा सुषुप्तिः। यदा निःसरति तदा ज्ञानोत्पत्तिरित्यणुत्वसिद्धिः।।

मन :-

मन केवल एक साधन ही नहीं है, जिसके द्वारा हम मनन करते हैं, प्रत्युत सुख दुख जैसी आन्तरिक अनुभूतियों के साथ–साथ बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भावों में भी यह सहायक है। यह नहीं, बल्कि नैयायिक तो मन का वह रूप अधिक प्रधान मानते हैं जो बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है और विचार के साधन के रूप में इसके स्वरूप को गौण मानते हैं। कैसी भी स्थिति हो, यह मानना होगा कि यह स्वयं एक इन्द्रिय भी है और अन्य इन्द्रियों का सहायक भी है। अन्नम्भट्ट ने मन की जो परिभाषा दी है, वह उसके सुख दुख इत्यादि आन्तरिक भावों को उपलब्ध करने वाली इन्द्रिय के रूप में दी गई है। इसके अतिरिक्त यहां पर 'उपलब्धि' शब्द भी ध्यान देने योग्य है क्योंकि मन केवल साधन ही नहीं है, जिस प्रकार कि अन्य इन्द्रियाँ हैं, प्रत्युत साक्षात् आन्तरिक ज्ञान का भी कारण है। वाक्य वत्ति मे ंकहा गया है कि यहां सुखादि का अर्थ आत्मा में समवाय सम्बन्ध में रहने वाले समस्त गुण हैं। यहां यह प्रश्न आता है कि इन्द्रिय शब्द क्यों रखा गया ? यह कहा जाता है कि आत्मा और आत्मा एवं मन का संयोग भी सुखादि के ज्ञान में साधन हैं और उनमें अतिव्याप्ति न हो, इसलिये यहाँ इन्द्रिय शब्द दिया गया है। किन्तु इस अतिव्याप्ति का समाधान 'साधन' पद से भी हो सकता था, क्योंकि साधन का अर्थ करण है और आत्ममनःसंयोग व्यापार है, करण नहीं तथा आत्मा भी करण नहीं प्रत्युत प्रमाता मात्र है। संभव है कि यहां इन्द्रिय शब्द का प्रयोग उन लोगों का खंडन करने के लिये किया गया हो जो मन को इन्द्रिय नहीं मानते।

दीपिका में मन की परिभाषा यह दी है–स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वम्। यद्यपि शास्त्रीय दष्टि से इस परिभाषा में कोई दोष नहीं, किन्तु यह मन के स्वरूप को उतना स्पष्ट नहीं करती, जितना मूल तर्क संग्रह की परिभाषा। आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन पांच पदार्थों में पहले चार तो सर्वव्यापक होने के कारण क्रियावान् हो नहीं सकते, केवल अन्तिम मन ही क्रियावान् है। मन अणु होने के कारण अनुमेय है।

जितने मनुष्य हैं प्रत्येक का पथक्–पथम् मन है। 'तच्च प्रत्यात्मनियतत्वात्' इत्यादि में वाक्यवत्ति में नियत शब्द का यह अर्थ दिया गया है कि मन उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समवाय सम्बन्ध है और उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समावाय सम्बन्ध नहीं है, समान रूप से बोध कराता है–अत्र समवेतकारणत्वे सत्यसमवेतभोगकारणत्वं नियतत्वशब्दार्थः। सम्भव है कि नियत शब्द का यह अर्थ हो कि एक ही मन जन्म जन्मान्तर में आत्मा के साथ रहता है। क्योंकि यदि हम इस प्रकार नहीं माने तो यह सम्भव नहीं होगा कि एक जन्म के संस्कार दूसरे जन्म में भी जाएं। यहां यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि कुछ लोग मनस्त्व को जाति मानते हैं, कुछ नहीं मानते।

मन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गुण उसका अणुत्व है। क्योंकि आत्मा और बाह्य इन्द्रियों के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है।

१६. चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं, पथिवीजलतेजोवत्ति। तत्र पथिव्यां सप्तविधम्, अभास्वरशुक्लं जले, भास्वरशुक्लं तेजसि।।

केवल नेत्र से ग्राह्य गुण रूप है और वह सात प्रकार का है–शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, काला और चितकबरा (या रंग बिरंगा), तथा पथ्वी, जल और तेज में रहता है। इनमें से पथिवी में सातों प्रकार का, जल में बिना चमक वाला शुक्ल तथा तेज में चमक वाला शुक्ल रूप होता है।

(तत्त्व दीपिका) रूपं लक्षयति–चक्षुरिति। संख्यादावतिव्याप्तिवारणाय 'मात्र'–पदम्। रूपत्वेतिव्याप्तिवारणाय 'गुणं' पदम्। प्रभाभित्तिसंयोगेतिव्याप्तिवारणाय चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वं वाच्यम्। रूपं विभजते–तच्चेति।। नन्वव्याप्यवत्तिनीलादिसमुदाय एव चित्ररूपमिति चेत्–न; रूपस्य व्याप्यवत्तित्वनियमात्। ननु चित्रपटेवयवरूपस्य प्रतीतिरस्त्विति चेत्–न; रूपरहितवेन पटस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। न च रूपवत्समवेतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं; गौरवात्। तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः।। रूपस्याश्रयमाह–पथिवीति। आश्रयं विभज्य दर्शयति–तत्रेति।।

विशेष :- यहां 'मात्र' और 'गुण' इन दो पदों को छोड़कर रूप की परिभाषा वही दी है जो प्रशस्तपाद में है। ऐसा लगता है कि श्रीधर की टीका से ये शब्द ले लिये गये हैं। 'मात्र' शब्द यहाँ संख्या में अतिव्याति न हो जाये, इसलिए है, क्योंकि संख्या चक्षुग्राह्य भी है और स्पर्शग्राह्य भी। 'गुण' शब्द द्वारा यहां प्रभा में जो कि एक द्रव्य है, अतिव्याप्ति का निराकरण है और साथ ही साथ रूपत्व जाति में भी, क्योंकि रूपत्व गुण नहीं है, जाति है, यद्यपि उसका भी ग्रहण चक्षु से ही होता है। प्रभाभित्तिसंयोग गुण है, किन्तु रूप नहीं है। इसलिये यहां गुण शब्द का अर्थ विशेष गुण लिया गया है।

रूप के यहां सात भेद किये हैं। प्रशस्तपाद और श्रीधर ने इन भेदों का कोई निर्देश नहीं किया। यहां जो अन्त में

चित्ररूप कहा गया है, उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह प्रथम छः भेदों का ही मिश्रण है। यह आक्षेप हो सकता है कि वह प्रथम छः रूपों का ही मिश्रण है तो उसके पथक् मानने की क्या आवश्यकता है ? दीपिका का कहना है कि रूप व्याप्यवत्तिधर्म है और एक ही पदार्थ में अनेक रूप तो एक साथ रह नहीं सकते अतः इसे पथक् रूप मानना होगा। व्याप्यवत्ति की परिभाषा यह है–स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगी धर्मः। अर्थात् ऐसा धर्म जो अपने अत्यन्ताभाव के साथ उसी पदार्थ में नहीं रह सकता। इसके विपरीत अव्याप्यवत्तिधर्म वे हैं जिनके भाव तथा अभाव अवच्छेदक भेद से एक ही पदार्थ में रह सकते हैं। इस प्रकार एक वक्ष पर यदि कपि बैठा है तो उस वक्ष का चोटी का हिस्सा कपिसंयोग वाला है पर उसकी जड़ में कपिसंयोग का अत्यन्ताभाव है। इसलिये कपिसंयोग अव्याप्यवत्तिधर्म है। व्याप्यवत्तिधर्म पदार्थ के अंश में नहीं रहता, प्रत्युत सर्वत्र रहता है। यदि चित्ररूप को पथक् रूप में नहीं माना गया तो अंशों में रहने वाले भिन्न–भिन्न रूप तो होंगे, किन्तु समस्त पदार्थ में रहने वाला कोई एक रूप नहीं होगा। इस पर यह आक्षेप उठाया जाता है कि इसमें क्या हानि है ? इस प्रकार हम वस्त्र को उसके अंश में रहने वाले भिन्न–भिन्न रूपों के माध्यम से देख लें। किन्तु इसका यह उत्तर है कि इस प्रकार समस्त वस्त्र का ज्ञान कभी भी नहीं होगा क्योंकि समस्त पदार्थ को बिना रूप के नहीं देखा जा सकता। वस्त्र के भिन्न–भिन्न भागों में रहने वाले रूप वस्त्र को दश्य नहीं बनाते, किन्तु पथक् ही रूप उसे दश्य बनाएगा। नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि अपने अंशों से पथक् समुदाय की कोई सत्ता नहीं होती। यदि हम इसकी पथक् सत्ता मानें तो इसे इसके अंशों से पथक् एक कार्य मानना होगा और तब यह कहां रहेगा ? न तो यह एक–एक भाग में रह सकता है, न मिलाकर उन सब भागों में, क्योंकि यह उन सबसे पथक् है। इस प्रकार समुदाय एक पर्याप्त धर्म है अर्थात् अनेक धर्मों का समूह है किन्तु एक पथक् पदार्थ नहीं है। इस प्रकार अनेक रूपों का समुदाय स्वयं एक गुण नहीं बन सकता क्योंकि किसी पदार्थ के दश्य होने के लिये रूपतत्त्व नहीं, प्रत्युत रूपवत्समवेतत्व आवश्यक है। अतः वस्त्र में चाहे अपना रूप न हो, किन्तु यह उन अंशों से समवेत अवश्य है, जो रूपवान् है। किन्तु यह कहा जाता है कि रूपवत्समवेतत्व में अनावश्यक गौरव है अर्थात् ऐसा मानना प्रक्रिया को व्यर्थ ही लम्बा बना देता है। अतः चित्र रूप को पथक् ही मान लेना चाहिए।

रूप की जो परिभाषा यहां दी है, उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यहां आकार को अर्थात् गोलाई, लम्बाई इत्यादि को रूप नहीं माना है; क्योंकि आकार न तो सात रूपों में से एक है, और न चक्षुमात्रग्राह्य क्योंकि इसे स्पर्श से भी जाना जा सकता है। नैयायिक आकार को अवयवसंस्थानविशेष कहते हैं और इस प्रकार इसका संयोग में समावेश करते हैं। वेदान्तियों का कहना है कि पदार्थ से भिन्न नहीं है, क्योंकि अवयव संस्थान के भिन्न होने पर भी हम खड़े हुए देवदत्त को देख लेने के बाद बैठे हुए देवदत्त को भी पहचान लेते हैं।

पथ्वी में सभी रूप हैं किन्तु जल और प्रकाश में केवल शुक्ल है। किन्तु प्रकाश की शुक्लता जल की शुक्लता से भिन्न है। इस प्रकार यहाँ शुक्ल के भास्वर और अभास्वर दो भेद कर दिये हैं। भास्वर शुक्ल तेज का है और अभास्वर शुक्ल जल का। इस सम्बन्ध में हम आधुनिक विज्ञान का सिद्धान्त पहले ही बता चुके हैं कि विज्ञान केवल प्रकाश में ही रूप मानता है; जल और पथ्वी का कोई अपना स्वतन्त्र रूप नहीं मानता है।

२०. रसनग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः। पथिवीजलवत्तिः, पथिव्यां षड्विधः, जले मधुर एव।।

रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण रस है और वह छह प्रकार का है–मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त। वह पथ्वी तथा जल में रहता है; पथ्वी में छहों प्रकार का तथा जल में केवल मधुर ही होता है।

(तत्त्व दीपिका) रसं लक्षयति–रसनेति। रसत्वेव्याप्तिपरिहाराय 'गुणं' पदम् रसस्याश्रयमाह–पथिवीति।। आश्रयं विभज्य दर्शयति–पथिव्यामिति।।

२१. घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स च द्विविधः-सुरभिरसुरभिश्च पथिवीमात्रवत्तिः।।

घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य गुण गन्ध है और वह दो प्रकार का है–सुरभि और असुरभि। यह पथ्वी में ही रहता है।

(तत्त्व दीपिका) गन्धं लक्षयति–घ्राणेति। गन्धेत्वेतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्।।

२२. त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः-शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्, पथिव्यप्तेजोवायुवत्तिः। तत्र शीतो जले, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पथिवीवाय्वोः।।

केवल त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य गुण स्पर्श है और वह तीन प्रकार का है–शीत, उष्ण तथा अनुष्ण–अशीत, तथा पथ्वी, जल, तेज और वायु में रहता है। उनमें शीत जल में, उष्ण तेज में तथा अनुष्ण–अशीत पथ्वी तथा वायु में होता है।

(तत्त्व दीपिका) स्पर्श लक्षयति–त्वगिति। स्पर्शत्वेतिव्याप्तिवारणाय 'गुण'पदम्। संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय 'मात्र' पदम्।।

२३. रूपादिचतुष्टयं पथिव्यां पाकजमनित्यच। अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यच। नित्यगतं नित्यम् अनित्यगतमनित्यम्।।

रूपादि (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) चारों पथ्वी में पाकज (तेज के संयोग से होने वाले) हैं तथा अनित्य हैं। अन्यत्र (जल, तेज तथा वायु में) अपाकज तथा नित्य एवं अनित्य (दोनों प्रकार के) हैं–नित्य (परमाणु)–गत नित्य, अनित्य (द्वयणुकादि)–गत अनित्य।

(तत्त्व दीपिका) पाकजमिति। पाकस्तेजःसंयोगः। तेन पूर्वरूपं नश्यति, रूपान्तरमुत्पद्यत इत्यर्थः। अत्र परमाणुष्वेव पाकः, न द्वयणुकादौ। आमपाकनिक्षिप्ते घटे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्वयणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः। तत्र परमाणवः समवायिकारणम्। तेजःसंयोगोसमवायिकारणम्। अदष्टादिकं निमित्तकारणम्। द्वयणुकादिरूपे कारणरूपसमवायिकारणम् इति पीलुपाकवादिनो वैशेषिकाः। पूर्वघटस्य नाशं विनैवावयविन्यवयवेषु परमाणुपर्यन्तेषु च युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति पिठरपाकवादिनो नैयायिकाः अत एव पार्थिवपरमाणुषु रूपादिकमनित्यमित्यर्थः।। अन्यत्रेति। जलादावित्पर्थः। नित्यगतमिति। परमाणुगतमित्यर्थः। अनित्यगतमिति। द्वयणुकादिनिष्ठमित्यर्थः। रूपादिचतुष्टयमुद्भू तं प्रत्यक्षममनुद्भूतप्रत्यक्षम्। उद्भूतत्वं प्रत्यक्षप्रयोजको धर्मः। तदभावोनुद्भूतत्वम्।।

विशेष :- रूप, रस, गन्ध और स्पर्श दो प्रकार के हैं–पाकज और अपाकज, जो नित्य भी हैं और अनित्य भी। पाकज रूप, रसादि सभी अनित्य हैं। अपाकज नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के हैं। नित्य परमाणुगत ये नित्य होते हैं तथा अनित्य कार्यगत ये अनित्य होते हैं। कभी ये उष्णता के द्वारा उत्पन्न होते हैं और कभी सहज या स्वाभाविक होते हैं। पथ्वी में यह उष्णता से उत्पन्न होते हैं। अतः अनित्य हैं जब कि शेष तीनों द्रव्यों में वे स्वाभाविक हैं, और नित्य और अनित्य दोनों हैं; उनका नित्य रूप परमाणुओं में से है और अनित्य रूप कार्य रूप में। इस सम्बन्ध में अन्नम्भट्ट कुछ नहीं कहता कि पथ्वी के परमाणुओं में स्वाभाविक नित्य गन्ध है या नहीं है। यदि गन्ध मानी जाय, तो 'पाकजमनित्यं च' के बाद 'अपाकजं नित्यं' पाठ भी होना चाहिए। पाकज और अपाकज का मूल भेद यह लगता है कि पथ्वी उष्णता पहुँचाये जाने पर अपने गुणों को बदल देती है किन्तु जल, प्रकाश और वायु नहीं बदलते। यद्यपि वायु और जल उष्णता के संयोग से गर्म हो जाते हैं किन्तु वस्तुतः यह उष्णता जल या वायु की नहीं होती, किन्तु उनके साथ मिल जाने वाले तेज की होती है।

दीपिका में यहां दो मतों का उल्लेख है–वैशेषिक और नैयायिक। वैशेषिकों को पीलुपाकवादी और नैयायिकों को पिठरपाकवादी कहा जाता है। पीलुपाकवादी परमाणु में पाक मानते हैं और पिठरपाकवादी अवयवी में ही पाक के द्वारा रूपादि की परावत्ति मानते हैं। पाक का यहां अर्थ है–पूर्वरूपरसादिपरावत्तिजनको विजातीयतेजःसंयोग। विभिन्न प्रभावों के अनुसार यह अनेक प्रकार का है। एक केवल रूप को बदलता है, जैसे कि आग में तपाया घट, दूसरा रूप, गन्ध और स्वाद तीनों को बदल देता है, जिस प्रकार पाल में पकाया आम ऊपर पाक की परिभाषा में 'विजातीय' शब्द इसलिये रखा है कि धातुओं में उष्णता द्वारा होने वाले परिवर्तन में पाक की अतिव्याप्ति न हो जाये क्योंकि धातु भी तेजस् है, और अष्णता भी तेजस् है, अतः वे दोनें सजातीय हैं। जब घड़े को तपाया जाता है, तो वैशषिकों के अनुसार पुराना काला घट और उसके द्वयणुक इत्यादि भाग भी नष्ट हो जाते हैं। अग्नि उसके पथक्–पथक् परमाणुओं में लाल रंग उत्पन्न करती है और तब वे उसी प्रक्रिया से उसी प्रकार जुड़ कर एक नये लाल घट को उत्पन्न कर देता है। घट का नष्ट होना और फिर से जुड़ना इसलिये आवश्यक है ताकि सब परमाणु पक सकें क्योंकि यदि घट नष्ट नहीं होगा तो अग्नि अन्दर के परमाणुओं को नहीं पका सकेगी।

नैयायिक जो पिठरपाकवाद के समर्थक हैं, वैशेषिकों के इस पीलुपाक सिद्धान्त को नहीं मानते । उनका कहना है कि यदि प्रथम घट नष्ट हो जाता है तो जो नया घट बनता है, हम उसे उसी घट के रूप में नहीं पहचान सकते। किन्तु वही घट सारी पाकक्रिया के अन्तर्गत उसी रूप में पहचाना जाता है। इसके अतिरिक्त यदि वह घट कभी भी किसी भी क्षण विघटित होता तो उसके ऊपर रखे रहने वाले पात्र गिर जाने चाहिए थे, किन्तु ऐसा नहीं होता। घट की संख्या, आकार और घट पर बनी हुई रेखाएं भी ज्यों की त्यों रहती हैं। इसके उत्तर में वैशेषिकों को कहना है कि यदि एक घट में से सुई द्वारा कुछ परमाणु निकाल भी लिये जायें, तब भी वह घट वही है, यह पहचान हो जाती है। किन्तु नैयायिक यह मानते हैं कि घट के बिना विघटित और पुनर्निर्मित हुए ही उसका रूप बदल जाता है। यह आक्षेप कि घट के आन्तरिक भाग के परमाणु बिना अग्नि के स्पर्श के कैसे रूप बदल सकते हैं, यह कहकर निरुत्तर कर दिया जाता है कि पात्र में रखे जल को भी अग्नि बिना स्पर्श के ही उष्ण कर देती है। इस प्रकार पीलुपाक अर्थात् परमाणुओं के सामने आने पर हम उन्हें पथक्–पथक् ही जानते हैं और यह

पथक्–पथक् दो इकाइयों का ज्ञान हमें एक इकाई का ज्ञान करवाता है, तब हमें द्वित्व का ज्ञान होता है।

२४. एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या। नवद्रव्यवत्तिरेकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव।।

एकत्व आदि व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण संख्या है। यह नवों द्रव्यों में होती है तथा एक से लेकर परार्ध पर्यन्त है। एकत्व नित्य तथा दो प्रकार का है–नित्यगत नित्य, अनित्यगत अनित्य। द्वित्वादि तो सर्वत्र अनित्य ही है।

(तत्त्व दीपिका) संख्यां लक्षयति–एकत्वेति।।

२५. मानव्यवहारकारणं परिमाणं नवद्रव्यवत्ति। तच्चतुर्विधम्-अणु महद्दीर्घं ह्रस्वचेति।।

मानञ(=नाम तोल) के व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण परिमाण है। यह नवों द्रव्यों में रहता है। यह चार प्रकार का है–अणु, महत्; दीर्घ और ह्रस्व।

(तत्त्व दीपिका) परिमाणं लक्षयति–मानेति। परिमाणं विभजते–तदिति। भावप्रधानो निर्देशः। अणुत्वं महत्त्वं दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेत्यर्थः।।

विशेष :- यहाँ जो चार प्रकार के परिमाण दिए हैं, वे भी प्रत्येक दो प्रकार के हैं–मध्यम और परम। परमाणु जो सबसे अधिक सूक्ष्म है, उसकी सूक्ष्मता पारिमाण्डल्य कहलाती है, वह परम सूक्ष्मता का उदाहरण है। द्वयणु मध्यमाणुत्व का उदाहरण है। आकाश परम महत्त्व या विभुत्व का उदाहरण है और समस्त दश्य पदार्थ मध्यम महत्त्व का उदाहरण है। अणु और महत्त्व घनफल अर्थात् ३ आयाम के छोटेपन और बड़ेपन को बतलाते हैं। जबकि दीर्घ और ह्रस्व केवल एक आयाम में, जैसे कि रेखा में, दीर्घ या ह्रस्व को बतलाते हैं। कुछ लोग ह्रस्वत्व और दीर्घत्व को अणुत्व और महत्त्व के अन्तर्गत ही मान लेते हैं। वस्तुतः यह सब सापेक्ष शब्द हैं और कितने अवयवी अंशों को लेकर एक पदार्थ बना है इसे ही बतलाते हैं। परिमाण भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है। पारिमाण्डत्य और निवभुत्य नित्य हैं शेष सब अनित्य। अनित्य परिमाण तीन प्रकार का है–संख्याजन्य, जैसे द्वयणुकादि के परिमाण, परिमाणजन्य जैसे घटादि और प्रचयजन्य जैसे रुई आदि। इसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं।

२६. पथग्व्यवहारकारणं पथक्त्वम्। सर्वद्रव्यवत्ति।।

पथग्भाव के व्यवहार का (विशेष तथा निमि त्त) कारण पथक्त्च है। वह सभी द्रव्यों में रहता है।

(तत्त्व दीपिका) पथक त्वं लक्षयति–पथगिति। 'इदमस्मात् पथक्' इति व्यवहारकारणमित्यर्थः।।

विशेष :- यहां जो पथक्त्व की परिभाषा दी है, उसकी अपेक्षा यह परिभाषा अधिक उपयुक्त है–अपोद्धारव्यवहारकारणम्। अपोद्धार का अर्थ है–अपकृत्यावधिमपेक्ष्य य उद्धारो निर्धारणं सः। अर्थात् एक पदार्थ को शेष सब पदार्थों से पथक् रूप में पहचानना। पथक्त्व अन्योन्याभाव से पथक् है। अन्योन्याभाव केवल यह बतलाता है कि घट पट नहीं है। किन्तु पथक्त्व 'पटाद्धटः पथक्' इस रूप में घट की एक पट से पथक् विशेष सत्ता बतलाता है। उदाहरणतः हम यह कह सकते हैं कि घट अपने में रहने वाला पथक्त्व गुण नहीं है। किन्तु हम यह कह सकते हैं कि उससे पथक् है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि बिना पका कच्चा घड़ा पक्का घड़ा नहीं है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह उससे पथक् नहीं है। इस प्रकार पथक्त्व दो पदार्थों की वस्तुनिष्ठ पथक्ता को बतलाता है जबकि अन्योन्याभाव उनके एक ही स्वभाव न होने को बतलाता है। इसी प्रकार पथक्त्व वैधर्म्य या वैशिष्ट्य से भिन्न है।

२७. संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः। सर्वद्रव्यवत्तिः।।

'ये जुड़े हैं'–इस व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण संयोग है। वह सभी द्रव्यों में रहता है।

(तत्त्व दीपिका) संयोगं लक्षयति–संयुक्तेति। 'इमौ संयुक्तौ' इति व्यवहार–हेतुरित्यर्थः। संख्यादिलक्षणेषु सर्वत्र दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणायासाधरणेत पदं देयम्।। संयोगो द्विविधः–कर्मजः संयोगजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकसंयोगः। द्वितीयो हस्त–पुस्तकंसंयोगात् काय–पुस्तकसंयोगः। अप्याप्य–वत्तिः संयोगः। स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमव्याप्यवृत्त्विम्।।

संयोग की परिभाषा यह है–अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः' अर्थात् वे दो पदार्थ जो कभी अलग–अलग थे, उनका साथ–साथ मिल जाना संयोगज है। इस प्रकार दो सर्वव्यापक पदार्थों का कभी संयोग नहीं हो सकता। क्योंकि वह कभी एक दूसरे से पथक् नहीं होते। संयोग हमेशा कृत्रिम और अनित्य होता है, दीपिका में संयोग को दो प्रकार का माना

है–कर्मज और संयोगज। हाथ का पुस्तक से संयोग कर्मज है क्योंकि यह हाथ के गतिकर्म से होता है और हाथ का पुस्तक के संयोग होने पर इस संयोग से जो शरीर का पुस्तक से संयोग होता हे, वह संयोगज संयोग है। कर्मज संयोग भी दो प्रकार का है–अन्यतर कर्मज और उभयकर्मज। पक्षी का पर्वत से संयोग अन्यतर कर्मज है क्योंकि इसमें केवल पक्षी ही गति करता है, पर्वत नहीं। किन्तु दो पक्षियों का या दो बादलों का संयोग उभयकर्मज है क्योंकि उसमें दोनों संयुक्त होने वाली इकाइयां गति करती हैं। संयोगज भी संयोग दो प्रकार का है–एक तो ऐसा संयोगज संयोग जो अभी उत्पन्न हुए पदार्थ से होता है जैसे–कार्य का अपने उपादान में रहने वाले पदार्थ से सम्बन्ध और दूसरा पहले से ही रहने वाले पदार्थ का संयोग जैसे कि हाथ का पेड़ को छूने पर पेड़ का संयोग। सभी संयोग अव्याप्यवत्ति होते हैं अर्थात् पदार्थ के केवल एक अंशमात्र को व्याप्त करते हैं और विभाग या आश्रय के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं।

२८. संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवत्तिः।।

संयोग का नाशक गुण विभाग है। वह सभी द्रव्यों में रहता है।

(तत्त्व दीपिका) विभागं लक्षयति–संयोगेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय संयोंगनाशक इति। विभागोपि द्विविधः–कर्मजो विभागजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्त–पुस्तकविभागः; द्वितीयो हस्त–पुस्तकविभागात्काय–पुस्तकविभागः।।

विशेष :- विभाग केवल संयोग का अभाव ही नहीं है, अन्यथा इसे पथक् नहीं गिनवाया जाता, प्रत्युत यह एक वास्तविक सत्ता है, जो संयोग को समाप्त कर देती है। इसके अतिरिक्त विभाग विभाजन की क्रिया नहीं है, क्योंकि यह गुण है, जोकि उस क्रिया से तुरन्त फलित होता है। अतः अन्नम्भट्ट विभाग की दूसरी परिभाषा देते हैं–संयोगनाशको गुणो विभागः, विश्वनाथ की भांति, 'विभक्तव्यवहारकारणम्' परिभाषा नहीं देते। क्योंकि विश्वनाथ की परिभाषा से विभाजन की क्रिया भी विभाग ही मान ली जायेगी। अतः प्रथम विभाजनक्रिया तदनन्तर विभाग तदनन्तर पूर्वदेशसंयोगनाश और अन्त में अपरदेशसंयोग होता है। एक घट को एक स्थान से हटाते समय प्रथम हटाने का कर्म होता है। भूमि से उसका पथक् हो जाना, यह विभाग है। भूमि से संयोग समाप्त हो जाता है। यह पूर्वदेशसंयोगनाश है और उसे हम दूसरे स्थान पर रख देते हैं। वह अपरदेशसंयोग है। अतः विभाग संयोगनाश का कारण है, स्वयं संयोगनाश नहीं। नदी के किनारे पर लगे हुए दोनों ओर के वक्ष सदा से ही पथक् हैं। किन्तु उनका कभी वास्तव में विभाजन नहीं हुआ। विभाग के भी वही भेद हैं, जो संयोग के किन्तु नैयायिक विभागज विभाग को नहीं मानते जबकि वैशेषिक मानते हैं। विभागज विभाग का उदाहरण है हाथ के वक्ष से विभक्त हो जाने पर शरीर का वक्ष से विभाग। यहाँ शरीर का विभाग हस्तक्रिया से सम्पन्न नहीं होता। क्योंकि शरीर का विभाग शरीरस्थ है और हस्तक्रिया हस्तस्थ। और शरीर में कोई ऐसी क्रिया नहीं होती, जो उसे विभक्त कर दे। एक भाग की क्रिया समस्त अवयवी की क्रिया नहीं हो सकती। अतः यहां विभाग विभाग से ही उत्पन्न होता है। विभागज विभाग भी दो प्रकार का माना जाता है–कारणमात्रविभागज और कारणाकारणविभागज।

२६. परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पथिव्यादिचतुष्टयमनोवत्तिनी। ते द्विविधे-दिक्कृते कालकृते च। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।।

दूरी तथा निकटता के व्यवहार के असाधारण (निमित्त) कारण परत्व तथा अपरत्व हैं। ये पथ्पी आदि चार तथा मन में रहते हैं। ये दो प्रकार के हैं–दिशाकृत तथा कालकृत। दूरस्थ में दिशाकृत परत्व, समीपस्थ में दिशाकृत अपरत्व, ज्येष्ठ में कालकृत परत्व तथा कनिष्ठ में कालकृत अपरत्व होता है।

(तत्त्व दीपिका) परत्वापरत्वयोर्लक्षणमाह–परेति। परव्यवहारासाधारणकारणं परत्वम्। अपरव्यवहारासाधारणकारणम–परत्वमित्यर्थः। परापरत्वे विभजते–ते द्विविध इति। दिक्कृतयोरुदाहरणमाह–दूरस्थ इति।। कालकृते उदाहरति–ज्येष्ठ इति।।

विशेष :- परत्वापरत्व को दूरी और निकटता भी कह सकते हैं। ये प्रथम चार मूर्त अनित्य और मध्यम परिमाण वाले पदार्थों में रहते हैं। मन क्योंकि मूर्त है, इसलिए उसमें दिक्कृत, अपरत्व रहता है किन्तु क्योंकि यह नित्य है, अतः उसमें कालकृत, परत्व, अपरत्व नहीं होता। अन्तिम चार पदार्थ नित्य भी है और अमूर्त भी हैं। अतः उनमें किसी प्रकार का परत्व, अपरत्व नहीं होता। वस्तुतः परत्व, अपरत्व दो मूर्त पदार्थों के दिक्कृत और कालकृत सम्बन्ध हैं जो उनके गुणों के रूप में कह दिये जाते हैं।

३०. आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्। पथिवीजलवत्ति।।

आद्य पतन (प्रथम गिरने) का असमवायिकारण गुरुत्व है। यह पथ्वी और जल में रहता है।

(तत्त्व दीपिका) गुरुत्वं लक्षयति–आद्येति। द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवाभिकारणत्वाद्वेगेतिव्याप्तिवारणाय–आद्येति।।

३१. आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पथिव्यप्तेजोवत्ति। तद्द्विविधम्-सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकं जले, नैमित्तिकं पथिवीतेजसोः। पथिव्यां घतादावग्निसंयोगजन्यं द्रवत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ।।

आद्य स्यन्दन (प्रथम बहने) का असमवायिकारण द्रवत्व है। यह पथ्वी, जल और तेज में रहता है। यह दो प्रकार का है। सांसिद्धिक (स्वाभाविक) और नैमित्तिक (अग्नि आदि के तेज के संयोग से होने वाला) सांसाद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक पथ्वी तथा तेजस् में होता है। पार्थिव घतादि में अग्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व और तैजस सुवर्ण आदि में भी अग्नि के संयोग से द्रवत्व होता है।

(तत्त्व दीपिका) द्रव्यत्वं लक्षयति—आद्यस्यन्दनेति। स्यन्दनं—स्रवणम्। तेजः—संयोगजन्यं नैमित्तिकद्रत्वम्। तद्भिन्नं सांसिद्धिकद्रवत्वम्। पथिव्यां नैमित्तिक—द्रवत्वमुदाहरति—घतादाविति। तेजसि—तदाह—सुवर्णादाविति।।

विशेष :- गुरुत्व और द्रवत्च की परिभाषाएं एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक पतन का असमवायिकारण है दूसरा प्रथम स्यन्दन का असमवायिकरण है। यहाँ दोनों परिभाषाओं में पतन और स्यन्दन के समस्त द्वितीय और परवर्ती क्रियाओं में असमवायिकारण के रूप में रहने वाले वेग में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये 'आद्य' शब्द दिया है। वस्तुतः पतन और स्यन्दन दोनों एक ही हैं। पतन ठोस पदार्थों का है, स्यन्दन द्रव्य पदार्थों का। नैयायिकों ने सम्भवतः यह एकता नहीं समझी। उन्होंने गुरुत्व को प्रथम पतन का कारण माना जबकि वस्तुतः यह प्रत्येक पतन क्रिया का कारण है। गुरुत्व के दो अर्थ—भार और भारीपन इसके सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं।

कुछ द्रव्यों में द्रवत्व स्वाभाविक है जैसे पानी में और कुछ में कृत्रिम जैसे घत में। यह सांसिद्धिक और नैमित्तिक द्रवत्व यद्यपि पदार्थ के गुण माने जाते हैं किन्तु इनका इतना अभिप्राय है कि कुछ द्रव्य सामान्य तापमान पर द्रवित रहते हैं और कुछ नहीं। बरफ या ओले के रूप में पानी का ठोस हो जाना अपवादात्मक माना जाता है।

द्रवत्व की कल्पना तेजस्, जैसे पिघले हुए सोने या दूसरी धातुओं में भी की जाती है और यह माना जाता है कि उन धातुओं का ठोसपन उनमे मिले हुए पार्थिव पदार्थों के कारण हैं यह भी कहा जा सकता है कि धातुओं का द्रवत्व उनमें मिले हुए जलीय भाग के कारण है। किन्तु वैशेषिकों का कहना है कि यदि ऐसा होता तो यह सांसिद्धिक होता। किन्तु वस्तुतः यह नैमित्तिक है। प्रश्न होता है कि धातुओं में गुरुत्व का कारण जो पार्थिव तत्त्व हैं, वही उसके नैमित्तिक द्रवत्व का कारण भी क्यों नहीं होते ? इसका यह उत्तर है कि धातुओं का द्रवत्व अनुच्छिद्यमान है। क्योंकि वह अत्यधिक ताप पहुंचाने पर भी नष्ट नहीं होता जबकि पार्थिव पदार्थों का द्रवत्व उच्छिद्यमान है। धातुओं के रूप में तेजस् का द्रवत्व उसकी एक अपने विशेषता है।

३२. चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवत्तिः।

चूर्णादि को मिला देने वाला गुण स्नेह है। यह केवल जल में रहता है।

(तत्त्व दीपिका) स्नेहं लक्षयति—चूर्णेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय चूर्णादीति।

विशेष :- तेल, दूध और दूसरे पार्थिव पदार्थों में जो स्निग्धता है, वह जलीय तत्त्व के कारण है। किन्तु इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि वह जलीय तत्त्व अग्नि को बुझाने के स्थान पर भड़काता क्यों है ? इसका उत्तर वैशेषिक यह देते हैं कि शुद्ध जल की अपेक्षा इसमें अधिक स्निग्धता होती है—तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता किन्तु यह नहीं बतलाया जाता कि यह स्निग्धता की सघनता यदि जल के कारण ही है तो फिर तेल में अधिक क्यों है ? पिण्डीभाव का अर्थ है सघनत्व। इस पिण्डीभाव के लिए स्नेह का मानना आवश्यक है—केवल द्रवत्व इसके लिए पर्याप्त नहीं हैं। क्योंकि पिघला हुआ सोना जिसमें द्रवत्व होता है, चूर्ण का पिण्डीभाव नहीं कर सकता। न्यायबोधिनी का कहना है कि केवल तरल जल ही पिण्डीभाव कर सकता है बरफ इत्यादि के रूप में ठोस जल नहीं।

ऐसा लगता है कि आधुनिक विज्ञान के पारिमाणिक आकर्षण का सिद्धान्त जो ठोस द्रव्य और वायवीय पदार्थों का कारण है, प्राचीन भारतीयों को ज्ञात नहीं था।

सभी टीकाकारों ने प्रायः यह कहा है कि इस परिभाषा में 'गुण' शब्द काल इत्यादि में अतिव्याप्तिनिवारण के लिए है। किन्तु यह ठीक नहीं लगता क्योंकि हेतु शब्द का अर्थ हम पहले ही असाधारण हेतु लेते आये हैं। वाक्यवत्ति में कहा है कि यहाँ चूर्ण में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'गुण' शब्द दिया है किन्तु यदि 'हेतु' शब्द का हम निमित्त कारण अर्थ लेते हैं तो चूर्ण में अतिव्याप्ति का निवारण तो स्वयं ही हो जाता है। ऐसा लगता है कि पिण्डीकरण की क्रिया में, जोकि पिण्डीभाव का असाधारण निमित्त कारण है, अतिव्याप्ति निवारण के लिए यहां 'गुण' शब्द दिया है। अतः यहां दीपिका में जो व्याख्या की

गई है, वह सुसंगत नहीं है। प्रशस्तपाद भाष्य में भी स्नेह की यही परिभाषा आती है और संभवतः अन्नम्भट्ट ने यह परिभाषा वहीं से ली है।

३३. श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवत्तिः। स द्विविधः-ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति। ध्वन्ययात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।

श्रोत्रेन्द्रियं से ग्राह्य गुण शब्द है। यह केवल आकाश में रहता है। यह दो प्रकार का है–ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक, इनमें ध्वन्यात्मक भेरी आदि में होता है और वर्णात्मक संस्कृत भाषादिरूप है।

(तत्त्व दीपिका) शब्दं लक्षयति–श्रोत्रेति। शब्दत्वेतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय श्रोत्रेति।। शब्दस्त्रिविधः–संयोगजो विभागजः शब्दजश्चेति। तत्राद्यो भेरीदण्डसंयोगजन्यः। द्वितीयो वंश उत्पाट्यमाने दलद्वयविभागजन्यश्चटचटाशब्दः। भेर्यादिदेशमारभ्य श्रोत्रपर्यन्तं द्वितीयादिशब्दाः शब्दजाः।।

विशेष :- ध्वन्यात्मक और वर्णनात्मक भेदों के अतिरिक्त दीपिका में शब्द के संयोगज विभागज और शब्दज–यह तीन भेद और किये हैं। ढोल के पीटे जाने से जो शब्द होता है, वह ढोल और हाथ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण संयोगज है। बांस की छड़ी इत्यादि को बीच में से तोड़ने पर जो शब्द होता है, वह विभागज है और जो शब्द प्रथम उत्पन्न हुए शब्द से उत्पन्न होता है, वह शब्दज है।

क्योंकि हम किसी भी शब्द को दूर से सुन लेते हैं अतः शब्दज शब्द मानना पड़ता है। चक्षु और श्रोत्र अपने–अपने पदार्थों को दूरी से भी जान लेते हैं। इनमें चक्षु तो यह माना जाता है कि पदार्थ तक जाता है। किन्तु श्रोत्र सर्वव्यापक आकाश से सम्बद्ध है और वह पदार्थ तक नहीं जा सकता क्योंकि श्रोत्र और कुछ नहीं है, हमारे कान की सीमा में बंधा हआ आकाश ही है–कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश है। अतः उसके अपने स्थान को छोड़कर जाने का प्रश्न नहीं होता। अब यदि श्रोत्र इन्द्रिय बाहर जाकर पदार्थ से स्थापित सम्बन्ध नहीं कर सकती, तो पदार्थ को सन्निकर्ष के लिए इन्द्रिय के पास आना चाहिए। किन्तु वह शब्द आकाश का गुण होने के कारण आकाश में एक स्थल विशेष पर उत्पन्न होता है और नैयायिकों के अनुसार वह अनित्य भी है। अतः यह माना जाता है कि प्रथम उत्पन्न शब्द, द्वितीय उत्पन्न शब्द को जन्म देता है, और द्वितीय ततीय को। और इस प्रकार वे कान तक पहुंच जाते हैं। नैयायिक इतने अंश तक वैशेषिकों के साथ सहमत है।

किन्तु नैयायिकों में इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं कि शब्द किस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय तक यात्रा करता है। कुछ लोगों का कहना है कि शब्द केवल एक ही दिशा में एक सीधी रेखा में यात्रा करता है। यह वीचितरंगन्याय कहलाता है। दूसरे लोग कदंबगोलमन्याय को मानते हैं जिसके अनुसार जिस प्रकार कदंब के फूल की पंखड़ियां चारों ओर होती हैं, उसी प्रकार शब्द भी चारों दिशाओं में यात्रा करता है। इतना तो स्पष्ट है कि ढोल का शब्द चारों दिशाओं में सुनाई पड़ता है, अतः दूसरा सिद्धान्त ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। किन्तु साथ यह यह भी कहना होगा कि व्यक्ति जिस ओर मुंह कर के बोलता है, आवाज उस ही ओर अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है, अतः प्रथम सिद्धान्त भी सर्वथा निराधार नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि नैयायिक यह नहीं जानते थे कि श्रोत्रेन्द्रिय कान का पर्दा है, श्रोत्राकाश नहीं। वे यह भी नहीं जानते थे कि शब्द वायु के माध्यम से वायवीय अवयवों में पैदा होने वाली लहरों के माध्यम से पहुंचता है। उन्होंने शब्द के स्वभाव को ठीक–ठीक जानने में अपनी शक्ति लगाने की बजाय इस विषय में अपनी शक्ति अधिक लगाई कि शब्द नित्य है या अनित्य।

३४. सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा-स्मतिरनुभवश्च। संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मतिः। तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः।

सब व्यवहार का हेतु गुण बुद्धि है (और वही) ज्ञान है। यह दो प्रकार की है–स्मरण और अनुभव। जो संस्कार मात्र से उत्पन्न हो वह स्मरण है उसके अतिरिक्त ज्ञान अनुभव है।

(तत्त्व दीपिका) बुद्धेर्लक्षणमाह–सर्वेति। 'जानामि' इत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वमेव लक्षणमित्यर्थः। बुद्धिं विभजते–सेति।। स्मतेर्लक्षणमाह–संस्कारेति। भावनाख्यः संस्कारः। संस्कारध्वंसेतिव्याप्तिवारणाय–ज्ञानमिति। घटादिप्रत्यक्षेतिव्याप्तिवारणाय–संस्कारजन्यमिति। प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्रेति।। अनुभवं लक्षयति–तद्भिन्नमिति। स्मतिभिन्नं ज्ञानमनुभव इत्यर्थः।

विशेष :- बुद्धि शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं–ज्ञान, ज्ञान का साधन और जानने की क्रिया। न्यायवैशेषिक दर्शन में बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हुआ है। बुद्धि को यहां आत्मा का गुण कहा गया है। ज्ञान गुण है जबकि ज्ञान की क्रिया, क्रिया है और ज्ञान का साधन द्रव्य है। यह ज्ञान का साधन नैयायिकों ने मनसः शब्द से कहा है। सांख्य और वेदान्ती

बुद्धि को महत्तत्त्व के अन्तर्गत एक पदार्थ मानते हैं और इसकी क्रियाओं को अनेक भागों में बांट देते हैं जैसे कि अहंकार, अन्तःकरण इत्यादि। अतः वे बुद्धि को ज्ञान का साधन मानते हैं। किन्तु नैयायिक बुद्धि को ज्ञान मानते हैं और ज्ञान का साधन मन को मानते हैं, जो कि अणु परिमाण है और प्रत्यक्षगम्य नहीं। अतः यहां बुद्धि को ज्ञान ही माना है, ज्ञान का साधन नहीं।

बुद्धि की जो परिभाषा यहां दी है, वह व्यवहार के लिए उपयोगी होने पर भी शास्त्रीय दष्टि से उतनी ठीक नहीं है, अतः दीपिका में एक दूसरी परिष्कृत परिभाषा दी है—जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्। अर्थात् बुद्धि वह ज्ञान है, जो अनुव्यवसाय (मैं जानता हूं इस प्रकार के ज्ञान का) विषय बनता है। नैयायिकों के अनुसार ज्ञान के तीन प्रकार हैं—इन्द्रियार्थ, सन्निकर्ष, ज्ञान तथा अनुव्यवसाय। घट के देखने पर चक्षु इन्द्रिय से उसका सन्निकर्ष है, अयं घटः इस बुद्धि में परिणत हो जाता है और यह बुद्धि घटज्ञानवान् आत्मा का ज्ञान करवाती है, जोकि अहं के साथ मिलकर घटज्ञानवानहमस्मि या घटमहं जानामि के रूपमें परिणत हो जाती है। यह अन्तिम स्थिति अनुव्यवसाय है। अतः 'अयं घटः' घटमहं जानामि का विषय माना गया है। सांख्य और वेदान्ती अयं घटः को अनुव्यवसाय का गम्य ज्ञान नहीं मानते किन्तु अनुव्यवसाय को ही स्वयं एक ज्ञान मानते हैं।

ज्ञान दो प्रकार का है—स्मति और अनु भव। स्मति संस्कार—मात्र—जन्य ज्ञान है, संस्कार भावना है जो अनुभव से पैदा होती है और स्मति का कारण है। अर्थात् अनुभव और स्मति के बीच में रहने वाला व्यापार भावनासंस्कार है। व्यापार का लक्षण है—तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः। अर्थात् हेतु से उत्पन्न होकर अपने कार्य को उत्पन्न कर देने वाला। भावनासंस्कार अपने हेतु अनुभव से उत्पन्न होकर अपने कार्य, स्मति को, उत्पन्न करता है, अतः वह एक 'व्यापार' है।

स्मति की परिभाषा में मात्र शब्द का प्रयोग बहुत विवादास्पद है। कहा जाता है कि संस्कार से उत्पन्न होने वाली प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार से ही उत्पन्न नहीं होती, उसके लिये पदार्थ का प्रत्यक्ष भी होना चाहिये। प्रत्यभिज्ञा और स्मति में यही भेद है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए पदार्थ का उपस्थित होना जरूरी है, स्मति में पदार्थ अनुपस्थित ही रहता है। महावत और हाथी दोनों को एक साथ देखने पर उन दोनों में सो एक को देखने पर दूसरे की स्मति होती है और जिसकी स्मति होती है वह हमारे सामने नहीं होता, हमारे सामने जो होता है वह उद्‌बोधक कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा में वह पदार्थ जिसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, हमारे सम्मुख होता है और केवल संस्कार मात्र जन्य नहीं है बल्कि प्रत्यक्षसहकृतसंस्कारजन्य है। तर्कसंग्रह की कुछ प्रतियों में 'मात्र' शब्द नहीं है और दीपिका में इस सम्बन्ध में जो व्याख्या दी है, वह भी नहीं है। सिद्धान्तचन्द्रोदय के सामने ये दोनों पाठ थे, और उन्होंने 'मात्र' पाठ को उपयुक्त माना है। जो लोग 'मात्र' शब्द को परिभाषा में नहीं रखते हैं, उनका कहना है कि प्रत्यभिज्ञा संस्कार से उत्पन्न ही नहीं होती किन्तु संस्कार से उत्पन्न होने वाली 'तत्ता' अर्थात् 'यह वही है' इस ज्ञान से उत्पन्न होती है। अतः यहां यदि 'मात्र' शब्द न भी रखें तो कोई हानि नहीं। नीलकण्ठ इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा का कारण तादात्म्य का संस्कार है, मध्यवर्ती स्मति का नहीं। एक दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि स्मति संस्कारमात्रजन्य नहीं, प्रत्युत अनुभवजन्य भी है। किन्तु यहां जन्य का अर्थ या तो साक्षात् जन्य मानना चाहिए और या जैसा नीलकण्ठ ने किया है, इसका अर्थ 'चक्षुराद्यजन्यत्वे सति (संस्कारजन्यत्वे सति नहीं) संस्कारजन्यत्वम्' लेना चाहिए। यहां 'ज्ञान' पद के ओने से संस्कारध्वस में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह संस्कारमात्र जन्य तो है, किन्तु ज्ञान नहीं है।

स्मति के अतिरिक्त सभी ज्ञान अनुभव माने जाते हैं, अर्थात् वे ज्ञान जो नये हैं और पुराने ज्ञान की आवत्ति मात्र नहीं हैं अनुभव हैं। अनुभव की यह निषेधात्मक परिभाषा इसलिए दी गई है कि अनुभव सभी मानसिक प्रक्रियाओं का अन्तिम मूल है और सारी मानसिक प्रक्रियायें अनुभव से ही बनती हैं। स्मति और बुद्धि को निकाल देने पर जो प्रक्रिया रहती है, वह अनुभव ही है बुद्धि का यह विभाजन गौतम के अनुसार है।

३५. स द्विविध - यथार्थोयथार्थश्च। तद्वति तत्प्रकारकोनुभवो यथार्थः। यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। स एव प्रमेत्युच्यते। तदभाववति तत्प्रकारकोनुभवोयथार्थः। यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्।।

यह अनुभव दो प्रकार का है यथार्थ और अयथार्थ। जो पदार्थ जैसा हो उसमें उसी प्रकार का अनुभव यथार्थ है। यही प्रमा भी कहलाता है। जो पदार्थ जैसा न हो उसमें वैसा ज्ञान होना अयथार्थ है। यही अप्रमा भी कहलाता है, जैसे सीप में 'यह चांदी है' ऐसा ज्ञान।

(तत्त्व दीपिका) अनुभवं विभजते—स द्विविधि इति। यथार्थानुभवस्य लक्षणमाह—तद्वतीति। ननु घटे घटत्वमिति प्रमायामव्याप्ति; घटत्वे घटाभावादिति चेत्, न; यत्र यत्संबंधोस्ति तत्र तत्संबंधानुभव इत्यर्थाद्घटत्वेपि घटसंबंधोस्तीति नाव्याप्तिः। स इति। यथार्थानुभव एव शास्त्रे प्रमेत्युच्यत इत्यर्थः। अयथार्थं लक्षयति—तदभाववतीति। ननु 'इदं संयोगि' इति प्रमायामतिव्याप्तिरिति चेत्,

—न; यदवच्छेदेन यत्संबंधाभावस्तदवच्छेदेन तत्संबंधज्ञानस्य विवक्षितत्वात् संयोगभावाच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्, संयोगावच्छेदेन संयोगसंबंधस्य सत्त्वात् नातिव्याप्तिः।।

विशेष :- अनुभव दो प्रकार का है—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव प्रमा है और अयथार्थ अप्रमा। जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना यथार्थ अनुभव है। इसका शास्त्रीय रूप इस प्रकार होगा—तद्वति तत्प्रकारकोनुभवः प्रमा।

यहां विशेष्य और प्रकार शब्दों को समझ लेना चाहिए। जब हमें कोई विशिष्ट ज्ञान होता है तो विशेष्य और प्रकार दोनों को लेकर ही होता है। जैसे अयं घटः यहां घट विशेष्य है और घटत्व जो घट को पटादि से भिन्न करता है, उसका प्रकार है। विशेषणतया प्रतीयमान को प्रकार करते हैं, आश्रयतया प्रतीयमान् विशेष्य होता है। अतः अयंघट का अर्थ—घटविशेष्यक—घटत्वप्रकारक, अर्थात् जो घट विशेष्यवान् है और घटत्व प्रकार वाला है, वह घट ज्ञान है। इस प्रकार विशेष्य और प्रकार दोनों ज्ञान के स्वरूव को बताते हैं।

अतः तद्वति तत्प्रकारकोनुभवः का अर्थ होगा घटविशेष्यक—घटत्वप्रकारासेनुभवः। अर्थात् वही धर्म जो पदार्थ में है, उस पदार्थ के ज्ञान को भी पथक् करने वाले होने चाहिए, अतः वाक्यवत्ति में कहा है—सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम्। अर्थात् तद्वति का यह अभिप्राय है कि घट में तत् अर्थात् घटत्व है और वह ज्ञान अयं घटः इस प्रकारतया भासमान है। संक्षेप में जो पदार्थ जैसा है, उसका उसी रूप में ज्ञान प्रमा है। इसका विपरीत अप्रमा है, जिसका अर्थ है कि जो पदार्थ जिस रूप में नहीं है, उस रूप में उसका ज्ञान होना, जैसा रजत का शुक्ता में।

इस परिभाषा पर एक आक्षेप दीपिका में उठाया है। यहां अप्रमा की व्याख्या भी अतिव्याप्त है, क्योंकि 'ये दो पदार्थ परस्पर मिले हुए हैं' इस प्रकार के ज्ञान को भी यहां अप्रमा मान लिया जायेगा क्योंकि मिलने का अर्थ है संयोग और संयोग सर्वावयव में रहता नहीं है और संयोगवत् पदार्थ संयोगाभाववत् भी होते हैं। इस प्रकार —'इदं संयोगि' यह ज्ञान प्रमा अप्रमा दोनों होगा। किन्तु यह आक्षेप निराधार है। अप्रमा में पदार्थ के जिस भाग में संयोग है, वहां संयोग का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में संयोग सम्बन्ध से रहता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं, अतः समवाय सम्बन्ध का निषेध इस अप्रमा को नहीं होने देता।

अन्नम्भट्ट के अनुसार स्मति भी दो प्रकार की है—यथार्थ और अयथार्थ, यद्यपि स्मति की प्रामाणिकता के आधार भिन्न हैं। कुछ नैयायिक स्मति को एक ही प्रकार की मानते हैं। अयथार्थ अनुभव का विवेचन हम आगे करेंगे। प्रमा के जो चार विभाग किये गये हैं, वे अयथार्थ अनुभव पर भी लागू होते हैं। इन्द्रियों के या दूसरे कारणों में किसी विकार या त्रुटि के कारण अप्रमा हो सकती है या तर्क के गलत होने से अप्रमा हो सकती है या एक गलत उपमा द्वारा या शब्दों को गलत समझने से हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है। ये सभी प्रकार के ज्ञान विपर्यय माने जायेंगे जब तक कि उनमें संशय और तर्क के लिये जो शर्तें अनिवार्य हैं, वे भी न पायी जायें।

३६. यथार्थानुभवश्चतुर्विधः-प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्।

तत्करणमपि चतुर्विधम्-प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।।

यथार्थ अनुभव चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। उनके करण (असाधारण कारण) भी चार प्रकार के हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

(तत्त्व दीपिका) यथार्थानुभवं विभजते—यथार्थेति। प्रसङ्गात्प्रमाकरणं विभजते—तत्करणमित्ति। प्रमाकरणमित्यर्थः। 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।।

विशेष :- प्रमा के जो चार भेद यहां बतलाये गये हैं उनकी हम बाद में चर्चा करेंगे। किन्तु यहां प्रमाण के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है। नियम है कि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् पदार्थ मात्र की सिद्धि प्रमाण पर निर्भर करती है। यदि हम एक बार ज्ञान को प्राप्त करने वाले साधनों की प्रामाणिकता निश्चित कर लें तो उनके द्वारा सत्य ज्ञान की प्राप्ति कठिन नहीं रह जाती। इसलिये न्याय दर्शन के ग्रन्थों में प्रमाण की विस्तत चर्चा है। अन्नम्भट्ट ने गौतम का अनुसरण करते हुए चार प्रमाण माने हैं। प्रमाण की परिभाषा दीपिका में दी है—प्रमाकरणम् अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन। किन्तु जहां पर वे साधन प्रामाणिक होते हुए भी किन्हीं बाह्य कारणों से अयथार्थ ज्ञान करवाते हैं, वहां यह परिभाषा लागू नहीं होती जैसे कामलादिदोषजन्यः पीतः शङ्खः इत्यादि।

प्रमाण की जो परिभाषा यहां दी है, उसमें प्रमाजनकत्व तो आया पर प्रमात्वज्ञापकत्व का निर्देश नहीं है अर्थात् प्रमाण

प्रमा का जनक है यह तो वहां कहा गया है किन्तु यह नहीं कहा गया कि प्रमाण प्रमा के प्रमात्व का भी ज्ञापक है। सर्वदर्शनसंग्रह में प्रमाण की परिभाषा दी है—साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तम् अर्थात् जिसके अनन्तर यथार्थ ज्ञान हो, और जो ज्ञान के अधिकरण आत्मा और इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध हो, वह प्रमाण है। इस प्रकार प्रमाण प्रमा की अनिवार्य शर्त भी है, केवल प्रमा का कारण ही नहीं है। प्रमाण केवल सत्य को जानता ही नहीं है प्रत्युत सत्य की परीक्षा भी करता है। अतः यह प्रमा करण ही नहीं है, प्रमात्व ज्ञापक भी है। नैयायिक परतः प्रमाणवादी हैं। अर्थात् वे यह मानते हैं कि ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए कोई अन्य साधन चाहिये। अतः वे इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते। प्रमाण न आत्मा है, न मन और न इन्द्रिय, अन्यथा इसके पथक् परिगणन की आवश्यकता ही नहीं थी।

मीमांसक प्रमाण की परिभाषा 'अनधिगतार्थगन्त' देते हैं किन्तु सिद्धान्तचन्द्रोदय का कहना है कि एक ही पदार्थ के क्रमशः बार—बार प्रतीत होने पर धारावाहिक ज्ञान में प्रथम ही अनुभव प्रमा होगा शेष अधिगतार्थ होनें के कारण प्रमा नहीं होंगे। मीमांसकों का कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि ज्ञान भिन्न—भिन्न—क्षण—विशेषित होने के कारण क्षणरूपविषय के भिन्न—भिन्न होने से अनधिगतार्थ ही होगा।

३७. असाधारणं कारणं करणम्।

असाधारण कारण को करण कहते हैं।

(तत्त्व दीपिका) करणलक्षणमाह—असाधारणेति। साधारणकारणे दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणाय—असाधारणेति।।

विशेष :- करण असाधारण कारण है। टीकाकारों के अनुसार यहां असाधारण शब्द साधारण कारण काल और आकाश की व्यावत्ति के लिये है। काल और आकाश कार्य सामान्य के प्रति कारण हैं केवल तत्तत् कार्य के प्रति नहीं। अतः वे असाधारण न होकर साधारण हैं। नीलकंठ ने असाधारण का यह अर्थ किया है—यद्विलम्बात्प्रकृतकार्यानुत्पादस्तत्कारणत्वम् अर्थात् जिसके न रहने पर कार्य की कभी भी उत्पत्ति न हो सके। किन्तु वस्तुतः इतना होने पर भी कोई असाधारण कारण तब तक करण नहीं होता जब तक कि उसमें व्यापार नहीं हो। यहां कारण स्वरूपयोग्यता है फलोपधायकता नहीं। दण्ड घट का असाधारण निमित्त कारण है और भ्रमी रूप व्यापारवान भी है। इसी तरह ज्ञान के प्रति चक्षु करण है, क्योंकि उसमें सन्निकर्ष रूप व्यापार है। यदि व्यापारतत्त्व अनिवार्य न माना जाये तो चक्षुःसन्निकर्ष में भी कारणता आ जायेगी। किन्तु वन में स्थित दण्ड घट का करण नहीं हो सकता। यद्यपि यह परिभाषा वहां भी लागू होती है। अतः घट के बनाने में जो वस्तुतः लगे वही दण्ड घट का साधारण कारण होने के करण होगा, वन में स्थित दण्ड नहीं। अतः नैयायिक इस परिभाषा में व्यापारवत्त्वे सति जोड़ देते हैं। व्यापार का सिद्धान्तचन्द्रोदय में यह लक्षण दिया है—द्रव्येतरत्वे सति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः, अर्थात् जो स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु द्रव्य का जन्य है और उसका जनक भी है। परशु जब वक्ष को काटता है, तो वह करण होता है और परशु और लकड़ी का परस्पर संयोग व्यापार है क्योंकि वह परशु से उत्पन्न होता है और छेदन की उत्पत्ति का कारण है। ऊपर द्रव्येतरत्वे सति इसलिये कहा गया है कि कपाल जोकि मध्यमावयवी है, अर्थात् परमाणुओं से उत्पन्न होता है, और घट को उत्पन्न करता है, व्यापार न माना जाये, क्योंकि वह स्वयं ही द्रव्य है।

यह परिभाषा प्राचीन नैयायिकों के अनुसार है। किन्तु नव्यनैयायिक इस विषय में सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि करण की परिभाषा है—फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम् अर्थात् कार्य से नियत रूप से और तुरन्त पहले रहने वाला कारण करण है। यद्यपि इन परिभाषाओं में कोई भेद नजर नहीं आता, पर वस्तुतः एक इनमें मौलिक भेद है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार करण में व्यापार होना आवश्यक है कि नव्यनैयायिकों के अनुसार वह व्यापार ही स्वयं करण है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा कार्य के वह अधिक निकट है। उदाहरणतः किसी पदार्थ के देखने पर दष्टि पदार्थ से सन्निकर्ष प्राप्त करती है। यहां प्राचीन नैयायिकों के अनुसार चक्षु इन्द्रिय करण है जबकि नव्यनैयायिकों के अनुसार स्वयं सन्निकर्ष ही करण है। प्राचीन नैयायिकों की परिभाषा में जब अनुमिति का कारण लिंगज्ञान या व्याप्तिज्ञान माना जाता है तो यह असंगति आती है कि ज्ञान स्वयं ही गुण है, और इस प्रकार वह स्वयं पदार्थ में रहता है, उसमें कोई अन्य व्यापार नहीं रह सकता। अनुमिति में प्राचीन नैयायिक परामर्श को व्यापार कहते हैं और नव्यनैयायिक उसे करण मानते हैं। दूसरे यदि प्राचीन नैयायिकों की परिभाषा मानें, तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष का करण इन्द्रियां हैं, उस प्रकार अनुमिति का करण भी मन होना चाहिए, व्याप्ति नहीं। और मन क्योंकि सुखादि प्रत्यक्ष का भी करण है, अतः इस प्रकार वह अनुमिति और मानस प्रत्यक्ष दोनों का करण हो जायेगा। अतः नव्यनैयायिक कारण की परिभषा 'फलव्याप्तम्' की परिभाषा मानते हैं और प्राचीन नैयायिकों के अनुसार जो करण है, उसे वे असाधारण कारण न मानकर सामान्य कारण मानते हैं।

अन्नम्भट्ट के इस सम्बन्ध में क्या मत था, यह जानने के लिए यह जानना होगा कि बहुत सी पुस्तकों में व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम् पाठ दिया गया है। किन्तु ऐसा लगता है कि दीपिका, सिद्धान्तचन्द्रोदय और नीलकण्ठ की टीका में व्यापारवत् शब्द नहीं था। यदि यह शब्द यहाँ होता, तो किसी टीका में या मूलग्रन्थ में व्यापार की व्याख्या भी होती। अतः यहाँ यह शब्द मूलतः नहीं रहा होगा। सम्भवतः अन्नम्भट्ट इस विषय में स्पष्ट भी नहीं थे कि वे किस मत को स्वीकार करें। एक ओर वे इन्द्रियों को प्रत्यक्ष का करण मानते हैं और दूसरी ओर परामर्श को अनुमिति का करण मानते हैं। किन्तु संभवतः वे इस विवाद में इसलिये नहीं पड़ना चाहते थे कि वे 'बालानां सुखबोधाय' लिख रहे थे। अतः उन्होंने प्रत्यक्ष और उपमिति में तो प्राचीन दष्टि से विवेचन किया और अनुमिति में परामर्श को करण मानकर नव्य दष्टि का अनुसरण किया। अतः उन्होंने असाधारण शब्द का प्रयोग करके इस विवाद को अनिर्णित ही रहने दिया।

३८. कार्य्यनियतपूर्ववत्ति कारणम्।

जो कार्य के पूर्व नियत रूप में रहे वह कारण कहलाता है।

(तत्त्व दीपिका) –कारणलक्षणमाह–कार्येति। 'पूर्ववत्ति कारणम्' इत्युक्ते रासभादावतिव्याप्तिः स्यादतो नियतेति। तावन्मात्रे कृते कार्येतिव्याप्तिरतः पूर्ववत्तीति।। ननु तन्तुरूपमपि पटं प्रति कारणं स्यादिति चेत्,–न; अनन्यथासिद्धत्वे सतीति विशेषणात्। अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धिविरहः। अन्यथासिद्धिश्च त्रिविधा। येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तेन तदन्यथासिद्धम्। यथा तन्तुना तन्तुरूपं, तन्तुत्वं च पटं प्रति। अन्यं प्रति पूर्ववत्तितवे ज्ञात एव यस्य यं प्रति पूर्ववत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तदन्यथासिद्धम्। यथा शब्दं प्रति पूर्ववत्तित्वे ज्ञात एव घटं प्रत्याकाशस्य, अन्यत्र क्लप्तनियत–पूर्ववर्तिनैव कार्यसंभवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्। यथा पाकजस्थले गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य। एवं चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्।।

विशेष :- करण शब्द की परिभाषा में कारण शब्द आया है। कारण की परिभाषा यहाँ दी गई है कि जो कार्य के नियत रूप में पूववर्ती हो। स्पष्ट है कि कार्य के पहले कारण को होना ही चाहिए। किन्तु कारण के अतिरिक्त कार्य से पूर्व अन्य भी अनेक पदार्थ रह सकते हैं। घट बनाने से पूर्व घट बनाने की मिट्टी बैलगाड़ी में भी आ सकती है, और गधे पर भी। किन्तु ये दोनों हीं घड़े के कारण नहीं माने जायेंगे, क्योंकि वे घट के पूर्व नियत रूप से नहीं रहते।

इस मूल परिभाषा में भी दीपिका ने 'अनन्यथासिद्धत्वे सति' जोड़ा अर्थात् कारण को कार्य के साथ दूरवर्ती सम्बन्ध वाला नहीं होना चाहिए। उदाहरणतः कुम्भकार का पिता भी घट के पूर्व नियतरूप से होता ही है। क्योंकि उसके बिना कुम्भकार नहीं हो सकता और कुम्भकार के बिना घट नहीं हो सकता। किन्तु कुम्भकार का पिता का सम्बन्ध घट के साथ बहुत दूरवर्ती है। अतः वह घट का कारण नहीं है। इसी प्रकार दण्ड घट का कारण है किन्तु दण्ड का रूप नहीं, यद्यपि कार्य से पहले भी होता अवश्य है।

कारण की परिभाषा में मूल पुस्तक में अनन्यथासिद्ध शब्द नहीं दिया गया। सम्भवतः दीपिका ने बाद में इसे जोड़ा। अनन्यथासिद्ध अन्यथासिद्ध का उल्टा है। अन्यथासिद्ध का अर्थ है जो कार्य में अनुपयोगी होकर स्थित रहे। जैसे दण्ड के साथ रहने वाली दण्डत्व जाति। दण्डरूप भी अन्यथासिद्ध ही है।

दीपिका में अनन्यथासिद्ध के तीन प्रयोजक बताये हैं–१. कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध। जैसे पट के पूर्ववर्ती तन्तु में रहने वाला तन्तुत्व या तन्तु रूप। २. जिनका पूर्ववर्तित्व अन्य के पूर्ववर्तित्व से सापेक्ष हो वहाँ वे अन्यथासिद्ध सिद्ध होते हैं। जैसे कुम्भकार से पहले रहने वाला कुम्भकार का पिता। ३. कारण के साथ समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त सम्बन्ध से रहने वाले तत्त्व जैसे रूपप्रागभाव गन्ध का कारण नहीं है, यद्यपि यह गन्धप्रागभाव का सहवर्ती है।

३९. कार्यं प्रागभावप्रतियोगि।।

जो प्रागभाव का प्रतियोगी हो वह कार्य है।

(तत्त्व दीपिका) – कार्यलक्षणमाह–कार्यमिति।।

विशेष :- प्रागभाव का प्रतियोगी कार्य है। दूसरे शब्दों में कार्य वह है जिसका प्रारम्भ हो। प्रागभाव अनादि होता है किन्तु अनन्त नहीं होता। प्रागभाव स्वयं अपना प्रतियोगी नहीं हो सकता, अतः वह कार्य नहीं है।

प्रतियोगी शब्द का प्रयोग न्यायदर्शन में बहुत अधिक होता है। प्रतियोगी शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। प्रतियोगी एक सम्बन्ध है, और भाव और अभाव में सम्बन्ध इसलिये सम्भव माना जाता है कि नैयायिकों के अनुसार अभाव की भी एक स्वतन्त्र सत्ता है और प्रतियोगी वस्तुतः दो पदार्थों में वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत प्रमाता अपनी कल्पना से दो

पदार्थों में इसका आरोप कर लेता है और क्योंकि यह आरोपित धर्म है, अतः दो असत् पदार्थों में भी रह सकता है। इस प्रकार अभाव यद्यपि एक निषेधात्मक तत्त्व है, किन्तु अभाव का भाव वास्तविक है। अतः इसका बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध होना चाहिए। अभाव के भाव का सम्बन्ध स्वयं अभाव से तो हो नहीं सकता, क्योंकि बाह्य जगत में अभाव नाम का कोई विध्यात्मक पदार्थ नहीं है। अतः अभाव का सम्बन्ध छः पदार्थों में से ही, जो कि भावात्मक है, किसी एक से होना चाहिए। भाव पदार्थों का अभाव के साथ यह सम्बन्ध प्रतियोगिता है। जैसे घट घटाभाव का प्रतियोगी है, पट पटाभाव का प्रतियोगी है। ये सभी प्रतियोगिता सम्बन्ध विरुद्ध कहलाते हैं। एक अन्य प्रतियोगितासम्बन्ध वित्तिवेद्यत्व है जो कि एक पदार्थ और इसके गुणों में या दो पदार्थों में होता है। उदाहरणतः जब हम कहते हैं कि मुख चन्द्रमा के समान है, तब चन्द्रमा मुख का सादश्य सम्बन्ध से प्रतियोगी है क्योंकि यहाँ भी सादश्य का भाव समझने के लिये चन्द्रमा का ज्ञान होना आवश्यक है। किन्तु यह प्रतियोगिता एक भिन्न प्रकार की है। विरुद्धत्व सम्बन्ध में दो में से एक पदार्थ भावात्मक होता है, दूसरा अभावात्मक, जबकि यहां दोनों ही पदार्थ भावात्मक हैं। जिस पदार्थ के साथ प्रतियोगिता सम्बन्ध होता है, वह अनुयोगी कहलाता है, जैसे कि चन्द्र सादश्य में मुख सादश्य का अनुयोगी है। इसी प्रकार घटाभाव का भूतल अनुयोगी है। इस प्रकार घट घटप्रागभाव का प्रतियोगी है और कार्य समस्त प्रागभाव का प्रतियोगी है।

४०. कारणं त्रिविधम्-समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य।

कारण तीन प्रकार का है समवायी, असमवायी और निमित्त। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायी कारण है जैसे तन्तु पट के और पट अपने रूप का। कार्य या कारण के साथ एक पदार्थ (अधिकरण) में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला कारण असमवायिकारण है जैसे तंतु का संयोग पट का और तन्तु का रूप पट के रूप का। इन दोनों से भिन्न कारण निमित्त कारण है जैसे तुरी और वेमा आदि पट के।

(तत्त्व दीपिका) –कारणं विभजते–कारणमिति समवायिकारणस्य लक्षणमाह–यत्समवेतमिति। यस्मिन्समवेतमित्यर्थः। असमवायिकारणं लक्षयति–कार्येणेति। कार्येणेत्येतदुदाहरति–तन्तुसंयोग इति। कार्येण पटेनैकस्मिंस्तन्तौ समवेतत्वात्तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणमित्यर्थः। कारणेन सहेत्येतदुदाहरति–तन्तुरूपमिति। कारणेन पटेन सहैकस्मिंस्तन्तौ समवेतत्वात्तन्तुरूपं पटरूपस्यासमवायिकारणमित्यर्थः। निमित्तकरणं लक्षयति–तदुभयेति। समवाय्यसमवायिभिन्नं कारणं निमित्तकारणमित्यर्थः।।

विशेष :- पट का तन्तु समवायिकारण है क्योंकि पट तन्तु में समवायी सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पट रूप का भी समवायिकरण पट है। पदार्थ के खण्ड उस समुदायात्मक पदार्थ के समवायिकारण होते हैं और उसके गुण और कर्म के भी।

कार्य और समवायिकारण एक श्रंखला है। यह दो प्रकार का है–एक उपादान कारण का समवायिकरण जो कि कार्य का समानाधिकारण होता है, तन्तुओं का संयोग जो पट के बनाने में कारण है, असमवायिकारण है। किन्तु यह तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से रहता है और पट का समानाधिकरण है। यह तन्तु संयोग पट के लिए अनविार्य है क्योंकि इसके बिना केवल तन्तुओं का समूह हो सकता है, पट नहीं बन सकता। दूसरे प्रकार के असमवायिकारण का उदाहरण तन्तु रूप है, जो पट रूप का असमवायिकरण है। यहां पटरूप पट में रहता है और तन्तुरूप तन्तु में। अतः दोनों का सामानाधिकरण्य नहीं है और कार्यकारण का सामानाधिकरण्य अपेक्षित है। अतः जहां साक्षात् सामानाधिकरण्य नहीं हो पाया, वहाँ परम्परासम्बन्ध से सामानाधिकरण्य दिखाया गया है। क्योंकि यह समवायितन्तुओं से समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है और पट रूप का समवायिकरण है।

उपादानकरण वह कारण है जो कार्य के लिये अनिवार्य है और साथ ही उसके पथक् भी नहीं किया जा सकता। किन्तु दण्ड चक्र इत्याति जो घट की उत्पत्ति के लिए आवश्यक हैं, किन्तु उससे पथक् रहते हैं, निमित्त कारण हैं।

निमित्त कारण दो प्रकार के हैं–सामान्य और विशेष। सामान्य निमित्त आठ हैं–ईश्वर, उसका ज्ञान, कृति, दिक्, काल तथा धर्म अधर्म। विशेष निमित्त कारण असंख्या हैं।

कुछ लोगों ने कारण को पहले दो भागों में बांट लिया है–मुख्य और गौण। इनमें मुख्य के उपर्युक्त तीन भाग किये हैं–इन तीन में समवायिकारण तो सदा द्रव्य ही होता है। असमवायिकारण या कर्म होता है या गुण और निमित्त कारण कोई भी हो सकता है। अभाव केवल निमित्त कारण ही बन सकता है।

असमवायिकारण केवल वे ही कारण नहीं हैं जो कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध न हों। क्योंकि इस प्रकार तो निमित्त कारण भी असमवायी मान लिये जाएंगे और असमवायिकारण का एक प्रकार असमवायी न माना जाएगा। ऐसा लगता है कि नैयायिकों ने दो प्रकार के कारण पहले माने—एक जो कार्य से पथक् किए जा सकें, जो कि निमित्त कारण हैं, और दूसरे वे जो पथक् न किए जा सकें। वे दो प्रकार के हैं—समवायी और असमवायी। इस प्रकार असमवायिकारण वह है जो समवायी से भिन्न है और कार्य से पथक् नहीं किया जा सकता। दूसरे दर्शन अवमवायिकारण को नहीं मानते।

४१. तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम्।।

इन तीनों कारणों में जो असाधारण कारण हो उसे करण कहते हैं।

(तत्त्व दीपिका) — करणलक्षणमुपसंहरति—तदेतदिति।।

यहाँ, या तो जैसा कि न्यायबोधिनीकार ने किया है, 'व्यापारवत्त्वे सति' पद जोड़ने चाहियें, या असाधारण का अर्थ ही यह मान लेना चाहिये। इस अंश में अन्नम्भट्ट केशवमिश्र से प्रभावित प्रतीत होते हैं। तुलना कीजिये—तदेवं तस्य त्रिविधकारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्' अन्नम्भट्ट ने 'सातिशय' के स्थान पर 'असाधारण' पद रखा, किन्तु अर्थ में कोई भेद नहीं है।

४२. तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद्द्विविधम्-निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्, यथेदं किंचित्। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा-डित्थोयं श्यामोयमिति।।

इनमें प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। वह दो प्रकार का है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। इनमें निष्प्रकारक (विशेषणविशेष्य—सम्बन्ध—ज्ञान रहित) ज्ञान निर्विकल्पक है। सप्रकारक (विशेषणविशेष्य—सम्बन्ध—ज्ञान सहित) ज्ञान सविकल्पक है। जैसे यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है।

(तत्त्व दीपिका) — प्रत्यक्षलक्षणमाह—तत्रेति। प्रमाणचतुष्टमध्य इत्यर्थः। प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह—इन्द्रियेति। इन्द्रियं चक्षुरादिकम्। अर्थो घटादिः। तयोः संनिकर्षः संयोगादिः, तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थः।। तद्विभजते—तद् द्विविधमिति। निर्विकल्पकस्य लक्ष्णमाह—निष्प्रकारकमिति। विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि ज्ञानमित्यर्थः।। ननु निर्विकल्पके किं प्रमाणम् ? इति चेत्—न; गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वाद्दण्डीति। ज्ञानवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वेनवस्थाप्रसङ्गान्निर्विकल्पकसिद्धिः।। सविकल्पकं लक्षयति—सप्रकारकमिति। नामजात्यादिविशेषण विशेष्यसम्बन्धा—वगाहि ज्ञानमित्यर्थः। सविकल्पकमुदाहरति—यथेति।।

करण कारण और कार्य की परिभाषा देने के बाद अन्नम्भट्ट चार प्रकार के ज्ञान तथा प्रमाण का वर्णन करते हैं। इनमें प्रमाण कारण है और ज्ञान कार्य। प्रत्यक्ष शब्द, प्रमाण और ज्ञान, दोनों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। किन्तु अन्य लेखकों ने ज्ञान को साक्षात्कार कहा है और प्रमाण को साक्षात्कार—ज्ञानकरणम् कहा है। कुछ लोगों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रत्यक्षप्रमाकरणम् या साक्षात्कारिप्रमाकरणम् भी दी है। किन्तु अन्नम्भट्ट ने यहां ज्ञान शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया है ताकि उसमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का ज्ञान आ सके। जो प्रमा के चार भेद हैं वही अप्रमा के भी हैं। कोई ज्ञान शुद्ध है या अशुद्ध इसका निश्चय दोषाभाव से होता है। इन्द्रियसन्निकर्ष तो दोनों दिशाओं में एक जैसा ही है। निश्चित है कि यदि ज्ञान शुद्ध या अशुद्ध होगा तो उसका प्रभाव प्रमाण पर भी पड़ेगा। प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति है 'प्रतिगतमक्षम्' अथवा 'अक्षस्य प्रतिविषयं वत्तिः'। अर्थात् प्रत्येक विषय के साथ इन्द्रिय का रहना। जब प्रत्यक्ष का अर्थ ज्ञान होता है तो इसकी दूसरी व्युत्पत्ति दी जाती है—'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते अथवा प्रतिगतमाश्रितमक्षम्। अर्थात् वह ज्ञान जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है। यहां ज्ञान शब्द का प्रयोग सन्निकर्षध्वंस में अतिव्याप्ति रोकने के लिए है जबकि इन्द्रियार्थ शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि प्रत्यक्ष को दूसरे अनुमित्यादिक ज्ञानों से भिन्न किया जा सके।

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। अनित्य ज्ञान मनुष्यों का है और यह दो प्रकार का है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का है—लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक ज्ञान छः प्रकार है—पांच इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला और छठा मानस। अलौकिक ज्ञान तीन प्रकार का है—सामन्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज।

वह सविकल्पक है जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है, लौकिक है और दूसरा अलौकिक। अलौकिक ज्ञान तीन प्रकार का है। घट का प्रत्यक्ष होने पर तो घटत्व का ज्ञान होता है, सामान्य लक्षण है। ज्ञान लक्षण वह है जो एक ज्ञान से दूसरा

ज्ञान होता है जैसे चन्दन देखने पर उसकी सुगन्ध का ज्ञान। सुगन्ध न तो आंख से देखी जाती है और न दूरी पर स्थित चन्दन की सुगन्ध नाक से सूंघी ही जाती है। अतः उसका ज्ञान अलौकिक माना जाता है। योगज ज्ञान योगियों का ज्ञान है, जो उन्हें अतिमानवीय शक्तियों से प्राप्त होता है। यहां योगज ज्ञान तर्कसिद्ध नहीं है और जो प्रथम दो प्रकार के ज्ञान हैं, वे वस्तुतः अनुमान के अन्तर्गत आने चाहिये। अन्नम्भट्ट ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया।

जैसा कि स्वयं ही लेखक ने अन्त में कहा है प्रत्यक्ष का कारण इन्द्रिय है। अनुमिति की परिभाषा से यदि तुलना करें तो यदि सन्निकर्ष प्रत्यक्षकरण है तो परामर्श अनुमितिकरण है ऐसी समानता दीख पड़ती है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है–सविकल्पक और निर्विकल्पक। जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है तो हमें ऐसा आभास होता है कि कुछ है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। इसे निष्प्रकारक भी कहते हैं। किन्तु कुछ अधिक निकटता होने पर हमें उस पदार्थ की विशेषता ज्ञात होती है। यह सविकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान में संसर्ग और प्रकारता का अवगाहन नहीं होता। उसमें विशेषण और विशेष्य असम्बद्ध रूप से उपस्थित रहते हैं। सविकल्प ज्ञान में संसर्गता और प्रकारता रहती है तथा विशेषण और विशेष्य परस्पर सम्बद्ध रूप से प्रतीत होते हैं। प्रकार, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, वह है जो एक ज्ञान विशेष को दूसरे ज्ञान विशेष से पथक् करता है जिस प्रकार घटत्व वह प्रकार है जो घटज्ञान से पथक् करता है। स्पष्ट है कि हम घट को तब तक सहप्रकारक नहीं जा सकते, जब तक हमें घटत्व का ज्ञान भी न हो।

यद्यपि सभी नैयायिक तो दो प्रकार के–निर्विकल्पक और सविकल्पक–ज्ञान मानते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में बौद्धों का बहुत मतभेद है। वे केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही सत्य मानते हैं और सविकल्पक को सत्य नहीं मानते। उनके अनुसार धर्मों की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। सप्रकारक ज्ञान विषयगत नहीं है, विषयिगत है और वंध्यापुत्र के समान अवास्तविक है। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान पदार्थ की वास्तविक स्थिति का बोध कराता है। बौद्धों का यह सिद्धान्त उनके शून्यवाद पर आधारित है। किन्तु यहां हमारा तात्पर्य केवल इतना कहने से है कि सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सीधा ज्ञान नहीं है, प्रत्युत दो ज्ञानों का समूह होने से अनुमिति या उपमिति की तरह परोक्ष ज्ञान है।

वस्तुतः इन्द्रिय संनिकर्ष से प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है। सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के बाद होता है। समुद्र में आने वाला जहाज दूर से काला पदार्थ सा दिखाई देता है। जैसे–जैसे वह निकट आता है, हमें उसके मस्तूल का अनुमान होता है, और हम उसे जहाज जान लेते हैं। इसी प्रकार घट ज्ञान में भी हमें घट जैसा कोई पदार्थ दीखता है, तब हम उसके घट होने का अनुमान करते हैं। यहां उपमान की प्रक्रिया काम करती है। घट को घट कहने के लिए शाब्द ज्ञान भी आवश्यक है। इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः परोक्ष ही है। इस सम्बन्ध में बेन की डिडेक्टिव लॉजिक में प० ३६–३७ पर कहा गया है–"जब हम तथ्य या प्रत्यक्ष की बात करते हैं तो वस्तुतः यह एक पूर्णतः अकेला या व्यक्तिगत ज्ञान नहीं होता। हम कहते हैं कि अमुक स्थान पर पानी बहता है। किन्तु यह एक ज्ञान का परिणाम नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान करने के लिए अनेक ज्ञान चाहिएं। पूर्व ज्ञान के आधार पर हम जानते हैं कि कुतुबनुमा को देख रहे हैं और इसका मुख उत्तर की ओर है। इस प्रकार साधारण प्रत्यक्ष भी आन्तरिक ज्ञान और अनुमान का मिश्रण है और हम इन दोनों को मिलाते हैं, यह हमारे बहुत सारे प्रत्यक्ष ज्ञानों का गलत होने का कारण है।

जब बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं तो क्या वे ठीक नहीं हैं ? नैयायिक सविकल्पक ज्ञान को कैसे प्रत्यक्ष मानते हैं ? किन्तु हम यदि बौद्धमत को स्वीकार कर लें, तो हमें शून्यवाद भी मानना पड़ेगा क्योंकि यदि निर्विकल्पक ज्ञान ही माना जाए, तो कोई भी मानसिक चित्र हम बना ही न सकेंगे, और संसार में सब शून्य ही रह जायेगा। सविकल्पक ज्ञान भी हमारे मानसिक चित्रों का आधार है। यदि हम इसे न मानें तो संसार की सत्ता ही नहीं रह जाती और न हमें ज्ञान ही हो पायेगा।

४३. प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसंनिकर्षः षड्विधः-संयोगः, संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति। चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः संनिकर्षः। घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः संनिकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। रूपत्वसामान्यप्रव्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुः संयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात् श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः संनिकर्षः, कर्णविवरवत्याकाशस्य श्रोत्रत्वात्, शब्दस्याकाशगुणत्वात्, गुणगुणिनोश्च समवायात्। शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः संनिकर्षः श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः संनिकर्षः, घटाभाववद्भूतलम्' इत्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्। एवं संनिकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

तत्करणमिन्द्रियम्। तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।।

प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रिय और पदार्थ का संनिकर्ष छः प्रकार का है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवेतसमवाय और विशेषण—विशेष्य भाव। आँख के घट का प्रत्यक्ष होने में संयोग संनिकर्ष है। घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्तसमवायसंनिकर्ष है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से होता है। रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवेतसमवायसंनिकर्ष है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है और उसमें रूपत्व समवाय सम्बन्ध से है। श्रोत्र से शब्द का साक्षात्कार करने में समवाय संनिकर्ष है क्योंकि कान के छिद्र में जो आकाश (शून्य स्थान) है वह श्रोत्र है और शब्द आकाश का गुण है तथा गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। शब्दत्व के साक्षात्कार में समवेतसमवाय निष्कर्ष है क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है, अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषण—विशेष्य—भाव संनिकर्ष होता है क्योंकि भूतल घटाभाववत् है यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है। इस प्रकार छः संनिकर्षों से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है; उसका साधन इन्द्रियां हैं। अतः इन्द्रियां ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, यह सिद्ध होता है।

(तत्त्व दीपिका) — इन्द्रियार्थसंनिकर्ष विभजते—प्रत्यक्षेति। संयोगनिकर्षमुदाहरति—चक्षुषेति। द्रव्यप्रत्यक्षे सर्वत्र संयोगः संनिकर्ष इत्यर्थः। आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते। संयुक्तसमवायमुदाहरति—घटरूपेति। तत्र युक्तिमाह—चक्षुःसंयुक्त इति। संयुक्तसमवेतसमवायमुदाहरति—रूपत्वेति। समवायमुदाहरति—श्रोत्रेणेति। तदुपपादयति—कर्णेति। ननु दूरस्थशब्दस्य कथं श्रोत्रसंबन्ध इति चेत्,—न; वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शबदाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातस्य शब्दस्य श्रोत्रसंबन्धात्प्रत्यक्षत्वसंभवात्। समवेतसमवायमुदाहरति—ञशब्दत्वेति। विशेषणविशेष्यभावमुदाहरतिअभावेति। तदुप पादयति घटाभाववदिति। 'भूतले घटो नास्ति' इत्यत्र घटोभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम्। एतेनानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं निरस्तम्। यद्यत्र घटोभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत। दर्शनाभावान्नास्तीति तर्कितप्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धिसह—कृतेन्द्रियेणैवाज्ञानोपपत्तावनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वासंभवात्। अधिकरणज्ञानार्थमपेक्षणीयेन्द्रियस्यैव करणत्वोपपत्तावनुपलब्धेः करणत्वस्यायुक्तत्वात्। विशेषणविशेष्यभावो विशेषण—विशेष्यस्वरूपमेव, नातिरिक्तः संबन्धः। प्रत्यक्षज्ञानमुपसंहरंस्तस्य करणमाह एवमिति। असाधारणकारणत्वादिन्द्रियं प्रत्यक्षज्ञानकरणमित्यर्थः। प्रत्यक्षमुपसंहरति—तस्मादिति।।

विशेष :- यहाँ इन्द्रिय और पदार्थ का संनिकर्ष कितने प्रकार का हो सकता है, यह चर्चा की गई है। इनमें से तीन संनिकर्ष, संयोग, समवाय और विशेषण—विशेष्यता मौलिक हैं। शेष तीन पहले दो के समन्वय से बनते हैं। वे तीन हैं—संयुक्त समवाय, संयुक्त—समवेत—समवाय और समवेत—समवाय। चक्षुरिन्द्रिय घटादि पदार्थों के सीधा सम्पर्क में आते हैं और यह संनिकर्ष संयोग कहलाता है। चक्षु घट के गुण, रूप को और घट में रहने वाली घटत्व जाति को भी ग्रहण करता है, किन्तु चक्षु स्वयं द्रव्य है और इसलिए घट—द्रव्य के गुण और जाति से इसका सीधा सम्पर्क नहीं होता। अतः घटरूप और घटत्व दोनों घट में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और घट का चक्षु से संयोग होता है। घट—रूप—गत रूपत्व जाति भी चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण होती है, क्योंकि 'येनेन्द्रियेण यद्‌गह्यते तेनेन्द्रियेण तद्‌गतं सामान्यं तत्समवायस्तदभावश्च गह्यते" अर्थात् जो इन्द्रिय किसी पदार्थ को ग्रहण करती है, वही उसकी जाति, समवाय और अभाव को भी ग्रहण करती है। अतः घट—रूपत्व चक्षु द्वारा संयुक्त—समवेत—समवाय सन्निकर्ष से ग्रहण होता है। यहां घट का इन्द्रिय के साथ संयोग रूप के साथ संयुक्त—समवाय और रूपत्व के साथ संयुक्त—समवेत—समवाय सन्निकर्ष है। चौथा सन्निकर्ष समवाय—सन्निकर्ष है, जोकि श्रोत्र द्वारा शब्द के ग्रहण करने पर होता है। श्रोत्र आकाश—रूप है और शब्द उसका गुण होने के कारण उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। यहां केवल श्रोत्रेन्द्रिय की चर्चा है क्योंकि दूसरी इन्द्रियां जैसे—चक्षु, घ्राण और रसना क्रमशः तेज, पथ्वी और जल के विकार से बनती हैं। किन्तु श्रोत्र स्वयं आकाश ही है, आकाश के विकार से बनने वाली इन्द्रिय नहीं है। अतः शब्द का श्रोत्र से सीधा समवाय सम्बन्ध है। शब्द का ग्रहण समवाय से होता है तो स्वभावतः' ही शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति, शब्दत्व, का ग्रहण समवेत—समवाय सम्बन्ध से होगा।

चक्षु के अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय भी सीधा पदार्थ को ग्रहण करती है। किन्तु घ्राण, रसना और श्रोत्र केवल गुण को ग्रहण करने वाली इन्द्रिया हैं। छः इन्द्रियां होने के कारण प्रत्यक्ष भी घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रोत्रिय और मानस छः प्रकार का माना गया है। द्रव्य तो, जैसा कि हमने ऊपर कहा, चक्षु और स्पर्श से ही ग्रहण होते हैं शेष चारों इन्द्रियां केवल गुणों का ग्रहण करती है।

द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य प्रथम पांच प्रकार के सन्निकर्ष से जान लिये जाते हैं। किन्तु विशेष परमाणु का धर्म है और प्रत्यक्ष—गोचर नहीं है। समवाय और अभाव विशेषण—विशेष्य—भाव सन्निकर्ष द्वारा जाने जाते हैं। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ का कहना है—अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रिय—संबद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः। नैयायिकों के

अनुसार समवाय को अनुमानगम्य ही मानते हैं। अतः उनके अनुसार विशेषण–विशेष्य–भाव द्वारा केवल अभाव का प्रत्यक्ष होता है। अभाव का ज्ञान संयोग या समवाय द्वारा तो हो नहीं सकता, क्योंकि यह स्वयं तो होता नहीं, और न किसी दूसरे पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रह सकता है, क्योंकि न यह गुण है, न कर्म, न जाति। इसका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? नैयायिकों का कहना है कि अधिकरण का धर्म होता है। अतः भूतल घटाभाववान् है, यहाँ घटाभाव भूतल का विशेषण है, और भूतल विशेष्य है। उनका परस्पर विशेषण–विशेष्य–भाव है, जो वत् प्रत्यय द्वारा ज्ञात होता है। हम भूतल देखते हैं, उस पर घट नहीं देखते, भूतल को हम संयोग सम्बन्ध द्वारा जानते हैं। किन्तु घटाभाव चक्षु और भूतल के संयोग द्वारा भूतल पर जाना जा सकता है। इस प्रकार भूतल पर घटाभाव चक्षु और भूतल के संयोग और भूतल और घटाभाव के परस्पर सम्बन्ध अर्थात् विशेषण–विशेष्य–भाव द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार घटाभाव संयुक्त–विशेषण–विशेष्य–भाव द्वारा जाना जाता है। अब यदि इसे दो भागों में विभक्त करें तो घटाभाव और भूतल का विशेषण सम्बन्ध और भूतल का घटाभाव से विशेष्य का सम्बन्ध है। इस प्रकार घटाभाव के प्रत्यक्ष में दो सन्निकर्ष होते हैं–इन्द्रिय का भूतल से सन्निकर्ष और भूतल का घटाभाव से सन्निकर्ष। घट को हम एक ही सन्निकर्ष से जान सकते हैं; किन्तु क्योंकि घटाभाव दो प्रकार से कहा जा सकता है–१. भूतल घटाभाववान् है, २. भूतल पर घटाभाव है; इसलिए यहां दो सन्निकर्ष माने गये हैं। इन दोनों को ही संक्षेप में विशेषण–विशेष्य–भाव सन्निकर्ष कह दिया गया है।

यहां दीपिका में मीमांसक और वेदान्तियों द्वारा माने गये अनुपलब्धि नामक प्रमाण की भी चर्चा है। मीमांसक और वेदान्ती यह मानते हैं कि इन्द्रिय और अभाव में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि द्वारा होता है जिस द्वारा अभाव के प्रतियोगी का, किन्तु इसके लिए विशेषण–विशेष्य–भाव नाम का सन्निकर्ष मानना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि मीमांसक अधिक मानते है। इस सम्बन्ध में दोनों मतों में पर्याप्त विवाद है।

४४. अनुमितिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्यापितविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमनुमितिः। 'यत्र तत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवत्तित्वं पक्षधर्मता।।

अनुमिति का करण अनुमान है। परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। जैसे 'यह पर्वत वह्निव्याप्य (वह्निव्याप्ति विशिष्ट) धूम वाला है'–यह ज्ञान परामर्श है, इससे उत्पन्न होने वाला 'पर्वत वह्निमान है'–यह ज्ञान अनुमिति है। 'जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है' यह साहचर्य नियम व्याप्ति है। व्याप्य का पवर्वातादि में रहना पक्षधर्मता है।

(तत्त्व दीपिका) – अनुमानं लक्षयति–अनुमितिकरणमिति। अनुमितेर्लक्षणमाह–परामर्शेति। ननु संशयोत्तरप्रत्यक्षेतिव्याप्तिः, स्थाणुपुरुषसंशयानन्तरं, पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शे सति, पुरुष एवेति प्रत्यक्षजननात्। न च तत्रानुमितिरेवेति वाच्यम्। 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायविरोधादिति चेत्,–न; पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्। सिषाधयिषाविरहसह–कृतसिद्ध्यभावः पक्षता। साध्यसिद्धिरनुमितिप्रतिबन्धिका सिद्धि–सत्त्वेपि 'अनुमिनुयाम्' इतीच्छायामनुमितिदर्शनात् सिषाधयिषोत्तेजिका। ततश्चो त्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य दाहकारणत्ववत् सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावस्याप्यनुमितिकारणत्वम्।। परामर्शं लक्षयति–व्याप्तीति। व्याप्तिविषयकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं स परामर्श इत्यर्थः। परामर्शमभिनीय दर्शयति–यथेति। अनुमितिमभिनयति–तज्जन्यमिति। परामर्शजन्यमित्यर्थः।। व्याप्तेर्लक्षणमाह–यत्रेति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। व्याप्तेरभिनयः। साहचर्यनियम इति लक्षणम्। साहचर्यं सामानाधिकरण्यं, तस्य नियमः। हेतुसमानाधि– करणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरणं व्याप्तिरित्यर्थः। पक्षधर्मतास्वरूपमाह–व्याप्यस्येति।।

विशेष :- अनुमान साधन है अनुमिति उसका फल है और परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अतः अनुमिति परामर्श पर आधारित है। परामर्श का इसलिए अधिक महत्त्व है कि यदि परामर्श ठीक होगा तो उसका फल अनुमिति भी शुद्ध होगा। अतः न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्त्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिंग या हेतु वह है जिससे किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। लिंग और साध्य (जिस पदार्थ का अनुमान करना है) का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस सम्बन्ध के अनुसार लिंग और साध्य सदा साथ–साथ रहते हैं।

हेतु और साध्य और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति–यदि इन तीन को समझ लिया जाये तो अनुमान का ज्ञान हो सकता है। साध्य तो वह पदार्थ है जिसका अनुमान करना है। साध्य का अनुमान हेतु और साध्य के सम्बन्ध, अर्थात् व्याप्ति, से होता है। यह सम्बन्ध व्याप्य–व्यापक–भाव रूप है। व्याप्यव्यापक भाव का निश्चय साहचर्य दर्शन से होता है। इस नियमित साहचर्य को ही व्याप्ति कहते हैं। एतादश व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श में व्याप्ति हेतु में विशेषण बनती है और हेतु पक्ष में।

अतः लेखक ने परामर्श का लक्षण व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान बतलाया है। किन्तु वह हेतु व्याप्ति–विशिष्ट के साथ–साथ पक्षधर्मताविशिष्ट भी होना चाहिये। वस्तुतः हेतु–व्याप्तिविशिष्ट तो होता है, क्योंकि जब हम 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र बह्निः' कहते हैं। तब हेतुधूम का बह्नि के साथ व्याप्तिसम्बन्ध तो स्पष्ट हो ही जाता है, किन्तु यही पर्याप्त नहीं है। हेतु व्याप्तिविशिष्ट होने के साथ–साथ पक्ष में रहने वाला धर्म भी होना चाहिये। इस प्रकार ये दोनों मिलकर परामर्श को जन्म देते हैं। प्रसिद्ध न्यायवाक्य में परामर्श का यह स्वरूप होगा–बह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः। इस स्थान पर हेतु पक्ष धर्म भी है और व्याप्तिविशिष्ट भी है।

पक्षधर्मता का अर्थ है––(हेतोः) "पक्षवत्तित्वम्' या 'पक्षसंबन्धः' अर्थात् हेतु का पक्ष में रहना। किन्तु पर्वत पर धूम के अतिरिक्त वक्ष इत्यादि भी रहते हैं। किन्तु वह्नि का अनुमान प्रकाश या जली हुई राख आदि से भी हो सकता है किन्तु धूम से वह्नि के अनुमान की प्रक्रिया में इसका कोई उपयोग नहीं है। अतः सब पक्षधर्म नहीं हैं। इसी प्रकार पर्वत पर रहने वाला धूम ही पक्ष धर्म है, अन्य धूम नहीं क्योंकि पर्वत पर रहने वाले धूम से वह्नि का अनुमान होता है। हमें धूम और वह्नि के व्याप्ति–ज्ञान से तब तक कोई लाभ न होगा जब तक ज्ञान कहा गया है। केवल पर्वत पर धूम देख लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु वह धूम ऐसे पर्वत पर होना चाहिये जो पक्ष भी हो। अतः पक्षधर्मता का लक्षण है–पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविषयता। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है–कि पक्षता का जो अवच्छेदक है पर्वतत्व उससे जो अविच्छन्न धूम है, वह पक्ष–धर्मता है। यह पक्षधर्मता अनुमान का कारण बनती है। किन्तु इसके साथ व्याप्ति का ज्ञान भी चाहिए। इसीलिये अनुमिति का कारण व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् है। अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान। पर्वत पर धुआं का दिखाई देना पक्षधर्मता का ज्ञान है। यह जब व्याप्ति स्मरण के साथ मिल जाता है तो परामर्श बन जाता है। अर्थात् व्याप्ति पक्षधर्मता का विशेषण नहीं है बल्कि पक्षधर्मता ज्ञान का एक प्रकार है। यह धुआँ का धर्म नहीं है किन्तु पर्वत पर धुआँ के ज्ञान का धर्म है। यह स्पष्ट है कि व्याप्ति व्यक्ति के ज्ञान में रहती है धुआं में नहीं रहती। अतः धूम व्याप्तिविशिष्ट नहीं है। धूमज्ञानव्याप्त्यवछिन्न–प्रकारता–निरूपित है। नीलकण्ठ ने परामर्श की परिभाषा यह दी है–व्याप्त्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशाली निश्चयः। परामर्श का उदाहरण है–वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः, जो कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति से पहले अवश्य रहता है।

व्याप्ति :- न्याय की अनुमान प्रक्रिया में व्याप्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्याप्ति का लक्षण है–साहचर्यनियम। व्याप्ति का उदाहरण है जहां धुआं है वहां वह्नि है। किन्तु इस उदाहरण से व्याप्ति का स्वरूप शास्त्रीय रूप में स्पष्ट नहीं होता। व्याप्ति के दो भाग हैं–साहचर्य और सार्वभौमिकता। साहचर्य का अर्थ है–समानाधिकरण अर्थात् हेतु और साध्य का एक साथ रहना। यदि यह साहचर्य सार्वभौमिक हो तो नियत कहलाता है। जहां धूम होता है वहाँ वह्नि अवश्य होती है। अतः वह्नि धूम की व्यापक है। किन्तु जहां वह्नि होती है वहां धूम सदा नहीं होता। अतः धूम वह्नि का व्यापक नहीं है। अतः यह व्याप्ति एकपक्षीय है। वह्नि की धूम के साथ व्याप्ति है, धूम की वह्नि के साथ नहीं अतः व्याप्ति का अर्थ यही नहीं होता है कि दो चीजें साथ–साथ ही रहें, प्रत्युत उनमें से एक व्यापक हो और दूसरी व्याप्य भी होनी चाहिये, यद्यपि कहीं–कहीं व्यापक और व्याप्य का क्षेत्र समान ही होता है। नैयायिकों के नियत साहयर्च वाले लक्षण में ऐसे उदाहरण भी समाविष्ट हो जाते हैं।

व्यापक और व्याप्य का अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जो क्षेत्र या परिणाम में बड़ा हो वह व्यापक है। उदाहरणतः बीस की संख्या दस की व्यापक नहीं कही जा सकती–क्योंकि जहाँ बीस होंगे वहां दस तो होंगे किन्तु जहां दस होंगे वहां बीस नहीं होंगे। अर्थात् यहां दस की संख्या बीस की संख्या की अपेक्षा व्यापक है, यद्यपि परिणाम से यह कम है। ५० जहाँ १०० हों वहां तो होंगे ही किन्तु अन्यत्र जहां ७०–८० हों वहाँ भी होंगे। अतः यहाँ ५० ही व्यापक हैं। अतः व्यापक का परिमाण या क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जहाँ हेतु और साध्य का क्षेत्र समान हो उन स्थानों के अतिरिक्त व्याप्ति एकपक्षीय होती है अर्थात् दो में से एक व्यापक होता है, एक व्याप्य। अतः साहचर्य नियम व्यापक का व्याप्य के साथ रहना है, व्याप्य का व्यापक के साथ रहना नहीं। दीपिका में यह व्याप्य की यह परिभाषा की है–हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरण्यम्। इस परिभाषा के अनुसार व्यापक व्याप्य के साथ रहता है। उदाहरणतः धूम व्यापक है जो अग्नि व्याप्य के साथ रहता है।

व्याप्ति के भेद :– व्याप्ति दो प्रकार की है–अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। अन्वय व्याप्ति वह है जहां साध्य हेतु के साथ नियत रूप में सहचर हो। व्याप्ति का एक दूसरा भेद है व्यतिरेक व्याप्ति। हर अन्वय–व्याप्ति की व्यतिरेक–व्याप्ति भी अवश्य होती है क्योंकि यदि हेतु और साध्य में व्याप्य व्यापक भाव हो तो उनके अभाव में भी उससे विपरीत क्रम में व्याप्य व्यापक भाव होगा। उदाहरणतः यदि हम यह कह सकते है। कि जहां–जहां धूम है वहां–वहां वह्नि भी है तो यह कहना भी ठीक होगा कि जहां–जहां वह्नि का अभाव है वहां–वहां धूम का भी अभाव है। इस उदाहरण में व्यतिरेक–व्याप्ति और

अन्वय–व्याप्ति का भेद स्पष्ट है। अन्वय व्याप्ति में साध्य है हेतु व्याप्य जबकि व्यतिरेक व्याप्ति में हेत्वभाव व्यापक है और साध्याभाव व्याप्य।

४५. अनुमानं द्विविधम्-स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थ स्वानुमितिहेतुः। तथा हि-स्वयमेव भूयो दर्शनेन 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति महानसादौ व्याप्तिं गहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ संदिहानः पर्वते धूमं पश्यन्, व्याप्तिं स्मरति-यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्ते। तस्मात् 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम्।

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पचावयववाक्यं प्रयुङ्कते तत् परार्थानुमानम्। यथा 'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसः। तथा चायम्। तस्मात्तथा' इति। अनेन प्रतिपादितात्ल्लिङ्गात्परोप्यग्निं प्रतिपद्यते।।

अनुमान दो प्रकार का है–स्वार्थ और परार्थ। इनमें स्वार्थ वह है जिसमें स्वयं को अनुमिति हो। जैसे कोई स्वयं ही बार–बार देखकर 'जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है, ऐसी रसोईघर में व्याप्ति ग्रहण करके पर्वत के समीप जाकर उसमें अग्नि का संदेह होने पर पर्वत में धूम को देखकर 'जहाँ–जहाँ धुआँ है वहाँ–वहाँ अग्नि है'। ऐसी व्याप्ति स्मरण करता है। इसके अनन्तर पर्वत वह्निव्याप्य धूम वाला है यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यही लिङ्गपरामर्श कहलाता है। इससे पर्वत वह्नि वाला यह अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। यह स्वार्थानुमान है।

जो स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिए पंचावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह परार्थानुमान है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है जो–जो धूमवान् होता है वह वह निमान् होता है, जैसे रसोईघर, वैसा ही यह भी है, अतः इसमें भी वैसी ही अग्नि है'। इस प्रकार कहे गये लिङ्ग से दूसरा भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है।

(तत्त्व दीपिका) – अनुमानं विभजते–अनुमानमिति। स्वार्थानुमितिं दर्शयति स्वयमेवेति। भूयोदर्शनेनेति। धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे साध्यसाधनयोर्भूयः सहचारदर्शनेनेत्यर्थः। ननु पार्थिवत्लोहलेख्यत्वादौ शतशः सहचारदर्शनेपि वज्रादौ व्यभिचारोपलब्धेर्भूयोदर्शनेन कथं व्याप्तिग्रहः ? इति चेत्, –न; व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकत्वात्। व्यभिचारज्ञानं द्विविधम् निश्चयः शङ्का च। तद्विरहः क्वचित्तर्कात् क्वचित्स्वतः सिद्ध एव। धूमाग्निव्याप्तिग्रहे कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गलक्षणस्तर्को व्यभिचारशङ्कानिवर्तकः।। ननु सकलवह्निधूमयोरसंनिकर्षात्कथं व्याप्तिग्रहः ? इति चेत्, –न; धूमत्ववह्नित्वरूप–सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सकलधूमवह्निज्ञानंसंभवात्।। तस्मादिति। लिङ्गपरामर्शादित्यर्थः। परार्थानुमानमाह–यत्त्विति।। यच्छब्दस्य तत्परार्थानुमानमिति तच्छब्देनान्वयः।। पचावयववाक्यमुदाहरति–यथेति।

विशेष :- स्वार्थ और परार्थ का शब्दार्थ स्पष्ट है। जो अपने लिये हो वह स्वार्थ है और जो दूसरे के लिये हो वह परार्थ। स्वार्थ अनौपचारिक और परार्थ औपचारिक अनुमान होता है। स्वार्थानुमान से व्यक्ति स्वयं अनुमान लगाता है परार्थानुमान से वह अनुमान दूसरे तक पहुंचाया जाता है। इसलिए परार्थानुमान में स्वार्थानुमान छिपा हुआ है। स्वार्थानुमान में हम अपने अनुभव से तुरन्त अनुमान लगा लेते हैं किन्तु परार्थानुमान में उस अनुमान को हम भाषा में दूसरे तक प्रेषित करते हैं। इस प्रकार स्वार्थानुमान की अपेक्षा परार्थानुमान में भाषा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः तो अनुमान का कारण रूप होने के कारण स्वार्थानुमान ही अनुमान है। किन्तु परार्थानुमान भी सरलता के लिए कारण में कार्य का उपचार करके अनुमान ही मान लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि स्वार्थानुमान कारण है, परार्थानुमान कार्य। किन्तु हम उसे भी कारण ही मान लेते हैं। परार्थानुमान दूसरे शब्दों में ज्ञान प्रेषित करने के कारण वस्तुतः शब्दबोध ही है। किन्तु क्योंकि इसका आधार अनुमान है इसलिये हम इसे भी अनुमान ही मान लेते हैं। वस्तुतः परार्थानुमान में परामर्शजन्य ज्ञान ही प्रधान रहता है। नीलकण्ठ ने यह विषय स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि परार्थानुमान के शब्द दूसरे व्यक्ति के लिये होते हैं तथापि वे उसे अनुमान के द्वारा ही ज्ञान कराते हैं। परार्थानुमान और स्वार्थानुमान में कोई विशेष भेद नहीं है। क्योंकि हर परार्थानुमान स्वार्थानुमान पर ही आधारित होता है और स्वार्थानुमान परार्थानुमान के रूप में बदला जा सकता है।

अन्नम्भट्ट ने स्वार्थानुमान की प्रक्रिया इस प्रकार दी है–प्रथम हम पर्वत पर धूम देखते हैं तब वहां वह्नि का सन्देह होता है फिर व्याप्ति स्मरण द्वारा और पक्षधर्मता ज्ञान द्वारा वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः ऐसा ज्ञान होता है। यही लिंगपरामर्श या ततीय लिंगपरामर्श कहलाता है। सिद्धान्तचंद्रिका में लिंग का अर्थ इस प्रकार दिया है–व्याप्तिबलेन लीनमर्थं गमयतीति लिंगं तच्च धूमादिस्तस्य परामर्शो ज्ञानविशेषः। यह ततीय लिंगपरामर्श इसलिये कहलाता है कि प्रथम धूमज्ञान तो हमें पर्वत पर होता है दूसरा महानस आदि में और तीसरा वह्नि व्याप्य धूम का ज्ञान। यह स्वार्थानुमान की प्रक्रिया है।

अनुमान के अन्य भेदों में गौतम ने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदष्ट भेद बतलाये हैं। पूर्ववत् का अर्थ है कारण से कार्य का अनुमान। जैसे घने बादलों से वर्षा का अनुमान। शेषवत् का अर्थ है कार्य से कारण का अनुमान। इसके अतिरिक्त जितने अनुमान हैं ये सामान्यतोदष्ट हैं। वात्स्यायान ने इन तीनों प्रकारों के लक्षण कुछ भिन्न रूप में दिये हैं। उन्होंने पूर्ववत् का अर्थ दिया है ऐसा अनुमान जो हम साहचर्य के आधार पर करते हैं जैसे धुएं से अग्नि का अनुमान। शेषवत् का अर्थ दिया है कि एक पदार्थ का अनुमान इस आधार पर करना कि वह वही पदार्थ है क्योंकि वह कोई अन्य पदार्थ नहीं है। उदाहरणातः शब्द गुण है क्योंकि वह द्रव्य है न कर्म। सामन्यतोदष्ट कारण–कार्य सम्बन्ध के आधार पर परोक्ष पदार्थ का अनुमान है। उदाहरणतः आत्मा परोक्ष है किन्तु बुद्धि इत्यादि गुणों के अधिष्ठान के रूप में इसका अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार सामान्यतोदष्ट और पूर्ववत् का एक प्रकार से विरोध ही है। वाचस्पति ने पूर्ववत् को इसलिए दष्टस्वलक्षणसामान्य विषय और सामान्यतोदष्ट को अदष्टस्वलक्षण–सामान्यविषय बताया है। पूर्ववत् स्वलक्षण द्वारा समान्य का अनुमान है जो कि हमने पहले देखा है। सामान्यतोदष्ट में हमने इसे देखा नहीं है। वाचस्पति ने इन दोनों प्रकारों को वीतानुमान कहा है। इन दोनों में अनुमान विधिपरक अन्वयव्याप्ति से होता है जबकि शेषवत् में अनुमान निषेधपरक व्यतिरेक व्याप्ति से होता है।

अनुमान का विभाजन केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, और अन्वयव्यतिरेकि के रूप में भी किया गया है। ऐसा निर्णय जो केवलान्वयी हेतु के आधार पर हो केवलान्वयि और जो केवलव्यतिरेकी हेतु के आधार पर हो केवलव्यतिरेकि कहलाता है। जहाँ हेतु ऐसा हो जो अन्वयी भी हो और व्यतिरेकि भी वहां यह अनुमान अन्वयव्यतिरेकि कहलाता है। अन्वयव्यतिरेकि अनुमान में हम उसे अन्वय द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं और व्यतिरेक द्वारा भी। निर्णय दोनों दशाओं में एक ही होगा। अतः अन्नम्भट्ट ने इसे लिंग का विभाजन माना है अनुमान का नहीं। प्रशस्तपाद ने स्वार्थानुमान को भी दो भागों में बांटा है–दष्ट और सामान्यतोदष्ट। दष्ट में जिस पदार्थ का अनुमान होता है वह ठीक वैसा ही होता है जैसा कि हमारे पहले ज्ञान में था जैसे कि कम्बल से गौ का अनुमान। सामान्यतोदष्ट में यह अनुमान अन्य पदार्थ में होता है। जैसे कि जड़ पदार्थ में किसी रोग का अनुमान क्योंकि ऐसा अनुमान प्राणियों के आधार पर किया जाता है। दष्ट अनुमान सविकल्प प्रत्यक्ष या स्मरण जैसा ही लगता है जबकि सामान्यतोदष्ट सामान्य अनुमान जैसा है।

४६. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पचावयवाः। पर्वतो वह्निमान्' इति प्रतिज्ञा। 'धूमवत्त्वात्' इति हेतुः। 'यो यो धूमवान् स सोग्निमान्, यथा महानसः' इत्युदाहरणम्। 'तथा चायम्' इत्युपनयः। 'तस्मात्तथा' इति निगमनम्।।

पांच अवयव ये हैं–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। 'पर्वत वह्निमान है' यह प्रतिज्ञा है, 'क्योंकि यह धूमवान् है' यह हेतु है, 'जो–जो धूमवान् है वह वह वह्निमान् है जैसे रसोईघर' यह उदाहरण है, 'यह भी वैसा है यह उपनय है', 'इसलिए यह वह्निमान् है' यह निगमन है।

(तत्त्व दीपिका) – अवयवस्वरूपमाह–प्रतिज्ञेति। उदाहृतवाक्ये प्रतिज्ञादिविभागमाह–पर्वतो वह्निमानिति। साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा।। पचम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः। व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम्। पक्षधर्मताज्ञानार्थमुपनयः। अबाधितत्वादिकं निगमनप्रयोजनम्।।

विशेष :- भारतीय न्यायशास्त्र में पांच अवयव हैं–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। प्रतिज्ञा का अर्थ है पक्ष में साध्य की घोषणा–साध्यवत्तया पक्षवचनं (दीपिका)। इसका प्रयोजन यह है कि वक्ता पहले से ही यह समझ ले कि हम अनुमान द्वारा उसे क्या सिद्ध करके दिखाना चाहते हैं ? प्रतिज्ञा के अनन्तर हेतु दिया जाता है जो प्रायः पंचमी में रहता है। हेतु और लिंग में थोड़ा सा भेद है। लिङ्ग वह पदार्थ है जिससे अनुमान होता है। हेतु उस लिङ् का प्रतिपादक वाक्य है अर्थात् लिंग हेतु वाक्य में कहा जाता है। यह लिंग विधिपरक भी हो सकता है और निषेधपरक भी। हेतु देने के बाद यह प्रश्न उठता है कि इस हेतु से प्रतिज्ञा कैसे सिद्ध होगी ? उसका उत्तर उदाहरण वाक्य द्वारा दिया जाता है। इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उदाहरण में जो बात कही गई है वह वर्तमान प्रतिज्ञा और हेतु पर कैसे लागू होगी। इसका समाधान चतुर्थ उपनय वाक्य द्वारा किया जाता है। उपनय का अर्थ समझना चाहिए–लागू करना। निगमन में ये सब चीजें एक–साथ सम्बद्ध करके परिणाम तक हमें पहुंचा देती हैं। निगमन का अर्थ है समर्थन करना या सम्बद्ध करना। वात्स्यायन ने कहा है–निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते संबध्यन्तेनेन प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्। दीपिका का कहना है कि निगमन का प्रयोजन है कि साध्य के अस्तित्व के बारे में कोई संदेह न रह जाए।

प्रसिद्ध अनुमान में यह प्रक्रिया इस प्रकार होगी–

(प्रतिज्ञा)—पर्वतो वह्निमान्।

(हेतु)—धूमात्।

(उदाहरण) —यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः।

(उपनय) वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः।

(निगमन) तस्माद्वह्निमान् पर्वतः।

प्राचीन नैयायिकों में इन पांच वाक्यों के अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास नामक पांच अन्य वाक्य मानने वाले नैयायिक रहे हैं। किन्तु वात्स्यायन का कहना है कि ये पांच न्याय के लिए अनिवार्य नहीं हैं केवल सहायक है इसलिए इन्हें न्याय का अवयव नहीं कहा जा सकता। मीमांसक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण को ही मानते हैं। वेदान्ती भी पांच अवयवों को नहीं मानते। वेदान्तपरिभाषा में कहा है—अवयवाश्च त्रय एव प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपा उदाहरणोपनयनिगमरूपा वा, न तु पच। अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मयोरुपदर्शनसंभवादधिकावयवद्वयस्य व्यर्थत्वात्। बौद्ध केवल उदाहरण और उपनय को ही मानते हैं। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक के अतिरिक्त शेष दर्शन लगभग तीन न्याय वाक्यों को ही मानते हैं।

४७. स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोनुमानम्।।

स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति में लिङ्ग—परामर्श ही करण है। इसलिए लिङ्ग—परामर्श ही अनुमान है।

(तत्त्व दीपिका) — अनुमित्तिकरणमाह—स्वार्थेति।। ननु व्याप्तिस्मतिपक्षधर्मता ज्ञानाभ्यामेवानुमितिसंभवे व्याप्तिविशिष्टलिङ्गपरामर्शः किमर्थमङ्गीकर्त्तव्यः ? इति चेत्—न; वह्निव्याप्यधूमवानयमिति शाब्दपरामर्शस्थले विशिष्टपरामर्श—स्यावश्यकतया लाघवेन सर्वत्र परामर्शस्यैव करणत्वात्। लिङ्गं न करणम्; अतीतादौ व्यभिचारात्। 'व्यापारवत्कारणं करणम्' इति मते परामर्शद्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम्। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः।। अनुमानमुपसंहरति—तस्मादिति।।धिकरणवत्तित्वाभावान्नन्वयित्वासाधरण्ये। प्रत्येकाधिकरणे प्रसिद्ध्या साध्यविशिष्टानुमित्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिनिरूपणं चेति।।

अन्नम्भट्ट ने परामर्श को लिङ्गपरामर्श कहा है और उनका अभिप्राय यह है कि अनुमिति का करण लिंग—परामर्श है केवल लिंग नहीं। दीपिका में अनुमिति के करण के सम्बन्ध में तीन मत दिये हैं। वैशेषिकों का मत है कि अनुमिति का करण लिंग ज्ञान है। शंकरमिश्र इसी मत के समर्थक हैं अन्नम्भट्ट इसके समर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि यदि लिंग ज्ञान से अनुमान होता हो तो भूत और भविष्य में देखे गए या देखे जाने वाले धूम से भी पर्वत में वह्नि न अनुमान हो जाएगा। अतः लिंग को पक्षधर्म के रूप में जानना चाहिए। यही परामर्श है। अतः लिंग ज्ञान नहीं बल्कि लिंग परामर्श अनुमिति का कारण है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मज्ञान से अनुमिति हो जाती है तो फिर परामर्श को पथक् गिनवाने की क्या आवश्यकता है। परामर्श तो व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मज्ञान का ही समुच्चय है। अन्नम्भट्ट का कहना है कि लाघव की दष्टि से व्याप्ति ओर पक्षधर्मता ज्ञान दो कारण मानने की अपेक्षा अकेले परामर्श को ही कारण मान लेना ठीक होगा। फिर व्याप्ति और पक्षधर्मताज्ञान से ही परामर्श नहीं हो जाता। अतः परामर्श को तो पथक् मानना ही पड़ेगा।

४८. लिङ्ं त्रिविधम्-अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेक। यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। 'यत्र धूमस्तत्राग्निः, यथा महानसः' इत्यन्वयव्याप्तिः। 'यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्ति, यथा महाह्रदः' इति व्यतिरेकव्याप्तिः। अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोभिधेयः प्रमेयत्वात्पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च। व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि; यथा पथिवीतरेभ्यो भिद्यते; गन्धवत्त्वात्। यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा जलम्, न चेयं तथा, तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत्तदितरभिन्नमित्यन्वयदष्टान्तो नास्ति, पथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।।

लिङ्ग तीन प्रकार का है—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि। अन्वय और व्यतिरेक दोनों से व्याप्तिमान् हो वह अन्वयव्यतिरेकि है। जैसे वह्नि साध्य होने पर धूमवत्त्व। 'जहाँ धुआं है, वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में—यह अन्वयव्याप्ति है। जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धुआँ भी नहीं है जैसे सरोवर में—यह व्यतिरेकव्याप्ति है। जिसकी केवल अन्वयव्याप्ति हो वह केवलान्वयि है। जैसे घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है यथा पट। यहाँ प्रमेयत्व और अभिध्येत्व की व्यतिरेकव्याप्ति

नहीं है क्योंकि सभी कुछ प्रमेय और अभिधेय है। जिसकी केवल व्यतिरेक व्याप्ति हो वह केवलव्यतिरेकि है जैसे—पथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि उसमें गन्धवत्त्व है। जो इतर पदार्थों से भिन्न नहीं है वह गन्धवान् नहीं है जैसे जल, यह ऐसी नहीं है इसलिए यह इतर पदार्थों से भिन्न है। यहाँ जो गन्धवान् है वह इतर पदार्थों से भिन्न है इसका अन्वय दष्टान्त नहीं है क्योंकि पथ्वी मात्र ही पक्ष है।

(तत्त्व दीपिका) — लिङ्ग विभजते—लिङ्गमिति।। अन्यव्यतिरेकि लक्षयति—अन्वयेनेति। हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः। तदभावयोर्व्याप्तिर्व्यतिरेक—व्याप्तिः। केवलान्वयिनो लक्षणमाह—अन्वयेति। केवलान्वयिसाध्यकं केवलान्वयि। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्। केवलान्वयिनमुदाहरति—यथा घटोभिधेयः प्रमेयत्वादिति। ईश्वरप्रमाविषयत्वं सर्वपदाभिधेयत्वं च सर्वत्रास्तीति व्यतिरेकाभावः।। केवलव्यतिरेकिणो लक्षणमाह—व्यतिरेकेति। केवलव्यतिरेकिणमुदाहरति—पथिवीति। नन्वितरभेदः प्रसिद्धो वा न वा ? आद्ये यत्र प्रसिद्धस्तत्र हेतुसत्त्वेन्वयित्वम्, असत्त्वेसाधारण्यम्। द्वितीये साध्यज्ञानाभावात्कथं तद्विशिष्टानुमितिः ?। विशेषणज्ञानाभावे विशिष्टज्ञानानुदयात्। प्रतियोगिज्ञानाभावाद् व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि न स्यादिति चेत्, —न; जलादित्रयोदशान्योन्याभावानां त्रयोदशसु प्रत्येकं प्रसिद्धानां मेलनं पथिव्यां साध्यते। तत्र त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदस्यैका—

विशेष :- लिंग तीन प्रकान के हैं—केवल विधिपरक, केवल विषेधपरक और दोनों प्रकार के। विधि—निषेध—परक लिंगों में दोनों प्रकार की व्याप्ति संभव है। किन्तु विधिपरक में केवल विधिपरक व्याप्ति और निषेधपरक में केवल निषेधपरक व्याप्ति संभव है। उदाहरणतः 'घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है।' इस व्याप्ति का निषेधपरक उदाहरण नहीं मिल सकता। क्योंकि वस्तु मात्र अभिधेय और प्रमेय है। अतः इसका विपक्ष नहीं है। जहां केवल निषेधपरक ही उदाहरण हो सकता है उसका उदाहरण यह है कि 'पथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसमे गंध है।' इसका सपक्ष दष्टान्त नहीं हो सकता। क्योंकि जहां भी गंध होगा वह पथ्वी ही हो सकती है कोई और पदार्थ नहीं। इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि सम स्त पदार्थ दो भागों में बंटे हैं—पथ्वी और पथ्वीतर। पथ्वी तो इस अनुमान में पक्ष ही है और हेतु है गंध। अतिरिक्त पथ्वी के और कहीं नहीं है। अतः हम इसका कोई अन्वय उदाहरण नहीं दे सकते।

अन्वय और व्यतिरेक

दीपिका में हेतु और साध्य की व्याप्ति को अन्वय बताया है जबकि उनके अभाव की व्याप्ति को व्यतिरेक बताया है। हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यतिरेक व्याप्ति में अन्वय व्याप्ति के व्याप्य और व्यापक अपना क्रम बदल देते हैं।

केवलान्वयी

जिसका साध्य केवलान्वयी हो वह केवलान्वयी लिंग कहलाता है। केवलान्वयी साध्य वह होता है जिसका अत्यन्ताभाव कहीं भी न हो। उदाहरणतः अभिधेयत्व का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। यहां यह समझने योग्य है कि दीपिका ने केवलान्वयत्व को साध्य से सम्बद्ध माना है, हेतु से नहीं। क्योंकि केवलान्यपि अनुमान के लिए हेतु के अत्यन्ताभाव का न होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः 'घटोभिधेय' घटत्वात्' केवलान्वयि है। क्योंकि इसमें व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती। किन्तु जो यहां हेतु दिया है, घटत्व, उसका अत्यन्ताभाव तो बहुत जगहों पर है। अतः केवलान्वयी वहां होता है जहां ऐसी चीज साध्य हो जो सत्ता मात्र में रहती हो। कोई कह सकता है कि विश्व में ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके नाम नहीं हैं या जिन्हें हम जान नहीं सकते। दीपिकाकार कहना है कि कोई पदार्थ चाहे हमारे ज्ञान में न आए परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में आ ही जाता है। अतः अप्रमेय कुछ भी नहीं।

केवलव्यतिरेकी

केवलव्यतिरेकी का जो उदाहरण दिया है वह थोड़ा—सा जटिल है किन्तु हम उसकी व्याख्या ऊपर कर चुके हैं। पथ्वी इतरभेदवती गन्धवत्वात्। यहाँ अन्वय व्याप्ति नहीं हो सकती। यत्र यत्र गन्धवत्त्वं तत्र पथिवीतरभेदः नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गन्धवान् तो सभी पदार्थ पथिवीत्व में ही आ जायेंगे। किन्तु ऐसे पदार्थ अनेक हैं जहां पथ्वीतरत्व है और गन्धाभाव भी है। अतः यह केवलव्यतिरेकि का उदाहरण है।

यहाँ दीपिका में जो तक—वितर्क दिये हैं वह चाहे विशेष उपयोगी तो नहीं किन्तु तब भी यहां इसलिए दिये जाते हैं कि न्यायशास्त्र में किस प्रकार सूक्ष्म चर्चाएं हुई हैं, इसका थोड़ा—सा आभास मिल सके। आक्षेप किया जाता है कि पथ्वी में इतर भेद का अनुमान नहीं हो सकता। यहां उभयतः पाश है। यदि इतर भेद पहले से ज्ञात है तो या तो वहां गंध सहित ज्ञात है, या गंध रहित। यदि दूसरे स्थानों पर हेतु साध्य में व्याप्त है तो वह सपक्ष दष्टान्त हो गया और यहाँ अन्वय व्याप्ति हो गई किन्तु यदि हेतु किसी अन्य पदार्थ में व्याप्त नहीं है तो फिर यह पक्ष का विशेष धर्म हो गया और इसके आधार पर न कोई व्याप्ति हो सकती है, न अनुमान। यदि यह मानें कि साध्य ज्ञात ही नहीं है तो फिर कोई अनुमिति भी न हो सकेगी क्योंकि अनुमिति

एक विशिष्ट ज्ञान होता है और विशिष्ट ज्ञान विशेषण के ज्ञान के बिना हो नहीं सकता। उदाहरणतः दण्ड का ज्ञान हुए बिना दण्डी का ज्ञान नहीं हो सकता। वह्नि का ज्ञान हुए बिना वह्निमान् पर्वत का ज्ञान नहीं हो सकता और यदि साध्य अज्ञात ही है तो फिर उससे अनुमिति कैसे होगी अर्थात् जब तक हम इतर भेद को न जानें इतरभेदवती पथ्वी को कैसे जान सकते हैं ? इसी प्रकार अभाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान पर आधारित है और अगर इतर भेद का अभाव अज्ञात है तो व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती अर्थात् 'जहाँ इतर–भेद का अभाव है वहां गन्धवत्वाभाव भी है,' यह व्याप्ति नहीं होगी। अतः केवल व्यतिरेकि अनुमान नहीं होता। यह पूर्वपक्ष है।

इस मत का खण्डन भी दीपिका में इस प्रकार किया गया है। वस्तुतः १३ अन्योन्याभाव का पथ्वी में अभाव सिद्ध करना अभिप्रेत है। अन्योन्याभाव दो पदार्थों का होता है और इस प्रकार यहाँ १३ अन्योन्याभाव हैं। ये १३ अन्योन्याभाव १४ पदार्थों में परस्पर हैं। इनमें से प्रत्येक शेष १३ में रहता है। जैसे जलभेद, जल के अतिरिक्त तेज इत्यादि १३ पदार्थों में रहता है और तेजोभेद तेज के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में तो रहते हैं किन्तु वे सभी एक समय ही सब में नहीं रह सकते। किन्तु वे पथ्वी में रहते हैं और इस प्रकार पथ्वी उन १३ से भिन्न हैं अर्थात् यहाँ हमारा साध्य है–त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदस्यैकाधिकरणवत्तित्वम् अर्थात् १३ के १३ अन्योन्याभाव का युगपद् एक चीज में रहना। किन्तु क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण हमें ज्ञात नहीं, जहां ये १३ के १३ अन्योन्याभाव एक साथ रहते हों; हम यह नहीं जान सकते, कि हेतु वहां है या नहीं। अतः हेतु यहां न अन्वयी है न साधारण। उभयतः पाश के एक अंश का यह उत्तर हुआ। दूसरा जो अंश है कि यदि साध्य अज्ञात ही है तो अनुमिति हो ही नहीं सकती। उसमें भी कोई बल नहीं है। क्योंकि यहाँ हमें मालूम ही है कि जलादि भेद कूट १३ पदार्थों में रहता ही है। किन्तु पूर्व पक्ष का कहना है कि १३ अन्योन्याभावों को हम पथक्–पथक् जो जानते हैं किन्तु उनका समुदाय तो ज्ञात नहीं है तो फिर यह साध्य ज्ञात कैसे माना जाएगा। इस पर नैयायिकों का उत्तर है कि हमें समुदाय का निषेध करना साध्य नहीं हैं किन्तु पथक्–पथक् अन्योन्याभावों का अभाव ही साध्य है। अतः यहां साध्यविशिष्टानुमिति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों ही संभव हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि गौतम ने हेतु का साधर्म्य और वैधर्म्य विभाजन किया था। लिंग और अनुमान का विभाजन बाद में हुआ। हेतु के जो दो भाग थे, साधर्म्य और वैधर्म्य उससे उदाहरण, उपनय और निगमन के भी दो भेद हो गये। साधर्म्य और वैधर्म्य दष्टान्त का था, किन्तु जब दष्टान्त का स्थान व्याप्ति ने ले लिया तो फिर अनुमान का ही साधर्म्य और वैधर्म्य में विभाजन कर दिया गया। और इस प्रकार अन्वयी और व्यतिरेकी नाम के दो लिंग बन गए। जब तक यह व्याप्ति का विभाजन था तब तक तो ठीक था, किन्तु जब नव्यनैयायिकों ने इसे और भी आगे ले जाकर यह सिद्ध किया कि दो प्रकार की व्याप्ति तीन प्रकार से हो सकती है, या केवल अन्वय से या व्याप्ति से या दोनों से, तो फिर कठिनाई हो गई। वस्तुस्थिति यह है कि अधिकतर तो अन्वय–व्यतिरेकी लिंग ही होते हैं। केवल अन्वयी और केवल व्यतिरेकी तो अपवाद ही हैं।

केवल अन्वयी और व्यतिरेकी के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियां भी हैं। किन्तु आपत्तियों के बारे में हमें यही कहना है कि शायद केवल व्यतिरेकी अनुमान इसलिए माना गया कि मीमांसकों का अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ऐसे स्थानों पर अनुमान करते हैं। अतः वेदान्तियों के अनुसार केवल व्यतिरेकी अनुमान का कोई महत्त्व नहीं।

४६. संदिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः।।२०

जिसमें साध्य संदिग्ध हो वह पक्ष है। जैसे धूमवत्त्व हेतु में पर्वत।

(तत्त्व दीपिका) – पक्षमलक्षणमाह–संदिग्धेति। ननु श्रवणानन्तरभाविमननस्थलेव्याप्तिः। तत्र वेदवाक्यैरात्मनो निश्चितत्वेन संदेहाभावात्; किं च प्रत्यक्षेपि वह्नौ यत्रेच्छयानुमितिस्तत्राप्यव्याप्तिरिति चेत्,–न; उक्तपक्षताश्रयत्वस्य पक्षलक्षणत्वात्।।

५०. निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसः।

जिसमें साध्य निश्चित हो वह सपक्ष है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में ही रसोईघर।

(तत्त्व दीपिका) – सपक्षलक्षणमाह–निश्चितेति।।

५१. निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः।।

जहाँ साध्य का अभाव निश्चित हो वह विपक्ष है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में सरोवर।

(तत्त्व दीपिका) – विपक्षलक्षणमाह–निश्चितेति।।

विशेष :- पक्ष, सपक्ष और विपक्ष :– न्याय में अनुमान प्रकरण की चर्चा करते समय पक्ष, सपक्ष और विपक्ष की बहुत चर्चा होती है। पक्ष वह है जहां हमें साध्य सिद्ध करना है जैसे पर्वत, सपक्ष वह है जहां हमें साध्य का पहले से ही ज्ञान हो

जैसे महानस, विपक्ष वह है जहाँ हमें साध्य के अभाव का ज्ञान पहले से ही है जैसे सरोवर। अन्नभट्ट ने यह परिभाषा गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि से ली है। सपक्ष और विपक्ष क्रमशः अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति के उदाहरण के रूप में आते हैं।

पक्ष के लक्षण में बाधा :– यहां जो पक्ष का लक्षण है वह बहुत निर्दोष नहीं कहा जा सकता। उदाहरणतः, श्रुति की आज्ञा है–आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। अब यदि श्रुति के अनुसार आत्मा का ज्ञान श्रुति वाक्य के श्रवण से ही हो गया तो आत्मा का स्वरूप संदिग्ध तो रहा नहीं, फिर उसका मनन अर्थात् अनुमान कैसे किया जाएगा ? श्रुति वाक्य तो असत्य हो नहीं सकता। नित्य व्यवहार में भी हम उन पदार्थों के सम्बन्ध में भी अनुमान से काम लेते हैं जिन्हें हम पहले से ही जानते हैं। अतः दीपिका के अनुसार पक्ष की परिभाषा है–सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्धयभावः किंन्तु यदि दीपिका की परिभाषा शुद्ध है तो फिर स्वयं अन्नभट्ट ने ही तर्कसंग्रह में संदिग्ध शब्द क्यों रखा ? यहां संदिग्ध का अर्थ सर्वथा संदिग्ध नहीं किन्तु सीमित अर्थों में संदिग्ध है। ऊपर जो हमने श्रुतिवाक्य उद्धत किया है वहां यह समझना चाहिए कि आत्मा को श्रवण द्वारा जान लेने पर भी उसके सम्बन्ध में समस्त सन्देह दूर नहीं हो जाते और उसके लिए मनन से काम लिया जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों से जाने गए पदार्थ के सम्बन्ध में भी थोड़ा–बहुत सन्देह होने पर अनुमान से हम अपने ज्ञान को और भी निस्संदिग्ध बना लेते हैं।

पक्ष, सपक्ष और विपक्ष की परिभाषा देने से बाद अन्नभट्ट को हेत्वाभास का वर्णन करना है। किन्तु उससे पहले उन्हें यह बतलाना चाहिए था कि सद्धेतु क्या है? तर्ककौमुदी में सद्धेतु के पांच लक्षण बताए हैं–पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावत्ति, अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व। अर्थात् हेतु को (१) पक्ष में रहना चाहिए। (२) सपक्ष में रहना चाहिए। (३) विपक्ष में नहीं रहना चाहिए। (४) किसी अन्य बलवत्तर प्रमाण से उसका खण्डन नहीं होना चाहिए और (५) कोई ऐसा कारण नहीं होना चाहिए जिससे साध्य का अभाव सिद्ध हो जाए। इनमें से प्रथम तीन तो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष के सम्बन्ध में जो कहा गया है, उससे ही सिद्ध है और जो अन्तिम दो कारण हैं वे वस्तुपरक अधिक हैं। उनका अनुमान की प्रक्रिया से सम्बन्ध नहीं। ये पाँच शर्तें अन्वय व्यतिरेकी हेतु पर लागू होती हैं किन्तु केवलान्वयी पर तीसरी शर्त और केवलव्यतिरेकी पर दूसरी शर्त लागू होने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उनके क्रमशः विपक्ष और सपक्ष होते ही नहीं। इन पाँच में से जहां पक्षधर्मत्व न होगा वहां आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभाव होगा, जहां सपक्ष सत्त्व न होगा वहाँ असाधारण सव्यभिचार और अनुपंसहारी होगा, जहाँ विपक्षासत्त्व होगा वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध, विरुद्ध और साधारण सव्यभिचार होगा, और जहां अन्तिम दो शर्तें पूरी न होंगी वहां बाधित और सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होगा।

५२. सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पच हेत्वाभासाः।।

हेत्वाभास पांच हैं–सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

(तत्त्व दीपिका) – एवं सद्धेतुं निरूप्यासद्धेतुं निरूपयितुं विभजते–सव्यभिचारेति। अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम्।

विशेष :- हेत्वाभास का एक अर्थ हो सकता है–हेतुवदाभासते अर्थात् जो हेतु जैसा लगे पर हेतु हो नहीं, अथवा हेतोराभासः=सदशः जो हेतु जैसा दिखाई पड़े। जो हेतु दुष्ट होता है वह हेत्वाभास होता है। यदि हेत्वाभास का अर्थ हेतोः हेतौ वाभासः किया जाए तो इसका अर्थ होगा–हेतु के दोष। वस्तुतः हेत्वाभास में हेतु के दोषों के ही प्रकार बताये गये हैं, दुष्ट हेतु के प्रकार नहीं बताये गये; क्योंकि एक हेतु में इन पाँच दोषों में से एक से अधिक दोष भी हो सकते हैं। उदाहरणतः इस अनुमान में 'वायुर्गन्धवान् स्नेहात्' पांचों ही दोष हैं। 'ह्रदो वह्निमान धूमात्' में तीन दोष हैं–बाधित, सत्प्रतिपक्ष और स्वरूपासिद्ध। 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' में दो दोष हैं–साधारणसव्यभिचार और व्याप्यत्वासिद्ध। यदि दुष्टहेतु के भेद करने लगें तो फिर इस प्रकार हेतुओं का अन्तर्भाव कहां किया जाएगा। अतः यह हेतुओं के दोषों का ही भेद किया गया है। दीधिति में भी यही बात कही गई है–न्यायोद्दोषगतसंख्यामादाय दुष्टहेतौ पंचत्वादिसंख्याव्यवहारः। (अन्नभट्ट ने हेत्वाभास का कोई लक्षण नहीं दिया। केवल दीपिका में हेतुदोष का लक्षण दिया है।) नीलकंठ का कहना है कि तर्कसंग्रह में अन्नभट्ट ने हेत्वाभास का अर्थ दुष्टहेतु किया है और दीपिका में हेतुदोष। न्यायबोधिनी में दुष्ट हेतु के पांच भाग किए हैं–व्यभिचार, विरोध, प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाध। जो इन पाँच दोषों से युक्त हो, वह क्रमशः सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित कहलाता है।

दीपिका में हेतुदोष का यह लक्षण दिया है–अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थ–ज्ञानविषयः अर्थात् जो ठीक अनुमिति द्वारा यथार्थ ज्ञान न होने दे। इस प्रकार 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' में यदि हमें यह ज्ञान न हो कि सरोवर में धुंआ नहीं है तो यह अनुमान हमें हो जाएगा और यह ज्ञान अनुमितिप्रतिबंधक है और इसलिए हेतुदोष है। किन्तु यथार्थ ज्ञान कहने का क्या अभिप्राय है ? यथार्थ का यह अभिप्राय है कि दोष पर भी यथार्थ ज्ञान हो तो वह अनुमिति नहीं है।

किन्तु यह लक्षण उन हेतुदोषों पर लागू नहीं होता जो सीधे अनुमिति में प्रतिबन्धक न होकर व्याप्ति ज्ञान या परामर्श में प्रतिबन्धक होने के कारण अनुमिति में परम्परया बाधक हैं। अतः यहां अनुमिति के अर्थ में अनुमिति के करण अर्थात् परामर्श, व्याप्तिज्ञान और लिंगज्ञान भी समाहित हैं। अतः व्यभिचार आदि जो दोष अनुमिति के करण में सीधे प्रतिबन्धक नहीं हैं, वे भी अनुमिति में प्रतिबन्धक मान ही लिये जायेंगे।

गौतम के अनुयायी नैयायिक और अन्नभट्ट भी पांच हेत्वाभास मानते हैं। वैशेषिक तीन हेत्वाभास मानते हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध और असिद्ध। किन्तु यह मतभेद मौलिक नहीं हैं। क्योंकि वैशेषिक सत्प्रतिपक्ष और बाधित को आश्रयासिद्ध, सव्यभिचार या अनैकातिक के अन्तर्गत मान लेते हैं। गौतम ने पांच हेत्वाभास इस प्रकार गिनाये हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल। इनमें दो तो वही हैं जो तर्कसंग्रह में हैं। प्रकरणसम वह हैं जहां निर्णय संदिग्ध हो और जहां समान बलवान तर्क उसके विरुद्ध भी हो अर्थात् प्रकरणसम तर्कसंग्रह का सत्प्रतिपक्ष है, साध्यसम असिद्ध और कालातीत बाधित है। प्रशस्तपाद ने कणाद के अनुसार विरुद्ध असिद्ध और संदिग्ध तीन हेत्वाभास माने हैं। इनमें संदिग्ध सव्यभिचार या अनैतिकांतिक के अन्तर्गत आ जाता है। बौद्धों ने तीन वही हेत्वाभास माने हैं जो कणाद ने माने हैं। सव्यभिचार और असिद्ध नवीन लेखकों की कल्पना है। यहां सत्प्रतिपक्ष और बाधित के सम्बन्ध में ही विशेष मतभेद हैं ओर इसका एक कारण है। ये दोनें हेत्वाभास तर्क की प्रक्रिया से नहीं, बल्कि पदार्थ से सम्बद्ध हैं। अतः इनका विवेचन कुछ लेखकों ने ठीक नहीं माना।

५३. सव्यभिचारोनैकान्तिकः। स त्रिविधः-साधारणसाधारणनुपसंहारिभेदात्। तत्र साध्याभाववद्वत्तिः साधारणोनैकान्तिकः। यथा 'पर्वतो वह्निमान्, प्रमेयत्वात्' इति प्रमेयत्वस्य वह्नन्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्। सर्वसपक्षविपक्षव्यावत्तोसाधारणः। यथा 'शब्दो नित्यः, शब्दत्वात्' इति। श ब्दत्वं सर्वेभ्यो नित्येभ्योनित्येभ्यश्च व्याक्तं शब्दमात्रवत्ति। अन्वयव्यतिरेकदृ टान्तरहितोनुपसंहारी। यथा सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद्दष्टान्तो नास्ति।।

सव्यभिचार अनैकान्तिक है। यह तीन प्रकार का है, साधारण, असाधारण अनुपसंहारी। इनमें साध्य के अभाव में रहने वाला हेतु साधारण अनैकांतिक है। जैसे 'पर्वत वहि् नमान् है' क्योंकि वह प्रमेय है, यहां प्रमेयत्व वहि् न के अभाव वाले सरोवर में भी रहता है अतः (वह साधारण अनैकांतिक) है। जो केवल पक्ष में रहे और न किसी सपक्ष में रहे न किसी विपक्ष में वह असाधारण है। जैसे 'शब्द नित्य है शब्दत्व के कारण' यहां शब्दत्व नित्य और अनित्य दोनों में ही न रहकर केवल शब्द में रहता है। जिसका अन्वय और व्यतिरेक दष्टान्त न हो वह अनुपसंहारी है। जैसे 'सब अनित्य है प्रमेयत्व के कारण' यहां सभी, पक्ष है इसलिए दष्टान्त नहीं है।

(तत्त्व दीपिका) — सव्यभिचारं विभजते—स त्रिविध इति। असाधारणं लक्षयति—तत्रेति। उदाहरति—यथेति। असाधारणं लक्षयति—सर्वेति। अनुपसंहारिणो लक्षणमाह—अन्वयेति।।

विशेष :- सव्यभिचार का अर्थ है कि व्यभिचारसहित, व्यभिचार का अर्थ है हेतु का साध्याभाव के साथ रहना। यथा 'पर्वतो बह्निमान् प्रमेयत्वात्' यहाँ प्रमेयत्व साध्य के अभाव अर्थात् सरोवर में भी है। अतः यहाँ सव्यभिचार दोष है। इसे अनैकांतिक भी कहते हैं। व्यभिचार जिसका लक्षण साध्यसंदेहजनकोभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपवत्वम् दिया गया है अनैकांतिक जैसा ही है। अर्थात् अव्यभिचार वह है जिससे साध्य और साध्य का अभाव दोनों सिद्ध होते हैं। अतः कणाद ने अनैकांतिक को संदिग्ध नाम दिया है।

सव्यभिचार के तीन भेद हैं—साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी। साधारण वह है जिसमें अतिव्याप्ति ही अर्थात् जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहे या यों कहें कि जो साध्य और साध्य के अभाव दोनों में व्याप्त हो। अन्नम्भट्ट ने साधारण को केवल साध्याभाव के साथ ही व्याप्त माना है किन्तु तर्ककौमुदी में उसे सपक्ष—विपक्ष—वत्ति माना है। अन्नम्भट्ट का विचार है कि अन्वयी हेतु में सपक्ष—वत्तित्व तो होती है है। अतः इसका देना आवश्यक नहीं है।

असाधारण साधारण का विरुद्ध है अर्थात् जो न सपक्ष में हो न विपक्ष में। विपक्ष में तो कोई हेतु रहता ही नहीं किन्तु असाधारण हेत्वाभास सपक्ष में भी नहीं रहता। साधारण अतिव्याप्त है तो असाधारण अव्याप्त, क्योंकि यह जहां व्याप्त होना चाहिए उस सपक्ष में भी व्याप्त नहीं होता। असाधारण का अर्थ है कि वह पक्ष के अतिरिक्त और कहीं नहीं रहता; पक्ष का ही असाधारण गुण होता है। उदाहरणतः यदि हम कहें कि 'शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है' तो शब्दत्व पक्ष, शब्द, का असाधारण धर्म है, और कहीं रह नहीं सकता। अतः यह असाधारण हेत्वाभास हुआ।

अनुपसंहारी हेत्वाभास वह है जिसका न सपक्ष दष्टान्त हो न विपक्ष दष्टान्त। अर्थात् जो पक्ष के अतिरिक्त जहां–जहां साध्य हो वहां–वहां न रहे। यह तभी हो सकता है जब समस्त पदार्थों को पक्ष बना दिया जाये। और जब सब कुछ पक्ष हो जाए तो फिर सपक्ष या विपक्ष बनने के लिये कुछ रह नहीं जायेगा। उदाहरणतः सर्वमनित्यं, प्रमेयत्वात्'। यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्रानित्यवम्। यथा घटे पटे कुड्ये वा ? अब यहां सब ही पक्ष हैं तो फिर उदाहरण के रूप में घट, पट, कुड्य नहीं दिये जा सकते। यह कहा जा सकता है कि पक्ष में तो साध्य संदिग्ध है पर घट पट आदि में नहीं, अतः यहाँ सपक्ष दष्टान्त दिया जा सकता है। नव्यनैयायिकों ने अनुपसंहारि का लक्षण 'केवलान्वयिधर्मसाध्यकः' दिया है अर्थात् जहाँ साध्य हेतु के साथ केवल विधि रूप में सम्बद्ध हो। किन्तु यह लक्षण तो केवलान्वयी सद्धेतु पर भी लागू हो जायेगा। अतः ऊपर जो आक्षेप किया गया है उसका उत्तर यह है कि चाहे पथक्–पथक् पदार्थों में अनित्यत्व निश्चित हो किन्तु उसके आधार पर कोई व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती। क्योंकि पक्ष में तो जो विस्ततततम क्षेत्र है वह अन्तर्भूत है। इसे अनुपसंहारि इसलिए कहते हैं क्योंकि यहां पक्ष में सभी समाविष्ट हो जाता है और उससे कुछ बचता नहीं।

५४. साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यवेन व्याप्तम्।।

जो हेतु साध्याभाव से व्याप्त हो वह विरुद्ध है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि वह कार्य है। यहाँ कार्यत्व (साध्य) नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व से व्याप्त है।

(तत्त्व दीपिका) – विरुद्धं लक्षयति–साध्येति।।

विशेष :- विरुद्ध का अर्थ है ऐसा हेतु जो साध्य के अभाव के साथ व्याप्त हो। उदाहरणतः – शब्द नित्य है क्योंकि उसमें कृतकत्व है। अब कृतकत्व नित्यत्वाभाव के साथ व्याप्त है किन्तु नित्यत्व के साथ नहीं। अर्थात् इस हेतु से तो जो हम सिद्ध करना चाहते हैं उससे विरुद्ध बात ही सिद्ध हो जाती है।

विरुद्ध कभी भी सपक्ष में नहीं रहता किन्तु साधारण सव्यभिचार सपक्ष में भी रहता है। विरुद्ध विपक्ष में रहता है, असाधरण सव्यभिचार सपक्ष में भी रहता है, असाधारण सव्यभिचार विपक्ष में नहीं रहता। अनुपसंहारी में हेतु की व्याप्ति अपूर्ण या दुष्ट होती है जबकि विरुद्ध में वह व्याप्ति विपरीत दिशा में होती है।

५५. यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्' इति। 'शब्दोनित्यः कार्यत्वात्, घटवत्' इति।।

जिस हेतु के साध्य के अभाव को करने वाला दूसरा हेतु है वह सत्प्रतिपक्ष है। जैसे 'शब्द नित्य है श्रावणत्व के कारण शब्दत्व के समान'। (यहाँ साध्य के अभाव का साधक हेतु यह है–) 'शब्द अनित्य है कार्यत्व के कारण जैसे घट'।

(तत्त्व दीपिका) – सत्प्रतिपक्षं लक्षयति–यस्येति।।

विशेष :- जहां साध्याभाव साधक दूसरा हेतु हो वहाँ सत्प्रतिपक्ष माना जाता है। विरुद्ध में जो हेतु साध्य का साधक दिया जाता है वही साध्याभाव का साधक बन जाता है, जबकि सत्प्रतिपक्ष में साध्याभाव साधक दूसरा हेतु होता है। उदाहरणतः 'शब्दौ नित्यः श्रवणत्वात्' 'शब्दोनित्यः कृतकत्वात्।' यहाँ साध्य नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व का साधक दूसरा हेतु कृतकत्व दिया गया है। अतः यहाँ सत्प्रतिपक्ष है। सत्प्रतिपक्ष के अन्तर है। बाधित में अनुमान का साध्य वस्तुतः बलवत्तर प्रमाण द्वारा असिद्ध किया जाता है। उदाहरणतः यदि कोई कहे कि अग्नि शीतल है क्योंकि यह द्रव्य है, तो प्रत्यक्ष द्वारा इस अनुमान का बाध हो जाता है क्योंकि अग्नि छूने पर उष्ण है किन्तु सत्प्रतिपक्ष में ऐसा नहीं होता। वहां दो समान बल वाले अनुमान एक–दूसरे के विरोधी होते हैं और इसलिए किसी एक के लिए हमारा निर्णय नहीं हो पाता। गौतम ने इस हेत्वाभास का इसीलिये प्रकरणसम नाम रखा है। प्रकरण का अर्थ है निर्णय। सम का अर्थ है–समान। अर्थात् जहां दोनों हों अथवा समान बल वाला निर्णय हो। वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या–प्रकरणमनतिवर्तमानः कहकर की है अर्थात् जहाँ निर्णय किया ही न जा सके। सत्प्रतिपक्ष का भी यही अर्थ है। जहां दो परस्पर विरोधी अनुमानों में दो हेतु होते हैं वे दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्ष होते हैं और उनके कारण निर्णय में बाधा होती है। जहाँ तुल्य बल वाले विरोधी हेतु हों वहीं सत्प्रतिपक्ष होता है अन्यथा नहीं। जब एक पक्ष बलवान् हो जाता है तो वह बाधित हो जाता है। उदाहरणतः यदि एक अनुमान को श्रुति बाधा पहुंचा रही हो तो वह बाधित होगा क्योंकि श्रुति प्रमाण, अनुमान प्रमाण का तुल्य बल नहीं है प्रत्युत अधिक बलवान् है।

५६. असिद्धस्त्रिविधः - आश्रयासिद्धः, स्वरूपासि;:, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। आश्रयासिद्धो यथा-गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्। सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः। स च नास्त्येव। स्वरूपासिद्धो यथा-शब्दो

गुणश्चाक्षुषत्वात्, रूपवत्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति; शब्दस्य श्रावणत्वात्। सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः। साध्यसमानाधि- करणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' इत्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि-यत्र धूमस्तत्रार्देन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकता। यत्र वह्निस्तत्रार्देन्धनसंयोगो नास्ति; अयोगोलक आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद्वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।।

अिसिद्ध तीन प्रकार का है—आश्रयसिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वसिद्ध। आश्रयासिद्ध जैसे—गगनारविन्द सुगन्धित है, क्योंकि वह अरविन्द है, सरोजारविन्द की तरह। यहाँ गगनारविन्द आश्रय है और वह है ही नहीं। स्वरूपसिद्ध जैसे—शब्द गुण है चाक्षुष होने के कारण। यहां शब्द में चाक्षुषत्व है ही नहीं क्योंकि शब्द श्रवण से ग्राह्य है। सोपाधिक व्याप्यत्वासिद्ध होता है। जो साध्य का व्यापक हो और हेतु का अव्यापक वह उपाधि कहलाता है। साध्य व्यापक का अर्थ है साध्य के अधिकरण में रहने वाले अभाव का जो प्रतियोगी न हो। साधनाव्यापक का अर्थ है जो हेतु के अधिकरण में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी है। जैसे 'पर्वत धूमवान् है वह्निमत्त्व के कारण' यहाँ आर्द्र इन्धन संयोग उपाधि है; जहाँ धुआं है वहां आर्द्र ईंधन संयोग है। यह साध्य व्यापकत्व हुआ। जहाँ वह्नि है वहाँ आर्द्र ईंधन संयोग नहीं है जैसे—आग से लाल गर्म लोहे के गोले में—यह साधनाव्यापकता हुई। इस प्रकार साध्य व्यापक और साधन के अव्यापक होने से आर्द्र ईंधन संयोग उपाधि हुआ। सोपाधिक होने से वह्निमत्त्व व्याप्यात्वासिद्ध हुआ।

(तत्त्व दीपिका) – असिद्धं विभजते—असिद्ध इति।। आश्रयासिद्धमुदाहरति—गगनेति।। स्वरूपासिद्धमुदाहरति—शब्देति।। व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह—सोपाधिक इति। उपाधिलक्षणमाह—साध्येति। उपाधिश्चतुर्विधः—केवलसाध्यव्यापकः, पक्षधर्मावच्छिन्न—साध्यव्यापकः, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति। आद्य आर्देन्धनसंयोगः। द्वितीयो यथा— 'वायुः प्रत्यक्ष प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' इत्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम्। ततीयो यथा—'प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्। चतुर्थो यथा—'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' इत्यत्रा जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्।।

विशेष :- गौतम ने असिद्ध को साध्यसम कहा है। अर्थात् जो साध्य के समान हो। अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार साध्य संदिग्ध होता है उसी प्रकार जहाँ हेतु भी संदिग्ध हो वह साध्यसम है। असिद्धि का अर्थ है सिद्धि न होना अर्थात् व्याप्य हेतु का पक्ष में न होना। इस प्रकार असिद्धि परामर्श में बाधा डालती है। परामर्श के तीन भाग हैं—व्याप्ति पक्षता और पक्षधर्मता या हेतुता। जहा पक्ष में कोई दोष हो वहां आश्रयासिद्ध, जहां हेतु में दोष हो स्वरूपासिद्ध, और जहां व्याप्ति में दोष हो वहां व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है।

अन्नम्भट्ट ने असिद्ध का कोई लक्षण नहीं दिया। आश्रयासिद्ध का लक्षण है—पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकः अर्थात् जहाँ हेतु पक्ष को अविच्छन्न न करे। उदाहरणतः—गगनारविंद सुगन्धित है क्योंकि वह अरविन्द है। अब यहां गगनारविंद ही नहीं है अर्थात् अरविन्द को जिस गगनीयत्व से विशिष्ट बतलाया जा रहा है, वह गगनीयत्व अरविन्द में रहता ही नहीं। इस प्रकार यहाँ गगनीयत्व पक्षतावच्छेदक धर्म है क्योंकि यह गगनारविंद का धर्म है और वह अरविंद में नहीं है। जब विशेष्य विशिष्ट में न रह सके तो फिर उसे विशेषण में मान लिया जाता है—सति विशेष्ये बाधे विशिष्ट बुद्धिर्विशेषणमुपसंक्रामति। वर्तमान उदाहरण मे यद्यपि आश्रय अरविन्द असिद्ध नहीं है किन्तु उसमें गगनीयत्व असिद्ध है। एक ऐसा असिद्ध भी हो सकता है जहां पक्ष की सत्ता ही न हो। दीपिका में सिद्ध साधन भी आश्रयासिद्ध है। नव्यनैयायिक इसे निग्रहस्थान मानते हैं।

स्वरूपासिद्ध इस कारण स्वरूपासिद्ध कहलाता है क्योंकि इसमें हेतु स्वयं ही असिद्ध होता है। उदाहरणतः यदि कोई शब्द को चाक्षुष होने के कारण नित्य कहे तो यह हेतु स्वरूपासिद्ध होगा क्योंकि चाक्षुषत्व शब्द में रहता ही नहीं। आश्रयासिद्ध में आश्रय ही असिद्ध होता है जबकि स्वरूपासिद्ध में आश्रय तो वास्तविक होता है किन्तु उसमें हेतु नहीं होता। इस सम्बन्ध में स्वरूपासिद्ध, सहव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाधितता का पूरक है। सव्यभिचार सपक्ष सत्त्व, विपक्ष व्यावत्ति में बाधा पड़ने पर होते हैं जबकि सत्प्रतिपक्ष और बाधित अन्तिम दो शर्तों असत्प्रतिपक्षत्व तथा अबाधितत्व के पूरा न होने पर होते हैं। स्वरूपासिद्ध पहली शर्त अर्थात् पक्ष—धर्मत्व के न होने पर होता हैं। यहां हेतु वास्तविक है किन्तु उसमें पक्षधर्मता नहीं है।

व्याप्यत्वासिद्ध वहां होता है जहां लिंग सोपाधिक हो। जब हेतु साध्य के साथ व्याप्त नहीं होता तो वह व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। स्वरूपासिद्ध हेतु पक्ष में नहीं रहता जबकि व्याप्यत्वासिद्ध हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती। स्वरूपासिद्ध

हेतु से पक्षधर्मता दुष्ट होती है, व्याप्यत्वासिद्ध हेतु से व्याप्ति। उदाहरणतः – पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् व्याप्यत्वासिद्ध है।

व्याप्ति की यह असिद्धि या तो तब होती है जबकि उस व्याप्ति की सिद्धि न हो सके या उपाधि या किसी शर्त के लग जाने से उस व्याप्ति की साधुता अप्रमाणित हो जाए। इस प्रकार व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का है–(१) साध्येनासहचरितः (२) सोपाधिकसाध्यसंबंधः अर्थात् या तो किसी साध्य के साथ व्याप्ति न हो या साध्य के साथ व्याप्ति हो तो सोपाधिक ही हो। उदाहरणतः – शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यद्यत्सत्तत्क्षणिकं यथा घनः। यहां सत्त्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती। ऊपर जो कांचनमय धूम का उदाहरण दिया है वह भी इसी प्रकार का है। सोपाधिक अनुमान का उदाहरण है – पर्वतो धूमवान् वह्नेः यहां वह्नि धूमव्याप्य नहीं है। किन्तु वह एक शर्त पूरा करे तो धूमव्याप्य होती है। वह शर्त है–आर्द्रेन्धनसंयोगे सति अर्थात् जहां वह्नि के साथ आर्द्र ईंधन होगा तभी वहां धूम होगा। इस प्रकार आर्द्र ईंधन का संयोग एक शर्त हो गई है। इन दोनों ही स्थानों पर व्याप्यत्वासिद्ध दोष है। अन्नम्भट्ट ने व्याप्यत्वासिद्ध को सोपाधिक हेतु कहा है।

असिद्ध और सव्यभिचार में आखिर भेद क्या है ? व्याप्यत्वासिद्ध और साधारण सव्यभिचार का भेद और भी सूक्ष्म है। व्यभिचार विधिपरक है, व्याप्यत्वासिद्ध निषेधपरक। व्यभिचार में व्याप्ति वस्तुतः बाधित होती है, असिद्ध में व्याप्ति का केवल अभाव होता है। व्यभिचार में व्याप्ति मिथ्या होती है, असिद्ध में इस सम्बन्ध में संदेह रहता है कि वह सत्य है या मिथ्या। अतः व्यभिचार अधिक स्पष्ट दुष्ट हेतु है। असिद्ध का दोष उतनी सरलता से नहीं पकड़ा जा सकता। बहुत स्थानों पर हमें असिद्ध का आभास तो हो जाता है किन्तु वहां हम उपाधि नहीं खोज पाते।

सोपाधिक जानने के लिये उपाधि का जानना आवश्यक है। उदयन ने उपाधि का अर्थ दिया है–उप समीपवर्तिनी आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः। अर्थात् जो अपने गुणों को अपने निकटवर्ती पदार्थ में संक्रमित कर दे। जैसे जपाकुसुम स्फटिक में अपनी लालिमा को प्रतिबिम्बित कर देता है यद्यपि स्फटिक वस्तुतः लाल नहीं होता। तो यह कुसुम उपाधि हुआ। इस प्रकार उपाधि परिस्थिति या शर्त है जोकि किसी पदार्थ को थोड़ी देर के लिए हमें किसी और रूप में दिखला देती है। जैसे धुआं साधारणतः तो अग्नि से ही उत्पन्न होने वाला मालूम होता है, किन्तु इसके उत्पादन का वास्तविक कारण गीला ईंधन है। अतः गीला इ्ंधन उपाधि हुआ। किन्तु यह नियम नहीं है कि जहां अग्नि हो वहां गीला ईंधन हो ही। उदाहरणतः प्रतप्त लोहे के गोले में गीला इ्ंधन नहीं होता। दीपिका में चार प्रकार की उपाधि हैं–(१) जो साध्य के साथ सदा रहती है (२) जो पक्षधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ केवल रहती है (३) जो साधनावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है (४) जो उदासीनधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है। गीले इ्ंधन का संयोग प्रथम प्रकार की उपाधि है क्योंकि जहां साध्य धुआं होगा वहां गीला इ्ंधन जरूर होगा। दूसरे प्रकार की उपाधि का उदाहरण है–वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्। यहाँ उद्भूत रूपवत्त्व होने पर ही प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु मानस प्रत्यक्ष में यह उद्भूत रूपतत्त्व नहीं होने पर भी प्रत्यक्षत्त्व होता है। अतः उद्भव रूपवत्त्व केवल बाह्य पदार्थ सम्बन्धी प्रत्यक्ष के लिये ही आवश्यक है। इस प्रकार उद्भूत रूपवत्त्व एक उपाधि है जो कि केवल बाह्य द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये ही आवश्यक होती है और यह बहिर्द्रव्य–प्रत्यक्षत्व पक्ष, वायु में रहता है।

तीसरा भेद थोड़ा जटिल है। इसका उदाहरण है–ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात् यहाँ भावत्व उपाधि है क्योंकि 'यद्यज्जन्यं तत्तद्विनाशि यह व्याप्ति भाव पदार्थों के बारे में ही सत्य है, और इसके साथ 'भावत्वे सति' की शर्त है। जो पदार्थ अनित्य हो उसके लिए भावत्व की शर्त जरूरी है। यह वही है जहां कि पदार्थ जन्य है। क्योंकि प्रागभाव भाव वस्तु नहीं है किन्तु अजन्य और अनित्य है। अतः भावत्व जन्य पदार्थों के अनित्यत्व की ही उपाधि है, अजन्य पदार्थों के अनित्यत्व की नहीं। किन्तु ऊपर के उदाहरण में जन्यत्व साधन है और अनित्यत्व साध्य है। इस प्रकार भावत्व साधनावच्छिन्नसाध्य व्यापक है। इसी प्रकार गर्भस्थो ंमित्रातनयः श्यामः, मित्रातनयत्वात्, मित्रातनयवत् में शाकपाकजत्व उपाधि है। क्योंकि श्याम वर्ण पुत्र वही हैं जिनके गर्भ में होने पर मित्रा ने वनस्पति खाई है, दूध इत्यादि नहीं। मित्रा के दूसरे पुत्र जिन्हें मित्रा ने दूध इत्यादि का भोजन करते हुए जन्म दिया, काले नहीं हैं।

'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' चौथी प्रकार की उपाधि का उदाहरण है। यहां भावत्व उपाधि है क्योंकि वही प्रमेय पदार्थ जो भावरूप है, विनाशी है, किन्तु भावत्व अनितत्व की उपाधि है और वह भी वहीं जहाँ पदार्थ अन्य हों अर्थात् यह जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्व की उपाधि है। यहां जन्यत्व न साधन है, न पक्षधर्म प्रत्युत एक उदासीन धर्म है।

५७. यस्य साध्याभावः प्रमाणन्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा-'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' इति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गह्यत इति बाधितत्वम्।।

जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से निश्चित हो वह हेतु बाधित है। जैसे वह्नि अनुष्ण है द्रव्यत्व के कारण। यहाँ साध्य है अनुष्णत्व उसका अभाव उष्णत्व स्पर्श प्रमाण से ही सिद्ध है अतः यह बाधित हुआ।

(तत्त्व दीपिका) – बाधितस्य लक्षणमाह–यस्येति। अत्र बाधस्य ग्राह्याभावनिश्चयत्वेन, सत्प्रतिपक्षस्य विरोधिज्ञानसामग्रीत्वेन साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकत्वम्। इतरेषां तु परामर्शप्रतिबन्धकत्वम्। तत्रापि साधारणस्याव्यभिचाराभावतया, विरुद्धस्य सामाना–धिकरण्याभावतया, व्यापकत्वासिद्धस्य विशिष्टव्याप्त्यभावतयासाधारणानुपसंहारिणोर्व्याप्तिसंशयाधायकत्वेन च व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। आश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धयोः पक्षधर्मताज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। उपाधिस्तु व्यभिचारज्ञानद्वारा व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकः। सिद्धसाधनं तु पक्षताविघटतया आश्रयासिद्धेन्तर्भवतीति प्राचः। निग्रहस्थानान्तरमिति नवीनाः।

विशेष :- बाधित हेत्वाभास वहां होता है जहां साध्याभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित हो जाये। यहाँ वह प्रमाणान्तर, जिससे साध्याभाव निश्चित हो, साध्य के साधक प्रमाण से बलवत्तर होना चाहिये, क्योंकि यदि दोनों प्रमाण तुल्यबल होंगे तो सत्प्रतिपक्ष होगा बाधित नहीं। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रमाणान्तर से जो साध्याभाव का ज्ञान हो, वह प्रमाणात्मक होना चाहिये, किन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार यह आवश्यक नहीं है।

'कपिसंयोगवानयं वक्षः' – यहां कपिसंयोग अव्याप्यवत्ति धर्म है, अर्थात् वक्ष के एक भाग में ही कपिसंयोग है पूर्णवक्ष में नहीं, अतः यदि यहाँ वक्ष के किसी अन्य भाग में कपिसंयोगाभाव भी किसी प्रमाणान्तर से सिद्ध हो जाये, तो भी बाधित दोष नहीं होगा। बाधित तभी होगा जब कि कपिसंयोगाभाव पूर्ण वक्ष में सिद्ध हो। इसलिये बाधित का पूर्ण लक्षण 'पक्षनिष्ठानवच्छिन्नसाध्याभाववान् है।

५८. उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञानमुपमितिः। तत्कारणं सादश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। तथा हि-कश्चिद्गवयशब्दार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदशो गवयः' इति श्रुत्वा, वनं गतो वाक्यार्थ स्मरन् गोसदशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरम् 'असौ गवयशब्दवाच्यः' इत्युपमितिरुत्पद्यते।।

उपमिति का करण उपमान कहलाता है (पद और पदार्थ का) वाच्यवाचक भावरूप सम्बन्ध का ज्ञान उपमित्ति है। उस (उपमिति का) करण सादश्य ज्ञान है। इसका अवान्तर व्यापार प्रामाणिक व्यक्ति के कहे हुए वाक्य के अर्थ का स्मरण है। जैसे कोई गवय शब्द के अर्थ को नहीं जानता और किसी वनेचर से 'गवय गौ के समान होता है' ऐसा सुनकर वन में जाता है और वहाँ उस वाक्य का अर्थ स्मरण करते हुए गौ के सदश शरीर पिण्ड को देखता है इसके अनन्तर यह गवय का वाच्य है यह उपमिति उत्पन्न होती है।

(तत्त्व दीपिका) – उपमानं लक्षयति–उपमितीति।।

विशेष :- समानता के आधार पर जो ज्ञान होता है उसका तात्कालिक कारण उपमान है। उपमिति का अर्थ है संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान। इस ज्ञान का कारण गौ और गवय जैसे पदार्थों की समानता है। अतः वह उपमान है। उपमिति की प्रक्रिया यह है कि जिस व्यक्ति ने कभी गवय नहीं देखा वह किसी प्रामाणिक वनवासी द्वारा यह सुनने पर कि गवय गाय के समान होता है, वन में जाता है। वहां वह जिस पशु को देखता है वह गौ के समान है। उस समानता को देखकर वह अतिदेशवाक्य अर्थात् वनवासी द्वारा कहे गये पुराने वाक्य को स्मरण करता है। उस स्मरण को वर्तमान प्रत्यक्ष सें मिलाने पर वह निर्णय करता है कि यह पशु गवय है। यह ज्ञान कि यह गवय है, उपमिति है। क्योंकि यह गवय–संज्ञा और गवय–पद–वाच्य संज्ञी का सम्बन्ध बतलाता है। अर्थात् गवय और गवय पदार्थ में वाच्य–वाचक–भाव है। यही संज्ञा–संज्ञी सम्बन्ध है जिसे उपमिति भी कहते हैं। उपमिति के लिए अतिदेश वाक्य के अर्थ का ज्ञान और गऊ इत्यादि समान पशु का प्रत्यक्ष दोनों अनिवार्य हैं।

उपमान के लिये ये दोनों तो आवश्यक हैं किन्तु इन दोनों में भी यह प्रश्न बना रहता है कि करण कौन है और सहकारी कौन ? अर्थात किस कारण से तो उपमिति ज्ञान अनिवार्य रूप से होता है और कौन–सा कारण सहायक बनता है। इस सम्बन्ध में नव्यनैयायिकों का दष्टिकोण यह है कि अतिदेश वाक्यार्थ ज्ञान सहकारी है और सादश्य ज्ञान कारण। प्राचीन नैयायिकों का दष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। इस विषय में सभी सहमत हैं कि अतिदेशवाक्यार्थ व्यापार है। अन्नम्भट्ट नव्यनैयायिकों को मानते हैं। उन्होंने उपमान को सादश्य ज्ञान माना है, अर्थात् उनके अनुसार गवयनिष्ठ–गोसादश्यज्ञान उपमिति का करण है। किन्तु वे उपमिति को 'गवयो गवयपदवाच्यः' मानते हैं 'असौ गवयपदवाच्यः' नहीं। इन दोनों में यह भेद है कि प्रथम ज्ञान में तो एक विशेष गवय का ही ज्ञान होता है, जबकि दूसरे ज्ञान में गवय जाति का अनुमान होता है।

उपमान और शब्द को अन्नम्भट्ट ने गौतम के मत का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र प्रमाण माना है। वैशेषिक और सांख्य ऐसा नहीं मानते।

५६. आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। यथा 'गामानय' इति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः।।

शब्द (प्रमाण) आप्त व्यक्ति का वाक्य है। आप्त यथार्थवक्ता को कहते हैं। वाक्य पदसमूह कहलाता है, जैसे 'गाय लाओ'। शक्ति युक्त पद कहलाते हैं। 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए'—यह जो ईश्वर का संकेत है वह शक्ति है।

(तत्त्व दीपिका) – शब्दं लक्षयति—आप्तेति। वाक्यलक्षणमाह—वाक्यमिति। पदलक्षणमाह—शक्तमिति। अर्थस्मत्यनुकूलः पदपदार्थसंबन्धः शक्तिः। सा च पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः। तन्निरासार्थमाह—अस्मादिति। डित्थादीनामिव घटादीनामपि संकेत एव शक्तिः, न तु पदार्थान्तरमित्यर्थः।। गवादिशब्दानां जातावेव शक्तिः, विशेषणतया जातेः प्रथममुपस्थितत्वात्; व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपादिना इति केचित्—तन्न; 'गामानय' इत्यादौ वद्धव्यवहारात्सर्वत्रानयनादेर्व्यक्तावेव संभवेन जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिकल्पनात्। शक्तिग्रहश्च वद्धव्यवहारेण। व्युत्पित्सुर्बालो 'गामानय' इत्युत्तमवद्धवाक्यश्रवणान्तरं मध्यमवद्धस्य प्रवत्तिमुपलभ्य गवानयनं च दष्ट्वा मध्यमवद्धप्रवत्तिजनकज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य 'अश्वमानय, गां बधान' इति वाक्यान्तरे, आवापोद्वापाभ्यां 'गोपदस्य गोत्वविशिष्टे शक्तिः 'अश्व' शब्दस्याश्वत्वविशिष्टे शक्तिरिति व्युत्पद्यते। ननु सर्वत्र कार्यपरत्वाद् व्यवहारस्य कार्यवाक्य एव व्युत्पत्तिर्न सिद्धे इति चेत्—न; 'काच्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः' इत्यादौ सिद्धेपि व्यवहारात्, 'विकसितपद्मे मधूनि पिबति मधुकरः' इत्यादौ प्रसिद्धपदसमभिव्यवहारात्सिद्धेपि मधुकरादिपदे व्युत्पत्तिदर्शनाच्च।। लक्षणापि शब्दवत्तिः शक्यसंबंधो लक्षणा। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र 'गङ्गा' परवाच्यप्रवाहसंबन्धादेव तीरोपस्थितौ तीरेपि शक्तिर्नकल्प्यते। सैन्धवादौ लवणाश्वयोः परस्परसंबन्धाभावान्नानाशक्तिकल्पनम्।। लक्षणा त्रिविधा—जहल्लक्षणाजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। यत्र वाच्यार्थ—स्वान्वयाभावस्तत्र जहती। यथा—मचाः क्रीशन्तीति। यत्र वाच्यार्थस्यान्वयस्तत्राजहती। यथा—छत्रिणो गच्छन्तीति। यत्र वाच्यैकदेशत्यागेनैकदेशान्वयस्तत्र जहदजहती। यथा—तत्त्वमसीति। गौण्यपि लक्षणैव लक्ष्यमाणगुणसंबन्धरूपा। यथा—अग्निर्माणवक इति।। व्यजनापि शक्तिलक्षणान्तर्भूता। अर्थशक्तिमूला चानुमानादिनान्यथासिद्धा।।

तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्। तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्। तात्पर्यज्ञानं च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। नानार्थानुरोधात्तु प्रकरणादिकं तात्पर्यग्राहकम्। 'द्वारम्' इत्यादौ 'पिधेहि' इति शब्दाध्याहारः। नन्वर्थज्ञानार्थत्वाच्छब्दस्यार्थमविज्ञाय शब्दाध्याहारा—संभवादर्थाध्याहार एव युक्त इति चेत्, —न; पदविशेषजन्यपदार्थोपस्थितेः शाब्दज्ञानहेतुत्वात्। अन्यथा 'घट' कर्मत्वमानयनं कृतिः' इत्यत्रापि शाब्दज्ञानप्रसङ्गात्।।

पङ्कजादिपदेषु योगरूढिः। अवयवशक्तिर्योगः। समुदायशक्ती रूढिः। नियतपद्मात्वज्ञानार्थं समुदायशक्तिः। अन्यथा कुमुदेपि प्रयोगप्रसङ्ग। 'इतरान्विते शक्तिः' इति प्राभाकराः। 'अन्वयस्य वाक्यार्थतया भानसंभवादन्वयांशेपि शक्तिर्न कल्पनीया' इति गौतमीयाः।।

विशेष :- शब्दप्रमाण का अर्थ है आप्तवाक्य। आप्तवाक्य द्वारा हमें पदार्थ का यथार्थ का ज्ञान होता है। जिस शब्द द्वारा यथार्थ ज्ञान हो वही शब्द प्रमाण है और यथार्थ वक्ता ही आप्त है। वाक्यविवतिकार का कहना है कि जो शब्द द्वारा वह शाब्दिक ज्ञान करवाये जो वास्तव में पदार्थ का स्वभाव हो वह आप्त है—प्रकृतवाक्यार्थविषयकयथार्थशाब्दबोधविषयकतात्पर्यवान्। आप्त और यथार्थ की ये परिभाषायें इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इनमें वक्ता पर इतना बल नहीं दिया गया जितना बल शब्द के पदार्थ के साथ तालमेल पर दिया गया है। आप्त की परिभाषा देने के बाद अन्नम्भट्ट ने वाक्य को शब्दसमूह के रूप में परिभाषित किया है और शब्द उसे कहा है कि जिममें अर्थ बतलाने की शक्ति हो।

ये दोनों परिभाषायें महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि यहां नैनायिकों में और मीमांसकों में मतभेद है। नैयायिकों का मत है—पदानामन्वय एव शक्तिः। जबकि मीमांसको का मत है—;पदानामन्वयविशिष्टे शक्तिः। मीमांसको का सिद्धान्त और वैयाकरणों का सिद्धान्त एक ही है। दोनों के अनुसार वाक्य में क्रिया प्रधान होती है। क्रिया ही शब्दों के परस्पर सम्बद्ध होने के कारण होती है। यदि कोई केवल देवदत्तः ग्रामम् कहे, तो ये शब्द परस्पर सम्बद्ध नहीं होते। किन्तु गच्छति कहते ही इनमें परस्पर सम्बन्ध जुड़ जाता है। अर्थात् देवदत्त का ग्राम के प्रति गमन। यहां गमन की क्रिया विशेष्य है। देवदत्त और ग्राम उसके विशेषण हैं। गच्छति का अर्थ है गमन। देवदत्त कहने से वह क्रिया एक विशेष व्यक्ति की है, यह सीमा बन जाती है। ग्राम कहने से वह क्रिया एक विशेष स्थान के प्रति है, यह सीमा बन जाती है। वाक्य का पूरा अर्थ होता है—देवदत्तकर्तक—ग्रामकर्मक—गमनक्रिया। स्पष्ट है कि यहां विशेष्य क्रिया ही है। वाक्य के सब शब्द अन्योन्याश्रित होते हैं। किन्तु वे तब तक कोई अर्थ नहीं देते, जब तक क्रिया न आये। 'घटं' का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु जब हम उसके साथ 'आनय' लगा देते हैं, तो घटम् का अर्थ

आनयनक्रियानिरूपितकर्मव्यक्ति हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द क्रिया के साथ जुड़ कर ही कुछ अर्थ देता है। अन्नम्भट्ट ने दीपिका के अन्त में इसे ही इतरा (क्रिया) न्विते शक्तिरिति प्राभाकराः कहकर स्पष्ट किया है। दीपिकाकार ने यह भी बतलाया है कि नैयायिक इस प्रकार वाक्य में जुड़ने से पहले शब्दों के अर्थ जानने की कोई आवश्यकता नहीं मानते। इस प्रकार नैयायिकों के मत में शक्ति अन्वय में होती है, अन्वित पदों में नहीं। जब वे पद जो आकांक्षा, संनिधि और योग्यता से रहित होते हैं वाक्य में अन्वित होते हैं तभी वे शाब्दबोध कराते हैं। वाक्य शक्त पदों का समूह है। और ये यदि ऐसे शक्त पद एकसाथ हों तो क्रियावाचक शब्द के न होने पर भी अर्थबोध होता है। उदाहरणतः काच्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः। यहां क्रिया नहीं है किन्तु अर्थ का बोध हो रहा है। इसी प्रकार त्रय, कालाः कहने पर भी बिना क्रिया के ही अर्थ का बोध हो जाता है। वस्तुतः यहां 'सन्ति' या 'ज्ञायन्ते' क्रिया लगाई ही नहीं जा सकती। क्योंकि 'सन्ति' भूत और भविष्य के बारे में कहा ही नहीं जा सकता और मनुष्य तीनों कालों को जान भी नहीं सकते। अतः त्रयः कालाः में कोई क्रियान्वय नहीं होता। मीमांसक और वैयाकरणों के अनुसार चैत्रस्तण्डुलं पचति का अर्थ होगा—चैत्रकर्तक—तण्डुलकर्मक पाकक्रिया। अर्थात् क्रिया विशेष्य होगी शेष विशेषण होगा। किन्तु ऊपर जैसे उदाहरणों में क्रिया न होने से ऐसा नहीं हो सकता। वहां वाक्य प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक होगा अर्थात् ऊपर के वाक्य का अर्थ होगा—चैत्रनिष्ठकृतिजन्यपाकजन्यफलशाली तण्डुलः। इसका फल यह होता है कि मीमांसक केवल क्रियाबोधक वाक्य ही वाक्य मानते हैं जबकि सिद्धार्थबोधक वाक्य को वे अर्थवाद कहते हैं, जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और जो क्रियाबोधक वाक्य का अंग होकर ही सार्थक होता है। नैयायिक दोनों प्रकार के वाक्यों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। अतः परिभाषा में वाक्य को पदसमूह कहा है जिसकी वाक्यविवत्ति में इस प्रकार व्याख्या की है—पदसमूहादेव शाब्दबोधो नैकस्मादिति भावः। अर्थात् केवल क्रियाबोधक पद ही शाब्दबोध नहीं कराते प्रत्युत् सभी पद शाब्दबोध कराते हैं।

वाक्य में कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों रहते हैं। क्रिया कर्तनिष्ठ होती है और कर्त्ता और कर्म में सम्बन्ध बतलाती हैं। उदाहरणः देवदत्त गच्छति से गमनशील देवदत्त का बोध होता है।

पद का लक्षण दिया है शक्ति। किन्तु शक्ति का अर्थ है वह ईश्वरेच्छा जिसके अनुसार एक शब्दविशेष का एक अर्थविशेष होता है। इसके अनुसार भाषा का उद्भव ईश्वर से हुआ। यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। नव्यनैयायिक इच्छामात्र को शक्ति कहते हैं। अर्थात् किसी शब्द में मनुष्य की इच्छा से ही शक्ति उत्पन्न हो सकती है। प्राचीन नैयायिक भी इस प्रकार के शब्दों को मानते हैं किन्तु वे इन्हें पारिभाषिक या रूढ़ शब्द कहते हैं। वास्तविक अर्थों में तो वे ही पद शक्त हैं जिनका अर्थ ईश्वरेच्छा से निर्धारित हुआ है। किन्तु वस्तुतः पारिभाषिक या इतर शब्दों में कोई मौलिक भेद तो है नहीं। जिस प्रकार घट से घट का बोध होता है उसी प्रकार देवदत्त भी एक व्यक्ति का बोध कराता है। अतः बाद के लेखों ने पारिभाषिक शब्दों को भी ईश्वर संकेत से ही शाब्दबोध कराने वाला मान लिया है। तर्कप्रकाश का कहना है कि वेद १२वें दिन नामकरण संस्कार का आदेश देता है और पिता उस श्रुति प्रमाण से बालक का नामकरण करता है। अतः यह भी ईश्वरेच्छा का ही फल है। किन्तु यह कुशकाशावलम्बन हुआ। अर्थात् एक निर्बल बात का समर्थन करने के लिये दूसरे निर्बल तर्क का सहारा लेना हुआ। मनुष्य तो नये—नये पदार्थों के लिए नए—नए शब्द घड़ता ही रहता है। अतः सभी शब्द ईश्वरेच्छा द्वारा शाब्दबोध कराते हैं, यही नहीं कहा जा सकता। अतः अन्नम्भट्ट ने दीपिका में शक्ति का लक्षण अर्थस्मत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः माना है। इसका अर्थ है कि शक्ति, पद और पदाथों में वह सम्बन्ध है जोकि उस शब्द का उच्चारण करने पर हमें उस पदार्थ का बोध करा देती है।

इस प्रकार पद शक्त को कहा जाता है। किन्तु पद में केवल शक्ति ही नहीं होती, लक्षणा भी होती है। लक्षणा और अभिधा के साथ जो शब्द का सम्बन्ध है वह वत्ति कहलाता है। अभिधा शब्द के साथ सदा लगा रहने वाला अर्थ है; लक्षणा अभिधा पर निर्भर करने वाला शब्द के प्रासंगिक प्रयोग से प्राप्त होने वाला अर्थ है। अतः जब हम पद को शक्त कहते हैं तो लाक्षणिक पदों में अव्याप्ति नहीं होती क्योंकि लाक्षणिक पद भी शक्त तो होते ही हैं। अभिधा भी तीन प्रकार से शब्दों के अर्थ को बताती है। पाचक जैसे शब्द यौगिक हैं और ये अपना अर्थ प्रत्यय द्वारा बतला देते हैं। घट जैसे शब्द रूढ़ हैं क्योंकि इनकी वस्तुएं या तो हमें ज्ञात नहीं हैं और यदि ज्ञात हैं भी तो उस ओर हमारा कोई ध्यान नहीं जाता। पंकज जैसे शब्द जिनका धात्वर्थ स्पष्ट है किन्तु जो अपने सम्पूर्ण यौगिक अर्थ को बतलाते नहीं हैं, योगरूढ़ कहलाते हैं। पंकज का शब्दार्थ तो कीचड़ में उत्पन्न होने वाला है किन्तु यह शब्द केवल कमल का ही बोध कराता है। मछली इत्यादि का नहीं। कुछ लोग यौगिक रूढ़ नाम से चौथे प्रकार को भी मानते हैं, जहां यह विकल्प रहता है कि चाहे हम उस शब्द का अर्थ रूढ़ि से लें चाहे योग से जैसै उद्भिज्ज।

दूसरी वत्ति लक्षणा है जिसका अर्थ है—स्वशक्य सम्बन्ध अर्थात् अपने श क्य अर्थ से सम्बद्ध। जब मुख्यार्थ में बाधा होती

है तब इसका प्रयोग होता है। उदाहरणतः गंगायां घोषः। गंगा का अर्थ जल की धारा है और उस पर तो घोष हो नहीं सकता। अतः गंगा का अर्थ धारा से जुड़ा हुआ गंगा का तट है। अन्नम्भट्ट शक्ति के सम्बन्ध मं प्राचीनन्याय का अनुसरण करते हैं और लक्षणा के सम्बन्ध में प्राचीनन्याय का। प्राचीनन्याय के अनुसार लक्षणा के लिए अन्वय की अनुपपत्ति होना आवश्यक हैं किन्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां' अर्थात् कौओं से ही दही की रक्षा नहीं चाहता, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि से भी चाहता है। अतः दीपिका में अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का कारण न मानकर तात्पर्य की अनुपपत्ति को लक्षणा कारण माना है। नव्यनैयायिक लक्षणा के तीन भाग करते हैं–जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था तथा जहदजहत्स्वार्था। जहल्लक्षणा में मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया जाता है जैसे–मंचाः क्रोशन्ति में मंच अपना अर्थ बिल्कुल नहीं देता, प्रत्युत मंच पर बैठा हुआ व्यक्ति अर्थ होता है। अजहत्स्वार्था में मुख्यार्थ नहीं छूटता जैसे ऊपर जो उदाहरण हमने दिया है वहां केवल कौओं से ही दही की रक्षा तो अभिप्रेत नहीं है, किन्तु बिल्ली आदि से भी दही की रक्षा अवश्य अभिप्रेत है। जहदजहत्स्वार्था का उदाहरण है–सोयं देवदत्तः अथवा तत्त्वमसि। यहां अंशतः मुख्यार्थ बना रहता है और अंशतः छूट भी जाता है। सोयं देवदत्तः में सः का अर्थ है–तात्कालिक देवदत्त और अयं का अर्थ है एतत्कालिक देवदत्त। दोनों को एक बतलाने के लिए तत्कालिक और एतत्कालिक विशेषण तो छूट जायेंगे पर देवदत्त विशेष्य बना रहेगा। इसी प्रकार तत्त्वमसि में तत् का अर्थ है–निर्गुणब्रह्म और त्वम् का अर्थ सगुण जीव। यहाँ निर्गुण और सगुण की विशेषता छोड़ दी जाती है और तब दोनों में तादात्म्य स्थापित होता है।

६०. आकाङ्क्षा योग्यता संनिधिश्च वाक्यार्थज्ञानहेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चारणं संनिधिः।।

वाक्य के अर्थ को जानने में आकांक्षा, योग्यता और संनिधि (ये तीन) कारण हैं। एक पद का दूसरे अर्थ के बिना प्रयुक्त होने पर शाब्दबोध करवाने की असमर्थता आकांक्षा है। अर्थ में बाधा का अभाव योग्यता है। पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण संनिधि है।

(तत्त्व दीपिका) – आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षादिज्ञानमित्यर्थः। अन्यथाकाङ्क्षादि–भ्रमाच्छाब्दभ्रमो न स्यात्। आकाङ्क्षा लक्षयति–पदस्येति।। योग्यतालक्षणमाह–अर्थेति।। संनिधिलक्षणमाह–पदानामिति। अविलम्बेन पदार्थोपस्थितिः संनिधिः उच्चारणं तु तदुपयोगितया युक्तम्।।

विशेष :- वाक्य शब्दों का समूह है किन्तु 'घटः पटः गौ भित्तिः' जैसे शब्दों के समूह से वाक्य नही बनता। वाक्य बनने के लिए उन शब्दों में आकांक्षा, योग्यता और संनिधि तीनों होनी चाहिएं।

आकांक्षा का अर्थ है–अभिधानापर्यवसानम् अर्थात् किसी शब्द के न आने से किसी शब्द का पूर्ण अर्थ न दे पाना। अन्नम्भट्ट कहता है कि पद पूरा अर्थ नहीं दे सकता जब तक कि उसके साथ दूसरा पद न हो। उदाहरणतः 'घट' कहने से आकांक्षा बनी रहती है। उस आकांक्षा की पूर्ति 'आनय' कहने पर होती है। अन्य पद को जानने की यह इच्छा ही आकांक्षा है। घटमानय में चार अर्थ निहित है–घट जिसका अर्थ है घड़ा, अम्प्रत्यय जिसका अर्थ है कर्मत्व, आनी–जिसका अर्थ है लाना और मध्यमपुरुष एकवचन लोट् लकार जिसका अर्थ है–आदंश। इन चारों में से यदि एक भी अनुपस्थित हो तो अर्थ पूर्ण नहीं होता। किन्तु यही भाव घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः कहकर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि घटमानय मे ंजो जो अर्थ है वह इसमें नहीं है।

योग्यता का अर्थ है पदाथो र्ं में अविरोध। हम कह सकते हैं कि वह्निना सिचति यहां आकांक्षा तो है किन्तु योग्यता नहीं। क्योंकि वह्नि और सिंचन का परस्पर विरोध है।

संनिधि का अर्थ है दो या दो से अधिक पदों का बिना अन्तराल कहना। वाक्यार्थ अनेक पदों के समूह से बनता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जब तक हम दूसरे पद को सुनें तब तक पहले पद के अर्थ का संस्कार समाप्त नहीं हो जाना चाहिये। किन्तु यदि लम्बा अन्तराल हो जाए, तो पहला संस्कार समाप्त हो जायेगा और इस प्रकार अर्थ अधूरा बना रहेगा। दीपिका का कहना है कि संनिधि के अर्थ शब्दों में निरन्तर बोध है। उसके लिए वास्तविक रूप में शब्द का उच्चारण आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः मुद्रित पुस्तक में बिना उच्चारण भी हम वाक्य का अर्थ समझ ही लेते हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है कि वाक्य का पूरा अर्थ समझनें के लिए आकांक्षा, योग्यता और संनिधि का होना आवश्यक है। अपने आप में वे आवश्यक नहीं हैं; हमें उसका ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी वाक्य में गलती से ये तीनों मान ले तो वह उस वाक्य का अर्थ समझ ही जायेगा। किन्तु इसके विपरीत यदि किसी वाक्य में ये तीनों हों भी, किन्तु श्रोता उन्हें समझ न पाए, तो वह उस वाक्य का अर्थ नहीं समझ पाएगा।

६१. आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम् आकाङ्क्षाविरहात्। अग्निना सिचेत्' इति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेसहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादिपदानि न प्रमाणम्, सांनिध्याभावात्।।,

आकांक्षा आदि से रहित, वाक्य अप्रमाण है जो 'गौ अश्व पुरुष हाथी' यह प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसमें आकांक्षा नहीं है। 'आग से सींचे' यह भी प्रमाण नहीं है क्योंकि इसमें योग्यता नहीं है। एक–एक प्रहर के बाद 'गौ' 'लाओ' इत्यादि पद भी प्रमाण नहीं हैं क्योंकि इनमें सानिध्य नहीं है।

(तत्त्व दीपिका) – गौरश्व इति। 'घटः कर्मत्वम्' इत्यनाकाङ्क्षोदाहरणं द्रष्टव्यम्।।

६२. वाक्यं द्विविधम्-वैदिकं लौकिकं च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्।।

वाक्य दो प्रकार का है—वैदिक और लौकिक। वैदिक ईश्वरोक्त होने से सभी प्रमाण हैं। लौकिक तो आप्त व्यक्ति का प्रमाण है शेष अप्रमाण।

(तत्त्व दीपिका) – वाक्यं विभजते—वाक्यमिति। वैदिकस्य विशेषमाह—वैदिकमीश्वरोक्तत्वादिति। ननु वेदस्यानादित्वात्कथमीश्वरोक्तत्वमिति चेत्—न; 'वेदः पौरुषेयो वाक्यसमूहत्वाद्भारतादिवत्' इत्यनुमानेन पौरुषेयत्वासिद्धेः। न च स्मर्यमाणकर्तत्वमुपाधिः। गौतमादिभिः शिष्यपरम्परया वैदेपि कर्तस्मरणेन साधनव्यापकत्वात्। "तस्मात्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त" इति श्रुतेश्च।।

ननु वर्णा नित्याः, 'स एवायं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञाबलात्। तथा च कथं वेदस्यानित्यत्वम् ?' इति चेत्—न; 'उत्पन्नो गकार, नष्टो गकारः' इति प्रतीत्या वर्णानामनित्यत्वात् 'सोयं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञायाः 'सेयं दीपज्वाला' इतिवत्साजात्यावलम्बनत्वात्, वर्णानां नित्यत्वेप्यानुपूर्वीविशिष्टवाक्यस्यानित्यवाच्च। तस्मादीश्वरोक्तो वेदः।। मन्वादिस्मतीनामाचाराणां च वेदमूलकतया प्रामाण्यम्। स्मतिमूलवाक्यानामिदानीमनध्ययनात्तन्मूलभूताकाचिच्छाखोच्छिनेति कल्प्यते। ननु पठ्यमानवेदवाक्योत्सादस्य कल्पयितुमशक्तया विप्रकीर्णवादस्यायुक्तत्वान्नित्यानुमेयो वेदो मूलमिति चेत्, न; तथापि वर्णानुपूर्वीज्ञाताभावेन बोधकत्वासंभवात्।।

विशेष :- वाक्य दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक वाक्य भी चार प्रकार के हैं—श्रुति, स्मति, इतिहास और पुराण। जिनमें से पूर्वपूर्वतर अधिक प्रामाणिक हैं। जो परिभाषा तर्कसंग्रह में दी गई है वह केवल वेद पर ही लागू होगी। क्योंकि स्मति, इतिहास और पुराण तो मनुष्यकृत है। श्रुति का अर्थ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं। जब श्रुति मौन हो या श्रुति में विरोध हो तो स्मति प्रमाण होती है। इतिहास और पुराण तभी प्रमाण होते हैं जब न श्रुतिप्रमाण मिले, न स्मतिप्रमाण।

यहां जों वैदिक वाक्यों को प्रामाणिक कहा है वह यह मानकर कि आप्त वाक्य की सभी शर्तें वेद में पूरी होती हैं।

यहां दीपिका में मीमांसक और नैयायिकों के पारस्परिक शास्त्रार्थ का उल्लेख है। पहला विवाद का विषय यह है कि वेद नित्य है या ईश्वर के बनाये हुए। मीमांसक और नैयायिक दोनों ही वेदों को अपौरुषेय तो मानते हैं किन्तु अपौरुषेय का अर्थ क्या है ? मीमांसकों का कहना है कि अपौरुषेय का अर्थ है नित्य। प्रथम तो वेदों का कोई कर्त्ता बतलाया ही नहीं जाता। ऋषि तो मन्त्रद्रष्टा है, कर्त्ता नहीं। दूसरे स्वयं वेद में ही वेदवाणी को नित्य कहा है—'वाचा निरूपनित्यया' 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदग्वेदो यजुर्वेदः। नैयायिक इन युक्तियों का खण्डन यह कह कर करते है। कि वेदों में वेदों के सजन का उल्लेख है—'इदं सर्वमसजत ऋचोयजूंषि सामानि'। किन्तु इससे भी बढ़कर वे यह अनुमान करते हैं—वेदवाक्यरचना वक्तयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात्, अस्मदादिवाक्यरचनावत्। किन्तु मीमांसकों का कहना है कि इस अनुमान में स्मर्यमाणकर्तकत्व की उपाधि है अर्थात् यह हेतु सोपाधिक है। उपर्युक्त अनुमान वहीं लागू जहां हमें लेखक का ज्ञान हो। नैयायिकों का कहना है कि वेदों के ऋषि इत्यादि हमें परम्परा से ज्ञात ही हैं। इसके अतिरिक्त यदि वेद नित्य होते तो उनके वर्णों में आनुपूर्वी न होती और उसके बिना न आकांक्षा होती न शाब्दबोध। अतः उनका कर्ता अवश्य होना चाहिए। वेदान्तियों का कहना है कि वेद सर्ग के आदि में उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में विनष्ट। मध्य में उसकी उत्पत्ति या नाश नहीं होता। यही बात श्रुति के इस वाक्य में कही गई है—धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

वेद नित्य हैं इस प्रश्न का एक पक्ष यह भी है कि शब्द नित्य है या नहीं। आकाश नित्य है, अतः उसका गुण शब्द भी नित्य होना चाहिए। भेरी और दण्ड का संयोग तो केवल उस शब्द को प्रकट करने में निमित्त बनता है। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। उसका अनुमान इस प्रकार है—शब्दोनित्य। सामान्यवत्त्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयत्वात्

लौकिकप्रत्यक्षविशेषत्वाद्वा घटवत्। गौतम ने शब्द के अनित्य होने के तीन कारण माने हैं–पहला, इसका प्रारम्भ होता है, दूसरा ये इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है, तीसरा इससे कार्य की विशेषताएं पाई जाती हैं। हम एक शब्द को पहचान जाते हैं, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह शब्द नित्य है क्योंकि एक दीपशिखा को अनित्य होने पर भी सादश्य के आधार पर हम पहचान लेते हैं।

६३. वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं शब्दः।।

वाक्य के अर्थ का ज्ञान ही शाब्दज्ञान है। उसका कारण शब्द है।

(तत्त्व दीपिका) – ननु 'एतानि पदानि स्वस्मारितार्थसंसर्गवन्ति आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वात्, सद्वाक्यवत्' इत्यनुमानादेव संसर्गज्ञानसंभवाच्छब्दो न प्रमाणान्तरमिति चेत्,–न; अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणस्य 'शब्दात् प्रत्येमि' इत्यनुव्यवसायसाक्षिकस्य सर्वसंमतत्वात्।।

नन्वर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरमस्ति, "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दष्टे श्रुते वा पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनमर्थाप त्त्या कल्प्यत इति चेत्, –न; 'देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाभुजानत्वे सति पीनत्वात्' इत्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य सिद्धत्वात्। 'शते पचाशत्' इति संभवोप्यनुमानमेव। 'इह वटे यक्षस्तिष्ठति' इत्यैतिह्यमज्ञातमूलवक्तकः शब्द एव। चेष्टापि शब्दानुमानद्वारा व्यवहारहेतुरिति न मानान्तरम्। तस्मात्प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाश्चत्वार्येव प्रमाणानि।।

सर्वेषां ज्ञानानां तद्वति तत्प्रकारकत्वं स्वतो ग्राह्यं परतो वेति विचार्यते। तत्र विप्रतिपत्तिः। ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं न वा ?। अत्र विधिकोटिः स्वतस्त्वम्, निषेधकोटिः परतस्त्वम्।। अनुमानग्राह्यत्वेन सिद्धसाधनतावारणाय यावदिति। 'इदं ज्ञानमप्रमा' इति ज्ञानेन प्रामाण्यग्रहाद्बाध वारणाय–अप्रामाण्याग्राहकेति। 'इदं ज्ञानमप्रभा' इत्यनुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्याग्राहकस्याप्रामाण्यग्राहकत्वाभावात्स्वतस्त्वं न स्यादतस्तदिति। तस्मिन्प्रामाण्याश्रयेप्रामाण्यग्राहक इत्यर्थः। उदाहृतस्थले व्यवसायेप्रामाण्यग्राहकस्याप्यनुव्यवसाये तदग्राहकत्वात्स्वतस्त्वसिद्धिः।। ननु स्वत एव प्रामाण्यं गह्यते, 'घटमहं जानामि' इत्यनुव्यवसायेन घटघटत्वयोरिव तत्संबन्धस्यापि विषयीकरणात्, व्यवसायरूपप्रत्यास त्तेस्तुल्यत्वात्, पुरोवर्तिनी प्रकारसंबन्धस्यैव प्रमात्वपदार्थत्वादिति चेत्,–न; स्वतःप्रामाण्यग्रहे 'जलज्ञानं प्रमा न वा ?' इत्यनभ्यासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात्; अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात्। तस्मात्स्वतोग्राह्यत्वा– भावात्परतो ग्राह्यत्वम्। तथा हि–प्रथमं जलज्ञानानन्तरं प्रवत्तौ सत्यां जललाभे सति पूर्वोत्पन्नं 'जलज्ञनं प्रमा, समर्थप्रवत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा प्रमा' इति व्यतिरेकिणा प्रमात्वं निश्चीयते। द्वितीयादिज्ञानेषु पूर्वज्ञानदष्टान्तेन तत्सजातीयत्वलिङ्गेनान्वयव्यतिरे– किणापि गह्यते।।

प्रमाया गुणजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम्। प्रमासाधारणकारणं गुणः। अप्रमासाधारणकारणं दोषः। तत्र प्रत्यक्षे विशेषणव–द्विशेष्यसंनिकर्षो गुणः, अनुमितौ व्यापकवति व्याप्यज्ञानम्, उपमितौ यथार्थसादश्यज्ञानं, शाब्दज्ञाने य थार्थयोग्यताज्ञानम् इत्याद्यूहनीयम्। पुरोवर्तिनि प्रकाराभावस्य व्यवसायेनानुपस्थितत्वादप्रमात्वं परत एव गह्यते। पित्तादिदोषजन्यत्वादुत्पत्तौ परतस्त्वम्।।

ननु सर्वज्ञानानां यथार्थत्वादयथार्थज्ञानमेव नास्ति। न च 'शुक्ताविदं रजतम्' इति ज्ञानात्प्रवत्तिदर्शनादन्यथाख्यातिसिद्धिरिति वाच्यम्। रजतस्मतिपुरावर्तिज्ञानाभ्यामेव प्रवत्तिसंभवात्, उपस्थितेष्टभेदाग्रहस्यैव सर्वत्र प्रवर्तकत्वेन 'नेदं रजतम्' इत्यादावतिप्रसङ्गाभावादिति। चेत्, न; सत्यरजतस्थले पुरोवर्तिविशेष्यकरजतत्वप्रकारकज्ञानस्य लाघवेन प्रवत्तिजनकतया शुक्तावपि रजतार्थिप्रवृत्तिजनकत्वेन विशिष्टज्ञानस्यैव कल्पनात्।।

विशेष :- शाब्दबोध चौथे प्रकार का ज्ञान है। इस ज्ञान का असाधारण कारण है–शब्द। नव्यनैयायिकों का कहना है कि शाब्दबोध का करण पद नहीं, प्रत्युत पद–ज्ञान है। विश्वनाथ का भी यही मत है–

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फल तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।।

यदि शब्द को शब्दबोध का कारण मानें तो मूक व्यक्ति द्वारा शाब्दबोध नहीं होगा अतः शब्द नहीं, शब्द का ज्ञान ही शाब्दबोध का कारण है। इस विवाद का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यद्यपि इससे इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत होता है कि प्रारम्भ में ज्ञान मौखिक परम्परा से चलता था अतः शब्द का महत्त्व था, जब लेखन परम्परा चली तो शब्द ज्ञान का महत्त्व हो गया। अन्नभट्ट के अनुसार शब्द करण है और शब्द से यहाँ वाक्य अभिप्रेत है।

दीपिका में कहा गया है कि वैशेषिक शब्दप्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत ही मानते हैं, पथक् नहीं मानते। शब्द और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध है, वह इस अनुमान से जाना जा सकता है–एते पदार्थाः परस्परसंसर्गवन्तः।

आकांक्षायोग्यतासत्तिमत्पदस्मारितत्वात् दण्डेन गामानयेतिपदस्मारितपदार्थवत्। अर्थात् इस अनुमान में पद या पदार्थ पक्ष है। इस अनुमान से शाब्दबोध नहीं हो सकता है क्योंकि शब्द द्वारा जो ज्ञान होता है वह अनुमान द्वारा होने वाले ज्ञान से भिन्न है। शाब्दबोध से जो ज्ञान होता है कि 'मैं शब्दों द्वारा जानता हूँ' वह 'मैं अनुमान करता हूं' इस बोध से भिन्न है। किन्तु इस तर्क से वैशेषिकों का उतना सबल खण्डन नहीं होता। कुसुमांजलि में उदयन ने इसका अधिक प्रबल खंडन इस प्रकार किया है—उसका कहना है कि इस अनुमान का निर्णय या तो निश्चित है या एक संभावना है। यदि वह निश्चित है तो यहां अनेकांतिक हेत्वाभास है, क्यांकि निश्चित निर्णय का अनुमान नहीं होता और यदि वह केवल संभव है तो साध्य सिद्ध नहीं होता और शाब्दबोध नहीं हो सकता। अतः शाब्दबोध को पथक् प्रमाण मानना चाहिए।

यहां चार प्रमाणों का विवेचन समाप्त हो गया है, अतः दीपिका यहां इस विषय पर चर्चा करती है कि अनुमान आदि के अतिरिक्त क्या और प्रमाण भी है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को मानता है वैशेषिक, बौद्ध और जैन केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को, सांख्य, योग, धर्मशास्त्र ओर वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को, नैयायिक उपमान को भी मानते हैं, मीमांसक और वेदान्त का एक संप्रदाय अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी मानता है। पौराणिक संभव और ऐतिह्य को भी प्रमाण मानते हैं। तांत्रिक चेष्टा को भी प्रमाण मानते हैं। संभव, ऐतिह्य और चेष्टा शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाते हैं, अनुपलब्धि की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं, जहां कि हमनें यह देखा कि अनुपलब्धि अभाव का ज्ञान कराने में सहायक होती है।

अर्थापत्ति के सम्बन्ध में सबसे अधिक विवाद है। नैयायिक इसे अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं जबकि मीमांसक इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। अर्थापत्ति का उदाहरण है—पीनो देवदत्तो दिवा न भङ्क्तें (अर्थात् रात्रौ भुङ्क्ते) अर्थात् देवदत्त मोटा है और दिन में नहीं खाता। इसका अर्थ यह है कि वह रात को खाता है। अब मोटापन बिना खाए तो हो नहीं सकता। (नीलकण्ठ ने रोग या अलौकिक शक्ति को इसका अपवाद अवश्य माना है।) यहां यह देखना है कि प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार अर्थापत्ति दो प्रकार की है—दष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। जब हम सचमुच देवदत्त को दिन में न खाते हुए देखते हैं तो यह दष्ट अर्थापत्ति है, जब हम केवल ऐसा सुनते हैं तो यह श्रुत अर्थापत्ति है। नैयायिकों के अनुसार ये दोनों ही अनुमान में आ जाती है। अनुमान का प्रकार केवलव्यतिरेकी होता है—देवदत्तो रात्रिभोजनकर्त्ता, दिवाभुंजानत्वे सति पीनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा रात्रावभोजी यज्ञदत्तः। अतः अर्थापत्ति के सभी उदाहरण केवलव्यतिरेकी अनुमान में आ जाते हैं। नैयायिकों और मीमांसकों के बीच जो विवाद है उसका आधार लाघव है। मीमांसकों का कहना है कि केवलव्यतिरेकी अनुमान की आवश्यकता नहीं, अर्थापत्ति मानने से ही गुजारा चल जाता है। नैयायिकों का कहना है कि केवलव्यतिरेकी अनुमान मानने से अर्थापत्ति का अन्तर्भाव भी उसी में हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि लाघव किस में है ? यह मानना होगा कि एक अतिरिक्त प्रमाण मानने की अपेक्षा अनुमान का ही एक अन्य भेद मान लेने से लाघव है। किन्तु केवलव्यतिरेकी अनुमान भी मानने से बाधाएं हैं।

स्वतःप्रमाण और परतः प्रमाण

दीपिका में स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की चर्चा की गई है और यह चर्चा प्रमाणों के प्रसंग में बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब हम जानते हैं कि यह घट है तो यह कैसे निर्धारित किया जाये कि हमारा यह ज्ञान प्रमा है या नहीं। हमें वस्तुतः घट दिखाई पड़ता है। या घट का भ्रम ही होता है यह निश्चय करना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना प्रवत्त्यादि नहीं हो सकती। यही चर्चा स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की चर्चा है।

सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानते हैं। नैयायिक दोनों को परतः, बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः, प्रामाण्य को परतः, मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः।

प्रामाण्य के स्वतः होने का अर्थ है—तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। यहां तीन शर्तें हैं—पहली शर्त है कि सत्य का ज्ञान उसी कारण से होता है जिस कारण से ज्ञान होता है। दूसरी शर्त है कि कारण में, ज्ञान की उत्पत्ति में जो भी साधन है, सभी शामिल हैं और तीसरी शर्त है कि उसमें कोई भी ऐसी चीज शामिल नहीं है, जो ज्ञान की सत्यता में बाधक बने। अन्तिम दो शर्तों की आवश्यकता दीपिका ने बतलाई है। इस लक्षण में समस्त कारण सामग्री ली गई है ताकि इसमें वह अनुमान भी जा सके जो उसका प्रामाण्य सिद्ध कर सके चाहे हम उसे आप्त वाक्य से पहले भी क्यों न जान चुके हों और यह इदं ज्ञानमप्रमा के ज्ञान का भी बहिष्कार करता है जो कि प्रामाण्य के जानने में बाधक हो सकता है। हां, यह आवश्यक है कि यह बाधक ज्ञान के सम्बन्ध में ही हो, अनुव्यवसाय के सम्बन्ध में नहीं। इसके अतिरिक्त नैयायिक स्वयं भी अंशंतः स्वतः प्रामाण्य को मान ही लेते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं यह घट घटत्व और उनका सम्बन्ध अनुव्यवसाय द्वारा जाना जाता है। अतः वे उनकी प्रामाणिकता को भी उसी अनुव्यवसाय द्वारा जान लेंगे। किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। नैयायिकों का कहना है कि स्वतः प्रामाण्य मानने पर संदेह का कोई स्थान ही न रह जायेगा। यदि प्रामाण्य स्वतः ही जान लिया गया तो फिर सन्देह का

अवकाश नहीं है। अतः प्रामाण्य तो केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा जाना जाता है। पहले हम जल देखते हैं, तब हममें इच्छा होती है और तब प्रवत्ति। यदि प्रवत्ति सफल हो जाए, तो हमारा ज्ञान प्रामाणिक होता है। अतः ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार प्रवत्ति की सफलता है। इसी प्रकार शाब्द ज्ञान भी यथार्थ होने पर ही प्रामाणिक होता है।

परतः प्रामाण्यवादियों का कथन है कि प्रमा गुणजन्य है। अप्रमा किसी दष्टिदोष आदि दोषविशेष से उत्पन्न होती है। स्वतः प्रामाण्यवादियों के अनुसार प्रमा के लिये गुणविशेष की आवश्यकता नहीं केवल दोषाभाव ही प्रमा को उत्पन्न करता है। स्वतः प्रामाण्यवादी का कहना है कि यदि एक प्रमा के लिये प्रामाणन्तर आवश्यक हो तो फिर उस प्रमाण के लिए दूसरा प्रमाण चाहिये और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।

६४. अयथार्थानुभस्त्रिविधः-संशय-विपर्यय-तर्कभेदात्। एकिस्मन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्ताविदं रजतमिति। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोपि न स्यादिति।।

अयथार्थ अनुभव तीन प्रकार का है–संशय, विपर्यय और तर्क। एक धर्मी का परस्पर विरुद्ध नाना धर्मों से विशिष्ट होने का ज्ञान संशय है। जैसे 'यह स्थाणु है या पुरुष'। मिथ्या ज्ञान विपर्यय कहलाता है जैसे सीप में 'यह चाँदी है' यह ज्ञान। व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। जैसे यदि वह्नि न होती तो धूम न होता।

(तत्त्व दीपिका) – अयथार्थानुभवं विभजते–अयथार्थेति। स्वप्नस्य मानस–विपर्यरूपत्वान्न त्रैविध्यविरोधः।। संशयलक्षणमाह–एकस्मिन्निति। 'घटपटौ' इति समूहालम्बनेतिव्याप्तिवारणाय–एकेति। 'घटो द्रव्यम्' इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय–विरुद्धेति। 'पटत्वविरुद्धघटत्ववान्' इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय नानेति।। विपर्ययलक्षणमाह–मिथ्येति। तदभाववति तत्प्रकारकनिश्चय इत्यर्थः।। तर्कं लक्षयति–व्याप्येति। यद्यपि तर्को विपर्ययेन्येन्तर्भवति तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वाद् भेदेन कीर्तनम्।।

विशेष :- अप्रमा तीन प्रकार की है–संशय, विपर्यय और तर्क। कुछ लोग तर्क को विपर्यय में ही मानते हैं क्योंकि यद्यपि तर्क में जान–बूझकर पदार्थों का अयथार्थ वर्णन रहता है किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि अथार्थता तो दोनों दशाओं में रहती ही है। किन्तु अन्नम्भट्ट ने तर्क और विपर्यय को अलग–अलग ही गिनाया है क्यों कभी–कभी तर्क तो किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान में सहायक भी हो सकता है, जबकि विपर्यय के साथ यह बात नहीं है। स्वप्न का अन्तर्भाव मानसविपर्यय में ही हो जाता है।

संशय का लक्षण है एक धर्मी में नाना विरुद्ध धर्मों का ज्ञान। दीपिका का कहना है कि संशय के लिए तीन शर्तें हैं। प्रथम तो नाना धर्मों का ज्ञान होना चाहिए, दूसरे वे धर्म परस्पर विरुद्ध होने चााहिएं और तीसरे ये धर्म एक ही धर्मी में होने चाहिएं। किन्तु यहां 'विरुद्ध' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। हम किन धर्मों को परस्पर विरुद्ध कहेंगे। सामान्यतः जो दो धर्म एक धर्मी में एक साथ न दीखें, वे विरुद्ध हैं जैसे अश्वत्व और मनुष्यत्व एक ही पदार्थ में नहीं होते। किन्तु किसी किन्नर जैसे व्यक्ति में ये दोनों गुण एक साथ पाये भी जा सकते हैं क्योंकि उनका मुख अश्व के समान और शेष शरीर मनुष्यों के समान हो सकता है और यदि यह मान लें कि किन्नर जाति नहीं होती तब भी संशय का लक्षण उस जाति पर लागू होगा ही। किन्तु इसके उ त्तर में यह कहा जा सकता है कि ऐसी जाति सर्वथा काल्पनिक है और विरुद्ध धर्म एक व्यक्ति में नहीं रह सकता। अतः यह परिभाषा अधिक उत्तम है।–एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानम्। कोटि का अर्थ है विकल्प और विरुद्ध कोटि का अर्थ है उसका निषेध। 'उदाहरणतः शब्दो नित्यो न वा' यहाँ दो कोटियां हैं–नित्यत्व और अनित्यत्व। और ये दोनों कोटियां होने से ये द्विकोटिक संदेह है–अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा में चतुष्कोटिक संदेह है क्योंकि यहां चार संभावनाएं हैं–अयं स्थाणुः, अयं न स्थाणुः, अयं पुरुषः और अयं न पुरुषः।

विपर्यय मिथ्या ज्ञान है। तर्क किसी बात को सिद्ध करने के लिए उसके विपरीत ऐसी बात को मान लेना, जोकि स्वतः ही मिथ्या सिद्ध हो रही हो, कहलाता है। तर्कसंग्रह में तर्क का लक्षण स्पष्ट नहीं है। इस लक्षण का अर्थ है–व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप। किन्तु उसका उदाहरण ठीक नहीं है। वह्न्यभाव व्याप्त है और धूमाभाव व्यापक। अतः हम धूमाभाव से वह्न्यभाव का अनुमान करते हैं। उदाहरणतः यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोपि न स्यात् जिसका अर्थ है कि वह्न्यभाव से धूमाभाव अनुमित होता है। यही व्याप्यारोपेण व्यापकारोपणम् कहलाता है। पर अन्नम्भट्ट के अनुसार यही तर्क है। किन्तु वह्न्यभाव से धूमाभाव का अनुमान होता है यह कहना तो बिल्कुल ठीक है, और यह तर्क अप्रमा के अन्तर्गत कैसे आएगा ? वस्तुतः तर्क न तो किसी गलत कल्पना द्वारा गलत परिणाम निकाल लेना है और न किसी व्याप्ति के आधार पर कोई अनुमान निकालना है।

तर्क और विपर्यय में यह अन्तर है कि तर्क की असत्यता वक्ता को ज्ञात होती है विपर्यय की नहीं। प्राचीन नैयायिकों ने ग्यारह तर्क माने हैं जिनमें आधुनिक नैयायिक केवल पांच स्वीकार करते हैं—(१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय (३) चक्रक, (४) अनवस्था (५) प्रमाणबाधितार्थप्रसंग। जो उदाहरण वहां दिया है वह अन्तिम प्रकार का तर्क है। इनमें प्रथम चार सव्यभिचार और असिद्धहेत्वाभास के कारण होते हैं। तर्क और केवल्यतिरेकी अनुमान उन चीजों को सिद्ध करने में सहायक होते हैं जिन्हें विधिमुख से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

६५. स्मतिरपि द्विविधा-यथार्थायथार्था च। प्रमाजन्या यथार्था अप्रमाजन्यायथार्था।।

स्मति भी दो प्रकार की है—यथार्थ और अयथार्थ। प्रमा से उत्पन्न यथार्थ है। अप्रमा से उत्पन्न अयथार्थ।

(तत्त्व दीपिका) — स्मतिं विभजते—स्मतिरिति।।

विशेष :- स्मति की परिभाषा पहले ही दी जा चुकी है। प्रमा और अप्रमा का विवेचन करने के बाद स्मति का भी उसी प्रकार विभाजन किया गया है। किन्तु अनुभव तो यदि बाह्य पदार्थ से मेल खाए तो यथार्थ होता है अन्यथा अयथार्थ, जबकि स्मति की यथार्थता और अयथार्थता मूल अनुभव की यथार्थता और अयथार्थता पर निर्भर करती है। यथार्थानुभव से यथार्थ स्मति और अयथार्थानुभव से अयथार्थ स्मति होती है। इसका कारण यह है कि स्मति ज्ञान का सीधा साधन नहीं होती। स्मति प्रायः उस स्थान पर और समय पर भी नहीं होती जहां और जब हम उस पदार्थ को देखते हैं अतः प्रामाण्य का आधार प्रमिति है। जब हम जल देखते हैं तो उसे छू कर देख सकते हैं कि हमारा ज्ञान सत्य है या नहीं। किन्तु जब हम जल की स्मति करते हैं तो उसकी यथार्थता या अयथार्थता को नहीं जान सकते। इसलिए यहां उसकी यथार्थता दूसरी प्रकार से जाननी होती है। अनुमिति की यथार्थता परामर्श की यथार्थता आधत है। जबकि शाब्दबोध की यथार्थता वाक्य को यथार्थता पर आधत है। इसी प्रकार स्मति की यथार्थता अनुभव की यथार्थता पर आधत है।

६६. सवेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम्।।

जो सबको अनुकूल प्रतीत हो वह सुख है।

(तत्त्व दीपिका) — सुखं लक्षयति—सर्वेषामिति। 'सुख्यहम्' इत्याद्यनुव्यसायगम्यं सुखत्वादिकमैव लक्षणम्। यथाश्रुतं तु स्वरूपकथनमिति द्रष्टव्यम्।।

६७. सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्।।

जो सबको प्रतिकूल प्रतीत हो वह दुख है।

६८. इच्छा कामः। क्रोधो द्वेषः। कृतिः प्रयत्नः। विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः।।

काम इच्छा है। क्रोध द्वेष है। कृति प्रयत्न है। विहित कर्मों से उत्पन्न अदष्ट धर्म है। निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न अदष्ट अधर्म है।

विशेष :- सुख उसे कहा जाता है जो सबको अनुकूल प्रतीत हो। दुख वह है जो सब को प्रतिकूल प्रतीत हो। यह परस्पर एक दूसरे का अभाव नहीं है और साथ—साथ भी रह सकते हैं। नीलकंठ ने सुख—दुख की परिभाषा में कुछ परिवर्तन किया है—मूलं सुखादिलक्षणपरं न संभवति, परद्रव्योपभोगादिजन्यसुखे साधूनां द्वेषदर्शनादव्याप्तेरित्याशङ्कायां सुख्यहमित्यादिप्रत्यक्षप्रसिद्धं सुखत्वादिमेव लक्षणम्। सभी तरह से कुछ बाह्य पदार्थों को दुःखजनक कहना ठीक नहीं होगा। क्योंकि एक ही पदार्थ उसके लिए सुखकारक और कुछ के लिए दुःखजनक हो सकता है। अतः इस सम्बन्ध में व्यक्ति का अनुभव ही प्रमाण है। किन्तु यह प्रश्न आता है कि किस प्रकार का व्यक्तिगत अनुभव सुखकारक है और किस प्रकार का दुखजनक। अतः न्यायबोधिनी में सुख की परिभाषा यह दी है—इतरेच्छानधीनेच्छाविषयः। अर्थात् सुख स्वयं अपने लिए ही अभीष्ट होता है किसी अन्य पदार्थ की इच्छा के लिए नहीं। अभिप्राय यह है कि सुख स्वयं लक्ष्य है, किसी लक्ष्य का साधन नहीं। इसी प्रकार दुख भी स्वयं ही विद्वेष का कारण है, इसलिए नहीं कि यह किसी अन्य पदार्थ से विद्वेष कराता है। इच्छा और विद्वेष स्वतः स्पष्ट है।

६९. बुद्ध्यादयोष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः।।

बुद्धीच्छाप्रयत्ना द्विविधाः-नित्या अनित्याश्च। नित्याः ईश्वरस्य। अनित्या जीवस्य।

बुद्धि आदि आठ केवल आत्मा में रहने वाले विशेष गुण हैं।

बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न दो प्रकार के हैं—नित्य और अनित्य। नित्य ईश्वर के, अनित्य जीव के।

विशेष :- बुद्धि से लेकर अधर्म तक जो आठ गुण हैं वे आत्मा के विशेष गुण हैं, अर्थात् वे केवल आत्मा में ही रहते हैं। इन गुणों में परस्पर कारण—कार्य सम्बन्ध है और ये इसी क्रम में गिनाये भी गये हैं। इनमें से प्रत्येक अपने से पूर्ववर्ती का कार्य और परवर्ती का कारण है। समस्त आन्तरिक अनुभवों का बुद्धि मूल है। इनमें सुख और दुख वे हैं जो हमें अभीप्सित हैं या अनभीप्सित। सुख ओर दुख का भाव इच्छा और द्वेष उत्पन्न करते हैं। इच्छा और द्वेष प्रयत्न उत्पन्न करते हैं। अच्छे प्रयत्न से धर्म और बुरे प्रयत्न से क्रमशः अधर्म उत्पन्न होता है। धर्म और अधर्म संस्कार उत्पन्न करते हैं और यही संस्कार जन्म—मरण का कारण है।

इन आठ गुणो ंमें से बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा तथा द्वेष, प्रयत्न और अदष्ट आत्मा के विशेष गुण हैं। यहां 'मात्र' कहने का यह अभिप्राय है कि ये केवल आत्मा में ही रहते हैं। दीपिका में आगे चलकर विशेष गुण उसे बताया है जो एक समय में एक ही पदार्थ में रहे, दो या दो से अधिक में नहीं जैसे कि संख्या।

७०. संस्कारस्त्रिविधः-वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। वेगः पथिव्यादिचतुष्टयमनोवत्तिः अनुभवजन्या स्मतिहेतुर्भावनात्ममात्रवत्तिः। अन्यथा कृतस्य पुनस्तदवस्थापादकः स्थितिस्थापकः कटादिपथिवीवृत्तिः।।

संस्कार तीन प्रकार के हैं। वेग, भावना ओर स्थिति स्थापक। वेग पथ्वी आदि चार (पथ्वी, जल, तेज और वायु) और मन में रहता है। अनुभव से उत्पन्न और स्मरण के हेतु भावना केवल आत्मा में रहती है। दूसरी अवस्था में की हुई को फिर उसी अवस्था में ला देने वाला स्थितिस्थापक गुण कटादि पथ्वी में रहता है।

(तत्त्व दीपिका) — संस्कारं विभजते—संस्कार इति। संस्कारत्वजातिमान्संस्कारः। वेगस्याश्रयमाह—वेग इति। वेगत्वजातिमान्वेगः। भावनां लक्षयति—अनुभवेति। आत्मादावतिंव्याप्तिवारणाय—अनुभवेति। अनुभवध्वंसेतिव्याप्तिवारणाय—स्मतीति। स्मतेरपि संस्कारजनकत्वं नवीनैरुक्तम्।। स्थितिस्थापकं सामान्यगुणाः। अन्ये रूपादयो विशेषगुणाः। द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमाना—धिकरणावत्ति—द्रव्यकर्मावत्ति—जातिमत्त्वं विशेषगुणत्वम्।।

विशेष :- संस्कार का लक्षण देना कठिन है। वस्तुतः संस्कार के जो तीन भेद बतलाये हैं, वे परस्पर इतने भिन्न स्वभाव के हैं कि उनमें किसी समान गुण का छांट लेना कठिन है। दीपिका में इसलिए कोई शाब्दिक परिभाषा के अतिरिक्त परिभाषा नहीं दी गई। सिद्धान्तचन्द्रोदय में सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् अर्थात् जिस में संस्कारत्व हो, और जो गुणत्व जाति से दूसरे नम्बर पर हो और जो आत्मा के सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुणों में रहता हो, वह संस्कार है। गुण दो प्रकार के हैं—सामान्य ओर विशेष। किन्तु संस्कार दोनों गुणों में समान है क्योंकि वेग और स्थितिस्थापक सामान्य हैं जबकि भावना विशेष गुण है। तार्किक रक्षा में संस्कार की यह परिभाषा दी है—'यज्जातीयः समुत्पाद्यस्तज्जातीयस्य कारणम्। स्वयं यस्माद्विजातीयः संस्कार स गुणो भवेत्।' अर्थात् जिस गुण से वह कारण उत्पन्न होता हो, जो कि उसी जाति का हो जिस जाति का कार्य है, यद्यपि वह स्वयं विजातीय होता है, तो वह संस्कार होता है। इसका अर्थ है कि जब भी कोई गुण या कर्म उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न कर दे, तो वह संस्कार होता है जबकि किसी बाह्य सहायता के बिना आन्तरिक शक्ति से ही यह कार्य करता है।

संस्कार तीन प्रकार के हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। इनमें वेग मूर्त पदार्थों में भी रहता है क्योंकि वेग तब तक नहीं रह सकता जब तक कि गति न हो और गति सीमित पदार्थों की ही हो सकती है। भावना वह है जो अनुभव से उत्पन्न होती है और स्मति को जन्म देती है। स्थितिस्थापक वह शक्ति है जो पदार्थ को अपने पूर्व रूप में ले आती है। यह चटाई जैसे पदार्थों में पाई जाती है। इनमें भावना ही वस्तुतः संस्कार है। शेष दो, वेग और स्थितिस्थापक, साक्षात् संस्कार नहीं है। बैलेन्टाइन का विचार है कि इन तीनों संस्कारों में बाह्य कारण की अपेक्षा किये बिना स्वयं ही कार्य करने की क्षमता समान है।

७१. चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम्। शरीरसंनिकृष्टसंयोगहेतुराकुचनम्। विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्। पथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवत्ति।।

चलनात्मक कर्म है। ऊर्ध्व देश से संयोग का हेतु उत्क्षेपण है। अधोदेश से संयोग का हेतु अपक्षेपण है। शरीर के समीप संयोग का हेतु आकुंचन है (शरीर से) दूर संयोग का हेतु प्रसारण है। शेष सब गमन है। ये (कर्म) पथ्वी आदि (पथ्वी, जल, तेज, वायु) तथा मन में रहते हैं।

(तत्त्व दीपिका) – कर्मणो लक्षणमाह–चलनेति। उत्क्षेपणादीनां कार्यभेदमाह–ऊर्ध्वेति। शरीरेति। वक्रत्वसंपादकमाकुचनम्। ऋजुतासंपादकं प्रसारणमित्यर्थः।।

७२. नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवत्ति। तद् द्विविधम्-परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादि।।

नित्य एक (किन्तु) अनेकों में अनुगत सामान्य है। यह द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। पर सामान्य सत्ता है। अपर द्रव्यत्व आदि है।

(तत्त्व दीपिका) – सामान्यं लक्षयति–नित्यमिति। संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय नित्यमिति। परमाणुपरिमाणादावति–व्याप्तिवारणाय–अनेकेति। अनुगतत्वं समवेतत्वम्। घटात्यन्ताभावो घटाद्यनुगतोप्यसमवेत इति नाभावादावतिव्याप्तिः।।

७३. नित्यद्रव्यवत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।।

नित्य द्रव्य में रहने वाले व्यावर्त्तक विशेष हैं।

(तत्त्व दीपिका) – विशेषं लक्षयति–नित्येति।।

७४. नित्यसंबन्धः समवायः। अयुतसिद्धवत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्य एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यथावयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति।।

नित्य सम्बन्ध समवाय है। यह अयुत्तसिद्ध पदार्थों में रहता है। जिन दो के बीच जब एक जब तक नष्ट न हो, दूसरे पर ही आश्रित होकर रहे वे अयुतसिद्ध होते हैं। जैसे अवयव–अवयवी, गुण–गुणी, क्रिया–क्रियावान्, जाति–व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य।

(तत्त्व दीपिका) – समवायं लक्षयति–नित्येति। संयोगेतिव्याप्तिवारणाय–नित्येति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय–सम्बन्ध इति। अयतसिद्धलक्षणमाह–ययोरिति। 'नीलो घटः' इति विशिष्टप्रतीतिविशेषणसिशेष्यसंबन्धविषया विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीति। प्रत्ययवदिति समवायसिद्धिः। अवयवावयविनाविति। द्रव्यसमवायिकारणमवयवः। तज्जन्द्रव्यमवयवि।।

७५. अनादिः सान्तः प्रागभावः। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य। सादिरनन्तः प्रध्वसः। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य। त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोत्यन्ताभावः। यथा भूतले घटो नास्तीति। तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकोन्योन्याभावः। यथा घटः पटो न भवतीति।।

जिसका आदि न हो वह प्रागभाव है। उत्पत्ति के पूर्व कार्य का प्रागभाव होता है। जिसका आदि हो अन्त न हो वह प्रध्वंस है। उत्पत्ति के अनन्तर कार्य का प्रध्वंसाभाव होता है। जिस अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग से अनवच्छिन्न हो और जो तीनों कालों में रहे वह अत्यन्ताभाव है। जैसे भूतल पर घड़ा नहीं है। जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवछिन्न हो वह अन्योन्याभाव है। जैसे घट पट नहीं है।

(तत्त्व दीपिका) – प्रागभावं लक्षयति–अनादिरिति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय–सान्त इति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय–अनादिरिति। प्रतियोगिसमवायिकारणवत्तिः प्रतियोगिजनको भविष्यतीति व्यवहारषुः प्रागभावः।। प्रध्वंसं लक्षयति–सादिरिति।। घटादावतिव्याप्तिवारणाय–अनन्त इति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय–सादिरिति। प्रतियोगिजन्यः प्रतियोगिसमवायि आकाशरणवत्तिर्ध्वस्तव्यवहारहेतुर्ध्वं सः।। अत्यन्ताभावं लक्षयति–त्रैकालिकेति।। अन्योन्याभावेतिव्याप्तिवारणाय–संसर्गावच्छिन्नेति। ध्वंसप्रागभाकयोरतिव्याप्तिवारणाय–त्रैकालिकेति।। अन्योन्याभावं लक्षयति–तादात्म्येति। प्रतियोगितावच्छेदकारोप्यसंसर्ग–भेदादेकप्रतियोगिकयोरप्यत्यन्ताभावान्योन्याभावयोर्बहुत्वम्। केवलदेवदत्ताभावात् दण्ड्यभाव इति प्रतीत्या विशिष्टाभावः। 'एकसत्त्वे द्वौ न स्तः' इति प्रतीत्या द्वित्वावच्छिन्नो भावः। संयोगसंबन्धेन घटवति समवायसंबन्धेन घटाभावः। त त्ताद्धटाभावाद्धटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकसामान्याभावश्चातिरिक्तः।। एवमन्योन्याभावोपि। घटत्वावच्छिन्नः पटो नास्तीति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावी नाङ्गीक्रियते। पटे घटत्वं नास्तीति तस्यार्थः। अतिरिक्तत्वे स केवलान्वयी।

सामयिकाभावोत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः। घटाभाववति घटानयनेत्यन्ताभावस्यान्यत्र गमनाभावेप्यप्रतीतेर्घटापसरणे सति प्रतीतेः। भूतले घटसंयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरत्यन्ताभावप्रतीतिनियाकत्वं कल्प्यते। घटवति तन्संयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरसत्त्वादत्यन्ताभावस्याप्रतीतिः। घटापसरणे च संयोगध्वंससत्त्वात्प्रतीतिरिति। केवलाधिकरणादेव नास्तीति व्यवहारोपपत्तावभावो न पदार्थान्तरमिति गुरवः,–तन्न; अभावानङ्गीकारे कैवल्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अभावाभावो भाव एव

नातिरिक्तः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। ध्वंसप्रागभावः प्रागभावध्वंसश्च प्रतियोग्येवेति प्राचः। अभावाभावोतिरिक्त एव, ततीयाभावस्य प्रथमाभावरूपत्वान्नानवस्थेति नवीनाः।।

विशेष :- अभाव का अर्थ है भाव–भिन्न। अभाव के चार भेद पहले ही बतलाये जा चुके हैं। प्रागभाव सान्त किन्तु अनादि होता है। प्रध्वंसाभाव सादि किन्तु अनन्त होता है। अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त होते हैं। अर्थात् पहले दो अभाव नित्य हैं और शेष दो अनित्य। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव कार्य से सम्बद्ध हैं। प्रागभाव कार्य के उत्पन्न होने से पहले होता है, प्रध्वंसाभाव कार्य नष्ट होने के बाद। किन्तु जो कार्य नष्ट होकर दोबारा उत्पन्न हो जाए, क्या यह सिद्ध नहीं कर देगा कि ध्वंस का भी अन्त हो गया ? नैयायिकों का उत्तर है कि नहीं। क्योंकि दूसरा कार्य प्रथम कार्य से भिन्न है। जो नष्ट हो गया वह फिर नहीं उत्पन्न होगा और जो कार्य उत्पन्न हुआ था, वह पहले नहीं था। दीपिका कहती है कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव प्रतियोगी के उपादान कारण में रहते हैं। उदाहरणतः घटाभाव मत् परमाणु में रहता है। दूसरे वे प्रतियोगी के कारण और कार्य के क्रमशः उत्तरदायी हैं। तीसरे उन्हीं के कारण हम यह कह सकते हैं कि यहां यह होगा या यहां यह हो चुका है।

अत्यन्ताभाव नित्य होता है तथा अत्यन्ताभावी प्रतियोगिता तादात्म्यभिन्नसंसर्गा वाच्छन्ना होती है। अन्योन्याभाव भी नित्य है किन्तु इसकी प्रतियोगिता तादात्म्यसंसर्गाविच्छिन्ना होती है। उसका प्रतियोगी दो पदार्थों के परस्पर तादात्म्य के सम्बन्ध से नित्य होता है। अत्यन्ताभाव प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव से भिन्न है क्योंकि यह त्रैकालिक है। अत्यन्ताभाव का अर्थ है जो अन्त का अतिक्रमण कर जाए।

एक पदार्थ जिस सम्बन्ध में दूसरे में रहता है वह संसर्ग कहलाता है। घट अधिकरण में जिस सम्बन्ध से रहता है वह संयोग–सम्बन्ध है और गंध पथ्वी में समवाय सम्बन्ध से रहती है। ये दोनों ही सम्बन्ध संसर्ग हैं। यदि घट भूतल पर दिखाई दे तो हम घटवद्भूतलम् कहेंगे जिसका अर्थ होगा–संयोगसंबन्धेन घटवत् और भूतले घटो नास्ति का अर्थ संयोगसम्बन्धावच्छिन्न भूतलनिष्ठघटाभाव समझा जायेगा और घटाभावी प्रतियोगिता संयोग सम्बन्धावच्छिन्ना मानी जायेगी। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि संयोगेन घटवत्ता बुद्धि संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटाभाववत्ता बुद्धि के प्रति ही विरोधी है न कि समवायाच्छिन्न घटाभाववत्ता बुद्धि के प्रति। जहां भी किसी पदार्थ का अत्यन्ताभाव कहा जाता है वहां यह समझा जाता है कि जिस संसर्ग विशेष से वह पदार्थ अधिकरण में ज्ञात हुआ था उसी संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाव।

अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव से भिन्न है क्योंकि यह दूसरे प्रकार के सम्बन्ध पर आधत है। अन्योन्याभाव में कोई पदार्थ किसी अभाव का प्रतियोगी होता है जो कि किसी दूसरे पदार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, संयोग या समवाय सम्बन्ध से नहीं। अत्यन्ताभाव में वह संयोग या समवाय सम्बन्ध से रहता है। संक्षेप में अन्योन्याभाव में हम प्रतियोगी और अनुयोगी में कोई सम्बन्ध नहीं मानते जबकि अन्योन्याभाव में हम केवल दोनों के तादात्म्य सम्बन्ध का ही निषेध करते हैं। जब हम कहते हैं भूतलं घटो न, तो हम यही कहना चाहते हैं कि वे दोनों एक नहीं हैं। किन्तु जब हम 'भूतले घटो नास्ति' कहते है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि भूतल और घट में केवल तादात्म्य का ही अभाव नहीं है प्रत्युत उनका एक दूसरे से सम्बन्ध भी नहीं है। अत्यन्ताभाव दो पदार्थों में संसर्ग का निषेध करता है, अन्योन्याभाव तादात्म्य का।

७६. सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।।

सभी पदार्थों का यथोचित रूप में उक्त पदार्थों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण सात ही पदार्थ हैं यह सिद्ध होता है।

विशेष :- अन्त में गौतम के बतलाये सोलह पदार्थों का तर्कसंग्रह में बतलाये गये सात पदार्थों में कैसे अन्तर्भाव हो जाता है, यह बतलाया है। नैयायिकों में ये १६ पदार्थ माने जाते हैं–प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान। दीपिका में इनके लक्षण और भेद संक्षेप में दिलवाये हैं। वस्तुतः ये १६ पदार्थ नहीं हैं प्रत्युत १६ विषय हैं जोकि गौतम के न्यायसूत्र में प्रतिवादी से वाद करते समय प्रयोग में लाने के लिये विवेचित हैं। अतः कणाद के ७ पदार्थों से इनका कोई समन्वय नहीं है। किन्तु कुछ दूसरे दर्शन अन्य पदार्थ भी मानते हैं; उनका भी अन्तर्भाव इन ७ में ही हो जाता है। उदाहरणतः शक्ति, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। अग्नि में रहने वाली अग्नि ही है। स्वत्व किसी पदार्थ को जिस प्रकार हम चाहें उस प्रकार प्रयोग में लाने की क्षमता का नाम है। सादश्य भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। सादश्य तो दो पदार्थों से भिन्न होने पर भी उनमें एक ही धर्म का होना कहलाता है।

दीपिका में अन्त में यजेत जुहुयात् आदि वैदिक विधियों का अर्थ दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि न्याय के ग्रन्थ में भी वेद के वाक्यों पर विचार अभिप्रेत है। विधि का अर्थ है विधायक वाक्य। वेद में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं–विधि, अर्थवाद

और अनुवाद। इनमें विधि ही प्रधान है। विधि दो प्रकार की है–नियोग – अर्थात् आज्ञा जैसे – अग्निहोत्रं जुहुयात् और अनुज्ञा अर्थात् अनुमिति जैसे ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत। नियोग में नित्य कर्म का विधान होता है, अनुज्ञा में काम्य कर्म की अनुमति होती है। अन्नम्भट्ट का विधि का लक्षण है–वह वाक्य जिससे ऐसे कार्य करने की इच्छा हो जिससे हम प्रयत्न करें। उदाहरणतः – ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत में यजमान को ज्योतिष्टोम करने की प्रेरणा मिलती है और तब वह उसके लिए प्रयत्न करता है। किन्तु ज्योतिष्टोम से स्वर्ग कैसे मिल सकता है क्योंकि कर्म तो फलायोगव्यवच्छिन्न होता है, अर्थात् वह फल से तुरन्त पहले होना चाहिये। किन्तु यहां यज्ञ करने के बहुत देर बाद फल मिलेगा। अतः यज्ञ और स्वर्ग मिलने के बीच में जो अन्तराल है उसके लिए अपूर्व नाम के व्यापार की कल्पना की गई है।

जीवन का चरम लक्ष्य-

न्याय के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य स्वर्ग नहीं, मोक्ष है। दीपिका का कहना है कि पदार्थों का विवेचन यह जानने के लिए है कि पदार्थ और आत्मा भिन्न–भिन्न है। गौतम ने मोक्ष का अर्थ आत्यन्तिकी दुःखनिवत्ति माना है जबकि कणाद ने आत्मा का शरीर से पथक् हो जाना और अदष्ट के अभाव में उनका फिर न मिल पाना मोक्ष माना है। इन दोनों ही दर्शनों के अनुसार मोक्ष में सुख नहीं, केवल दुःख का अभाव होता है। ज्ञान ही से मोक्ष है, कर्म से नहीं। कर्म मन को निर्मल बनाकर मोक्ष में परम्परया सहायक हो सकते हैं। जब ज्ञान ध्यान द्वारा परिपक्व होता है तो मोक्ष का कारण होता है। गौतम ने दुःख, जन्म, प्रवत्ति और मिथ्याज्ञान ये पांच कारण माने हैं जिनमें से उत्तरोत्तर का नाश होने पर पूर्वपूर्व स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् मिथ्या ज्ञान न रहे तो दोष, दोष न रहे तो प्रवत्ति, प्रवत्ति न रहे तो जन्म, और जन्म न रहे तो दुःख न रहेगा। यही न्याय का अन्तिम लक्ष्य है। इसलिए सर्वप्रथम मिथ्या ज्ञान हटाना चाहिए। इस मिथ्या ज्ञान का कारण हमारा यह अज्ञान है कि शरीर और आत्मा को एक ही मान लेते हैं। पदार्थों का यथार्थतः जानने से यह अज्ञान दूर हो जाता है।

७७. कणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।

अन्नंभट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः।।

कणाद और न्याय मत में बालकों की कुशलता सिद्ध करने के लिए विद्वान् अन्नम्भट्ट ने तर्क संग्रह बनाया।

(तत्त्व दीपिका)–ननु 'प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दष्टान्त–सिद्धान्तावयव–तर्क–निर्णय–वाद–जल्प–वितण्डा–हेत्वाभास–च्छल–जाति–निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेसाधिगमः' इति न्यायशास्त्रे षोडशपदार्थानामुक्तत्वात्कथं सर्प्तवेत्यत आह–सर्वेषामिति। सर्वेषां सप्तस्वेवान्तर्भाव इत्यर्थः। 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थमनोबुद्धिप्रवत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।' इति द्वादशविधं प्रमेयम्। प्रवत्तिर्धर्माधर्मौ। रागद्वेषमोहा दोषाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः। मोहः शरीरादावात्मभ्रमः। प्रेत्यभावो मरणम्। फलं भोगः। अपवर्गो मोक्षः। स च स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः। प्रयोजनं सुखं दुःखहानिश्च। दष्टान्तो महानसादिः। प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोर्थः सिद्धान्तः। निर्णयो निश्चयः। स च प्रमाणफलम्। तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः। उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापनहीना वितण्डा। कथा नाम नानावक्तकः पूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसंदर्भः। अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणं छलम्। असदुत्तरं जातिः। साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्य–प्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदष्टान्तानुपत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुलब्धिनित्यानित्यकार्याकार्यसमा जातयः। वादिनोपजयहेतुर्निग्रह–स्थानम्। प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं निरर्थकम्, अविज्ञातार्थकम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालं, न्यूनम्, अधिकं, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभाविक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासश्च निग्रहस्थानानि। शेषं सुगमम्।।

ननु करतलानलसंयोगे सत्यपि प्रतिबन्धके सति दाहानुत्पत्तेः शक्तिः पदार्थान्तरमिति चेत्,–न; प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रे सति दाहानुत्पत्तेः शक्तिः पदार्थान्तरमिति चेत्, न; प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रे कारणत्वेन शक्तेरनुपयोगात् कारणस्यैव शक्तिपदार्थत्वात्। ननु भस्मादिना कांस्यादौ शुद्धिदर्शनादाषेयशक्तिरङ्गीकार्येति चेत्, –न; भस्मादिसंयोगस मानकालीनास्पश्यस्पर्श प्रतियोगिकयावदभावसहितभस्मादिसंयोगध्वंसस्य शुद्धि पदार्थत्वात्।।

स्वत्वमपि न पदार्थान्तरम्, यथेष्टविनियोगयोग्यत्वस्य स्वत्वरूपत्वात्। तदवच्छेदकं च प्रतिग्रहादिलब्धत्वमेवेति।।

अथ विधिर्निरूप्यते। प्रयत्नजनकचिकीर्षाजनकज्ञानविषयो विधिः। तत्प्रतिपादको लिङ्गादिर्वा।कृत्यसाध्ये प्रवत्त्यदर्शनात् कृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्तकम्। न च विषभक्षणादौ प्रवत्तिप्रसंङ्ग। इष्टसाधनतालिङ्गककृतिसाध्यताज्ञानस्य काम्यस्थले नित्यनैमित्तिकस्थले च विहितकालजीवित्वनिमित्तकज्ञानजन्यस्यैव प्रवर्तत्कवात्। न चाननुगमः, स्वविशेषणवत्ताप्रतिसंधानजन्यत्वस्यानुगतत्वादिति गुरवः', –तन्न; लाघवेन कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानस्यैव चिकीर्षाद्वारा प्रयत्नजनकत्वात्। न च नित्ये इष्टसाधनत्वाभावादप्रवत्तिप्रसङ्गः,

तत्रापि प्रत्यवायपरिहास्य पापक्षयस्य च फलत्वकल्पनात्। तस्मात्कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमेव लिङाद्यर्थः। ननु "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यत्र लिङा स्वर्गसाधनकार्यं प्रतीयते। यागस्याशुविनाशिनः कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वायोगात्तद्योग्यं स्थायिकार्यमपूर्वमेव लिङाद्यर्थः।। कार्यं कृतिसाध्यम्, कृतेः सविषयत्वात्। विषयाकाङ्क्षायां यागो विषयत्वेनान्वेति। 'कस्य कार्यम् ?' इति नियोज्याकाङ्क्षायां स्वर्गकामपदं नियोज्यपरतयान्वेति। कार्यबोद्धा नियोज्यः। तेन 'ज्योतिष्टोमनामकयागविषयकं स्वर्गकामस्य कार्यम्' इति वाक्यार्थः संपद्यते। वैदिकलिङ्त्वात् "यावज्जीवनमग्निहोत्रं जुहुयात्" इति नित्यवाक्येप्यपूर्वमेव वाच्यं कल्प्यते। "आरोग्यकामो भेषजपानं कुर्यात्" इत्यादि लौकिकलिङ् क्रियाकार्ये लक्षणेति चेत्, न–; यागस्याप्ययोग्यतानिश्चयाभावेन साधनतया प्रतीत्यनन्तरं तन्निर्वाहार्थमवान्तरव्यापारतया अपूर्वकल्पनात्। कीर्तनादिनानाशश्रुतेर्न यागध्वंसो व्यापारः। लोकव्युत्पत्तिबलात्क्रियायामैव कृतिसाध्येष्टसाधनत्वं लिङ् बोध्यत इति लिङ्त्वेन रूपेण विध्यर्थत्वम्। आख्यातत्वेन प्रयत्नार्थकत्वम्। पचति पाकं करोतीति विवरणदर्शनात् "किं करोति ?" इति प्रश्ने 'पचती' त्युत्तराच्चाख्यातस्य प्रयत्नार्थकत्वनिश्चयात्। रथो गच्छतीत्यादावनुकूलव्यापारे लक्षणा "देवदत्तः पचति तण्डुलान्, देवदत्तेन पच्यते तण्डुलः" इत्यत्र कर्तकर्ममणोर्नाख्यातार्थत्वम्, किंतु तद्गतैकत्वासदीनामेव। तयोराक्षेपादेव लाभः। प्रजयतीत्यादौ धातोरेव प्रकर्षे शक्तिः। उपसर्गाणां द्योतकत्वमेव। न तत्र शक्तिरस्ति।।

पदार्थज्ञानस्य परमं प्रयोजनं मोक्षः। तथा हि–'"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ञ(बह०उ० २।४।५) इति श्रुत्या श्रवणादीनामात्म साक्षात्कारहेतुत्वबोधनात्। श्रुत्या देहादिविलक्षणात्मज्ञाने सत्यप्यसीाावनानिवत्तेर्युक्त्यनु–सन्धानरूपमननसाध्यत्वात् मननोपयोगिपदार्थनिरूपणद्वारा शास्त्रस्यापि मोक्षोपयोगः। तदनन्तरं श्रुत्युपदिष्टयोगविधिना निदिध्यासने कृते तदनन्तरं देहादिविलक्षणात्मसाक्षात्कारे सति देहादावसमभिमानरूपमिथ्याज्ञाननाशे सति दोषाभावात्प्रवत्त्यभावे धर्माधर्मयोरभावा–ज्जन्माभावे पूर्वधर्माधर्मयोरनुभवेन नाशे चरमदुःखध्वंसलक्षणो मोक्षो जायते। ज्ञानमेव मोक्षसाधनं मिथ्याज्ञाननिवत्तेर्ज्ञानमात्रसाध्यत्वात् "तमेव विदित्वातिमत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेयनाय" (श्वेता उ० ३।८।६।१५) इति साधनान्तरनिषेधाच्च। ननु "तत्प्राप्तिहेतुविज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने" (भवसं०उ० १।३१) इति कर्मणोपि मोक्षसाधनत्वस्मरणाज्ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति चेत्, –न; "नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्। ज्ञानसाधनत्वप्रतिपादनात्। ज्ञानद्वारैव कर्म मोक्षसाधनं, न साक्षात्। तस्मात्पदार्थज्ञानस्य मोक्षः परमं प्रयोजनमिति सर्वं रमणीयम्।।

इति श्रीमदद्वैतविद्याचार्य–श्रीमद्राघवसोमयाजिकुलावतंस–श्रीमत्तिरुमलाचार्यवर्यस्य सूनुनान्नंभट्टेन कृता स्वकृततर्कसंग्रहस्य दीपिका संपूर्णा।।

सांख्यकारिका

भूमिका

सांख्य-दर्शन का उद्भव :—'सांख्य—दर्शन एक प्राचीन दर्शन है। इसकी प्राचीनता को देखते हुए इसके उद्भव के विषय में प्रायः तीन सम्भावनायें की जा सकती। एक संभावना तो यह है कि इस दर्शन का उद्भव वैदिकेतर क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से तब हुआ, जब वैदिक क्षेत्र में बहुदेववादीय विचारधारा चल रही थी और उसके अनुसार विभिन्न देवों की स्तुति के रूप में विभिन्न सूक्तों का प्रणयन हो रहा था। दूसरी संभावना यह कि जब वैदिक क्षेत्र में बहुदेववादीय विचारधारा के बहुत काल तक चल चुकने के बाद जब दार्शनिक तत्त्ववाद का सूत्रपात हुआ तो इस त त्ववाद से ही आगे जहाँ औपनिषद दर्शन या वेदान्त—दर्शन का उद्भव हुआ, वहाँ सांख्य—दर्शन का भी उद्भव हुआ। तीसरी संभावना यह कि उपनिषदों के अस्तित्व में आने के बाद उनसे सांख्य—दर्शन का उद्भव हुआ है।

वेदों का दार्शनिक तत्त्ववाद सांख्य और वेदान्त, दोनों ही दर्शनों के उद्भव के लिये सामग्री समान रूप से प्रस्तुत करता है और फलतः तीसरी सम्भावना इस रूप में मान्य प्रतीत नहीं होती कि उपनिषदों के अस्तित्व में आने के बाद उनसे सांख्य—दर्शन का उद्भव हुआ है। भले ही यह हो सकता है कि कुछ प्राचीन उपनिषदों के अस्तित्व में आने के बाद सांख्य—दर्शन का उद्भव हुआ हो और भले ही यह हो सकता है कि किसी भी उपनिषद् के अस्तित्व में आने के पूर्व ही सांख्य—दर्शन का उद्भव हो चुका हो, किन्तु सांख्य—दर्शन का उद्भव स्वतन्त्र रूप से वैदिक त त्ववाद से हुआ, उपनिषदों से नहीं, क्योंकि जब उपनिषदों से पूर्ववर्ती वैदिक तत्त्ववाद में ही सांख्य—दर्शन के उद्भव के बीज उपस्थित हैं तो यह मानने में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता कि उपनिषदों से सांख्यदर्शन का उद्भव हुआ है।

सांख्यकारिका :— सांख्यकारिका सांख्य—दर्शन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रकरण ग्रन्थ है। इसके रचयिता श्री ईश्वरकृष्ण हैं। ये सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनकी इस रचना ने अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की है। आज सांख्यदर्शन के जो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उनमें व्याख्या—ग्रन्थ ही अधिक हैं। मूल ग्रन्थ तो केवल तीन ही प्राप्त होते हैं—सांख्यकारिका, तत्त्वसमास एवं सांख्यप्रवचनसूत्र। आज प्राप्त होने वाले सांख्य—दर्शन के अन्य ग्रन्थ इन तीन मूल ग्रन्थों की ही टीका या व्याख्या के रूप में हैं। इन व्याख्या—ग्रन्थों में से अधिकांश 'सांख्यकारिका' की ही व्याख्याओं और इन व्याख्याओं की भी अनुव्याख्याओं के रूप में हैं। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' सांख्यदर्शन का प्रमुख प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यतः शङ्कर आदि आचार्यों ने ही नहीं, अपितु ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक के आचार्यों ने 'तत्त्वसमास' या 'सांख्यप्रवचनसूत्र' को अपने ग्रन्थों में उद्धत न कर 'सांख्यकारिका' को ही उद्धत किया है, साथ ही पन्द्रहवीं शताब्दी में होने वाले अनिरुद्ध से पूर्व किसी ने इन सूत्र—ग्रन्थों की व्याख्या भी नहीं की, जबकि विभिन्न विद्वानों के द्वारा बहुत पहले से ही 'सांख्यकारिका' की व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा रही हैं, अतः स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन के आज उपलब्ध होने वाले उक्त तीन मूल ग्रन्थों—सांख्यकारिका, तत्त्वसमास एवं सांख्य—प्रवचनसूत्र—में से 'सांख्यकारिका' प्राचीनतम है। यतः शंकर आदि आचार्यों के द्वारा इसे उद्धत किया जाता रहा है, अतः यह भी स्पष्ट है कि यह सांख्यदर्शन की एक प्रामाणिक कृति मानी जाती रही है। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने यह घोषणा भी की है कि सांख्य के प्रथम आचार्य परमर्षि कपिल ने जो ज्ञान अपने शिष्य आसुरि को दिया, उसे आसुरी ने अपने शिष्य पचशिख को दिया, पचशिख ने उसे विस्तत किया और फिर उसके बाद शिष्य—परम्परा से प्राप्त—उसी विस्तत ज्ञान को संक्षिप्त रूप से उन्होंने सांख्यकारिका की सत्तर कारिकाओं में प्रस्तुत कर दिया है। इस घोषणा से सांख्यकारिका की रूप में प्रामाणिकता स्पष्ट होती है कि इसमें सांख्य के परम्परागत ज्ञान को प्रस्तुत किया गया है। कहना न होगा कि इस ज्ञान और प्रामाणिकता के अनुरूप ही इस ग्रन्थ को दार्शनिक क्षेत्र में परम सम्मान प्राप्त हुआ है।

सांख्यकारिका की प्रमुख टीकाएँ :— सांख्यकारिका को इसकी रचना के बाद से ही लोकप्रियता एवं प्रामाणिकता प्राप्त हुई कि प्रायः तभी से इसकी व्याख्याओं या टीकाओं की परम्परा चल पड़ी। इसकी सर्वप्राचीन वत्ति माठर वत्ति है। इस वत्ति के रचयिता आचार्य माठर सम्राट् कनिष्क के काल में वर्तमान माने जाते हैं। इस प्रकार यह वत्ति प्र थम शताब्दी ईसवी की रचना मानी जाती है। कालक्रम से माठरवत्ति के बाद सांख्यकारिका की दूसरी प्रमुख व्याख्या गौडपादभाष्य मानी जाती है। विद्वानों का बहुमत इसके रचयिता गौडपाद को माण्डूक्यकारिका के रचयिता एवं अद्वैत वेदान्त के आचार्य गौडपाद ने भिन्न मानने के पक्ष में हैं। सांख्यकारिका के व्याख्याकार गौडपाद का समय प्रायः ईसा की षष्ठ शताब्दी माना जाता है, कुछ विद्वान् ईसा की सप्तम शताब्दी मानते हैं। माठरवत्ति और गौडपाद—भाष्य में बहुत से अंशों में साम्य के दर्शन होते हैं। गौडपादभाष्य संक्षिप्त होते हुए भी गम्भीर है।

सांख्यकारिका की 'युक्तिदीपिका' टीका भी प्राचीन टीकाओं में से एक है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इसमें प्राचीन सांख्याचार्यो के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। फलतः इस टीका से सांख्य–सिद्धान्तों की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। यतः इसमें वसुबन्धु एवं दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों के मतों का उल्लेख है और साथ ही मीमांसकों में शबरस्वामी का निर्देश होते हुए कुमारिल या प्रभाकर का निर्देश नहीं है, अतः प्रतीत होता है कि यह उक्त बौद्ध आचार्यो से बाद की और कुमारिल से पूर्व की रचना है। कुमारिल का समय ईसा की सप्तम शताब्दी का अन्त और अष्टम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है, अतः बहुत सम्भव है कि युक्ति–दीपिका ईसा की सप्तम शताब्दी के पूर्वार्थ की रचना दी।

शंकराचार्य द्वारा विरचित 'जयमंगला' टीका भी सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीका है। विद्वानों का मत है कि यह टीका वाचस्पति मिश्र से पूर्व की रचना है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में कुछ स्थलों पर इसके प्रतिपाद्यों का निर्देश या अनुसरण किया गया है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' टीका सांख्यकारिका की सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका है। इसने दार्शनिक जगत् में पर्याप्त ख्याति एवं लोकप्रियता प्राप्त की है। इस टीमा में सांख्यकारिका के प्रतिपाद्य विषय को पूर्णतः उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रमुख विवेचनीय विषय

१. दुःखत्रय तथा उनका अपघात

२. प्रमाण-विवेचन

३. सत्कार्यवाद

४. गुण विवेचन

५. प्रकति स्वरूप तथा उसके अस्तित्व की सिद्धि

६. पुरूष स्वरूप, पुरूष के अस्तित्व की सिद्धि तथा पुरूष बहुत्व

७. सष्टि प्रक्रिया

८. लिङ्.ग शरीर की अवधारणा

६. प्रत्यय सर्ग की अवधारणा

१. दुःखत्रयापघात तथा उनका अपघात

'दर्शन' का उदय परम सुख की प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा के कारण हुआ है। ईश्वर कष्ण ने 'सांख्यकारिका' ग्रन्थ की आदिम कारिका में इसी प्रयोजन को दर्शा कर सांख्य शास्त्र की उपयोगिता को बताया है :–

दुःखत्रयाभिघाताद् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोभावात्।।

'दुःख' जीवन का एक अभिन्न अंग है। पर, इससे मुक्ति सम्भव है। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने भी चार आर्य सत्यों में 'दुःख' की ही समीक्षा करते हुए दुःख का उदय भी माना था और उसका निरोध भी स्वीकार किया था। इसलिए सर्वप्रथम यह बात स्वीकारनी होगी कि दुःख है अन्यथा सांख्य का किसी भी शास्त्र में मनुष्य की प्रवत्ति नहीं हो सकती।

शास्त्र विषयक जिज्ञासा की आवश्यकता :

'सांख्य शास्त्र' में प्रवति तब तक नहीं होगी, जब तक उसका कोई साक्षात् प्रयोजन न दे। 'सांख्य' यह मान कर चला है कि 'दुःख' की सत्ता होती है। अतः यदि दुःख की सत्ता मान ली जाए, तो भी प्रवत्ति न होने के कारण हो सकते हैं। सांख्य में प्रवत्ति ने होने के पाँच कारण वाचस्पति मिश्र ने गिनाए है :–

१. प्रथम कारण :– यदि संसार में दुःख नाम की कोई वस्तु ही न हो तो शास्त्र विषय उसे छोड़ना न चाहे, तो उसकी भी शास्त्र में जिज्ञासा नहीं होगी।

२. द्वितीय कारण :– दुःख के विद्यमान रहने पर भी कोई उसे छोड़ना न चाहे, तो उसकी भी शास्त्र ज्ञान में जिज्ञासा नही होगी।

३. ततीय कारण :– दुःख को त्यागने की इच्छा तो हो, पर प्रयत्न से भी दुःख की निवति न होती हो अथवा दुःख लय का उपाय ज्ञात न हो। तब भी शास्त्र जिज्ञासा नहीं होगी।

४. चतुर्थ कारण :– दुःख की निवति होना मान लेने पर भी, यदि उसके दूर करने का उपाय सांख्य शास्त्रीय तत्वज्ञान न हो, तब भी इस सांख्यज्ञान की जिज्ञासा कोई नहीं करेगा।

५. पचम कारण :– यह ज्ञात है कि सांख्यज्ञान से दुःख निवत्ति सम्भव है, पर अन्य कोई सरल उपाय विद्यमान हो, तब भी सांख्यविषयक जिज्ञासा नहीं होगी।

प्रथम कारण का निरसन :

जो प्रथम कारण रखा गया था कि दुःख है ही नहीं – यह कारण ही अनुचित हैं, क्योंकि दुःख तो सभी के द्वारा अनुभव सिद्ध है। यह उल्लेखनीय है कि त्रिविध दुःख सभी के द्वारा अनुभव किया जाता है। यह तीन दुःख हैं–

(१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक और (३) आधिदैविक।

(क) शरीर :– वात, पित्त, कफ की विषमता से होने वाला ज्वर आदि या भूख, प्यास आदि शरीर दुःख है। वात, पित्त, कफ के सही अनुपात में रहना ही स्वस्थता है, यह अनुपात गड़बड़ होने से अनेक प्रकार के शारीरिक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, इससे यह शरीर दुःख है।

(ख) मानसः– काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद और विषय–विशेष के अदर्शन से मन में पैदा न होने वाला दुःख मानस हैं।

इन्हें आध्यात्मिक दुःख इसलिए कहते हैं कि इन दुःखों को शरीर या अन्तःकरण में प्रभाव दिखाने वाले अन्य, जल, औषध आदि उपायों से निवत्त किया जाता है।

(२) आधिभौतिक दुःख – भूत प्राणियों से होने वाला दुःख अधिभौतिक कहलाता है। चोर, राजा आदि मनुष्य, गौ–अश्व आदि पशु, गधादि पक्षी, सर्प, बिच्छू, आदि सरीसप, विविध कंटीले या विष वक्षादि से उत्पन्न होने वाला दुःख अधिभौतिक है। सर्प काट लेवे, राजा दण्ड देवे या कंटीले पेड़ पौधों में फंस जाने पर यह आधिभौतिक दुःख कभी न कभी सभी हो होता है।

(३) अधिदैविक दुःख – यज्ञ, राक्षस, विनायकावेश तथा ग्रहों के आवेश से होने वाला दुःख आधिदैविक है अतिवष्टि–अनावष्टि भूकम्प, भयंकर तुफान, ज्वारभाटा आदि प्राणी के जीवन में यदा कदा दुःख पहुंचाते रहते हैं, यही अधिवैदिक दुःख है।

आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख बाह्योपायसाध्य हैं। ये तीन दुःख सभी द्वारा अनुभूत होते हैं। अतः दुःख की सत्ता है – सिद्धांत खण्डित नहीं होता।

द्वितीय कारण का निरसन :

शास्त्र जिज्ञासा न होने में दूसरा कारण भी ठीक नहीं है कि कोई उस दुःख को छोड़ना न चाहे। ईश्वर कष्ण ने "दुःखत्रयाभिघातात्' में 'अभिघात' शब्द का प्रयोग किया। बुद्धि में रहने वाले रजोगुण के दुःख रूप कार्य का अनुभव सभी करते है, इतना ही नहीं, वह दुःख त्रय बार–बार प्राणी को अभिघात करता है, बाधित करता है और इसलिए उसके नाशक हेतु में जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है – जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। प्रतिकूलवेदनीय ही दुःख है। यह प्रतिकूलवेदनीयता ही दुःख को छोड़ने में हेतु है अर्थात् जब–जब प्रतिकुल वेदनीयता होती है, उसे छोड़ने की जिज्ञासा भी साथ साथ पैदा हो जाती है। अर्थात् दुःख सम्बन्ध अभीष्ट न होना ही दुःख के त्यागने की इच्छा में कारण हैं।

ततीय कारण का निरसनः

दुःख नित्य है अतः उसका अत्यन्त विनाश सम्भव नहीं – यह ठीक है, पुनरपि उसका अभिभव तो सम्भव है ही। विवेकज्ञान में अनागत दुःख की उत्पत्ति को विराम दिया जा सकता है। यह विराम दिया जा सकता है, तो दुःखत्रय के अपघातक हेतु की जिज्ञासा भी उत्पन्न होगी। इसमें 'आप्त प्रमाण' भी है कि 'दुःखलय' सांख्य ज्ञान से सम्भव है।

चतुर्थ कारण का निरसन :

'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' इस दूसरी कारिका में स्पष्ट कहा गया है कि सांख्यशास्त्रीय तत्त्वज्ञान से ही दुःखलय सम्भव

है। प्रधान, प्रकति और पुरूष का ज्ञान ही दुःखलय का प्रशस्त मार्ग है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि दुःखों से मुक्ति सांख्य शास्त्रीय ज्ञान से सम्भव नहीं।

पचम कारण का निरसनः

इस प्रकार यह तो मान्य हुआ कि 'साख्य' दुःखनिवति करा सकता है, पर यदि अन्य सरल उपाय विद्यमान हों तब भी सांख्य विषयक जिज्ञासा नहीं हो सकती। ईश्वर कष्ण ने लौकिक और वैदिक दो प्रकार के उपायों का उल्लेख करते हुए उनकी अपार्थता दिखाई है –

(क) लौकिक उपाय और दुःखनिवत्ति – जगत् में दुःख उच्छेदक लौकिक उपाय विद्यमान हैं, फिर शास्त्र का क्यों अभ्यास किया जाए। लौकिक उपायों से दुःखनिवत्ति इस प्रकार सम्भव हैं –

(१) आध्यात्मिक दुःख – शरीर दुःख ज्वर, पीड़ा आदि का उपाय वैद्यों के पास हैं, यह उपाय बड़ा सरल है। इसी प्रकार मानसिक दुःख के प्रतिकार के लिए मनोज्ञ स्त्री की प्राप्ति, आसवपान, स्वादुभोजन, सुगन्धित द्रव्य का लेप, सुन्दर वस्त्र, रत्न, मणि आदि अलंकार की प्राप्ति ही उपाय है। इससे मानसिक दुःख शान्त हो जाते हैं और शारीरिक दुःखों का उपाय वैद्य के पास विद्यमान है।

(२) आधिभौतिक दुःख – सर्प, बिच्छु आदि से होने वाला दुःख भी लोक में है। नीतिशास्त्रियों की नीतियों का अभ्यास, सुरक्षित स्थान में वास, मणि–मन्त्र–यन्त्र आदि को पास रखना – कितने ही ऐसे उपाय हैं, जिनसे आधिभौतिक दुःख से बचा जा सकता है।

(३) आधिदैविक दुःख – मणियों का धारण, मन्त्रों का पाठ औषधियों के उपयोग से यक्ष–राक्षस–पिशाच आदि से होने वाले दुःख टाले जा सकते है। देवों को प्रसन्न करके सभी आधिदैविक दुःख दूर किए जा सकते हैं।

इस प्रकार ये सरल उपाय लोक में विद्यमान हैं, तो क्यों सांख्य शास्त्र पढ़ा जाए, क्यों जिज्ञासा की जाए – 'दष्टे सापार्था' जब अर्क में ही मधु मिलता हो तो पर्वत क्यों जाया जाए –

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।

इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्।।

लौकिक उपायों के दोष – यह ठीक है कि सरल लौकिक उपायों से दुःखनिवति हो सकती है, पर यह दुःख निवत्ति किस प्रकार की होगी, यह विचारणीय है। ईश्वर कष्ण ने इसमें दो दोषों की ओर संकेत किया हैं – 'नैकान्तात्यन्ततो भावात्।

(१) इन लौकिक उपायों से पहला दोष यह है कि इसमें एकान्तता का अभाव है। अर्थात् वैद्य आदि की औषधियों से ज्वर दूर हो सकता है, पर देखा जाता है कि इसमें एकान्तता अर्थात् दुःखनिवति का अवश्यम्भाव नहीं है। यह जरूरी नहीं कि औषधि से ज्वर, अतिसार आदि ठीक हो जी जाएं, देवों को प्रसन्न किया जा सके, या सुरक्षित समझे जाने वाले स्थान पर सर्प, व्याघ्र आदि बाधा पहुंचाएं ही नहीं।

जब यह अवश्यम्भाव है ही नहीं, कि इन लौकिक उपायों से दुःखनिवति हो ही जाएगी, तो लौकिक उपायों की उपयोगिता सन्दिग्ध हो ही जाती है।

(२) लौकिक उपायों में दूसरा दोष यह है कि भले ही दुःखनिवति हो जाए, पर उनका पुनः उद्‌भव नहीं होगा–यह निश्चित नहीं। अर्थात् इन उपायों में अत्यन्तता का अभाव रहता है। अभिप्राय यह है कि लौकिक उपायों से वैद्य ही औषधि आदि से एक बार ज्वर ठीक हो गया, कुछ समय पश्चात् पुनः ज्वर हो गया तो 'दुःख' यूँ का यूँ रहा, दुःखनिवति कहाँ हुई।

इसलिए ये दीखने वाले सरल उपाय ठीक नहीं।

(ख) आनुश्रविक उपाय और दुःखनिवति – वैदिक उपाय भी लौकिक उपायों की भाँति दोषग्रस्त हैं। अतः सांख्यप्रतिपादित उपायों में जिज्ञासा रखनी समीचीन है–

दष्टवदानुश्रविकः स ह्याविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।

यह कहा जा सकता है कि लौकिक उपायों में दो दोष होने से वह त्याज्य हैं, पर वैदिक उपाय तो हैं, उन्हें ही अपनाया जाए, सांख्य शास्त्र में प्रवत्ति का कारण कुछ नहीं। वस्तुतः ईश्वरकष्ण के अनुसार ये वैदिक उपाय भी तीन दोषों से ग्रस्त

१. वैदिक उपाय अविशुद्धिग्रस्त हैं। क्योंकि जिस प्रकार सोमयाग में होम से लेकर पूजन तक पुण्य कर्म किए जाते हैं, उसी प्रकार पशुवध, बीजवध द्वारा उनकी अंकुर जनन शक्ति का विनाश आदि पाप कर्म भी होते हैं, इसलिए योग में अविशुद्धता है। इन याग आदि से दुःखनिवति सम्भव नहीं, पुनः अविशुद्धता के कारण दुःख भोगना पड़ेगा।

२. वैदिक उपायों से मिलने वाला फल वा सुख धीरे–धीरे समाप्त हो जाता है। अर्थात् स्वर्ग का क्षयित्व सिद्ध है। कल्पना कीजिए कि किसी याग–विशेष से यदि सावधि स्वर्ग की प्राप्ति हुई तो उस अवधि के बीत जाने पर पुनः दुःख का साक्षात् होगा। अतः ये उपाय भी अत्यन्त नहीं है – क्षयित्वं च स्वर्गादेः सत्त्वे सति कार्यत्वादनुमितम्।

३. वैदिक उपायों में तीसरा दोष 'अतिशयस्व' है। ज्योतिष्टोम आदि स्वर्गमात्र के साधन हैं, वाजपेय आदि स्र्वाधिपत्य प्राप्ति के साधन हैं। और दूसरो की अधिक सम्पत्तियाँ न्यून सम्पत्ति वाले पुरूष को दुःख पहुँचाती हैं।

इस प्रकार वैदिक उपाय होने से भी 'सांख्य' में जिज्ञासा होना सम्मत हैं। क्योंकि 'सांख्य' का मार्ग इन दोषों से ग्रस्त नहीं है।

सांख्य के अनुसार प्रधान और पुरूष के स्वरूप का ज्ञान ही दुःखनिवति है। इन तत्त्वों को समझने में न तो कहीं अशुद्धि है और न कहीं क्षय वा अतिशय। तथा यह दुःखनिवति अवश्य होती है और सदा के लिए होती है, इसलिए इसमें एकान्तता और अत्यन्तता का अभाव रूप दोष भी नहीं रहता। इसीलिए ईश्वरकष्ण का यह वचन भी संगत होता हैं –

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।

२. प्रमाण विवेचन

प्रमाण – प्रमा का करण (साधन) प्रमाण कहलाता है। यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं। इसलिए जिसके द्वारा यथार्थ एवं प्रमेय जाना जाता है, वही प्रमाण है। सांख्य कारिका में कहा गया है –

दष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।

सांख्य दर्शन तीन प्रमाण मानता है – प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमान प्रमाण तथा शब्द प्रमाण। अन्य प्रमाण इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

जैमिनि इन प्रमाणों के अतिरिक्त छः प्रमाण मानते हैं –

१. अर्थापति २. सम्भव ३. अभाव ४. प्रतिभा ५. ऐतिह्य एवं उपमान।

१. अर्थापति

जैसे देवदत्त दिन में नहीं खाता फिर भी स्थूल है, इससे कल्पना की जाती है कि वह रात्रि में खाता होगा – इस प्रकार का ज्ञान अर्थापत्ति से होता है। २. एक प्रस्थ में चार कुडव होते हैं (प्राचीनकाल की नापतौल की पद्धति) अतः 'प्रस्थ' कहते ही जो चार कुडवों का सम्भावनात्मक ज्ञान होता है वह 'सम्भव' प्रमाण से होता है। ३. मीमांसको के मत में अभाव के चार भेद हैं – प्रागभाव (पहले का अभाव) इतरेतराभाव (परस्पराभाव) अत्यन्ताभाव (सदा के लिए अभाव) तथा प्रध्वंशाभाव (नष्ट होने के बाद का अभाव)। ४. प्रतिभा जानने वालों का ज्ञान है – जैसे विन्ध्य पर्वत से दक्षिण और सह्य पर्वत से उत्तर की ओर जो भूभाग, समुद्र–पर्यन्त फैला है, वह अत्यन्त मनोरम है, इस प्रकार का ज्ञान प्रतिभा प्रमाण से होता है ५. किंवदन्तियों के आधार को ऐतिह्य प्रमाण कहते हैं ६. गौ के समान गवय होता है, इस प्रकार का ज्ञान जिस प्रमाण के द्वारा होता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं।

उपर्युक्त ये छः प्रमाण तीन प्रमाणों से भिन्न नहीं है क्योंकि इन सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव सांख्य सम्मत तीन प्रमाणों में हो जाता है। आचार्य गोडपाद अर्थापत्ति को अनुमान से पथक् नहीं मानते तथा सम्भव, अभाव, ऐतिह्य एवं उपमान प्रमाणों को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं। इसलिए सिद्ध होता है कि प्रमाण तीन ही हैं।

इन तीनों प्रमाणों के लक्षण इस प्रकार हैं–

प्रतिविषयाध्यवसायो दष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।

तल्लिङ्.गलिङ्.गपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्त वचनं तु।

१. प्रत्यक्षप्रमाण - "प्रतिविषयाध्यवसायो दष्टम्।"

प्रतिविषय शब्द का अर्थ है – इन्द्रियों का विषय के प्रति सम्बन्ध अध्यवसाय शब्द का अर्थ है बुद्धि का व्यापार अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान।

इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप यह हुआ –

विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय के आश्रित अध्यवसाय, बुद्धि का व्यापार, निश्चयात्मक ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष' है। जैसे हम चक्षुओं से घट या पट देखते हैं। कानों से कोई वार्ता सुनते हैं। नासिका से सूंघते है। इसलिए सम्बद्ध इन्द्रिय से वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान होता है तथा निश्चयात्मक ज्ञान में सन्देह नहीं होता।

२. अनुमान प्रमाण - "तल्लिड.्गलिड्.गपूर्वकमनुमानमाख्यातं त्रिविधम्।"

जो विषय प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाना जाता उस विषय का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है अतः अनुमान प्रमाण की सत्ता माननी चाहिए। यह प्रमाण लिड.ग लिडि.गपूर्वक होता है। लिड.गलिडि.ग का ज्ञान जिससे पहले होता है वह लिड.गपूर्वक होता है। लिड्.ग का अभिप्राय है साधन अथवा हेतु। लिड्.ग का अर्थ है साध्य। साधन को देखकर साधन का ज्ञान होता है। यदि किसी पर्वत पर धूम दिखाई देता है तो धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है। इस उदाहरण में धूम हेतु (लिड.ग) है तथा अग्नि साध्य (लिड.ग) है। साधन को देखकर साध्य की सिद्धि करना अनुमान प्रमाण होता है। अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का कहा गया है –

१. पूर्ववत् २. सामान्यतोदष्ट तथा ३. शेषवत्।

१. पूर्ववत् – जो वस्तु पहले देखी गई है वहाँ पूर्ववत् अनुमान होता है। यहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाता है। जैसे पहले देखा गया है कि मेघ के गरजने के पश्चात् वर्षा होती है। इसलिए हम अनुमान करते हैं, जब–जब मेघ गरजता है तब–तब वर्षा होती है।

२. सामान्यतोदष्ट – जो सामान्य रूप से देखा गया है वह सामान्यतोदष्ट अनुमान होता है। जैसे एक स्थान पर पके आमों को देखकर अनुमान किया जाता है कि आमों के पकने का समय आ गया। सामान्यतोदष्ट अनुमान वहाँ होता है जहाँ वस्तुओं का ज्ञान अतीन्द्रिय हो।

३. शेषवत् – जो शेष बचता है वह शेषवत् अनुमान है। यहाँ कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे सागर के थोड़े से जल को पीकर यह अनुमान किया जाता है कि सम्पूर्ण सागर का जल क्षार है।

३. शब्द प्रमाण - आप्तश्रुतिः आप्तवचनम् -

आप्त वचन, आगम, प्रमाण या शब्द प्रमाण आप्त श्रुति को कहते हैं। 'आप्त' शब्द का अर्थ है – युक्त और श्रुति का अर्थ है – वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान। अतः निर्दोष, यथार्थवक्ता से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान ही शब्द प्रमाण है। संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित होने के कारण अपौरूषेय वेदोक्त वचन शब्द प्रमाण है। श्रुति मूलक स्मति, इतिहास आदि के वचन तथा कपिल आदि यथार्थ द्रष्टा महर्षियों के वचन भी शब्द प्रमाण हैं। इस प्रमाण को स्वतः प्रामाण्य माना गया है, क्योंकि अपने प्रामाण्य के लिए यह किसी की अपेक्षा नहीं रखता।

३. सत्कार्यवाद

सत्कार्यवाद 'सांख्यदर्शन' का महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय है। सांख्यशास्त्र में अव्यक्त को व्यक्त का कारण माना गया है इस अव्यक्त की सिद्धि करने के लिए सर्वप्रथम सत्कार्यवाद की प्रतिज्ञा की गई। साख्यदर्शन में कारण कार्य में भिन्नता स्वीकार नहीं जाती। सांख्य में मूलरूप से दो तत्त्व है – अचेतन प्रकति तथा चेतन पुरूष। इसी मूल प्रकति रूपी कारण से व्यक्त रूपी कार्य उत्पन्न होता है। प्रलयकाल में यह कार्य पुनः अपने कारण में लीन हो जाता है। इस प्रकार यह कार्य (व्यक्त) अव्यक्त रूपी कारण में पहले से ही विद्यमान है जो प्रकट होता है और लीन होता है।

किन्तु अन्य दार्शनिक ऐसा नहीं मानते –

नैयायिक वैशेषिक कहते हैं – सत् से असत् की उत्पत्ति होती है। बौद्ध कहते हैं असत् से सत् उत्पन्न होता है।

प्रतिपक्षियों के मत के परिहार के लिए तथा सत्कार्यवाद की पुष्टि के लिए पांच हेतु देते हैं –

"असद्करणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।"

१. असदकरणात् – यदि कारण व्यापार से पूर्व कार्य असत् है तो उसे कोई सत् नहीं बना सकता अर्थात् असत् की कमी उत्पत्ति नहीं हो सकती। नीलवर्ण को सहस्रों शिल्पी भी पीला नहीं कर सकते यदि उसमें पीतत्व का अभाव है तो। वहाँ तिलों में पहले से तेल विद्यमान है, उसे निकाला जा सकता है। कूटने पर धान से चावल निकाला जा सकता है। पर एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा कि असत् वस्तु को उत्पन्न किया गया हो। इसे सत्कार्यवाद की पुष्टि होती है।

२. उपादानग्रहणात् – कार्य की उत्पत्ति अर्थात् प्रादुर्भाव के लिए उसका उपादान कारण खोजा जाता है। तेल के लिए तिल रूप उपादान कारण की ग्रहण किया जाता है, बालू आदि नहीं। क्योंकि तिल रूप उपादान में तैल रूप कार्य पूर्व ही सत् है। उपादानग्रहण का अर्थ है – कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध होना। जैसे मिट्टी उपादान है और 'घट' उसका कार्य है। इस मिट्टी कारण का घट कार्य के साथ सम्बन्ध है, नहीं तो मिट्टी से घट के समान पट की उत्पत्ति क्यों नहीं होती। अतः कार्य सत् है। असत् कार्य की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं।

३. सर्वसम्भवाभावात् – 'उपादानग्रहणात्' में कहा गया है कि कार्य से कारण सम्बद्ध होकर ही कार्य का अभिव्यजक होता है, पर क्यों नहीं कारण से असम्बद्ध कार्य की भी उत्पत्ति मान ली जाये – इसमें हानि क्या है? वस्तुतः तिल को तेल से असम्बद्ध मान लिया जाये, तो जैसे वह तेल से असम्बद्ध है उसी प्रकार दुग्ध से भी है, फिर तो तेल की उत्पत्ति तेल, दुग्ध, पट, घट आदि सभी से मानी जानी चाहिए, पर कारण से सम्बद्ध कार्य मानने पर तिलों से तेल, तन्तु से पट की ही उत्पत्ति होगी। इसी भाव को कहा गया है कि सभी की उत्पत्ति सभी कारणों से नहीं होती, बल्कि निश्चित कार्य की निश्चित कारण से ही उत्पत्ति होती है। इससे यही सिद्धान्त पुष्ट होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी अपने कारण में सत् रहता है।

४. शक्तस्य शक्यकरणात् – समर्थ कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण जिस कार्य को करने में समर्थ है, वही कार्य उत्पन्न हो सकता है, अन्य नहीं, यथा तिलों की समर्थता 'तेल' उत्पन्न करने में है 'पर' उत्पन्न करने में नहीं। इसलिए तिलों से तेल ही उत्पन्न होता है। सिकता में तेल उत्पादन का सामर्थ्य नहीं है, इसलिए सिकता (बालू) कणों से तेल उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार समर्थ कारण से ही कार्योत्पत्ति होती है। सिद्ध होता है कि कार्य अपने कारण मे सत् है।

५. कारणभावात् – प्रत्येक कार्य का कारण होता ही है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कभी सम्भव नहीं। और यह कार्य सदैव अपने कारण के स्वरूप का होता है, भिन्न नहीं अर्थात् जिस प्रकार का कारण होता है उसी प्रकार का कार्य भी देखने में आता है। जैसे जौ के बीज से जौ की उत्पत्ति तथा धान्य के बीज से धान्य की उत्पत्ति देखी जाती है। इससे सिद्ध है कि जौ बीज में जौ–बालियां सूक्ष्म (अनभिव्यक्त) रूप में निहित रहती है। अन्यथा जौ–बीज से धतूरे का वक्ष बढ़ता दिखलाई पड़ता। कार्यकारण की यह समानरूपता सत्कार्यवाद को पुष्ट करती है।

इस प्रकार पांच प्रबल कारणों से सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है। इस विषय में भगवान् श्री कष्ण ने भी गीता में कहा है –

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात् असत् की कभी उपलब्धि नहीं होती तथा सत् का कभी अभाव नहीं होता।

४. गुण विवेचन

गुण – गुणों का विवेचन सांख्य दर्शन में महत्वपूर्ण है। दूसरे के लिए होने के कारण ये गुण कहे जाते हैं। गुणों की विषमता से सष्टि प्रक्रिया होती है। सत्त्व, रजस और तमस्, ये तीन गुण है। विस्तार रूप में गुणों के विषय में कह सकते हैं –

प्रीत्यप्रीतिविषादत्मकाः प्रकाशप्रवत्तिनियमार्थाः।

अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवत्तयश्च गुणाः।

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।

गुरूवरणकमेव तमः प्रदीवच्चार्थतो वत्तिः।

तीनों दुःख क्रमशः सुख दुःख तथा मोह स्वभाव वाले है।

गुणों का प्रयोजन – "प्रकाशप्रवतिनियमार्थाः।" सत्त्व गुण का प्रयोजन विषयों को प्रकाशित करना है। कार्य को प्रकाशित करने में बुद्धि वत्ति रूप प्रकाश 'सत्त्व' का प्रयोजन है। रजोगुण का प्रयोजन प्रवत्ति है। रजोगुण हमें प्रेरित करता है तथा तमोगुण का प्रयोजन प्रकाश और प्रवत्ति का नियमन करता है। इस प्रकार तीनों गुणों का प्रयोजन क्रमशः प्रकाशन सचालन तथा नियन्त्रण करना है।

गुणों का व्यापार – ये तीनों गुण परस्पर समन्वित रूप में क्रिया व्यापार सम्पादित करते हैं –

१. अन्योन्याभिभववत्ति – ये तीनों गुण परस्पर समन्वित रूप में क्रिया करने वाले हैं। सत्त्व, रजस् एवं तमस् को अभिभूत करके अपनी शान्तवत्ति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार रजोगुण सत्त्व एवं तमस् को अभिभूत करके घोर, दुःखात्मक वत्ति को प्राप्त करता है तथा तमोगुण सत्त्व एवं रजस् को अभिभूत करके मोहवत्ति को प्राप्त करता है। इसे इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, वक्ष में बढ़ना रूप व्यापार रजोगुण का परिणाम है, यदि तमोगुण नियन्त्रण न करता तो वक्ष बढ़ता ही जाता। सब प्राकतिक व्यवस्थाएँ कैसे चल पाती। इस प्रकार ये तीनों गुण एक दूसरे का अभिभव करके अपना–अपना व्यापार करते हैं।

२. अन्योन्याश्रयवत्ति – गुणों के अन्योन्याभिभव व्यापार को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि तीनों गुण एक–दुसरे के कट्टर शत्रु है। लेकिन सूक्ष्मता से देखने पर ज्ञात होता है कि दर्शनजगत् में यह 'गुण–विरोध' सहयोग पुरस्सर प्रतिष्ठित हुआ है। क्या दो परमाणु से निर्मित द्वयणुक अपने अवयवभूत एक परमाणु से अलग हो जाने पर ज्यों का त्यों बना रह सकता है? उत्तर है – नहीं क्योंकि द्वयणुक आश्रयी के दोनों परमाणु आश्रय है। इसी प्रकार ये गुण एक दूसरे के आश्रय बनते हैं। क्योंकि रजस् और तमस् के अभाव में सत्त्वगुण अपने प्रकाश कार्य में प्रवत्त नहीं हो पाता। वह रजस् के प्रवर्तन और तमस् के नियन्त्रण कार्यो के आश्रय से होने वाले अपने वस्तु प्रकाशन रूप कार्य द्वारा उन दोनों की सहायता करता है। इसी प्रकार रजस् अपने प्रवर्तन और तमस् अपने नियन्त्रण रूप कार्यो से अन्यों की सहायता करते हैं।

३. अन्योन्यजननवत्ति – यहाँ जनन का अर्थ है गुणों का परिणाम। तीनों गुण एक दूसरे का जनन करने वाले हैं। अर्थात् तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की अपेक्षा रखते हुए परिणाम उत्पन्न करता है। इसे सरूप परिणाम कहा जाता है।

४. अन्योन्यमिथुनवत्ति – अन्योन्यामिथुन' पद का अर्थ है – एक दूसरे के साथ मिलकर रहना। आचार्य गौडपाद गुणों के साहचर्य प्रदर्शन में पति–पत्नी के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को दष्टान्त रूप में प्रकट करते हैं। जो अत्यन्त उपयुक्त है। धर्मशास्त्रियों ने स्त्री पुरुष का सम्बन्ध जन्म जन्मान्तर पर्यन्त स्थायी माना है। गुण नित्य हैं इसलिए उनकी मैत्री भी चिरस्थायी है। कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों गुण मिलकर सष्टि सचालन का कार्य सम्पन्न करते हैं। कहा भी गया है –

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे, सर्वे सर्वत्र गामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।।
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्व रजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते।।
नेषामादिः सम्प्रयोगो, वियोगों वोपलभ्यते।

अर्थात् – अर्थात् तीनों गुण परस्पर सहचारी हैं, तीनों सभी जगह जाने वाले हैं। रजोगुण का सहचारी सत्त्व है और सत्त्वगुण का सहचारी रजो गुण है। तमो गुण के भी सत्त्व और रजस् सहचारी है तथा सत्त्व और रजोगुण का सहचारी तमोगुण है। इन गुणों का न तो प्रथम मिलन प्राप्त होता है और नही वियोग। इसलिए सिद्ध होता है कि ये गुण एक दूसरे के अभाव में न रहने वाले हैं।

तीनों गुणों का लक्षण

१. सत्त्वगुण – "सत्त्वं लघु प्रकाशकम्।" यहाँ लघुता से अभिप्राय है कार्य पटुता से युक्त होना। किसी वस्तु के ऊपर जाने में जो 'धर्म' कारण होता है, वह धर्म लघुत्व कहलाता है। गुरूत्व उर्ध्वगति में बाधक होता है। जल पथ्वी के नीचे गिरने में 'गुरूत्व' कारण है। लघुत्व गुरूत्व के विपरीत है। इसलिए सत्त्व गुण में लघुता ज्ञापित होती है।

सत्त्व प्रकाशक भी होता है। अहंकार के सात्विकांश से उत्पन्न होने के कारण ही इन्द्रियों में प्रकाशकत्व रूप विद्यमान रहता है।

२. रजोगुण – "उपष्टभ्मकं चलं च रजः।"

सत्त्व गुण प्रवत्तिशील न होने के कारण प्रकाशन रूप कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार तमोगुण को भी नियमन में रजस् की अपेक्षा होती है। इसलिए रजस् को उपष्टभ्मक अर्थात् उत्तेजक माना जाता है। रजस् के द्वारा उत्तेजित होने पर ही सत्त्व प्रकाशन रूपकार्य को तमस् नियमन रूप कार्य को करने में समर्थ हो पाता है।

३. तयोगुण – "गुरूवरणकमेव तमः।"

तमोगुण सत्त्वगुण के विपरीत होता है। सत्त्वगुण में लघुत्व है, तमोगुण में गुरूत्व, सत्त्वगुण में प्रकाशत्व है, तमोगुण में अवरोधकत्व अर्थात् आच्छादकत्व। जड़ता, निष्क्रियता, अन्धकार आदि का कारण तमोगुण ही है।

गुणों का सम्बन्ध – विवेचन से ज्ञात होता है कि तीनों गुण विपरीत स्वभाव के है। अतः जिज्ञासा होती है कि ये गुण विपरीत स्वभाव वाले होते हुए भी एक साथ मिलकर कार्य कैसे करते है?

जिज्ञासा की पूर्ति में कहते है – "प्रदीपवच्चार्थतो वत्तिः।" अर्थात् ये गुण दीपक की भांति मिलकर कार्य करते हैं। जैसे – अग्नि, तेल और बत्ती परस्पर विरोधी है, तथापि मिलकर वस्तुओं के रूप प्रकाशन का कार्य करते हैं। इसी पर सत्त्व, रजस् तथा तमस् भी विरोधी होने के बाद भी सष्टि रूप कार्य मिलकर करते हैं।

५. प्रकति स्वरूप तथा उसके अस्तित्व की सिद्धि

प्रकति स्वरूप - सांख्य दर्शन में मूलरूप से दो तत्त्व स्वीकार किये जाते है – प्रकति तथा पुरूष। ये सम्पूर्ण जगत् नित्य प्रकति की ही अभिव्यक्ति है। पुरूष चेतनतत्त्व परन्तु अपरिणामी तथा विकाररहित है। इसलिए अचेतन प्रकति ही जगत् का परिणाम है, चेतन पुरूष नहीं। सभी कार्यो का मूलोपादान प्रकति ही है। इसके स्वरूप के विषय में ईश्वर कष्ण लिखते हैं–

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्.गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।

अर्थात् ये प्रकति कारणरहिता, नित्या, सर्वगता, क्रियाहीना, एका, निराश्रिता, अलिङ्.गवती, अनवयवा, त्रिगुणत्मिका, अविवेकनी विषयभाविनी, सामान्या, जड़ा तथा प्रसव धर्मवाली है।

सांख्याचार्य इस संसार को सत् रूप में स्वीकार करते है। प्रकति के सत् रूप होने में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है।

प्रकति के अस्तित्व की सिद्धि में निम्नलिखित हेतु दिये गये है –

"भेदानांपरिमाणात् समन्वयात्, शक्तितः प्रवत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य।
कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्तते समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रय विशेषात्।"

१. भेदानां परिमाणात् – महत् आदि सभी कार्य सीमित है, अतः इन कार्यो का मूलकारण प्रकति ही होना चाहिए। महत् पदार्थ परिमित है, परतन्त्र है सान्त है लेकिन प्रकति अपरिचित, स्वतन्त्र और अनन्त है। जिस प्रकार परिमित घट का कारण अपरिमित मत्पिण्ड देखा गया है उसी प्रकार परिमित होने के कारण महत् आदि कार्यो का 'अव्यक्त' प्रकति रूप कारण अवश्य होगा। इस प्रकार प्रस्तुत कारण से प्रकति के अस्तित्व की पुष्टि होती है।

भेदानां समन्वयात् –समन्वय शब्द का अर्थ है – विभिन्न पदार्थों की समान रूपता। ये महत् आदि सुखदुःखमोहात्मक होते है। जो पदार्थ जिसके समान होते है, उनका कारण उसी स्वभाव वाली अव्यक्त वस्तुएँ होती है। अभिप्रायः यह है कि जो कार्य जिन गुणों, धर्मो, स्वरूप वाला होता है, उसका कारण भी उसी रूप वाला होता है। जैसे मिट्टी और सोने के पिण्ड से ही क्रमश घट तथा मुकुट आदि ही प्राप्त होते है।

उसी प्रकार महत् आदि कार्य सुखदुःखमोहात्मक होने से वे अपने ही स्वरूप वाले किसी अव्यक्त कारण का ज्ञान कराते है। और वह अव्यक्त कारण प्रकति तत्त्व ही है, क्योंकि सभी पदार्थ सुख, दुःख मोह उत्पन्न करते हैं, उनका कारण भी त्रिगुणात्मक ही होगा। अतः त्रिगुणात्मिका प्रकति की सिद्धि होती है।

३. शक्तितः प्रवत्ति – कारण की शक्ति से कार्य प्रवत्त होता है। असमर्थ कारण से कार्योत्पत्ति नहीं होती। महत् अंहकार आदि कार्य हैं, अतः उनको उत्पन्न करने वाला समर्थ कारण अवश्य ही होगा–यह कारण ही अव्यक्त प्रकति है। अभिप्रायः यह है कि जैसे घट, पट आदि कार्यो की उत्पादिका शक्ति का आश्रय मिट्टी और तन्तु आदि हैं जो इनका कारण हैं, उसी प्रकार महत् आदि कार्यो को उत्पन्न करने वाली शक्ति का आश्रय कोई तत्त्व अवश्य होगा, वही इनका कारण है। इसी मूल कारण को 'प्रकति' तत्त्व कहा गया है।

४. कारण कार्यविभागात् – कारण से समस्त कार्यो का आविर्भाव होता है। जैसे महत् कारण से अहंकार कार्य का आविर्भाव होता है और वह उससे पथक् हो जाता है। यही नियम है। जगत् भी एक कार्य है, अतः उसका भी एक कारण होगा। यह कारण की प्रकति है, जिसमें समस्त जगत् अव्यक्त रूप से अवस्थित है। यह ठीक है कि कारण कार्य में अभेद, तादात्म्य होता है। पर जैसे कूर्म के शरीर में छिपे अंग, बाहर प्रकट होने पर कहा जाता है यह कूर्म की ग्रीवा है यह पाद हैं। इसी प्रकार प्रकति और व्यक्त महत् आदि की स्थिति होती है। यह महत् आदि प्रकति में पहले से सद् है इनका आविर्भाव होने पर कारण कार्य की पथक्ता हो जाती है।

५. अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य – अपने कारण में ही कार्य का विलय होने से समस्त कार्यो का मूल कारण अव्यक्तरूप प्रकति सिद्ध होती है। जिस प्रकार कूर्म अपने अड्.गों को प्रकट करके फिर अपने भीतर समेट लेता है, इसी प्रकार समस्त पदार्थो का विलय भी अपने–२ कारण में होता है इन महत् आदि कार्यो का जिसमें तिरोभाव का विलय होता है वही मूल प्रकति है।

संसार में सभी पदार्थ त्रिगुणयुक्त होते हैं। कहीं सत्त्वगुण की अधिकता होती है। कहीं रजोगुण की अधिकता दिखाई देती है। कहीं तमोगुण की अधिकता होती है। इन सभी व्यक्त पदार्थों से भिन्न प्रकति में तीनों गुणों की समानता होती है। सष्टि प्रारम्भ के विकास में ये गुण विषमावस्था में होते हैं। अतः प्रकति ही सभी का मूलकारण है। शंका उठती है कि प्रकति एक है फिर भी वह विभिन्न प्रकार की सष्टि कैसे उत्पन्न करती है।

उत्तर में कहते है – जैसे जल एक ही होता है परन्तु वह विभिन्न आश्रयों को प्राप्त करके मधुरता लवणता, कटुता तिक्तता आदि गुणों वाला हो जाता है उसी प्रकति भी विभिन्न प्रकार की हो जाती है।

उपर्युक्त कारणों ज्ञात होता है कि प्रकति की सत्ता है। अन्य पदार्थो की वही उत्पादिका है।

६. पुरूष स्वरूप, पुरूष के अस्तित्व की सिद्धि तथा पुरूष बहुत्व

पुरूष का स्वरूप - सांख्याभिमत दो मूल तत्त्वों में प्रकति के अतिरिक्त पुरूष ही दूसरा तत्त्व है। पुरूष नित्य तत्त्व है। जिज्ञासा होती है कि पुरूष का स्वरूप क्या है? पुरूष के स्वरूप के विषय में हम कह सकते हैं कि –

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथा प्रधान तद्विपरितस्तथा च पुमान्।"

इस कारिका के विश्लेषण से ज्ञात है कि पुरूष (आत्मा) तीनों गुणों से रहित, विवेकी, अभोग्य, असामान्य, चेतन तथा अप्रसवधर्मि है।

वह पुरूष कारण रहित, नित्य व्यापक, क्रियाहीन, अन्यत्र अनाश्रित, अलिड्.ग, अवयवहीन तथा स्वतन्त्र है।

सांख्य में पुरूष के अस्तित्व को भी सप्रमाण सिद्ध किया गया है। पुरूष की सत्तासिद्धि में निम्न हेतु बड़े प्रबल हैं –

"संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठनात्।

पुरूषोस्ति भोक्तभावात् कैवल्यार्थं प्रवत्तेश्च।"

१. संघातपरार्थत्वात् – यह देखा जाता है कि संसार में जितने भी संघात (समूह) अर्थात् मिश्रित अवयवों से युक्त पदार्थ हैं, वे किसी अन्य के उपयोग के लिए होते है। पलंग, आसन आदि स्वयं के लिए नहीं होते, दूसरे के लिए होते है। अव्यक्त, महत् अहंकार आदि भी संघात है। अतः ये भी किसी अन्य के लिए हैं। वह अन्य जीवात्मा या पुरूष है जिसके भोग के लिए महत् आदि है। वह अन्य जीवात्मा या पुरूष इनका उपभोक्ता क्यों स्वीकार किया जाता है? इसका कारण यह है कि प्रकति, महत् अहंकार देह आदि सुख दुःख मोहात्मक है, इसीलिए इन्हें संघात भी कहा गया है। इनका भोक्ता कोई संघात रहित ही होना चाहिए। पुरूष प्रकति की भांति त्रिगुणात्मक नहीं है, इसलिए संहत भी नहीं है। अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि प्रकति रूप संघात वस्तु का उपभोक्ता असंहत पुरूष है। इस प्रकार पुरूष की सत्ता स्वीकार्य है।

२. त्रिगुणादिविपर्ययात् – प्रथम हेतु में दष्टान्त दिया गया था कि पंलंग, आसन आदि किसी दूसरे (शरीर) के लिए होते है, उसी प्रकार प्रकति 'पुरूष' के लिए है। इस दष्टान्त में शरीर भी तो एक संघात है अर्थात् पंलग आसन आदि संघात दूसरे संघात (शरीर) के लिए हैं, उसी प्रकार महत् आदि संघात को भी किसी दूसरे संघात के लिए होना चाहिए। इससे पुरूष की सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती।

इसका उत्तर यह है कि प्रकति आदि संघात को दूसरे संघात के लिए मानने पर उस दूसरे संघात को किसी तीसरे

संघात के लिए मानना पड़ेगा, तीसरे को चौथे के लिए – इस प्रकार अनवस्था की स्थिति उपस्थित हो जायेगी। इसलिए इस अनवस्था के भय से पुरूष को संघात से भिन्न माना गया है। संघात भिन्न होने से वह निर्गुण, विवेकी, अविषम चेतन मानना पड़ेगा। इस प्रकार 'त्रिगुणादि विपर्ययात्' कहने का अर्थ यही है कि त्रिगुणादि से भिन्न भी कोई वस्तु है जो संघात रूप नहीं और वही पुरूष है।

३. अधिष्ठानात् – अधिष्ठाता (स्वामी) होने के कारण भी पुरूष की सत्ता सिद्ध होती है। सभी वस्तुओं का कोई अधिष्ठाता अवश्य होता है। त्रिगुणात्मक, सुखदुःख मोह स्वरूप वाली वस्तुएँ किसी अन्य से प्रेरित होती हैं। जैसे रथ तभी चलता है जब सारथि चलाता है। इस प्रकार महत्, अहंकार, इन्द्रियों आदि सभी सुखदुःखमोहात्मक है। अतः इनका भी कोई नियन्त्रक अवश्य ही होगा और वह है तीन गुणों से रहित पुरूष।

४. भोक्तभावात् – भोक्ता का भाव होने से पुरूष ज्ञात होता है। त्रिगुणात्क्म वस्तुओं के लिए भोक्ता की अपेक्षा है और वह भोक्ता पुरूष है। सभी त्रिगुणात्मक वस्तुएँ भोग्य होती है। प्रकति भी त्रिगुणात्मिका होने से भोग्य है। भोग्य का भोग्यत्व इसमें है कि कोई उसका भोक्ता होवे और वह भोक्ता चेतन ही हो सकता है। व्यक्त तथा अव्यक्त तो अचेतन है, पुरूष चेतन है। अतः पुरूष ही इनका भोक्ता है। भाव यह है कि व्यक्त और अव्यक्त द्वारा सुखी, दुःखी बनाया जाने वाला कोई अन्य ही हो सकता है, जो इसके स्वरूप का न हो और वह है पुरूष, क्योंकि वह निर्गुण है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए भोक्ता अपेक्षित होने से पुरूष की सत्ता सिद्ध होती है।

५. कैवल्यार्थः प्रवत्ते : – कैवल्य के प्रति प्रवत्ति होने के कारण प्रकति, महत्, अहंकार, इन्द्रिय आदि से व्यतिरिक्त पुरूष नामक तत्त्व के अस्तित्व की पुष्टि होती है। कैवल्य का अर्थ है त्रिविध दुःख निवत्ति। यह निवत्ति बुद्धि आदि की नहीं हो सकती क्यांकि दुःख इत्यादि तो इनका स्वरूप ही है, यह त्रिगुणात्मक हैं। ये अपने स्वरूप से पथक् कैसे हो सकते हैं। हाँ बुद्धि आदि से भिन्न कोई तत्त्व, जिसका स्वरूप दुःख आदि नहीं है उससे पथक् हो सकता है। जिसका दुःख स्वरूप नहीं है, उसे ही दुःख से मुक्ति मिला सम्भव है। इसलिए पुरूष की सत्ता में यह भी एक सबल हेतु है।

पुरूष बहुत्व – पुरूष का स्वरूप और उसकी सत्ता जानने के पश्चात् यह सन्देह स्वाभाविक है कि यह पुरूष सभी शरीरों में एक है या प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न है? कारिकाकार ने 'पुरूष बहुत्व' का प्रतिपादन करते हुए तीन हेतुओं को उद्धत किया है –

"जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवतेश्च।
पुरूष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।"

१. जननमरणकरणानां प्रतिनियमात् – जन्म, मरण और इन्द्रियों के व्यापार प्रत्येक पुरूष के भिन्न –२ रूप से नियमित हैं। एक उत्पन्न होता है, तो दूसरा मरता है। यह भेद तभी सम्भव है, जब अनेक पुरूष हो। यदि एक पुरूष (आत्मा) होता तो एक के उत्पन्न के साथ ही सभी की उत्पत्ति होती और एक की मत्यु होने के साथ सभी मरते। इसी प्रकार एक ही इन्द्रिय में विकार होने पर अन्यत्र भी उसी प्रकार की प्राप्ति होती। एक के अन्धे होने पर या बधिर होने पर शेष भी अन्धे या बधिर हो जाते। किन्तु जन्म, मत्यु और इन्द्रियों की यह समानता कभी भी नहीं देखी जाती। इससे सिद्ध होता है कि पुरूष अनेक हैं। तभी तो किसी की मत्यु हो रही है, किसी का जन्म हो रहा है, किसी की इन्द्रिय में दोष उत्पन्न हो रहा है और किसी में यह दोष ठीक हो रहा है। यदि एक ही पुरूष सब में है तो वह विविधता का प्रश्न हल नहीं हो पायेगा। इसलिए पुरूष का बहुत्व सिद्ध है।

यह कहा जा सकता है कि पुरूष तो अज, नित्य तथा अपरिणामी है। न उसका जन्म होता है और न मत्यु सम्भव है तथा किसी प्रकार के विकार को प्राप्त होने की कल्पना भी हास्यास्पद लगती है। वस्तुतः नई देह, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, सुख–दुःख आदि के साथ पुरूष का सम्बन्ध होना ही उसका जन्म है। और देह से सम्बन्ध विच्छेद ही उसकी मत्यु है।

२. अयुगपत्प्रवत्ते – एक साथ प्रवत्ति न होने के कारण भी पुरूष की अनेकता सिद्ध होती है। अर्थात् यदि सब शरीरों में एक ही पुरूष होता तो एक शरीर में प्रवत्ति होने पर अन्य शरीरों में भी उसी समय व्यापार होना चाहिए। फिर तो एक शरीर के हंसने पर सभी हंसने चाहिए और रोने पर सब रोने चाहिए। चलने पर सभी चलने चाहिए और एक के सोने पर सब सो जाने चाहिए। पर ऐसा कभी नहीं होता। क्योंकि सब में पथक् – पथक् पुरूष हैं। एक साथ सबके हंसने गाने, रोने, सोने, चलने की अव्यवस्था तभी दूर हो सकती है जब, प्रत्येक शरीर का नियन्ता, अधिष्ठाता पुरूष भिन्न–भिन्न माना जाये। जिस प्रकार एक ही समय में एक साथ ही चलाये गये अनेक रथों में समानता दष्टि गोचर न होने से उनके भिन्न–भिन्न नियन्ता का ज्ञान

होता है, उसी प्रकार असमान व्यापार दिखाई न देने के कारण भिन्न–भिन्न शरीरों का अधिष्ठाता भिन्न–भिन्न पुरूष होता है।

३. त्रैगुण्यविपर्ययात् – प्रत्येक प्राणी में सत्त्व, रजस्, तमस् त्रिविध गुणों की विविधता के कारण भी पुरूष की अनेकता सिद्ध होती है। यदि सभी शरीरों में एक ही पुरूष होता तो सभी में सत्त्व रजस्–तमस् का अनुपात समान ही रहता। पर देखा जाता है कि प्रत्येक प्राणी में यह अनुपात भिन्न–भिन्न ही है। कुछ प्राणी सत्त्व बहुल हैं, कुछ रजोगुण बहुल और कुछ तमोगुण बहुल। यथा देव और ऋषियों में सत्वगुण का प्राबल्य होने से वे सर्वोत्तम है। रजोगुण बहुल होने से मनुष्य मध्यम कोटि में परिगणित होते हैं और तमोगुण बहुलता के कारण पशु, पक्षी निकष्ट योनि में माने जाते है। यदि सब शरीरों में एक ही पुरूष होता तो यह विभाग तथा त्रिगुणविपर्यय क्यों होता? इसलिए प्रत्येक शरीर में गुण की भिन्न–२ स्थिति होने से उन शरीरों में रहने वाला पुरूष भिन्न ही है।

इस प्रकार सांख्य शास्त्रियों ने पुरूष सिद्धि तथा उसके बहुतत्व का विवेचन किया है।

७. सष्टि-प्रक्रिया

सांख्य दर्शन में दो ही पदार्थ मुख्यतः ज्ञेय हैं – प्रकति और पुरूष। प्रकति जड़ है और पुरूष चेतन। सारा जगत् इसी जड़ प्रकति का परिणाम है। इसी परिणाम को सष्टि कहते हैं। सष्टि से पूर्व सत्त्व, रजस् और तमस–ये तीनों गुण साम्यावस्था मे वर्तमान रहते हैं। यह साम्यावस्था ही प्रकति है। जब प्रकति और पुरूष का संयोग हुआ तो प्रकति में क्षोभ (विकार) उत्पन्न हो जाता है। इसे 'गुणक्षोभ' कहते हैं। सर्वप्रथम रजोगुण में स्पन्दन होता है, क्योंकि रजोगुण ही क्रियाशील और उपष्टम्भक (उत्तेजक) है। इससे सत्त्व और तमस् उद्वेलित हो उठते हैं, जिसमें प्रकति में भीष्ण आन्दोलन उत्पन्न हो जाता है। ये तीनों गुण एक दूसरे का अभिभव करना चाहते हैं, जिससें ये न्यूनाधिक्य–विषम स्थिति में हो जाते हैं। यह न्यनाधिकता ही सष्टि का आरम्भ है। इस स्थिति में पुरूष का भी प्रकति के साथ संयोग हो जाता है और सष्टि हो जाती है।

सष्टि के विकास का क्रम :

प्रकति मूल कारण है, पर इसका कोई कारण नहीं है। 'मूल प्रकतिरविकतिः'। यह पहला तत्त्व है। इससे तेईस तत्त्वों का आविर्भाव हुआ है –

प्रकतेर्महान् ततोहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पचभ्यः पचभूतानि।।

प्रकति से महान् – मूल प्रकति से महान् अर्थात् बुद्धि का आविर्भाव होता है।

महान् से अंहकार – महत् से अंहकार की उत्पत्ति होती है।

अहंकार से षोडशगण – इस अंहकार से सोलह तत्त्वों का समुदाय उत्पन्न होता है। पाँच तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इन्द्रियाँ या षोडश गण है। पच तन्मात्राएं तामसिक अहंकार से तथा ग्यारह इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती है।

पाँच भूत – उपर्युक्त जो पोडपगण है उसमें पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार प्रकति किसी कारण से उत्पन्न नहीं है और पाँच महाभूत किसी के कारण नहीं है –

मूलप्रकतिरविकतिर्महदाद्याः प्रकति विकतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारों न प्रकतिर्न विकतिः पुरूषः।।

अर्थात्– मूल कारण प्रकति है जो विकार नहीं है, उससे महदादि सात (महत्, अहंकार, पचतन्मात्राएं जो प्रकति भी है तथा विकति भी) पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सोलह का समुदाय (ग्यारह इन्द्रिय ाँ, पच महाभूत) केवल विकति (कार्य) हैं। तथा पुरूष न तो प्रकति है न विकति है।

महत अहंकार आदि व्यक्त तत्त्वों की व्याख्या-

सष्टि प्रक्रिया में जिन तेईस तत्त्वों का विकास होता है, उसके विशेष स्वरूप का अध्ययन भी अपेक्षित है। प्रकति से महत् की उत्पत्ति होती है।

महत् (बुद्धि) तत्त्च –

अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम्।।

यहाँ क्रिया और क्रियावान् में अभेद मानकर 'निश्चय' को ही बुद्धि कह दिया गया है। उसका अर्थ है – निश्चय करने वाला तत्त्व बुद्धि है। मनुष्य बाह्य कार्य व ज्ञान को सर्वप्रथम बाह्येन्द्रियों से ग्रहण करता है, फिर मन से संकल्प–विकल्प कर अंहकार से 'मैं' इसे करने में अधिकत हूँ। ऐसा अभिमान कर बुद्धि द्वारा निश्चय करता है कि 'यह मुझे करना है' – यही बुद्धि का निश्चय है, जिसे वह पुरूष के संयोग से सचेतन सी होकर किया करती है–यही बुद्धि का असाधारण कार्य अथवा लक्षण है।

इस बुद्धि के दो रूप हैं – सात्विक और तामस।

(१) धर्म ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य – यह बुद्धि का सात्विक रूप है।

(२) अर्धम, अज्ञान, अविराग और अनैश्वर्य – यह तामस रूप है।

अहंकार तत्व -

अभिमानोहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपचकश्चैव।।

बुद्धि में जब 'मैं' और 'मेरा' यह अहभाव उत्पन्न होता है, तब यही 'अहंभाव' कहलाता है। यह जो गहीत विषय मै, इसमें मैं ही अधिकत हूँ, मैं ही इसे करने में समर्थ हूँ – यही अहंभाव अहंकार है। यह अभिमान करना ही अहंकार का कार्य है और यही इसका लक्षण भी है। इस अहंकार के आश्रय से ही बुद्धि यह निश्चय करती है कि – यह मुझे करना चाहिए। वस्तुतः यहाँ भी अभेद–विवक्षा से 'अभिमानोहंकार' कह दिया है। इसका अभिप्राय है 'अभिमानवान् अहङ्.कार'। इस अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है।

अहंकार इन्द्रियसमूह और पचतन्मात्राएँ

अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्राओं का अविर्भाव होता है। प्रकति से एक महत् तत्त्व उत्पन्न हुआ, महतत्त्व से एक अहंकार, फिर एक अहंकार से ये दो समुदाय कैसे प्रकट हुए?

इस आशंका का समाधान यह है कि अहंकार में भी सत्त्व रजस्, तमस् तीनों गुण हैं। जब सत्त्वाँश की अधिकता हो जाती है, तो एकादश इन्द्रिय गुण प्रकट होता है, इसी को वैकत अर्थात् सात्विक अहंकार से आर्विभूत माना गया है तथा तमोगुणप्रधान अर्थात् तामस अहंकार से तन्मात्र समूह जन्य है। राजस अहंकार का कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं है, अतः उससे इन्द्रियाँ और तन्मात्राएँ दोनो प्रकट होती हैं। अभिप्राय यह है – सत्त्वगुण निष्किय होने में वह इन्द्रियों के उत्पादन में तैजस (रजोगुण) अहंकार की सहायता लेता है, इसी प्रकार तामस अहंकार भी निष्क्रिय है, वह भी तन्मात्राओं की उत्पत्ति में तैजस अहंकार की सहायता लेता है।

सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम्।।

(क) एकादश इन्द्रिय गण–

ग्यारह इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच कमेन्द्रियाँ और ग्यारहवां मन।

(अ) दश इन्द्रियाँ–

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।

चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ है तथा वाक्, पाणि, पायु और अपस्थ ये कमेन्द्रियाँ हैं। ये दश इन्द्रियाँ सात्विक अहंकार से प्रकट हुई है, इसलिए इनमें भी प्रकाशकत्व धर्म है। इसका कार्य यह है –

शब्दादिषु पचानामालोचनमात्रमिष्यते वत्तिः
वचनादानेविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पचानाम्।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को सामान्य रूप से जानना हो इन श्रोत्र, त्वक, चक्षु, रसना और श्रोत्र इन ज्ञान इन्द्रिय का विशेष व्यापार है। इसी प्रकार बोलना, आदान, विहरण, मलत्याग और आनन्द यह वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन कर्मेन्द्रियों का व्यापार है।

(आ) ग्यारहवीं इन्द्रिय मन–

'मन' को इन्द्रिय मानने का कारण यह है कि मन और अन्य इन्द्रियों में सात्त्विकाहकारोपादानकत्व धर्म दोनों में समान है। दोनों का उत्पत्ति स्थल एक ही है – सात्त्विक अहंकार। इसलिए इसे इन्द्रिय माना गया है। यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता है, इसलिए 'मन' कर्मेन्द्रिंय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी।

'मन' का लक्षण है। यह ऐसा, ऐसा नहीं है – इस प्रकार संकल्प विकल्प करना।

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रिय च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषन्नानात्वं बाह्यभेदाश्च।।

यहाँ यह भी कहा गया है कि शंका नहीं करनी चाहिए कि एक सात्त्विक अहंकार में एकादश इन्द्रियाँ कैसे उत्पन्न हो गई? क्योंकि जैसे एक मिट्‌टी से अदष्टिविशेष के सहारे घट, ईंट, पत्थर, पर आदि भिन्न–भिन्न पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार गुणों के अदष्टविशेष से इन्द्रियों की अनेकता सिद्ध है।

(ख) पचतन्मात्रागण –

तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। ये तन्मात्रा 'अविशेष' अर्थात् सूक्ष्मविषय हैं–

ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ही पाँच तन्मात्राएँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा इनकी विशेषता यह है कि ये तन्मात्रएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि इनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। ये योगियों द्वारा ही ग्राह्य होती हैं।

अहंकार से उत्पन्न ग्यारह इन्द्रियों से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, पर पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत अवश्य उत्पन्न होते हैं।

पच महाभूत -

अविशेष अर्थात् सूक्ष्म पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये विशेष (स्थूल) है तथा शान्त, घोर और मूढ़ है–

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पच पचभ्यः।
एते स्मता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं से उत्पन्न होने वाले पाँच भूत क्रमशः ये हैं– आकाश, वायु, तेज, जल और पथ्वी।

इस प्रकार सम्पूर्ण सष्टि का अविर्भाव होता है।

त्रयोदशकरण और उनका व्यापार

भारतीय दर्शनों में इन्द्रियों की उत्पत्ति को लेकर पथक्–२ विचार हुआ है। सांख्य का चिन्तन भी बड़ा मौलिक है। 'सष्टि प्रक्रिया' पर विचार करते हुए यह विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रकति से महत् की उत्पत्ति होती है, महत् से अहंकार की और अहंकार से इन्द्रियों और तन्मात्राओं की। सभी महत् अहंकार आदि के अपने–अपने व्यापार हैं।

१. त्रयोदश करण –

सांख्य शास्त्र में तेरह करण माने गए हैं–करणं त्रयोदशविधम। 'करण' शब्द का अर्थ साधकतम अर्थात् क्रिया की सिद्धि में प्रकष्ट कारण ही करण हैं। वाचस्पति मिश्र ने इन १३ करणों के नाम इस पर परिगणित किए हैं –

इन्द्रियाण्येकादश बुद्धिरहंकारश्चेति त्रयोदशप्रकारं करणम्।

इन करणों के दो विभाग किए जाते हैं – १. अन्तःकरण और २. ब्राह्मकरण।

(क) अन्तःकरण

अन्तःकरण तीन होते हैं–अन्तःकरणं त्रिविधम। और इनके नाम हैं – बुद्धि अहंकार और मन। इन्हें अन्तःकरण इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि ये स्थूल शरीर के अन्दर रहा करते हैं, ह्रदयपद्म में रहते हैं –

अन्तःकरणं त्रिविधम् – बुद्धिरहड्.कारो मन इति। शरीराभ्यन्तरवतिंत्वादन्तः करणम्।

इन्दियों का विषय इस प्रकार है–

ज्ञानेन्द्रियाँ : चक्षु – रूपः क्षोत्र – शब्द, घ्राण – गन्धः रसना – रस तथा त्वक् – स्पर्श।

कर्मेन्द्रियाँ : वाक् – वचन, पाणि – आदान, पाद– विहरण, पायु–मलोत्सर्ग तथा उपस्थ – आनन्द।

२. करणों का व्यापार

(क) अन्तःकरणों का व्यापार –

बुद्धि, अहंकार और मन का विशेष व्यापार तो उनके अपने–अपने लक्षण ही हैं। अर्थात् बुद्धि का लक्षण है निश्चय करना, अहंकार का लक्षण है अभियान करना और मन का लक्षण है संकल्प करना – ये लक्षण ही इनके व्यापार हैं। यह इनके विशेष कार्य हैं।

इन विशेष कार्यो के अतिरिक्त सम्मिलित रूप से सामान्य व्यापार भी है और यह है – प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान – इन पाँच भीतरी वायुओं के द्वारा शरीर को धारण करना।

(ख) बाह्यकरणों का व्यापार–

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के जो विषय हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करना ही इन बाह्यकरणों का व्यापार है।

(ग) अन्तः और बाह्यकरणों का सम्मिलित व्यापार –

ये करण पथक्–पथक् कार्य करते हुए भी शरीर में इकट्ठे ही रहते हैं। अतः यहाँ सम्मिलित व्यापार से अभिप्राय एक समय में ज्ञान प्राप्त करना मात्र नहीं है। अर्थात् एक शरीर में इन सभी करणों का व्यापार किस प्रकार होता है – यह स्पष्ट करना यहाँ अभिप्रेत है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के विषय में बाह्य और त्रिविध अन्तःकरणों का व्यापार कभी एक साथ होता है और कभी क्रमशः होता है –

युगपच्चतुष्टयस्य तु वत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।

दष्टे तथाप्यदष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वत्तिः।। (कारिका–३०)।।

(१) प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में व्यापार –

प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में यह यौगपद्य और क्रमशः व्यापार इस प्रकार होता है –

(यौगपद्य) – यथा घने अन्धकार में बिजली के चमकने पर कोई व्यक्ति बाघ को अपने सामने बिल्कुल समीप देखता है, तो उसके बाह्य इन्द्रिय कत आलोचन, मन कत संकल्प अहंकार कत अभिमान तथा बुद्धि कत (वहा से हट जाने का) निश्चय एक साथ ही होते हैं। इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय और मन, अहंकार, बुद्धि का युगपत् व्यवहार या व्यापार होता है।

(क्रमशः) – यथा, मन्द मन्द प्रकाश में कोई व्यक्ति पहले किसी वस्तु को अस्पष्ट सा देखता है। तब मन द्वारा वह विचार करता है कि यह तो कानों तक खिंचे हुए, बाणयुक्त धनुष वाला क्रूर चोर है, फिर अहंकार से वह यह अभिमान करता है कि यह मेरी ओर आ रहा है, तब फिर वह बुद्धि द्वारा यहां से भाग जाने का निश्चय करता है। यहाँ बाह्य इन्द्रिय, और मन, अहंकार, बुद्धि क्रमशः अपने अपने व्यापार में प्रवत्त हो रहे हैं।

(२) परोक्ष पदार्थ के विषय में व्यापार –

परोक्ष पदार्थ के विषय में तो बाह्य इन्द्रियों के सहयोग के बिना ही मन, अहंकार और बुद्धि का व्यापार होता है। यह व्यापार भी कभी युगपत् और कभी क्रमशः हुआ करता है। परोक्ष के विषय में इन तीनों अन्तःकरणों का व्यापार प्रत्यक्षपूर्वक ही हुआ करता है, क्योंकि अनुमति आदि प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक ही हुआ करती है।

(युगपत् वत्ति) – यथा गुहा में रहने वाले सिंह के गर्जन का आलोचन करने पर श्रोता के मन में 'यह स्थान (गुफा) सिंह युक्त है' इस प्रकार से संकल्प, अभियान, अध्यवसायादि अनुमिति वत्तियाँ युगपत् होती हैं। इसका एक और उदाहरण द्रष्टव्य है – किसी मकान में कोई व्यक्ति खड़ा है, वह अपने चारों तरफ धुएँ को देखता है, तो तुरन्त उसके संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय रूप व्यापार होते हैं और कहता है– 'अयं प्रदेशः वह्निमान्' और वहाँ से भाग खड़ा होता है। यह युगपत् वत्ति है।

(क्रमशः वत्ति) – जैसे प्रकाश को देखकर या दूर से धूम को देखकर पर्वत पर अदष्ट अग्नि के विषय में उस व्यक्ति को संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय क्रमशः होते हैं।

करणों में बुद्धि की प्रधानता

ये जो तेरह करण बताए गए हैं, इनमें तीन अन्तःकरणों के विषय को बाह्य दश करण उपस्थित किया करते हैं। बाह्य करण केवल वर्तमान विषयक होते हैं, जबकि अन्तकरण त्रिकाल विषयक होते हैं, जैसे, नदीवेग को देखकर भूतकालिक वर्षा

का अनुमान, धूम देखकर पर्वत पर अग्नि का अनुमान, और अण्डे ढोती हुई चीटियों को देखकर भविष्यतकालिक वर्षा का अनुमान। यह त्रिकालिक ज्ञान अन्तःकरणों से हुआ करता है –

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।

साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं कारणम्।।

इन अन्तःकरणों में भी बुद्धि ही प्रधान है, क्योंकि मन और अहंकार सहित यह बुद्धि ही बाह्येन्द्रियों द्वारा उपस्थित किए गए सभी विषयों में व्याप्त होती है। इसीलिए बाह्य इन्द्रियाँ द्वार हैं, अप्रधान हैं और अन्तःकरण द्वारी बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा प्रधान हैं–

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्व विषयमवगाहते यस्मात्।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि।।

बुद्धि की प्रधानता बाह्यकरणों और अहंकार इन दो अन्तःकरणों से भी बुद्धि का प्राधान्य है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार ग्रामाध्यक्ष, गहस्वामियों से 'कर' लेकर जनपद या प्रान्त के अध्यक्ष को देता है, वह प्रान्ताध्यक्ष उस कर को देश के अध्यक्ष को दे देता है और वह देशाध्यक्ष सम्राट् को सौंप देता है। इसमें प्राधान्य तो 'सम्राट्' का ही है। इसी प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ भी विषयों को ग्रहण करके मन को सौंप देती है, मन उसका संकल्प करके अहंकार को देता है, अहंकार अभिमान करके बुद्धि को सौंप देता है। अन्ततः बुद्धि ही उन विषयों का अध्यवसाय करती है। इसलिए बुद्धि ही प्रधान है।

८. लिड्.ग शरीर की अवधारणा

सांख्य दर्शन में लिड्.ग शरीर अर्थात् शरीर की कल्पना की गई है। आत्मा और प्रकति का संयोग होने से अचेतन बुद्धि आदि चेतन सदश प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार प्रकति गुणों के कर्ता होने पर भी उदासीन आत्मा कर्ता सा प्रतीत होता है। इस प्रकार आत्मा को निष्क्रिय माना गया है तथा शुद्ध आत्मा के व्यापक एवं निष्क्रिय होने से उसका परलोक गमन तथा वहां से आगमन अर्थात् पुनः शरीर धारण करना संभव नहीं, और स्थूल देह इसी लोक में भस्म हो जाता है, फिर परलोक–गमनागमन व्यवस्था, पुनर्जन्म व्यवस्था किस प्रकार सम्भव है। इसी व्यवस्था निर्धारण के लिए लिड्.ग शरीर को माना गया है।

वेदान्त में भी सूक्ष्म शरीर की कल्पना की गई है। सांख्य दर्शन के अनुसार यह सूक्ष्म शरीर अठारह तत्त्वों का बना हुआ है। वेदान्त के अनुसार यह सप्तदश अवयवात्मक है। वेदान्ती अहंकार का अन्तर्भाव मन में मान लेते हैं और सांख्य शास्त्रियों के पचतन्मात्रा के स्थान में वेदान्ती लोग पच प्राणों को मानते हैं। इस प्रकार सांख्य और वेदान्त ये दोनो ही शास्त्र इस सूक्ष्म शरीर को मानते हैं।

सूक्ष्म शरीर की कल्पना का आधार

लिड्.ग शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर से अभिप्राय है अष्टादश तत्त्वात्मक शरीर, इसका निरूपण आगे किया जाएगा। सूक्ष्म शरीर के स्वरूप विषयम अध्ययन से पूर्व यह विचार स्वाभाविक रूप से उठता है, आखिर इस लिड्.ग शरीर को मानने की क्या आवश्यकता है? आचार्य ईश्वरकष्ण ने एक लौकिक उदाहरण से इसका समाधान किया है –

चित्रं यथाश्रयमते स्थाणवादिभ्यो बिना यथा छाया।

तद्वद्विना विशेषैर्नतिष्ठति निराश्रयं लिड्.गम्।

जब किसी की मत्यु हो जाती है, तो आत्मा स्थूल शरीर से पथक् हो जाता है। अब जब तक उसे पुनः नया स्थूल शरीर नहीं मिलता, तब तक उसके पुण्यापुण्य कर्म भी कैसे रहेंगे। और जब आत्मा का नए शरीर में प्रवेश हुआ, तो वे पुण्यापुण्य कर्म नष्ट हो चुके हैं, अतः किस प्रकार यह पुनर्जन्म व्यवस्था और परलोकगमनागमन व्यवस्था हो पाएगी? इसलिए लिड्.ग शरीर को मानना आवश्यक है। वस्तुतः जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तब भी बुद्धि आदि रहते ही हैं। पर, बुद्धि आदि तेरह तत्त्व प्रत्येक पुरूष को भोग देने के लिए उत्पन्न हुए शरीर के सहारे ही रहते हैं, क्योंकि वे पचतन्तात्राओं से युक्त होकर बुद्धि अहंकार आदि रूप में ही रहते है। अब यह कहा जा सकता है कि – 'जो जो पदार्थ तन्मात्रा से युक्त होकर बुद्ध्यादि रूप से रहता है, वह शरीर के बिना नहीं रहता, जैसे इस स्थूल शरीर के साथ रहने वाले बुद्धि, अहंकार आदि पदार्थ। इस अनुमान के बल पर यह निश्चय हुआ कि – हम प्रतिदिन देखते हैं कि जीवित प्राणी के बुद्धि आदि पदार्थ उसके स्थूल शरीर के सहारे ही रहते हैं। जब ये शरीर के बिना नहीं रहते, तो फिर मत्यु के पश्चात् शरीर न रहने पर ये निराधार कैसे रहेंगे। बुद्धि आदि को स्थूल शरीर के साथ नष्ट (विलीन) हुआ नहीं माना जा सकता क्योंकि कर्मो का फल भोगने के लिए इन बुद्धि आदि तत्त्वों की

आवश्यकता तो अनिवार्य रूप से अपेक्षित है फिर ये किसके सहारे रहेंगे। इसके लिए लिङ्.ग शरीर को मानना आवश्यक है। इसलिए जैसे आश्रय के बिना चित्र और स्थाणु आदि के बिना छाया नहीं रहती, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर रूप विशेष के बिना लिङ्.ग अर्थात् बुद्धि अहंकार आदि भी नहीं रहते।

सूक्ष्म शरीर का स्वरूप

सांख्य दर्शन के अनुसार सष्टि के आरम्भ में ही सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो जाता है। यह अप्रतिहतगति, स्थायी, महत् से लेकर सूक्ष्म तन्मात्राओं से निर्मित, भोगरहित, धर्माधर्मादि भावों से युक्त एवं संसरणशील है–

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्.गम्।।

इस कारिका में सूक्ष्म शरीर का स्वरूप प्रतिपादित है–

(१) पूर्वोत्पन्नम् – यह सूक्ष्म शरीर पूर्वोत्पन्न है, अर्थात् सष्टि के आरम्भ में प्रकति द्वारा प्रत्येक पुरूष के लिए एक–एक लिङ्.ग शरीर उत्पन्न होता है। स्थूल शरीर के पश्चात् सूक्ष्म शरीर नहीं है, बल्कि सर्वप्रथम यह सूक्ष्म शरीर ही उत्पन्न होता है।

(२) असक्तम् – असक्त अर्थात् सङ्.गरहित है। सङ्.गसहित होता तो अन्य वस्तु के सम्पर्क से गति में रूकावट पैदा भी होती। सङ्.गरहित होने से यह अप्रतिहत है अर्थात् सर्वत्र प्रवेश पा सकने वाला है। पाषाण में भी प्रविष्ट हो सकता है। इसीलिए इसे 'असक्त' कहा गया है।

(३) नियतम् – यह सूक्ष्म शरीर सष्टि आरम्भ से लेकर प्रलय पर्यन्त नियत रहता है। जब सष्टि का आरम्भ होगा, तभी इसकी उत्पत्ति हो जाती है और फिर स्थूल शरीर भले ही नष्ट हो जाए पर यह विद्यमान रहता है। जब महाप्रलय होगा अथवा किसी को कैवल्यं की प्राप्ति होगी, तभी यह अन्तर्भूत होता है। अन्यथा यह विद्यमान ही रहता है। स्थूल शरीरों की भांति नष्ट नहीं होता।

(४) महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् – प्रश्न यह भी है, कि जिसे सूक्ष्म शरीर कहा गया है, उसमें कितने अवयव हैं और कौन–कौन से हैं?

यहां सष्टि का क्रम यह बतलाया गया है – प्रकति से महत् (बुद्धि), महत् से अहंकार, अहंकार से सोलह तत्त्व (पांच तन्मात्राएं और ग्यारह इन्द्रियों का समूह) इस अहंकार से उत्पन्न पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत। यही सष्टि प्रक्रिया है। इसमें बताया गया है कि महत् से लेकर सूक्ष्म अर्थात् तन्मात्राओं पर्यन्त सूक्ष्म शरीर है –

१. महत् अर्थात् बुद्धि। २. अहंकार ३. एकादश इन्द्रियाँ

(मन, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ – चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक्, पांच कर्मेन्द्रियाँ – वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ)।

४. पांच सूक्ष्म तन्मात्राएँ –

(शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र, तथा गन्धतन्मात्र)

यह अष्टादशावयवात्मक ही सूक्ष्म शरीर है। इसे शान्त, घोर और मूढ़ इन्द्रियों से युक्त होने के कारण 'विशेष' कहा जाता है।

(५) भावैः अधिवासितम् – धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, विराग, अविराग, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य – इन आठ भावों से बुद्धि युक्त रहती है और बुद्धि से युक्त यह सूक्ष्म शरीर रहता है। इस प्रकार यह सूक्ष्म शरीर आठ भावों से युक्त रहता है। ये आठ भाव संस्कार के रूप में उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जिस प्रकर कोई व्यक्ति किसी वस्त्र में फूलों को लावे तो वह वस्त्र उसकी महक से सुवासित हो जाता है। इन्हीं आठ भावों के फलस्वरूप यह परलोकगमनागमन की व्यवस्था सम्भव है।

(६) लिङ्.गम्– यह सूक्ष्म शरीर लिङ्.ात्मक है। इसलिए इसे लिङ्.ग शरीर भी कहा जाता है। यह लिङ्.ग इसलिए है, क्योंकि यह प्रधान रूप कारण का कार्य है और प्रधान में यह लय को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए इसका निर्वचन यह किया जा सकता है – लयं गच्छतीति लिङ्.गम्। जो जो पदार्थ हेतुमान् होते हैं, वे नष्ट हुआ करते हैं, लीन होते ही हैं। यह सूक्ष्म शरीर भी प्रधान से जन्य होने के कारण हेतुमान है, हेतुमान् होने से इसका भी लय होता ही है, और लय को प्राप्त होने से ही इसे 'लिङ्.ग' कहा गया है।

(७) निरुपभोगं संसरति – यह सूक्ष्म शरीर 'निरूपभोग' है अर्थात् भोग स्थान नहीं है। अब प्रश्न यह है कि सूक्ष्म शरीर को निरूपभोग क्यों माना जाए, भोगों के लिए पाट्कौशिक स्थूल शरीर की क्या आवश्यश्कता है, इसका समाधान यह है कि यह सूक्ष्म शरीर संसरण करता है। पुनः पुनः धारण किए गए स्थूल शरीर को छोड़कर नया धारण करता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल के बिना भोगहीन रहेगा, इसलिए वह पुनः–पुनः गहीत शरीर को छोड़कर नूतन स्थूल शरीर को धारण करता है, इसलिए यह संसरणशील है।

सूक्ष्म शरीर का संसरण

सूक्ष्म शरीर को संसरणशील मानना सप्रयोजन है। इसीलिए यह पुरूष भी जगत् में विभिन्न योनियों में गति करता रहता है। यदि यह सूक्ष्म शरीर संसरण शील न होता तो पुरूष का स्थूल शरीर में प्रवेश करने का नियम क्या होता। इसलिए धर्म आदि आठ भावों के फलस्वरूप तथा निरूपयोग होने से यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरों में संसरण करता है। इसी अभिप्राय को ईश्वर–कष्ण ने एक उदाहरण से समझाया है – कि जैसे नट अनेक प्रकार की वेशभूषा धारण करके कभी परशुराम, कभी युधिष्ठिर और कभी उदयन आदि बन जाता है, उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी विविध प्रकार के स्थूल शरीर को ग्रहण करके कभी देव, कभी मनुष्य, कभी पशु और वक्ष बनता रहता है। सूक्ष्म शरीर को यह इतनी शक्ति प्रकति को विभुत्व शक्ति के संयोग से प्राप्त है। धर्म, अधर्म आदि निमित्त तथा विभिन्न योनियों मे उत्पत्र स्थूल शरीर रूप नैमित्तिक के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही यह सूक्ष्म शरीर संसरणशील रहता है –

पुरूषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्.गन।
प्रकतेर्विभुत्वयोगानटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्.गम्।।

बुद्धि के धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्रर्य ये आठ भाव 'सूक्ष्म शरीर' के संसरण के हेतु होने से निमित्त कहलाते हैं। ये निमित्त दो प्रकार के होते हैं – सांसिद्धिक अर्थात् प्राकतिक और वैकतिक। जो धर्म, अधर्म इत्यादि पूर्व जन्मों के कर्मो के फलस्वरूप जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं, वे स्वभाव सिद्ध होने से सांसिद्धिक अर्थात् प्राकतिक हैं। इन धर्म–अधर्म आदि निमित्तों से कलल, बुद्बुद्, मांस पिण्ड, अण्ड आदि अवस्थाओं से होता हुआ जो शरीर बनता है, वह इनका नैमित्तिक अर्थात् कार्य है। यह धर्म–अधर्म आदि भाव करण अर्थात् बुद्धि के आश्रित रहा करते हैं।

आठ भाव :

अध्यवसायात्मिका बुद्धि प्रधान अर्थात् प्रकति से उत्पन्न होती है। सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकति है, जब यह साम्यावस्था नहीं रहती, पुरूष का संयोग हो जाता है, तो सष्टि प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है और प्रधान से बुद्धि उत्पन्न होती है। इस बुद्धि से भी सत्त्व, रजस्, तमस् होना स्वाभाविक है, क्योंकि 'कारणाश्रयिणो हि कार्यगुणा भवन्ति।' इन तीन गुणों में प्रदीपवत् प्रवत्ति होती है। जब सात्त्विक गुण का प्राबल्य होता है, तो धर्म ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य बढ़ने लगता है, किन्तु जब तमोगुण बढ़ जाता है तो इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य भी बुद्धि में छाए रहते हैं। इसलिए धर्म, ज्ञान, विराग और एश्वर्य में चार बुद्धि के सात्त्विक रूप है तथा अधर्म, अज्ञान, अविराग और अनैश्वर्य – ये चार बुद्धि के तामसिक रूप हैं, इन्हीं को भाव भी कहा जाता है। इस प्रकार बुद्धि के आठ भाव होते हैं।

आठ भावों की व्याख्या :

बुद्धि के चार सात्त्विक और चार तामसिक कुल आठ रूप हैं। यहाँ चार सात्त्विक जीवों का विशेष व्याख्यान करने से स्वतः ही तद् विपरीत तामसिक भावों का भी व्याख्यान हो जाता है। क्योंकि तामसिक भाव सात्त्विक भावों के ठीक विपरीत हैं।

धर्म तथा अधर्म :

अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि का हेतु ही धर्म है। अर्थात् धर्म वह है जो लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति कराता है –

लौकिक सुख के प्रापक दान, यज्ञ पूजन आदि हैं, तथा पारलौकिक कल्याण का हेतु अष्टाङ्.ग योग है–

इस प्रकार याग, दानादि अनुष्ठानजनित धर्म अभ्युदय का हेतु है और अष्टाङ्.गयोगानुष्ठाजनित धर्म निःश्रेयस का हेतु है। यह धर्म सत्त्वांशप्रचुर बुद्धि में रहता है। तमोगुण प्रधान बुद्धि में न तो दान, यज्ञ आदि अनुष्ठान का निश्चय होता है, न ही अष्टांग योग का। इसलिए तामसिक बुद्धि का रूप धर्म न होकर अधर्म है।

ज्ञान तथा अज्ञान :

सात्त्विक बुद्धि में दूसरा भाव 'ज्ञान' रहता है, तथा तामसिक में अज्ञान। प्रकति और पुरूष की विवेक–ख्याति ही ज्ञान है। सांख्य के अनुसार व्यक्त, अव्यक्त और पुरूष के विवेक का साक्षात्कार ही कैवल्य है। सांख्य में प्रकति को अविकति माना जाता है, यही महत् आदि का मूल कारण है, इसी से क्रमशः तेईस व्यक्त तत्वों की उत्पत्ति होती है, तथा पुरूष तो न किसी कारण है और न ही किसी कार्य। इनके स्वरूप का साक्षात्कार करना ही ज्ञान है। यह ज्ञान बुद्धि में सत्त्वांश की प्रचुरता का फल है। तमोगुण की प्रबलता का परिणाम अज्ञान है।

वैराग्य तथा अवैराग्य :

विविध विषयों में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवत्ति बनी रहती है। इन विषयों में राग बनाए रखना तमोगुणी प्रवत्ति है। अर्थात् रागशक्ति (अवैराग्य बने रहना) बुद्धि का तामसिक रूप है और बुद्धि का सात्त्विक रूप है वैराग्य। राग, द्वेष आदि चित्त के कषाय अर्थात् मल हैं। इन राग आदि का अभाव ही वैराग्य है। वाचस्पति मिश्र ने चतुर्विध वैराग्य का उल्लेख किया है –यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार नामक वैराग्य।

(१) यतमान (वैराग्य) : – राग, द्वेष आदि चित्त के कषायों (मलों) द्वारा इन्द्रियां अपने–अपने विषयों में प्रवर्तित होती हैं। ये इन्द्रियां इन विषयों में प्रवत न हों, इसके लिए इन मलों का परिपाक (उपशम) अपेक्षित है। इसके लिए किया गया आरम्भ (प्रयत्न) 'यतमान' संज्ञक वैराग्य है।

(२) व्यतिरेक (वैराग्य) :– मलों का क्षय करने के लिए जो प्रयत्न रूप वैराग्य है, वह यतमान है। तथा अवशिष्ट मलों की शान्ति के लिए किया जाने वाला प्रयत्न 'व्यतिरेक' नाम वैराग्य है। यतमान वैराग्य द्वारा कुछ मल तो शान्त हो चुके हैं और कुछ भविष्य में शांत होने को रह जाते हैं। इस प्रकार भविष्य में शमन योग्य अवशिष्ट मलों को पूर्व में शान्त हुए मलों से पथक् करना और उन पथाभूत मलों के शमन के लिए अनुष्ठान करना 'व्यतिरेक' वैराग्य है।

(३) एकेन्द्रिय (वैराग्य) :– इन्द्रियों के विषय प्रवत्ति में असमर्थ हो जाने के कारण पक्व अर्थात् निवत किन्तु विषयतष्णा के रूप में अवशिष्ट मलों को मन में ही नियत रखे रख्ना अर्थात् उभरने न देना ही एकेन्द्रिय नामक वैराग्य है।

(४) वशीकार (वैराग्य) :– लौकिक तथा वेदोक्त विषयों के सम्बन्ध में वितष्ण औत्सुक्यहीन साधक को वैराग्य की 'वशीकार' संज्ञा है। अर्थात् इन भोजन, पान, विलेपन आदि लौकिक तथा स्वर्ग आदि वैदिक भोगों के उपस्थित होने पर भी उत्सुकता न होना 'वशीकार' है।

ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य :

ऐश्वर्य भी बुद्धि का धर्म है। बुद्धि का तामस धर्म अनैश्वर्य हैं। बुद्धि का सात्त्विक धर्म ऐश्वर्य आठ प्रकार का है– अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, वशित्व और ईशित्व।

(१) अणिमा (ऐश्वर्य) : अणिमा का अर्थ है – अणुभाव, स्थूल कार्य पुरूष भी अणु के समान हो जाता है। सत्त्व का समुद्रेक होने पर योगी अथवा साधक को उस अणिमा ऐश्वर्य की सिद्धि हो जाती है, जिससे वह छिद्ररहित पाषाण में भी प्रवेश पा लेता है।

(२) लघिमा (ऐश्वर्य) : लघिमा का अर्थ है लघुभाव। योगी इतना लगुभाव (हल्केपन) को प्राप्त हो जाता है कि इस लघिमा के पभाव से वह सूर्य किरणो को हाथों से पकड़कर सूर्यलोक तक जा सकता है।

(३) गरिमा ऐश्वर्य : गरिमा का अर्थ है गुरूभाव। गरिमा के प्रभाव से योगी का भार अत्यधिक बढ़ जाता है।

(४) महिमा (ऐश्वर्य) : महत् का भाव अर्थात् महत्त्व ही महिमा शब्द का अर्थ है। महिमा के प्रभाव से योगी का शरीर अत्यन्त महिमा वाला हो जाता है।

(५) प्राप्ति (ऐश्वर्य) : प्राप्ति के प्रभाव से योगी को सभी पदार्थो का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है। इस प्राप्ति रूप ऐश्वर्य से ही भूमि पर स्थित योगी अत्यन्त दूरी पर स्थित चन्द्रमा को अपनी अंगुलि के अग्रभाग से स्पर्श कर लेता है।

(६) प्राकाम्य (ऐश्वर्य) : 'प्राकाम्य' शब्द का अर्थ है इच्छा का अभिघात न हो पाना अर्थात् जो भी योगी की इच्छा हो, उसका पूर्ण हो जाना।

(७) वशित्व (ऐश्वर्य) : 'वशित्व' ऐश्वर्य के प्रभाव से समस्त भूत भौतिक जगत् योगी के वश में हो जाता है। सभी सूक्ष्म और स्थूल भूत तथा स्थावर, जंगम देह रूप भौतिक पदार्थ योगी की इच्छा का अनुवर्तन करते हैं।

(८) ईशित्व (ऐश्वर्य) : 'ईशित्व ऐश्वर्य' से योगी भूतों तथा भौतिक पदार्थो की उत्पत्ति, स्थिति व नाश करने में समर्थ हो जाता है। योगी का जैसा संकल्प या निश्चय होता है, वैसे ही प्राणी हो जाते हैं।

यही अष्ट प्रकार का ऐश्वर्य है, जो बुद्धि का सात्त्विक धर्म ही है।

६. प्रत्यय सर्ग (बुद्धि सर्ग) की अवधारणा

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकति और पुरूष का विवेक साक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है। सांख्य के अनुसार सष्टि का मूलकारण प्रकति है। इस प्रकति का परिणाम ही सष्टि है। प्रकति से पच्चमहाभूतों तक चौबीस तत्त्व हैं अर्थात् प्रकति से महत् उत्पन्न होता है, महत् से अहंकार, अहंकार से मन सहित ग्यारह इन्द्रियां और पांच तन्मात्राएं, इन पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रकति से लेकर पांच महाभूतों तक जो सष्टि प्रक्रिया चलती है उसको बुद्धि सर्ग के रूप में विवेचित किया जा सकता है –

मूल प्रकति से उत्पन्न बुद्धि, बुद्धि से उत्पन्न अहंकार तथा अहंकार से उत्पन्न ग्यारह इन्द्रियां – यहीं बुद्धि सर्ग के अड्.ग है।

बुद्धि के आठ भाव हैं, वही प्रत्यय–सर्ग अथवा बुद्धि सर्ग है। उसी के विपर्यय, अशक्ति, तष्टि और सिद्धि ये चार नाम हैं। गुणों न्यनाधिकता के कारण इस बुद्धि सर्ग (अर्थात् विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि) के पचाशत् भेद होते हैं

पूर्व प्रतिपादित बुद्धि के आठ भावों का विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि में अन्तर्भाव इस प्रकार होगा–

(१) विपर्यय में – अज्ञान आता है। (२) अशक्ति में –अनैश्वर्य, अवैराग्य और अधर्म आते हैं (३) तष्टि में –धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का अन्तर्भाव है। (४) सिद्धि में – ज्ञान का अन्तर्भाव है।

१. विपर्यय के भेद और उपभेद :

विपर्यय अर्थात् अज्ञान के पांच भेद हैं – क्रमशः तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है। इन भेदों के भी क्रमशः आठ, आठ, दश, अठारह और अठारह कुल बासठ भेद होते हैं :–

तमस्ः– अन्तिय को नित्य, अशुचि को शुचि, दुःख का सुख, देह–इन्द्रिय आदि अनात्माओं को आत्मा समझना अविद्या अर्थात् 'तम' है। यह 'तम' आठ प्रकार का होता है – मूल प्रकति, महत्, अहंकार और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध – ये पांच तन्मात्राएं – इन अनात्मभूत आठ जड़ पदार्थो में आत्म बुद्धि रखना आठ प्रकार का तम है।

मोह : बुद्धि और पुरूष दोनो भिन्न तत्त्वों को अभिन्न मान लेना 'अहं चेतनोस्मि, अहं कर्त्तास्मि' ऐसा समझना 'अस्मिता' अर्थात् मोह है। यह मोह भी आठ प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं। देवता इन अष्टविध ऐश्वर्यरूप सिद्धि विशेष को प्राप्त कर अपने को अमर समझने लगते हैं। यह अनित्य ऐश्वर्य रूप सिद्धि को नित्य मान बैठते हैं कि – 'अहं तादशाणिमवानस्मि' आदि। यही अभिमान अस्मिता अर्थात् मोह है। ऐश्वर्य आठ होने से उनका मोह भी आठ प्रकार का है।

महामोह : अनात्मधर्म सुख की तष्णा ही राग या महामोह है। यह दस प्रकार का होता है – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध संज्ञक रागोत्पादक विषय दिव्य और अदिव्य (लौकिक, पार्थिव) भेद से दशविध होते हैं। इस प्रकार उनकी 'दिव्यता' और 'अदिव्यता' के कारण इस प्रकार के रजनीय विषयों में जो राग अर्थात् आसक्ति है, वह दस प्रकार का महामोह है।

तामिस्त्र : अनात्मधर्म दुःख के त्याग की इच्छा ही द्वेष या तामिस्र है। यह अठारह प्रकार का होता है – अष्टविध ऐश्वर्य तथा दिव्य अदिव्य शब्दादि दस विषयों में से किसी के ऊपर यदि अप्रीति हो गई हो तो उसके प्रति द्वेष हो जाता है, इसी प्रकार दूसरों द्वारा उपभुज्यमान पदार्थो को देखकर भी यह द्वेष या तामिस्र हो जाता है। कुल अठारह विषय (आठ ऐश्वर्य और दिव्यादिव्य दस शब्दादि) होने से यह 'तामिश्र' भी अठारह प्रकार का हुआ।

अन्धतामिस्त्र : अनिष्ट का भय ही अन्धतामिस्र है। यह अठारह प्रकार का होता है – तामिस्र के अठारह विषयों को प्राप्त करने, पुनः भोगते समय उन १८ विषयों के विनाश का भय १८ प्रकार का अन्धतामिस्र हुआ। १८ विषय ये हैं :–

आठ ऐश्वर्य – अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व, पांच दिव्य विषय – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। पांच अदिव्य (लौकिक विषय) – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

देव या योगियों को अपने पुण्य–प्रभाव से यह १८ भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। पुनरपि वे भयभीत रहते हैं। उन्हें यह डर बना रहता है कि कहीं असुर लोग हम लोगों के दिव्यादिव्य शब्दादि दस भागों तथा उनके साधन अणिमादि आठ ऐश्वर्यो के उपभोग में बाधा न पहुंचा दें, ये नष्ट न हो जाएं। यही भय अन्धतामिस्र कहलाता है।

इस प्रकार विपर्यय के पांच भेद हैं, तथा उसके अवान्तर भेदों की संख्या बासठ है।

२. अशक्ति के भेद :

अशक्ति का अर्थ है अक्षमता। यह बुद्धि सर्ग का दूसरा भेद है। आठ भावों में परिगणित अधर्म अवैराग्य और अनैश्रर्य का अन्तर्भाव अशक्ति में ही होता है। अशक्ति के २८ भेद हैं। –

११ इन्द्रियों के वध, ६ तुष्टियों का अभाव तथा, ८ सिद्धियों का अभाव।

यद्यपि यह शंका उठती है कि इन्द्रियों के वध तो इन्द्रियों के धर्म हैं और अशक्ति बुद्धि का धर्म है, तब इन्द्रियवध को अशक्ति में क्यों परिगणित किया जाये? वस्तुतः यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियों के वध को तो बुद्धिवध के उत्पादक होने तक परिगणित किया गया है। अतः बुद्धिवध ही एकादश समझने चाहिए। एकादश बुद्धिवध या इन्द्रियवध ये हैं –

श्रोत्रेन्द्रिय से बधिरता, त्वचा में कुष्ठ, चक्षु में अन्धापन, रसना में जड़ता, घ्राण में अजिघ्रता, वाक् में मूकता, पाणि में कौण्य अर्थात् (आदान–असमर्थता), पाद में पंगुता, उपस्थेन्द्रिय में क्लैव्य अर्थात् मैथुन का असामर्थ्य, पायु में उदावर्त्त अर्थात् मलमूत्रवायु निसरणरोधक रोग विशेष और मन की मन्दता अर्थात् कुण्ठित होना, संकल्पात्मक शक्ति का अभाव – ये ग्यारह इन्द्रियों की अशक्तियां हैं। इन्द्रियों की इस शक्ति–हीनता के कारण ये अपने–अपने विषय को बुद्धि तक भी नहीं पहुंचा पाती, और बुद्धि तत्तद्विषयक अध्यवसाय भी नहीं कर पाता, इसलिए ये इन्द्रियवध भी बुद्धिवध ही है।

६ प्रकार ही 'तष्टि' होती है, उनका अभाव अर्थात् वे ६ अतुष्टियां भी बुद्धि की अशक्ति है।

इन तुष्टियों का अभाव भी पाया जाता है, जो अशक्ति है। अतः ६ प्रकार की अशक्ति यह हो गई।

आठ प्रकार की 'सिद्धि' होती है, वह अष्टविध सिद्धि का अभाव भी आठ प्रकार की अशक्ति है।

इस प्रकार असक्ति के कुल २८ प्रकार हो गए।

३. तुष्टि के भेद

तुष्टि का अर्थ है सन्तोषवत्ति। आठ भावों में परिगणित धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का अन्तर्भाव तुष्टि में है। यह तुष्टि दो प्रकार की होती है – आध्यात्मिक और बाह्य। प्रकति, उपादान, काल और भाग्य आध्यात्मिक तुष्टि चार प्रकार की है तथा शब्द, स्पर्श आदि विषयों से वैराग्य (उपरम) होने के कारण बाह्य तुष्टियाँ पाँच प्रकार ही होती हैं। इस प्रकार कुल नौ तुष्टियाँ हुई – (क) आध्यात्मिक तुष्टि :– 'प्रकति से भिन्न आत्मा है' ऐसा जानते हुए भी जो व्यक्ति मिथ्या उपदेश से सन्तुष्ट होकर आत्मा के विवेक ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता। उसकी आध्यात्मिक तुष्टियां चार प्रकार की होती हैं। ये तुष्टियां प्रकति से भिन्न आत्मा के विषय में होने के कारण आध्यात्मिक कहलाती है। चार तुष्टियां ये हैं:–

(१) प्रकति तुष्टि : कोई शिष्य अपने गुरू का यह असद् उपदेश सुने कि 'विवेक ज्ञान' प्रकति का ही परिणाम विशेष है और उसे यह प्रकति ही उत्पन्न करती है, इसीलिए आत्मा के ध्यान का अभ्यास व्यर्थ है। इस उपदेश से शिष्य को प्रकति विषयक तुष्टि होती है, यही प्रकति नामक तुष्टि ' अभ्भ' भी कहलाती है।

अल्पज्ञ गुरू यह उपदेश कर देते हैं, विवेक साक्षात्कार प्रकति का कार्य है। अतः प्रकति ही मुक्त कर देगी, ध्यान, समाधि ा की क्या आवश्यकता? यही सन्तोष प्रवत्ति तुष्टि है।

(२) उपादान तुष्टि :– प्रकति का परिणाम विशेष होकर भी विवेकज्ञान केवल प्रकति से नहीं होता। क्योंकि प्रकति तो सभी के साथ समान रूप से रहती है, पर सभी को तो सर्वदा विवेक ज्ञान नहीं होता। अतः 'गुरू' उपदेश करता है कि हे वत्स! यह विवेक ज्ञान तो संन्यास से उत्पन्न होता है, अतः संन्यास ग्रहण करो, ध्यानाभ्यास तो व्यर्थ है – इस प्रकार के उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'उपादान' है, इसे 'सलिल' भी कहा जाता है।

(३) काल तुष्टि :– 'संन्यास' भी शीघ्र अपवर्ग देने वाला नहीं है। कालान्तर में यह परिपक्व होकर ही तुम्हें विवेकज्ञान देगा, उद्विग्न होने से क्या लाभ? ऐसे उपदेश तो जो तुष्टि होती है वह काल नामक तुष्टि है।

(४) भाग्य तुष्टि :– प्रकति पुरूष विवेक ज्ञान न प्रकति से होता है, न संन्यास ग्रहण से और न ही काल से। अपितु, भाग्य से होता है। जैसे मदालसा की सन्तानें अत्याधिक बाल होने पर भी माता के उपदेश से ही विवेक ज्ञान युक्त होकर मुक्त हो गई। अतः विवेक ज्ञान में भाग्य ही हेतु है। ऐसे उपदेश से होने वाली तुष्टि 'भाग्य' है। इसी को 'वष्टि' भी कहते हैं।

(ख) बाह्य तुष्टि :– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध संज्ञक विषयों के प्रति उपरति (वैराग्य) हो जाने से पांच बाह्य तुष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। आत्म से भिन्न होते हुए भी प्रकति, बुद्धि, अहंकार आदि को आत्मा समझ कर जो बाह्य पांच शब्दादि विषयों

की ओर से वैराग्य होने से सन्तुष्टि हो जाती है, वही बाह्य तुष्टि है। इस तुष्टि में वैराग्य कारण है, इस वैराग्य के पाँच कारण हो सकते हैं, अतः यह वैराग्य भी पांच प्रकार का हुआ और इसीलिए ये (बाह्य) तुष्टियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं।

(५) पार तुष्टि :– धनोपार्जन के सेवा आदि उपाय सेवकों को बड़ा दुःख देते हैं। दर्पयुक्त, दुष्ट स्वामी, उसके पहरेदारों से यह दुःख उत्पन्न होता है, तो कौन बुद्धिमान् पुरूष सेवा में प्रवत्त होगा – इन विचारों से 'विषयों' के प्रति वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है, वह 'पार– है।

(६) सुपार तुष्टि :– उपार्जित धन भी राजा, चोर, अग्नि, बाढ़ आदि से नष्ट हो जाएगा। अतः उसके रक्षण में महान् कष्ट है – ऐसा सोचते हुए मनुष्यों को विषयों से वैराग्य होकर जो तुष्टि होती है, वह सुपार है।

(७) पारापार :– अनेक प्रयास और कष्टों से उपार्जित धन भाग करने से नष्ट हो जाएगा – इस प्रकार की धन के नाश की भावना करते हुए पुरूष को विषयों से वैराग्य होने पर होने वाली तुष्टि 'परापार' है।

(८) अनुत्तमाम्भ तुष्टि : शब्द स्पर्श आदि विषयों के बार–बार भोग से वासनाएँ बढ़ती हैं तथा वे उस कामी पुरूष को कष्ट देती हैं, जब वे प्राप्त नहीं हो पाती – इस तरह के उपभाग गत दोषों को विचारने से व्यक्ति को विषयों से वैराग्य हो जाता है, तब यही तुष्टि 'अनुत्माम्भ' कहलाती है।

(९) उतमाम्भ तुष्टि :– प्राणियों की हिंसा के बिना विषयों का उपभोग नहीं किया जा सकता – इस प्रकार के हिंसा दोष देखने के विषयों से वैराग्य हो जाता है, तब यह तुष्टि 'उत्तमाम्भ' कहलाती है।

विषयभोगों में ये पांच क्लेश होते हैं। इन्हें विचार कर व्यक्ति को पांच प्रकार के सन्तोष हो जाते हैं, तो चित्त विषय से निवत्त हो जाता है इस प्रकार कुल नौ प्रकार की तुष्टियाँ होती हैं।

(१०) सिद्धि के भेद : पुरूष प्रयोजन अर्थात् पुरूषार्थ की निष्पत्ति ही सिद्धि होती है। यह सिद्धि आठ प्रकार की होती है – अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्–प्राप्ति, दान, दुःखत्रय विघात रूप तीन सिद्धियाँ। इनमें भी पहले बताए गए तीन अर्थात् विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि – ये सिद्धि के विरोधी हैं।

इन्हीं सिद्धियों के नाम तार, सुतार, तारतार, रम्यक, सदामुदित, प्रमोद, मुदित और मोदमान भी हैं –

(१) अध्ययन अर्थात् तार सिद्धि :– गुरू मुख से शास्त्रविधि पूर्वक अध्यात्मविद्या के पारायण का 'श्रवण' 'अध्ययन' नाम सिद्धि है। जो संसार–तरण का हेतु होने से 'तार' कहलाती है।

(२) शब्द अर्थात् सुतार सिद्धि :– अध्ययन का कार्य है – शब्द। यहां 'शब्द' से अभिप्राय है – शब्दोत्पन्न अर्थ ज्ञान। क्योंकि कार्य के कारण के आरोप द्वारा 'शब्द' पद से शब्दोत्पन्न अर्थज्ञान ग्राह्य है। इसे सुतार कहते हैं, क्योंकि यह सुख पूर्वक अर्थात् सरलता से संसारतारक है।

(३) ऊह अर्थात् तारतार सिद्धि :– शास्त्रानुकूल युक्ति और तर्कों से शास्त्रोक्त विषय की परीक्षा करना 'ऊह' है। इस परीक्षा में सन्दिग्ध पूर्वपक्ष का परित्याग अपेक्षित है और उत्तर पक्ष या सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की जाती है। यह परीक्षा मननशील व्यक्ति किया करते हैं। इसलिए इस सिद्धि को 'मनन' शब्द से भी अभिहित करते हैं। यह अध्ययन और शब्द से अधिक तारने वाली होने से 'तारतार' कहलाती है।

(४) सुहृत्प्राप्ति अर्थात् रम्यक सिद्धि :– गुरूमुख से जो आध्यात्म विद्या का श्रवण किया था, उस शब्दोत्पन्न अर्थज्ञान में अह द्वारा सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की जाती है, पर साधक स्वयं–परीक्षित सिद्धान्त में भी तब तक विश्वास नहीं करता जब तक कि गुरू, शिष्य और सुहत्–मित्रादि में तंद्विषयक संवाद नहीं कर लेता। यह सुहृदों का संवाद प्राप्त होना ही 'सुहत्प्राप्ति' है। इसे शास्त्रार्थ संवाद में रमणीयता के कारण ही सम्भवतः 'रम्यक' भी कहा जाता है।

(५) दान अर्थात् सदामुदित सिद्धि – 'दान' शब्द दैप् शोधने धातु से व्युत्पन्न है। अतः 'दान' शब्द का अर्थ है विवेक ज्ञान की शुद्धि। यह शुद्धि निरंतर दीर्घ काल तक अनुष्ठान किए गए ज्ञानाभ्यास के परिपाक के बिना सम्भव नहीं। अतः 'दान' में अभ्यास का अन्तर्भाव भी है। यह सार्वकालिक आनन्ददायी होने के कारण 'सदामुदित' कहलाती है।

(६–८) दुःखत्रय विघात अर्थात् प्रमोद, मुदित, मोदमान सिद्धि – आध्यात्मिक दुःख की अभावात्मक सिद्धि प्रकर्ष आनन्दप्रद होने से प्रमोद संज्ञक हैं आधिभौतिक–दुःखाभाव रूप सिद्धि मोदक होने से 'मुदित' कहलाती है तथा आधिदैविक दुःखाभारूप आठवीं सिद्धि निरन्तर मोदन करने वाली होने से 'मोदमान' कहलाती है।

सांख्यकारिका

गौडपादभाष्यसमेता

दुःखोच्छेदोपाय-जिज्ञासा

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोभावात्।।१।।

मातरं पितरं नत्वा गुरुं ज्ञानोपदेशम्।
श्रीमदीश्वरकृष्णस्य कारिका व्याकरोम्यहम्।।

अन्वय—दुःखत्रयाभिघातात्, तदपघातके हेतो जिज्ञासा (भवति), दष्टे, सा अपार्था चेत् ? न, एकान्तात्यन्ततोभावात्।

अर्थ :– त्रिविध दुःखों के पुनः पुनः आघात से उन दुःखों को पूर्णतया विनष्ट करने में समर्थ सांख्यसम्मत उपाय के विषय में जिज्ञासा होती है। यदि कहा जाय कि दुःख नाश के लिए लौकिक उपाय प्रसिद्ध ही हैं, तदर्थ शास्त्रविषयक जिज्ञासा व्यर्थ है ? तो यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि लौकिक उपाय से दुःखनिवत्ति अनिवार्यतः तथा सर्वदा के लिये नहीं होती है।।१।।

श्रीगौडपाद्कृतं भाष्यम्

कपिलाय नमस्तस्मै, येनाविद्योदधौ जगति मग्ने।
कारुण्यात्साङ्ख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय।।१।।
अल्पग्रन्थं स्पष्टं, प्रमाण-सिद्धान्त-हेतुभिर्युक्तम्।
शास्त्रं शिष्यहिताय, समासतोहं प्रवक्ष्यामि।।२।।

दुःखत्रयेति। अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते। इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम। तद्यथा—

'सनकश्च, सनन्दश्च, ततीयश्च सनातनः।
आसुरिः, कपिलश्चैव, वोढुः पचशिखस्तथा।।१।।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः।।'

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो ज्ञानं वैराग्यम् ऐश्वर्यचे'ति। एवं स उत्पन्नः सन्नन्धे तमसि मज्जज्जगदालोक्य, संसारपारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणायेदं पचविंशततत्त्वानां ज्ञानमुक्तवान्, यस्य ज्ञानाद् दुःखक्षयो भवति,—

'पचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र-तत्राश्रमे वसेत्।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः।।'

तदिदमाहुः – दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति। तत्र दुःखत्रयम्—१ आध्यात्किम्, २ आधिभौतिकम्, ३ आधिदैविकचेति। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं, शारीरं मानसं चेति। शारीरं—वातपित्तश्लेष्मविपर्यकृतं ज्वरातीसारादि। मानसं प्रियवियोगाप्रियसंयोगादि। आधिभौतिकं—चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं मनुष्य—पशुमगपक्षिसरीसपदंशमशकयूकामत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्यो, जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेभ्यः सकाशादुपजायते। आधिदैविकं—देवानामिदं दैवं, दिवः प्रभवतीति वा दैवं, तदधिकृत्य यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम्।

एवं यथा—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा कार्या। क्व ? तदभिघातके हेतौ हेतौ तस्य=दुःखत्रयस्य, अभिघातको योसौ हेतुस्तत्रेति। दष्टे सापार्था चेत्=दष्टे—हेतौ दुःखत्रयाभिघातके, सा=जिज्ञासा—अपार्था चेद्=यदि। तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि आयुर्वेदशास्त्रक्रियया, प्रियसमागमाप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायक्वाथादिभिदष्ट एव आध्यात्मिकोपायः। आधिभौतिकस्य रक्षादिनाभिघातो दष्टः। दष्टे सापार्था चेत् त्वं मन्यसे ? न, एकान्तात्यन्ततोभावात्। यत एकान्ततः=अवश्यम्, अत्यन्ततः=नित्यं, दष्टेन हेतुना अभिघातो न भवति, तस्मादन्यत्र एकान्तात्यन्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा=विविदिषा कार्येति।।१।।

विशेष :– प्रस्तुत कारिका, जो कि गन्थ की प्रारम्भिक कारिका है, में भी ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ प्रयोजन का इस रूप में स्पष्ट कर दिया है कि 'जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' अर्थात् दुःखनिवत्ति के उपाय की जिज्ञासा या जानने की इच्छा ग्रन्थ की

रचना करने का प्रयोजन हैं। यदि दुःखनिवत्ति के उपाय को जानने की इच्छा किसी को न होती तो इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। जिज्ञासा में इष्यमाण ज्ञान की प्रधानता होने के कारण यह कहना होगा कि दुःखनिवत्ति के उपाय का ज्ञान ग्रन्थ का प्रयोजन है। इस प्रयोजन में ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भी इस रूप में स्पष्ट है कि इसमें दुःखनिवत्ति का उपाय वर्णित है। इस ग्रन्थ का अधिकारी भी इस रूप में स्पष्ट है कि जो अनुभूयमान दुःख को दूर करने का उपाय जानना चाहता है। वह इस ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी है।

यद्यपि ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ के द्वारा वर्णनीय विषय को पहले से पूर्णतया जान कर ग्रन्थ–रचना में प्रवत्त होता है और इस प्रकार यद्यपि उसकी जिज्ञासा तो पहले से ही शान्त रहती है, किन्तु फिर भी दूसरों की जिज्ञासा के प्रयोजन से वह ग्रन्थ–रचना में प्रवत्त होता है और दूसरों की जिज्ञासा को ही अपने जिज्ञासा मानकर ऐसा कहने लगता है कि अब वह अमुक विषय की जिज्ञासा कर रहा है। फलतः इसी रूप में यहाँ ग्रन्थकार भी दुःखनिवत्ति के उपाय के विषय में जिज्ञासा प्रस्तुत कर रहे हैं।

यहाँ पर पूर्वोक्त रूप में जो विषय एवं प्रयोजन आदि अनुबन्ध बताये गये हैं। वे मूलतः सांख्य–शास्त्र के अनुबन्ध हैं, किन्तु यतः प्रस्तुत ग्रन्थ सांख्यशास्त्र का प्रकरणग्रन्थ है, अतः वही अनुबन्ध इस ग्रन्थ के भी अनुबन्ध हैं।

दुःखनिवत्ति के उपाय की जिज्ञासा वैयक्तिक विषय है। किसी को जब व्यक्तिगत रूप से या स्वात्मसंवेद्य रूप में दुःख का अनुभव होगा और वह उस दुःख को दूर करना चाहेगा, तभी उसे दुःखनिवत्ति के उपाय की जिज्ञासा होगी। यद्यपि इस संसार में दुःख प्रयात्म–वेदनीय अर्थात् प्रत्येक प्राणी के द्वारा अनुभूयमान है और प्रतिकूल वेदनीय अर्थात् प्रतिकूल रूप में अनुभूयमान होने के कारण प्रत्येक प्राणी इससे छुटकारा चाहता है और इस प्रकार दुःखनिवत्ति के उपाय की जिज्ञासा प्रत्येक को स्वाभापिक रूप से होनी चाहिए, किन्तु फिर भी यदि किसी को यह संसार दुःखालय न प्रतीत होकर कुल मिलाकर सुखालय प्रतीत हो या दुःखनिवत्ति होने पर भी दुःख का ही मजा लेने के कारण या अन्य किसी कारण से वह दुःख को दूर न करना चाहे तो वह दुःखनिवत्ति के उपाय की जिज्ञासा क्यों करेगा ? ऐसे व्यक्ति को न तो यह समझना उचित प्रतीत होता है कि वह संसार को सुखालय के स्थान पर दुःखालय मानकर या अपने दुख को दुःख मानकर दुःख को दूर करने के उपाय की जिज्ञासा करे और न ऐसा समझने का उस पर कोई प्रभाव ही पड़ेगा। इस प्रकार यद्यपि दुःखनिवत्ति के उपाय की जिज्ञासा वैयक्तिक विषय है, किन्तु फिर भी यतः संसार में सभी को दुःखानुभूति होती है और सभी दुःखनिवत्ति के ज्ञात उपायों को काम में लाते रहते हैं तथा अज्ञात उपायों का अन्वेषण करते रहते हैं, अतः यह विषय सार्वजनिक भी हो गया है और फलतः इस विषय पर मानव–समाज में सदा से सर्वत्र विचार होता आया है और अब भी होता रहता है। इसी विचार–परम्परा में भारतीय दर्शनों ने भी योगदान किया है जिसमें सांख्यशास्त्र अन्यतम है जिसका कि प्रस्तुत ग्रन्थ–सांख्यकारिका–एक प्रकरण ग्रन्थ है। फलतः यह ग्रन्थ भी दुःखनिवत्ति के उपाय की जिज्ञासा को प्रस्तुत कर रहा है।

अन्तःकरण या मन में दुःख विभिन्न आन्तरिक और बाह्य कारण से अभिव्यक्त या उद्बुद्ध होता है और फलतः अपने उद्बोधक विभिन्न कारणों के आधार पर वह अनेकविध होता है। भारतीय परम्परा के अनुसार विभिन्न प्रकार के दुःखों को तीन वर्गों में विभक्त या वर्गीकृत कर उन्हें मुख्यतः तीन प्रकार का माना जाता है–आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। तीन प्रकर के इन्हीं दुःखों का निर्देश प्रस्तुत कारिका के 'दुःखत्रय' शब्द के द्वारा किया गया है। यहाँ 'आध्यात्मिक' शब्द के घटक 'आत्मा' शब्द 'स्व' अर्थात् दुख का अनुभव करने वाले स्वयं करणकलेवरादियुक्त व्यक्ति का ग्रहण होता है और फलतः व्यक्ति के स्वीय या आन्तरिक–शारीरिक और मानसिक–कारणों से अभिव्यक्त या उत्पन्न होने वाले दुःखों को आध्यात्मिक कहा जाता है। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के होते हैं–शरीर या शारीरिक और मानस या मानसिक। इनमें जो शारीरिक कारणों– वात, पित्त और कफ की विषमता आदि–से उत्पन्न होते हैं वे शारीरिक दुःख हैं और मानसिक कारणों–काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि–से उत्पन्न होने वाले दुःख मानसिक दुःख हैं। यद्यपि मन में उद्बुद्ध होने के कारण सभी दुःख मानसिक होते हैं, किन्तु यतः दुःख के कारणों के आधार पर उक्त वर्गीकरण किया गया है, अतः वही दुःख मानसिक कहे जाते हैं जो मानसिक कारणों से होते हैं और अन्य प्रकार के कारणों से होने वाले दुःख तत्तत् स्वोत्पादक कारणों के आधार पर अन्य नामों से अभिहित किये जाते हैं।

आधिभौतिक दुःख वह हे जो विभिन्न भूतों या प्राणियों–मनुष्य, पशु, सर्प आदि–एवं स्थावर पदार्थों–वक्ष, पर्वत आदि–के कारण प्राप्त होता है। आधिदैविक दुःख, देव, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत एवं ग्रह आदि के आवेश के कारण होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार आँधी, तूफान, घनघोर वर्षा, बाढ़, उल्कापात एवं महामारी आदि के कारण होने वाला दुःख आधिदैविक दुःख है।

उक्त परम्परागत वर्गीकरण के अतिरिक्त एक–दूसरे प्रकार से भी दुःखों का वर्गीकरण किया जा सकता है और उनको केवल दो प्रकार का माना जा सकता है–शारीरिक और मानसिक; किसी भी कारण से उत्पन्न होकर जो दुःख शरीर के माध्यम से हो, वह शारीरिक तथा जो दुःख शरीर के माध्यम के बिना सीधे मन में हो, वह मानसिक माना जा सकता है। सभी प्रकार के दुःखों का अन्तर्भाव इन्हीं दो प्रकारों के दुःखों में हो जाता है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, दुःख प्रतिकूलवेदनीय होने के कारण सबको बुरा लगता है और फलतः सब उससे छुटकारा चाहते हैं, और इसीलिए उसकी निवत्ति के उपाय की जिज्ञासा प्रस्तुत कारिका में की गई है, किन्तु इस विषय में यहां यह शंका की जा सकती है कि जब दुःख–निवत्ति के विभिन्न प्रत्यक्षगोचर उपाय जैसे रोगनिवत्ति का उपाय औषध आदि सबको ज्ञात ही है, तो फिर दुःख–निवत्ति के उपाय की जिज्ञासा यहां क्यों की जा रही है ? इस प्रकार की जिज्ञासा करना बिल्कुल व्यर्थ है। इस शंका को ग्रन्थकार ने 'दष्टे सापार्था चेत्' के रूप में प्रस्तुत किया है।

उक्त शंका का निराकरण ग्रन्थकार ने 'नैकान्तात्यन्ततोभावात्' के रूप में यह कहकर किया है कि यतः प्रत्यक्षगोचर उपायों से दुःखों की निवत्ति ऐकान्तिक अर्थात् अनिवार्य रूप से और आत्यन्तिक अर्थात् पूर्णतया सदा के लिये नहीं होती, जैसे किसी विशिष्ट औषध से कोई विशिष्ट रोग अनिवार्यतः नष्ट नहीं होता और दूसरी ओर नष्ट हुआ रोग पुनः उत्पन्न भी हो जाता है, अतः ऐकान्तिक और आत्यान्तिक दुःखनिवत्ति के उपाय की जिज्ञासा व्यर्थ नहीं है ओर फलतः उसके समाधान के लिए शास्त्र की शरण लेना आवश्यक है।

प्रणम्य पीतरावीशं गुरुं ध्यात्वा विरच्यते।

गौडपादीयभाष्यस्य व्याख्या भावार्थबोधिका।।

दष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।२।।

अन्वय–आनुश्रविकः (अपि) दष्टवत् (भवति), हि सः अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः (भवति), (अतः) तद्विपरीतः (उपायः) श्रेयान् (अस्ति), (यतः स उपाय) व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् (जायते)।

अर्थ :– लौकिक उपाय की भांति कर्मकाण्डपरक वैदिक उपाय भी दुःख–अनिवार्य रूप से तथा सदा के लिए निवत्त नहीं होता। क्योंकि वह अशुद्धि, क्षय (नाशवान् फल) एवं अतिशय (फल की न्यूनाधिकता)– इन त्रिविध द्योषों से युक्त है। अतः कर्मकाण्डपरक वैदिक उपाय से भी भिन्न दूसरा ज्ञानपरक सांख्यशास्त्रीय उपाय श्रेयस्कर है, जो व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के विवेकज्ञान से उत्पन्न होता है।।२।।

भाष्यम्–यदिदष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोपि नैवम्। यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः। अनुश्रूयत इत्यनुश्रवः, तत्र भवः–आनुश्रविकः स च आगमात् सिद्धः। यथा–

'अपाम सोमममता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।

किं नूनमस्मान् तणवदरातिः, किमु धूर्तिरमतमर्त्यस्य।।'

कदाचिदिन्द्रादीनां कल्पनासीत्–कथं वयममता अभूमेति। विचार्य, यस्माद्वयमपाम सोमं=पीतवन्तः सोमं, तस्मादमता अभूम=अमरा भूतवन्त इत्यर्थः। किञ्च अगन्म ज्योतिः। गतवन्तः=लब्धवन्तः, ज्योति'=स्वर्गमिति। अविदाम देवान्=दिव्यान् विदितवन्तः। एवं च किं नूनमस्मान् तणवदरातिः। नूनं=निश्चितं, किमरातिः=शत्रुरस्मान् तणवत् कर्तेति। किमु धूर्तिरमतमर्त्यस्य। धूर्तिः=जरा, हिंसा वा किं करिष्यति अमतमर्त्यस्य ?

अन्यच्च वेदे श्रूयते–आत्यन्तिकफलं पशुवधेन। 'सर्वांल्लोकान् जयति, मत्युं तरति पाप्मामं तरति, ब्रह्महत्यां तरति, योश्वमेधेन यजते' इति। ऐकान्तात्यन्तिके एवं वेदोक्ते–अपार्थैव जिज्ञासेति। न। उच्यते–दष्टवदानुश्रविक इति। दष्टेन तुल्यो दष्टवत्। योसो आनुश्रविकः कस्मात् स दष्टवत्, यस्मात्–अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः अविशुद्धियुक्तः – पशुघातात्। तथा चोक्तम्–

'षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेहनि।

अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः।।' इति।।

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मतिविहितो धर्मस्तथापि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति। तथा–

'बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे।

कालेन समतीतानि, कालो हि दुरतिक्रमः।। इति।

एकमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः। तथातिशयोविश्लेषस्तेन युक्तः। विशेषगुणदर्शनादितरस्य दुःखं स्यादिति। एवमानुश्रविकोपि हेतुर्दष्टवत्। कस्तर्हि श्रेयानिति चेत्। उच्यते–तद्विपरीतः श्रेयान्। ताभ्यां दष्टनुश्रविकाभ्यां, विपरीतः श्रेयान्=प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशयायुक्तत्वात्। स कथमित्याह–व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। तत्र व्यक्तं=महदादि, बुद्धिरहङ्कारः, पच तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पचमहाभूतानि। अव्यक्तं=प्रधानम्। ज्ञः=पुरुषः। एवमेतानि पचविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः' कथ्यन्ते। एतद्विज्ञानाच्छ्रेय इति। उक्तं च 'पचविंशतितत्त्वज्ञ' इत्यादि।।२।।

विशेष :- इस कारिका में इस शंका का समाधान किया गया है कि यदि प्रत्यक्षगोचर उपायों से दुःख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवत्ति नहीं हो सकती है तो आनुश्रविक अर्थात् श्रुति में 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' आदि के रूप में प्रतिपादित ज्योतिष्टोम यज्ञ आदि उपाय से तो हो ही सकती है और ऐसी दशा में इससे अतिरिक्त अन्य किसी उपाय (सांख्यशास्त्रोक्त उपाय) की जिज्ञासा व्यर्थ है। इसका उत्तर यहां यह दिया गया है कि प्रत्यक्षगोचर उपाय के समान श्रुतिप्रतिपादित यज्ञादि उपाय से भी दुःख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवत्ति नहीं हो सकती और इस प्रकार उक्त विशिष्ट दुःख–निवत्ति की दष्टि से श्रौत या वैदिक उपाय भी प्रत्यक्ष उपाय के समान ही है। श्रौत या वैदिक उपाय से उक्त प्रकारक दुःख निवत्ति इसलिए नहीं हो सकती, क्योंकि यह उपाय अशुद्धि क्षय और अतिशय से मुक्त है। यह उपाय अशुद्ध इसलिए है कि इसमें हिंसा भी होती है और फलतः इसके द्वारा शुभ फल मिलने पर भी साथ में हिंसा का फल दुःख भी भोगना होगा। यज्ञादि उपाय किसी भी साधन के द्वारा सम्पन्न हों, वे सम्पन्न होकर अपना ही शुभ फल दे सकते हैं, किन्तु जिन साधनों से वे सम्पन्न हुए हैं, उनके फल को नहीं रोक सकते। यदि वे साधन ठीक हैं तो उनका अशुभ फल भोगना ही होगा। उदाहरण के लिये, धन किसी भी साधन से अर्जित किया जावे, उसके द्वारा भोगों को ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु उसके अर्जन के चोरी आदि अपराधयुक्त साधनों के दण्ड को नहीं रोका जा सकता शासन के द्वारा इन अपराधों की जानकारी होने पर इनका दण्ड भोगना ही होगा।

यज्ञादि श्रौत या वैदिक उपाय का स्वर्गादि फल भावरूप साध्य या कार्य होने के कारण विनाशशील है और उसकी यह विनाशशीलता 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' आदि वचनों में अभिव्यक्त है। फल के क्षययुक्त होने के कारण उपचार से उसके साधन यज्ञादि उपाय को भी यहाँ क्षणयुक्त कहा गया है।

श्रौत या वैदिक उपाय का फल अतिशय या तारतम्य से युक्त भी है। सामान्य यज्ञों का फल सामान्य होगा और बड़े यज्ञों का फल उत्कृष्ट होगा और फलतः सामान्य या हीन फल वाले व्यक्ति को उत्कृष्ट फल वाले का उत्कर्ष देखकर स्वभावतः दुःखयुक्त होना होगा और इस प्रकार दुःख–निवत्ति न होगी। यहाँ भी फल के अतिशययुक्त होने के कारण उपचार से उसके साधन श्रौत उपाय को अतिशययुक्त कहा गया है।

उक्त रूप में श्रौत या वैदिक उपाय को भी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख–निवत्ति का असाधक बताकर तद्व्यतिरिक्त सांख्यशास्त्रोक्त उपाय की जिज्ञासा की सार्थकता सिद्ध की गई है और इसीलिये यहां बाद में यह कहा गया है कि 'तद्विपरीतः श्रेयान्' अर्थात् इस वैदिक उपाय से विपरीत ऐसा उपाय, जो कि अशुद्धि, क्षय एवं अतिशय से रहित, अधिक उत्तम है। वह उपाय क्या है, यह स्पष्टतः यहां नहीं बताया गया, यदि यहीं बता दिया जाता तो यहीं जिज्ञासा समाप्त हो जाती और आगे कुछ कहने का या आगे की ग्रन्थ–रचना का अवकाश ही नहीं रहता, अतः उस उपाय का हेतु मात्र इस रूप में बताया गया है कि–'व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात्' अर्थात् वह उपाय व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) के विज्ञान (विवेकयुक्तज्ञान) से प्राप्त या उत्पन्न होता है। ऐसा कह कर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का उपाय जानना या प्राप्त करना है तो उसके हेतु या कारण व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के विज्ञान को प्राप्त करना होगा और यतः ये तत्त्व सांख्यशास्त्रोक्त तत्व हैं, अतः इनके विज्ञान को प्राप्त करने के लिए सांख्यशास्त्र की शरण लेनी होगी, दूसरे शब्दों में, ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःख–निवत्ति के उपाय की जिज्ञासा के समाधान के लिये सांख्यशास्त्र की ही शरण में जाना होगा।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।३।।

अन्वय–मूलप्रकृतिः अविकृतिः, महादाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त, विकारस्तु षोडशकः, पुरुषः न प्रकृतिः न विकृतिः।।३।।

अर्थ– मूलप्रकृति 'अविकृति' रूप है। महदादि सात पदार्थ 'प्रकृति–विकृति' रूप हैं। सोलह तत्त्वों का समूह केवल 'विकृति' रूप है तथा चेतन पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है।।३।।

भाष्यम्–अथ व्यक्ताव्यक्तज्ञानां को विशेष इति ? उच्यते मूल प्रकृतिः = प्रधानं, प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात् मूलं

च सा प्रकृतिश्च—मूलप्रकृतिः। अविकृतिः अन्यस्मान्नोत्पद्यते तेन प्रकृतिः कस्यचिद्विकारो न भवति। महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। महान्=बुद्धिः। बुद्धयाद्याः सप्त—बुद्धिः १. अहङ्कारः १, पच तन्मात्राणि ५। एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः। तद्यथा—प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते, तेन विकृतिः=प्रधानस्य विकार इति। सैबाहङ्कारमुत्यापदयति, अतः प्रकृतिः। अहङ्कारोपि बुद्धरुपद्यत इति विकृतिः, स च पचतन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः। तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तस्मादाकाश उतपद्यत इति प्रकृतिः। तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदैव वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः। गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदैव पथिवीमुत्पादयतीति प्र कृतिः। रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः। रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदैवाप उत्पादयतीति प्रकृतिः। एवं महदाद्याः सप्त प्रकृतयो, विकृत यश्च। षोडशकस्तु विकारः। पश्च बुद्धीन्द्रियाणि, पच कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पच महाभूतानि, एष षोडशको गणो विकृतिरेव। विकारो—विकृतिः। न प्रकृतिन विकृतिः पुरुषः।।३।।

विशेष :- सांख्याभिमत दो तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। ये दोनों ही मूल तत्त्व हैं। इनमें न तो परस्पर कोई किसी का कारण है और न अन्य ही कोई इनका कारण है, दूसरे शब्दों में, ये किसी की विकृति अर्थात् विकार या कार्य नहीं। इसीलिये प्रस्तुत कारिका में प्रकृति के विषय में यह कहा गया है कि 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' अर्थात् मूलप्रकृति या मूलभूता प्रकृति अविकृति है। यानी किसी की विकृति नहीं; और पुरुष के विषय में भी कहा गया है कि 'न विकृतिः पुरुषः' अर्थात् पुरुष किसी की विकृति नहीं। जो विकृति अथवा विकार या कार्य होता है, उसकी कोई न कोई प्रकृति अर्थात् कारण होता है, किन्तु जो विकृति नहीं होता, उसकी कोई प्रकृति नहीं होती, अपितु वह स्वयं ही मूलतत्त्व होता है। प्रकृति और पुरुष, ये दोनों ही किसी की विकृति नहीं, और इस प्रकार इनकी कोई प्रकृति या कारण नहीं, अतः ये स्वयं ही मूलतत्त्व हैं। इनमें प्रकृति तो प्रकृति होते हुए मूलप्रकृति होने के कारण अर्थात् ऐसी मूलभूता प्रकृति होने के कारण कि जिसकी कोई अन्य प्रकृति नहीं स्वतः ही अविकृति है अर्थात् विकृति नहीं है और पुरुष की भी कोई प्रकृति न होने के कारण वह भी विकृति नहीं है। अस्तु ! इस प्रकार प्रकृति और पुरुष, ये दोनों किसी की विकृति न होने के कारण नित्य मूलतत्त्व हैं।

प्रकृति और पुरुष, इन दोनों क नित्य मूलतत्त्व होते हुए भी इन दोनों में यह अन्तर है कि प्रकृति, प्रकृति या मूलप्रकृति है और पुरुष प्रकृति नहीं है। इसीलिये कारिका में प्रकृति को 'मूलप्रकृतिः' कहा गया है। और पुरुष को 'न प्रकृतिः' कहा गया है, क्योंकि वही तत्त्व प्रकृति कहा जा सकता है जो विकृत होकर विभिन्न विकृतियों अर्थात् विकारों या कार्यों को जन्म देता है। प्रकृति विकारशील होते हुए भी विभिन्न विकृतियों को प्रसूत करने वाली है, और पुरुष प्रकृति न होने के कारण निर्विकार रहता है, किसी भी विकृति को जन्म नहीं देता। इस प्रकार प्रकृति विकारशील एवं पुरुष निर्विकार है।

यद्यपि समग्र जड़ प्रकृति की ही विकृति है और इस प्रकार प्रकृति की अनन्त विकृतियां होती हैं, किन्तु सांख्य के अनुसार केवल तेईस तत्त्वरूप विकृतियां मानी जाती हैं और सभी विकृतियों का इन्हीं तेईस विकृतियों में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। ये तेईस विकृतियां हैं—महत् या महत्तत्व, अहंकार, पच सूक्ष्म भूत या तन्मात्राएँ (शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा), पच महाभूत या स्थूलभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पथ्वी) एवं एकादश इन्द्रियां श्रोत्र, त्वक् या त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक् पाणि, पाद, पायु या गुदा, उपस्थ या जननेन्द्रिय, मन)। इनमें प्रथम सात अर्थात् महत् अहङ्कार, एवं तन्मात्राएं। 'प्रकृतिविकृति' मानी जाती हैं अर्थात् ये प्रकृति होते हुये विकृति हैं, इनमें से कोई भी तत्त्व अपने से बाद के तत्त्व की अपेक्षा से प्रकृति और पूर्व के तत्त्व की अपेक्षा से विकृति है। जिस प्रकार महत् या महत्तत्व अहंकार की अपेक्षा से प्रकृति और प्रकृति या मूलप्रकृति की अपेक्षा से विकृति है और अहंकार तन्मात्राओं की अपेक्षा से प्रकृति तथा महत्तत्व की अपेक्षा से विकृति है। इसी बात को कारिका में 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तः' के रूप में कहा गया है।

अवशिष्ट सोलह तत्त्व या पदार्थ अर्थात् पच महाभूत एवं एकादश इन्द्रियां केवल विकृति या विकार है। यद्यपि इसमें से भी पच महाभूत अन्य जागतिक पदार्थों को जन्म देने के कारण उनकी प्रकृति हैं और इस प्रकार ये भी 'प्रकृतिविकृति' माने जा सकते हैं, किन्तु यतः ये किसी भिन्न तत्त्व को जन्म नहीं देते, अपितु केवल विशिष्ट रूप से संघटित होकर विभिन्न पदार्थों के रूप में स्वरूपतः स्वयं ही बने रहते हैं, अतः इन्हें प्रकृति न मानकर केवल विकृति या विकार ही माना जाता है, इसीलिये कारिका में कहा गया है कि—'षोडशकस्तु विकारः' अर्थात् सोलह तत्त्वों या पदार्थों का वर्ग या समुदाय केवल विकार है।

उक्त प्रकार से प्रस्तुत कारिका में पच्चीस तत्त्वों का परिगणन कर उन्हें इन चार वर्गों में विभक्त किया गया है—अविकृति या केवल प्रकृति, प्रकृतिविकृति, केवल विकृति एवं न प्रकृति और न विकृति। मूलप्रकृति केवल प्रकृति ही हैं, किसी की विकृति नहीं, महत् आदि सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं, पच महाभूत एवं एकादश इन्द्रियां केवल विकृति हैं और पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है अर्थात् न उससे कोई उत्पन्न होता है और न वह किसी से उत्पन्न होता है।

दष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।।४।।

अन्वय :– दष्टम्, अनुमानम्, आप्तवचनं च त्रिविधं प्रमाणं इष्टम्। (एतेष्वेव) सव्रप्रमाणसिद्धत्वात्। हि प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः (भवति)।। ४।।

अर्थ :– सांख्यशास्त्रियों को दष्ट, (प्रत्यक्ष) अनुमान तथा आप्तवचन (शब्द) – ये तीन ही प्रमाण इष्ट हैं। क्योंकि अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत अतिरिक्त प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। ञयह निश्चित है कि प्रमाण के द्वारा ही प्रमेय (पदार्थ) की सिद्धि होती है।।४।।

भाष्यम्– एवमेषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः, कियद्भिः प्रमाणैः, केन, कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति ? इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते। यथा प्रस्थादिभिर्व्रीहयः, तुलया चन्दनादि। तस्मात् प्रमाणमभिधेयम्।

दष्टमिति –दष्टं यथा–श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पच बुद्धिन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पचानां पचैव विषया यथासङ्ख्यम्। श्रोतः शब्दं गह्णाति, त्वक्–स्पर्श, चक्षू–रूपं, जिह्वा–रसं, घ्राणः–गन्धमिति। एतत् 'दष्ट'–मित्युच्यते प्रमाणम्। प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योर्थो न गह्यते, स आप्तवचनाद् ग्राह्यः। यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेप्सरस इत्यादि। प्रत्यक्षनुमानाग्राह्यमप्याप्तवचनाद् गह्यते। अपि चोक्तम्–

'आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः।

क्षीणेदोषोनतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्।।

स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः।

पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादशः।।१।।

एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति। षट् प्रमाणानि, इति जैमिनिः। अथ कानि तानि प्रमाणानि ? १. अर्थापत्तिः, २. सम्भवः, ३. अभावः, ४. प्रतिभा, ५. ऐतिह्यम् ६. उपमानं चे' ति षट् प्रमाणानि। तत्रार्थापत्तिद्विविधा–दष्टा, श्रुता च। तत्र दष्टा–एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गह्यत एव। श्रुता यथा–दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अ थ च पीनो दश्यते, अतोवगम्यते–रात्रौ भुङ्क्त इति। सम्भवो यथा–'प्रस्थ' इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते। अभावो नाम प्रागितरेतरात्यन्त–सर्वाभावलक्षणः। प्रागभावो यथा–देवदत्तः कौमारयौवनादिषु। इतरेतराभावः–पटे घटाभावः। अत्यन्ताभावः–खरविषाण–वन्ध्यासुतखपुष्पवदिति। सर्वाभावः=प्रथ्वंसाभावो। दग्घपटवदिति। यथा शुष्कधान्यदर्शनाद् पष्टेरभावोवगम्यते। एवमभावोनेकधा। प्रतिभा यथा–

'दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम्।

पथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः।।

एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते। प्रतिभा च जानतां ज्ञानमिति। ऐतिह्यं यथा–व्रवीति लोको यथा–अत्र वटे यक्षिणी प्रतिवसती' त्येव ऐतिह्यम्। उपमानं यथा–गौरिव गवयः। समुद्र इव तडागः। एतानि षट् प्रमाणानि त्रिषु=दष्टादिष्वन्तर्भूतानि। तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता। सम्भवाभावप्रतिभैतिह्योपमानाश्चाप्तवचने। तस्मात्त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्। तदाह–'तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिः'–भवतीति वाक्यशेषः। प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। प्रमेयं=प्रधानं, बुद्धिरहङ्कारः, पचतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि पचविंशतितत्त्वानि 'व्यक्ताव्यक्तज्ञाः' त्रिविधं प्रमाणमुक्तम्।।४।।

विशेष :- यतः किसी विषय या पदार्थ का ज्ञान तथा अपने द्वाना माने हुये पदार्थ की सत्ता का साधन प्रमाण से ही होता है, अतः लोक में भी विभिन्न प्रमाण मान्य हैं और विभिन्न दर्शन भी विभिन्न प्रमाण मानते हैं। विभिन्न दर्शनों के द्वारा माने जाने वाले प्रमाणों की संख्या समान नहीं है; जैसे चार्वाक केवल एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है। बौद्धदर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान, इन दो प्रमाणों को मानता है। सांख्य, योग एवं वैष्णव वेदान्तदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द इन तीन प्रमाणों को मानते हैं। न्याय और वैशेषिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं। प्रभाकर (प्रभाकर के अनुयायी) मीमांसक उक्त चार प्रमाणों के साथ 'अर्थापत्ति' को और मानकर पांच प्रमाण मानते हैं। भाट्ट (कुमारिल भट्ट के अनुयायी) मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती इन पांच प्रमाणों के साथ 'अभाव' को और मानकर छः प्रमाण मानते हैं। पौराणिक इन छः प्रमाणों के साथ 'संभव' और 'ऐतिह्य' को और मानकर आठ प्रमाणों को मानते हैं। 'मानमेयोदय' ग्रन्थ में विभिन्न दर्शनों के द्वारा माने जाने वाले प्रमाणों की संख्या इस प्रकार बताई गई है–

चार्वाकस्तावदेकं द्वितयमपि पुनबौद्धर्वशेषिकी द्वौ,

भासवैज्ञश्च सांख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति।

प्राहुः प्राभाकराः पचकमपि च वयं तेपि वेदान्तविज्ञाः;

षटकं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे संभवैतिह्ययोगात्।।

जो दर्शन कम प्रमाण मानता है, वह उतने ही प्रमाणों से समग्र प्रमेयों या ज्ञेय विषयों की सिद्धि (ज्ञान) मानकर तदतिरिक्ति प्रमाणों का अपने द्वारा माने गये प्रमाणों में अन्तर्भाव मान लेता है, जो दर्शन अधिक प्रमाण मानता है, वह समग्र प्रमेयों की सिद्धि के लिये उतने प्रमाणों को आवश्यक समझता है। इस प्रकार सांख्य, चार्वाक एवं बौद्ध आदि की अपेक्षा अधिक प्रमाण मानते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द, इन तीन प्रमाणों को समग्र प्रमेयों की सिद्धि के लिये आवश्यक समझता है। अर्थात् उसके अनुसार इतने प्रमाणों को माने बिना काम नहीं चल सकता और दूसरी ओर वह न्याय, मीमांसा आदि अन्य दर्शनों के द्वारा माने हुये तदतिरिक्त प्रमाणों का अन्तर्भाव अपने द्वारा माने हुए प्रमाणों में मानता है अर्थात् उसके अनुसार उसके द्वारा माने हुये तीन प्रमाणों के ही अन्तर्गत तदतिरिक्त प्रमाण आ जाते हैं अथवा तीन प्रमाणों से ही तदतिरिक्त प्रमाणों के प्रमेयों की सिद्धि हो जाती है। इसलिये प्रस्तुत कारिका में कहा गया है कि सब प्रमाणों का अन्तर्भाव होने अथवा सब प्रमाणों के प्रमेयों की सिद्धि होने से प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द ये तीन प्रमाण अभीष्ट या मान्य हैं।

प्रतिविषयाध्यवसायो दष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।

तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु।।५।।

अन्वय :–प्रतिविषयाध्यवसायः दष्टम्, लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं अनुमानम्, तत् त्रिविधिम् आख्यातम्, आप्तश्रुतिः तु आप्तवचनम्।।५।।

अर्थ :– इन्द्रिय के माध्यम से विषय का निश्चयात्मक ज्ञान कराने वाला दष्ट=प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। लिङ्गलिङ्गिपूर्वक अर्थात् व्याप्तिभावसम्बन्धपूर्वक अनुमानप्रमाण होता है, वह तीन प्रकार का है–पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदष्ट, ऐसा सांख्यशास्त्र में कहा गया है। आप्तपुरुष के वचन पूर्वक होने वाला ज्ञान, श्रुति अथवा शब्द प्रमाण है।।५।।

भाष्यम्–तस्य किं लक्षणम् ? एतदाह–प्रतिविषयेषु=श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दष्टम्, प्रत्यक्षमित्यर्थः। त्रिविधिमनुमानमाख्यातम्। पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदष्टं चेति। पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्। यथा मेघोन्नत्या वष्टिं साधयति, पूर्वं दष्टत्वात्। शेषवद्यथा–समुद्रादेकं जललवं लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति। सामान्यतोदष्टे–देशान्तराद्देशान्तरं दष्टं गतिमत्चन्द्रतारकं चैत्रवत्। यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य 'गतिमानयम्' इति, तद्वचन्द्रतारकमिति। तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदष्टेन साधयति। एतत्सामान्यतोदष्टम्। किच तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति। तत्=अनुमानं लिंङ्गपूर्वकं=यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा=दण्डेन यतिः। लिङ्गिपूर्वकं च–यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा–दष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति। आप्तश्रतिराप्तवचनं च आप्ताः=आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः आप्ताश्च, आप्तश्रुतिः तदुक्तम्–आप्तवचनमिति। एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम्।।५।।

विशेष :- यतः प्रस्तुत सांख्यकारिका ग्रन्थ एक प्रमेयशास्त्र–सांख्य–का प्रकरण ग्रन्थ है, अतः इसकी प्रस्तुत कारिका में सांख्याभिमत प्रमाणों के स्वरूप का परिचय संक्षिप्त और कुछ अंशों में अपूर्ण या अस्पष्ट सा ही प्राप्त होता है। फलतः टीकाकारों ने इस कारिका की व्याख्या करते हुए इसके प्रतिपाद्य को अपने अपने ढंग से स्पष्ट या उद्घाटित किया है और साथ ही उसके अपूर्ण प्रतीत होने वाले अंश को अपनी ओर से पूर्ण किया है।

'प्रतिविषयाध्यवसाय' पद दष्ट या प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण या स्वरूप–परिचय प्रस्तुत करता है। विभिन्न टीकाकारों ने इस पद की व्युत्पत्ति विभिन्न रूपों में करते हुए इसका व्युत्पत्तिगम्य अर्थ विभिन्न रूपों में प्रकट किया है, यद्यपि तात्पर्यार्थ प्रायः एक सा ही रहता है। इसका तात्पर्यार्थ यह ही है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ साक्षात् सम्बन्ध या संनिकर्ष होने पर जो अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञात रूप बुद्धि–व्यापार होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस तात्पर्यार्थ को प्राप्त करने के लिए सांख्य–तत्त्व–कौमुदीकार ने उक्त पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है–'विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम्। वत्तिश्च संनिकर्षः। अर्थसंनिकृष्टमित्यर्थः। तस्मिन् अध्यवसायः तदाश्रित इत्यर्थः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रति' का अर्थ प्रत्येक' माना गया है, जिससे किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि होती हुई प्रतीत नहीं होती है और अभीष्ट 'संनिकर्ष' अर्थ का 'वर्तते' के रूप में ऊपर से अध्याहार करना पड़ता है। फलतः यदि 'प्रति' का अर्थ 'प्रत्यक्ष आदि शब्दों के 'प्रति' समान 'साक्षात् सम्बन्ध' मानते हुए उक्त पद की व्युत्पत्ति इस रूप में की जावे कि–'विषयं प्रति प्रतिविषयम्। प्रतिविषयं यथा स्यात् तथा अध्यवसायः

प्रतिविषयाध्यवसायः', तो यह उचित ही होगा, क्योंकि ऐसा करने से अभीष्ट 'सन्निकर्ष या सम्बन्ध' अर्थ का ऊपर से अध्याहार नहीं करना पड़ता। इस व्युत्पत्ति के अनुसार "प्रतिविषयम्" पद क्रिया–विशेषण रहते हुए 'विषय से साक्षात् सम्बन्ध से इन्द्रियों का आक्षेप स्वतः ही हो जाता है, क्योंकि विषय से साक्षात् सम्बन्ध का अर्थ ही इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध होना है, अतः यह तात्पर्य सीधे ढंग से स्वाभाविक रूप में प्राप्त हो जाता है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ साक्षात् सम्बन्ध या संनिकर्ष होने पर जो अध्यवसाय होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रस्तुत कारिका में अनुमान का लक्षण या स्वरूप–परिचय 'लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्' के रूप में दिया गया है। इससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अनुमान लिङ्गलिङ्गिपूर्वक होता है अर्थात् अनुमान प्रमाण के पूर्व में लिंग और लिंगी होते हैं अथवा अनुमान प्रमाण लिंग लिंगी पर आधारित है। इससे अनुमान का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता, यह केवल अनुमान का सामान्य परिचय मात्र ही कहा जा सकता है। इसे यदि अनुमान का लक्षण माना जावे तो यह अस्पष्ट और अपूर्ण–सा ही लक्षण माना जा सकता है और इसलिए व्याख्याकारों को इसे अपनी ओर से कुछ मिलाकर स्पष्ट और पूर्ण करना पड़ा है।

सांख्य प्रत्येक प्रमाण को अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान रूप बुद्धिव्यापार के रूप में मानता है और तज्जन्य प्रमा को पौरुषेय बोध के रूप में मानता है, अतः यहां यह मानना होगा कि अनुमान के उक्त लक्षण में कारिकाकार को पूर्व में दिये गये प्रत्यक्ष के लक्षण 'प्रतिविषयाध्यवसाय' से 'अध्यवसाय' पद की अनुवत्ति अभिप्रेत है और इस प्रकार कारिकाकर के अनुसार जहां प्रत्यक्ष प्रमाण 'प्रतिविषयं यथा स्यात् तथा अध्यवसायः' अर्थात् इन्द्रिय के विषय से साक्षात् सम्बन्ध रहने की स्थिति में होने वाला अध्यवसाय है, यहाँ अनुमान प्रमाण 'लिङ्गलिङ्गिपूर्वम् यथा स्यात् तथा अध्यवसायः' अर्थात् लिङ्ग और लिङ्गी के पूर्व में रहने की स्थिति में होने वाला अध्यवसाय या लिंग और लिंगी पर आधारित अध्यवसाय है। इतने से भी यह स्पष्ट होने पर भी कि सांख्यसम्मत अनुमान प्रमाण भी अन्य सांख्यसम्मत प्रमाणों के समान अध्यवसाय रूप हैं, 'लिङ्गलिङ्गिपूर्वम्' का भाव स्पष्ट नहीं होता अर्थात् यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि अध्यवसाय लिङ्ग और लिङ्गी को किस रूप में अपना आधार बनाता है अथवा लिङ्ग और लिङ्गी किस रूप में पूर्व में रहते हुए इस अध्यवसाय को जन्म देते हैं। यतः इस बात को कारिकाकार ने स्पष्ट नहीं किया है, अतः यह मानना होगा कि इस विषय में मुख्यतः प्रमाणशास्त्र के रूप में माने जाने वाले न्यायशास्त्र की जो मान्यता हे, उससे उन्हें कोई विरोध नहीं है और इसीलिये उन्होंने सामान्यतः 'लिङ्गलिङ्गिपूर्वम्' कह दिया है। फलतः इस सामान्य कथन का यह तात्पर्य मानना होगा कि जहां लिङ्ग होता है, वहाँ लिङ्गी होता है और जहाँ लिङ्गी नहीं होता, वहाँ लिङ्ग नहीं होता, इस रूप में लिङ्ग और लिङ्गी के अनिवार्य स्वाभाविक सम्बन्ध को पूर्व में जानने के बाद और यतः:, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, सांख्य के अनुसार प्रमाण लिङ्गलिङ्गिपूर्वम् अध्यवसाय है, अतः उसके अनुसार उक्त रूप में लिङ्ग और लिङ्गी के अनिवार्य स्वाभाविक सम्बन्ध को पूर्व में जानने के बाद उसके फलस्वरूप स्थलविशेष पर लिङ्ग के दर्शन करने से लिङ्गी की सत्ता के विषय में होने वाला अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान रूप बुद्धि–व्यापार अनुमान प्रमाण है।

प्रस्तुत कारिका के अनुमान के तीन भेद माने गये हैं–'विविधमनुमानमाख्यातम्'। यहाँ इन भेदों का स्पष्टतः निर्देश नहीं किया गया है। प्रमाणशास्त्र के रूप में मान्य न्यायदर्शन के मूल एवं प्राचीनतम ग्रन्थ न्यायसूत्र में अनुमान के 'अथतत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दष्टं च' के रूप में पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदष्ट, ये तीन भेद माने गए हैं। बहुत सम्भव है कि प्रस्तुत कारिका में भी इन्हीं तीन भेदों की ओर संकेत हो। इनमें पूर्ववत् अनुमान वह होता है कि जिसका विषय या साध्य और उससे हेतु का व्याप्त होना पूर्व में प्रत्यक्षगोचर हो चुकता है, जैसे पर्वत आदि में धूम से वह्नि का अनुमान। इसमें साध्य वह्नि और उससे हेतु धूम के व्याप्त होने का दर्शन पूर्व में पाकशाला आदि में किया जा चुकता है। शेषवत् अनुमान के स्वरूप का परिचय विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूपों में दिया है। सांख्यतत्त्वकौमुदीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार शेषवत् अनुमान वह है जहां हेतु साध्य के द्वारा केवल व्यतिरेक के रूप में व्याप्त हो अर्थात् जहां साध्य का साधन केवलव्यतिरेकी हेतु से किया जावे। इसका उदाहरण पूर्व में 'जीवित शरीर सात्मक है' आदि के रूप में दिया जा चुका है। यतः इस अनुमान के विषय या साध्य की स्थिति एकमात्र पक्ष में होती है और इस प्रकार एकमात्र पक्ष ही साध्य–स्थल के रूप में 'शेष' या अवशिष्ट रहता है, अतः इसे, 'शेषवत्' कहा जाता है। कुछ विद्वान् प्रकारान्तर से भी इस अभिधान (शेषवत्) का आधार प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतोदष्ट अनुमान वह होता है जिसका विषय या साध्य पूर्ववत् अनुमान के समान अपने विशेष रूप से दष्ट न होकर सामान्य रूप से दष्ट होता है; जैसे किसी कार्य को देखकर उसके कर्त्ता का अनुमान या किसी क्रिया को देखकर उसके कारण का अनुमान। उदाहरण के लिये, जैसे पूर्व में यह देखा जा चुकता है कि घट, पट एवं रथ आदि कार्यों के कर्त्ता कुम्भकार, तन्तुवाय एवं रथकार आदि हैं, फलतः यह व्याप्ति ग्रहण की जाती है कि जो कार्य होता है उसका कोई न कोई कर्त्ता होता है। इस व्याप्ति के आधार पर जगत् रूप कार्य से भी उसके क र्त्ता ईश्वर आदि का अनुमान किया जाता है। यहाँ पूर्व में जगत् रूप

कार्य के कर्त्ता ईश्वर आदि को उस प्रकार कभी नही देखा जा सका है जिस प्रकार धूम के साध्य वह्नि को देखा जा चुकता है, अपितु घट, पट एवं रथ आदि कार्यों के स्थान पर सामान्यतः यह देखा जा चुका है, जो कार्य होता है उसका कोई कर्त्ता भी होता है। इसी प्रकार विभिन्न स्थलों पर विभिन्न क्रियाओं के विभिन्न कारण या साधन देखने के बाद दर्शन एवं श्रवण आदि क्रियाओं की करणभूता इन्द्रियों का अनुमान किया जाता है, जबकि इन्द्रियों का पूर्व में कभी दर्शन नहीं किया जा चुकता। यतः सामान्यतोदष्ट अनुमान के विपरीत पूर्ववत् अनुमान में वह्नि आदि साध्य पूर्व में विशेषतः देखे जा चुकते हैं, अतः पूर्ववत् एक प्रकार से 'विशेषतोदष्ट' होता है और कहीं–कहीं उसे ऐसा कहा भी गया है।

कुछ विद्वानों ने अनुमान के दो भेद माने हैं–वीत और अवीत। अन्वयमुख से प्रवर्तमान विधायक अनुमान वीत होता है। फलतः इसके अन्तर्गत पूर्ववत् और सामान्यतोदष्ट आ जाते हैं। व्यतिरेक मुख से प्रवर्तमान निषेधक अनुमान अतीत होता है। फलतः इसके अन्तर्गत शेषवत् आता है।

यतः सांख्य प्रमाणों को ज्ञान रूप मानता है, अतः उसके अनुसार आप्त अर्थात् यथार्थ का प्रामाणिक वाक्य के अर्थ का ज्ञान शब्द प्रमाण है और उसके बाद पुरुष को जो उसके ज्ञान के विषय में 'एतद्वाक्यार्थज्ञानवानहम्' के रूप में अनुव्यवसायात्मक ज्ञान या बोध होता है, वह शब्द प्रमाणजन्य ज्ञान या शाब्दबोधता प्रमा है।

सामान्यतस्तु दष्टातीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्।।६।।

अन्वय :–सामान्यतोदष्टात् अनुमानात् तु अतीन्द्रियाणां प्रतीतिः, तस्मादपि असिद्धं परोक्षं च आप्तागमात् सिद्धम्।।६।।

अर्थ :– सामान्यतोदष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है और अनुमान से जिन पदार्थों की सिद्धि नहीं हो पाती है, वे परोक्ष पदार्थ आगमप्रमाण से जाने जाते हैं।।६।।

भाष्यम् :– तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम् ? उच्यते–सामान्यतोदष्टादनुमानादतीन्द्रियाणाम्=इन्द्रियाण्यतीत्य वर्तमानानां प्रतीतिः सिद्धिः प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदष्टेनानुमानेन साध्येते, यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणं यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति। यतश्चाचेतनं चेतनमिवाभाति अतोधिष्ठाता पुरुष इति। व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्। तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्। यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेप्सरस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम्।।६।।

विशेष :– जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदष्ट। प्रत्यक्ष प्रमाण से दष्टिगोचर पदार्थों या विषयों का ज्ञात होता ही रहता है साथ ही पूर्ववत् अनुमान से भी ऐसे अज्ञात प्रमेयों को ज्ञात कर लिया जाता है, जो पूर्व में कभी इन्द्रिय–गोचर हो चुके होते हैं, किन्तु ऐसे प्रमेयों का ज्ञान हो न तो वर्तमान में इन्द्रियों के गोचर या प्रत्यक्ष हैं और न भूतकाल में ही प्रत्यक्ष हो चुके हैं, शेषवत् एवं सामान्यतोदष्ट अनुमान और आगम प्रमाण से ही हो सकता है। फलतः इस कारिका में यह बताया गया है कि सामान्यतोदष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों के अविषय या अप्रत्यक्ष प्रमेयों का ज्ञान होता है। यहाँ सामान्यतोदष्ट के साथ शेषवत् अनुमान का भी अध्याहार हो जाता है, क्योंकि इससे भी अतीन्द्रिय प्रमेय का ज्ञान होता है। इन दोनों प्रकार के अनुमानों से प्रकृति एवं पुरुष आदि अतीन्द्रिय प्रमेयों की सत्ता की सिद्धि या प्रतीति हो जाती है, और जो स्वर्ग, कैवल्य आदि अतीन्द्रिय प्रमेय उक्त द्विविध अनुमान से भी ज्ञात नहीं हो पाते, उनका ज्ञान आगम प्रमाण से होता है।

प्रस्तुत कारिका का जो अर्थ ऊपर दिया गया है, उसके अनुसार विविध प्रमाणों–प्रत्यक्ष अनुमान एवं आगम या शब्द– में से प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय की इस कारिका में चर्चा नहीं रहती तथा शेषवत् अनुमान का अध्याहार करना पड़ता है, साथ ही यहाँ 'सामान्यतोदष्ट' पद भी एक समस्त पद के रूप में प्रयुक्त न होकर 'तु' पद के द्वारा विभक्त होते हुए 'सामान्यतः और द्रष्टात्', इन दो पदों के रूप में प्रयुक्त है, अतः कुछ टीकाकारों ने इस कारिका का अर्थ जो इस प्रकार किया है कि–'सामान्य अर्थात् इन्द्रियगोचर विषयों का ज्ञान दष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, अतीन्द्रिय या इन्द्रियों के अगोचर विषयों का ज्ञान अनुमान से होता है और अनुमान से भी अज्ञात परोक्ष विषय शब्द प्रमाण से ज्ञात होता है।" वह भी संगत माना जा सकता है।

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च।।७।।

अन्वय :– अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहारात् च (पदार्थस्य प्रत्यक्षयोग्यता अभिभूयते)।।७।।

अर्थ :– अत्यन्त दूर, अत्यन्त समीप, इन्द्रिय विकलता, मनश्चाचल्य, सूक्ष्मता, व्यवधान, अभिभव तथासमानजातीय में सम्मिश्रण होने के कारण प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ भी दिखलाई नहीं पड़ता है।।७।।

भाष्यम् :– अत्र कश्चिदाह–प्रधानं पुरुषो वा नोपलभ्यते, यश्च नोपलेभ्यते लोके तन्नास्ति, तस्मात्तावपि न स्तः। यथा द्वितीयः शिरः, ततीयो बाहुरिति। तदुच्यते। अत्र सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति। तद्यथा–१ इह सतामप्यर्थाना–मतिदूरादनुपलब्धिर्दष्टा। यथा–देशान्तरस्थानां चैत्र–मैत्र–विष्णु–मित्राणाम्। २ सामीप्याद्यथा–चक्षुषाजनानुपलब्धिः। ३ इन्द्रिया–भिधाताद्यथा–बधिरान्धयोः शब्द–रूपानुपलब्धिः। ४ मनोनवस्थानाद्यथा–व्यग्रचित्तः सम्यक्कथितमपि नावधारयति। ५ सौक्ष्म्याद्यथा–धूमोष्म–जल–नीहार–परमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते। ६ व्यवधानाद्यथा–कुड्येन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते। ७ अभिभवाद्यथा–सूर्यतेजसाभिभूता ग्रहनक्षत्रतारकादयो नोपलभ्यन्ते। ८ समानाभिहाराद्यथा–मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः, कुवलयामलकमध्ये कुवलयामलके क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते, समानद्रव्यमध्याहृतत्वात्। एवमष्टधानुपलब्धिः सतामर्थानामिह दष्टा।।७।।

विशेष :– यदि कोई वस्तु नहीं दीखे तो अनिवार्यतः यह नहीं माना जा सकता कि वह वस्तु है ही नहीं, क्योंकि जिस प्रकार अभाव के कारण वस्तु उपलब्ध नहीं होती, उसी प्रकार उक्त विभिन्न कारणों से भी कोई वस्तु होते हुए भी प्रत्यक्षगोचर नहीं होती। फलतः किसी वस्तु के उपलब्ध न होने पर ज्ञानवान् व्यक्ति को यह विचार करना ही होगा कि वह वस्तु अभाव या न होने के कारण उपलब्ध नहीं हो रही है अथवा उक्त विभिन्न कारणों में से किसी कारण के वश उपलब्ध नहीं हो रही है। किसी वस्तु के उपलब्ध न होने के साथ ही उसका अभाव घोषित कर देना कोई बुद्धिमत्ता या वैज्ञानिकता नहीं होगी। अत्यधिक दूरी पर रहती हुई वस्तु होते हुए भी नहीं दीखती, जिस प्रकार किसी दूर देश में स्थित व्यक्ति होते हुए भी दष्टिगोचर नहीं होता, आकाश में बहुत दूर पर उड़ने वाला पक्षी या वायुयान नहीं दीखता और न दीखने पर भी इन व्यक्ति, पक्षी एवं वायुयान की स त्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। अत्यधिक समीप रहने पर भी वस्तु उपलब्ध नहीं होती, जैसे अपनी आंख में लगा हुआ काजल अपनी ही आंख से नहीं दीखता। अन्धा या बहिरा होने के रूप में इन्द्रियों या उनकी शक्ति का विनाश होने पर भी सामने स्थित वस्तु दष्टिगोचर नही होती और पास में होने वाला भी शब्द श्रवणगोचर नहीं होता। मन काम क्रोध आदि से अव्यवस्थित या बेचैन हो तब व्यक्ति इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित पास की वस्तु को भी नहीं देख पाता, क्योंकि तब मन अव्यवस्थित होने के कारण इन्द्रियसमर्पित विषय को ग्रहण नहीं कर पाता। सूक्ष्मता भी वस्तु के प्रत्यक्षगोचर होनें में बाधक है, छोटे–छोटे कीटाणुओं एवं परमाणुओं का सूक्ष्मता के कारण ही दर्शन नहीं हो पाता। बन्द कमरे के भीतर की वस्तु बाहर से आवरण या आड के कारण दिखाई नहीं देते। सरोवर के जल में मिला हुआ मेघजल इसलिए पथक् से दष्टिगोचर नहीं होता कि उसका समान रूप वाली वस्तु (जल) के साथ मिश्रण हो गया है।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च।।८।।

अन्वय :– सौक्ष्म्यात् तदनुलब्धिः न अभावात् कार्यतः तदुपलब्धेः। तच्च कार्यं महदादि (यः) प्रकृतिस्वरूपं विरूपं च (अस्ति)।।८।।

अर्थ :– प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व होने से उपलब्ध नहीं होती। ऐसा नहीं है कि असत् होने से प्रकृति की उपलब्धि नहीं हो पाती है, क्योंकि उसके कार्य के आधार पर प्रकृति का अस्तित्व अनुमित होता है। प्रकृति के कार्य बुद्धयादि हैं। ये कारणभूत प्रकृति से समान रूप वाले भी हैं और असमान रूप वाले भी हैं।।८।।

भाष्यम् :– एवं चास्ति किमभ्युपगम्यते–प्रधानपुरुषयोरपि–एतयोर्वानुपलब्धिः केन हेतुना, केन चोपलब्धिः ? तदुच्यते–सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः। प्रधानस्येत्यर्थः। प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, यथाकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः सन्तोपि नोपलभ्यन्ते। कथं तर्हि तदुपलब्धिः ?। 'कार्यतस्तदुपलब्धिः'। कार्यं दष्ट्वा कारणमनुमीयते। अस्ति प्रधानं कारणं–यस्येदं कार्यम्। बद्धिरहङ्कारः' पचतन्मात्राणि, एकदशेन्द्रियाणि, पचमहाभूतान्येव तत्कार्यम्। तच्च कार्य–'प्रकृतिविरूपम्'। प्रकृतिः=प्रधानं, तस्य विरूपं=प्रकृतेरसदशम्। सरूपं च। समानरूपं च। यथा लोकेपि पितुस्तुल्य इह पुत्रो भवत्यतुल्यश्च येन हेतुना तुल्यमतुल्यं, तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः।।८।।

विशेष :- जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, किसी वस्तु की अनुपलब्धि या तो अभाव के कारण होती है या अतिदूरता आदि पूर्वकारिका में परिगणित कारणों में से किसी कारणवश होती है। यतः प्रकृति दष्टिगोचर नहीं होती, अतः जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से होती है कि प्रकृति अपने अभाव अर्थात् न होने के कारण दष्टिगोचर नहीं होती अथवा अन्य किसी कारण से दष्टिगोचर नहीं होती। इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने यह कहा है कि ऐसा नहीं

है कि प्रकृति अपने अभाव के कारण दष्टिगोचर नहीं होती, अपितु वह होते हुए भी अपनी सूक्ष्मता के कारण दष्टिगोचर रहीं होती, क्योंकि अत्यधिक सूक्ष्म पदार्थ को इन्द्रियां अपना विषय नहीं बना पाती। पुनः यह शंका होती है कि ऐसा क्यों माना जावे कि प्रकृति अपनी सूक्ष्मता के कारण दष्टिगोचर नहीं होती, इसके उत्तर में कारिकाकार ने कहा है कि यतः उसके कार्य से उसकी उपलब्धि अर्थात् उसकी सत्ता की जानकारी प्राप्त होती है, अतः यही मानना होगा कि वह (प्रकृति) है तो, किन्तु सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देती। यतः कार्य को देखकर अनुमान प्रमाण से उसके कारण की सत्ता के विषय में जानकारी हो जाती है, अतः प्रकृति के कार्य को देखकर कारणरूप प्रकृति की सत्ता की जानकारी सामान्यतोदष्ट अनुमान से हो जाती है। प्रकृति के कार्य महतत्त्व अहंकार आदि हैं जो बुद्धि आदि के रूप में अनुभवगम्य है और इनसे इनकी कारणरूपा प्रकृति की सत्ता का ज्ञान हो जाता है। प्रत्येक कार्य कुछ बातों में अपने कारण के समान होता है, क्योंकि वह उससे उत्पन्न होता है और साथ ही कुछ बातों में अपने कार्य सब बातों के कारण के समान ही न होकर उसका कार्य है। यदि कोई कार्य सब बातों में कारण के समान ही होगा तो फिर वह कार्य न होकर कारण ही होगा, क्योंकि फिर उसमें या उसके कारण में भेद क्या रह जायेगा जो कि उसे कारण ही न मानकर उसका कार्य माना जावे। इसलिए यहाँ प्रकृति के महत् आदि कार्य को उसके सरूप या समान और विरूप या असमान, दोनों ही रूपों में बताया गया है।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणाभावाच्च सत्कार्यम्।।६।।

अन्वय :– –असदकरणात्, उपादान–ग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावात् च कार्यं सत् (अस्ति)।।६।।

अर्थ :–कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य, अपने कारण में निहित रहता है–असत् पदार्थ की अभिव्यक्ति उत्पत्ति नहीं होने से। तत्–तत् कार्य की उत्पत्ति के लिये व्यक्ति तत्–तत् कारण को ही ग्रहण किये जाने से। किसी एक उपादान–कारण से समस्त कार्यों की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं होने से। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति निहित रहती है, उस शक्त कारण से उसी शक्य कार्य को की उत्पत्ति होने से। कारण में पाये जाने वाले गुण के उसके कार्य में भी अनुप्रविष्ट रहने से। कार्याभिव्यक्ति के पूर्व भी कारण में कार्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।।६।।

भाष्यम् :– यदिदं महदादिकार्यं तत् किं 'प्रधाने सत् उताहोस्विदसत् ? आचार्यविप्रतिपत्तेरयं संशयः। यतोत्र साङ्ख्यदर्शने सत्कार्य, बौद्धादीनामसत्कार्यम्। यदि सत्, असन्न भवति। अथासत् सन्न भवतीति विप्रतिषेधः। तत्राह– **असद०-न सत्-असत्,** असतोकरणं, तस्मात्सत्कार्यम्। इह लोकेसत्करणं नास्ति, यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः। तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्। अतः 'सत्कार्यम्' किचान्यत् उपादानग्रहणात्। उपादानं=कारणं, तस्य ग्रहणात्। इह लोके यो येनार्थी, स तदुपादानग्रहणं करोति। दध्यर्थी क्षीरस्य, न तु जलस्य। तस्मात् सत्कार्यम्। इतश्च–सर्वसम्भवाभावात् सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति। यथा सुवर्णस्य रजतादौ, तणपांशुसिकतासु। तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत्कार्यम्। इतश्च, शक्तस्य शक्यकरणात्। इह कुलालः शक्तो मद्दण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणम्, उपकरणं वा शक्यमेव घटं मत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम्। इतश्च, कारणभावाच्च सत्कार्यम् कारणं यल्लक्षणमेव तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः व्रीहिभ्यो व्रीहयः। यदासत्कार्य स्यात्ततः कोद्रवेभ्यः शालयः स्युः न च सन्तीति, तस्मात्–सत्कार्यम्। एवं पचभिर्हेतुभिःप्रधाने महदादि लिङ्गमस्ति। तस्मात् सत उत्पत्तिर्नासत इति।।६।।

विशेष :- दार्शनिक क्षेत्र में कारणवाद के विभिन्न स्वरूप मान्य हैं, उन्हीं में से एक सत्कार्यवाद है, जिसे सांख्य, ब्रह्मसूत्र एवं अन्य कुछ वैष्णववेदान्त आरि दर्शन स्वीकार करते हैं। इस वाद या सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि कार्य अपनी उतपत्ति से पूर्व भी कारण रूप से या कारण में सत् अर्थात् विद्यमान है। इसके विपरीत कारणवाद का एक दूसरा स्वतन्त्र रूप असत्कार्यवाद है, जिसे न्याय एवं वैशेषिक आदि दर्शन मानते हैं, इसके अनुसार यह माना जाता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् अविद्यमान है। सत्कार्य के साथ परिणामवाद अनिवार्य रूप से सम्बद्ध रहता है, जिसका अभिप्राय है कि कारण का ही कार्य के रूप में परिणाम होता है अथवा कारण कार्य के रूप में परिणत होता है। परिणामवाद को आधुनिक शब्दावली में विकासवाद भी कह सकते हैं। यतः कारण का ही कार्य के रूप में परिणाम या विकास होता है, अतः यह स्वतः ही मानना होगा कि कार्य कारण भिन्न न होकर कारण का ही एक परिणत या विकसित रूप है और फलतः वह अपने इस विकसित रूप को प्राप्त करने से पहले भी अविकसित रूप के साथ कारण में विद्यमान रहता है या सीधे यह कहा जा सकता है कि वह कारण रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य कारण में या कारण रूप में 'सत्' है। जिस प्रकार सत्कार्यवाद के साथ परिणामवाद सम्बद्ध है, उसी प्रकार असत्कार्यवाद के साथ आरम्भवाद सम्बद्ध है। आरम्भवाद का तात्पर्य

है कि कारण–व्यापार के द्वारा कार्य नये सिरे से आरम्भ होता है। जहाँ सत्कार्यवाद और तत्सम्बद्ध परिणामााद के अनुसार कार्य को कारण से अभिन्न माना जाता है, क्योंकि इनके अनुसार वह कारण का ही एक रूप है, वहाँ असत्कार्यवाद और तत्सम्बद्ध आरम्भवाद के अनुसार कार्य को कारण से भिन्न माना जाता है, क्योंकि उनके अनुसार कार्य कारण रूप न होकर नये सिरे से आरम्भ होने वाली या अस्तित्व ग्रहण करने वाली एक नयी वस्तु है।

सांख्य सत्कार्यवाद को मानता है, अतः प्रस्तुत कारिका में इसको मानते हुए यह मान्यता प्रकट की गई है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी 'सत्' या विद्यमान है। इस सत्कार्यवादीय मान्यता या सत्यकार्यवाद की सिद्धि के लिए यहां असदकरण उपादानग्रहण, सर्वसम्भवाभाव, शक्त द्वारा शक्यकरण एवं कारणभाव, ये हेतु दिए गये हैं।

इन हेतुओं में से असदकरण का तात्पर्य है कि जो जहाँ असत् या विद्यमान रहता है, उसे वहां से किया नहीं जा सकता अर्थात् उसे वहां से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार बालुका में तैल नहीं है, अतः किसी भी साधन से उसे वहां से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, यदि असत् या अविद्यमान का कारण या उत्पादन संभव होता तो बालुका में भी तैल निकाल लिया जाता। इस प्रकार जो कार्यरूप पदार्थ जहां पहले से सत् या विद्यमान नहीं है, उसे वहां से उत्पन्न नहीं किया जा सकता और फलतः यही मानना होगा कि कारणरूप पदार्थ में कार्यरूप पदार्थ पहले से अव्यक्त रूप में सत् या विद्यमान होता है, जिसे कि विभिन्न कारणों या साधनों के द्वारा व्यक्त कर लिया जाता है या जो अनुकूल साधनों या परिस्थितियों को पाकर स्वयं व्यक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, तिलों में तैल पहले से ही अव्यक्त रूप में सत् या विद्यमान होता है, जिसे कि यन्त्र आदि द्वारा तिलों से निकाल लिया जाता या व्यक्त कर लिया जाता है। इसी प्रकार जल या मिट्टी का तैल जमीन में पहले से रहता है, जिसे कि अवरोधक मिट्टी को हटाकर प्रकट कर लिया जाता है।

उपादानग्रहण से भी यह सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् है। किसी विशिष्ट तैल आदि कार्य को उत्पन्न करने के लिये तत्सम्बद्ध विशिष्ट तिल आदि उपादान को ग्रहण किया जाता है और विशिष्ट उपादान का यह ग्रहण या चयन इस आधार पर ही किया जा सकता है कि उस उपादान में अपेक्षित कार्य रूप पदार्थ पहले से अव्यक्त रूप से सत् या विद्यमान हैं जिसे कि व्यक्त रूप में उत्पन्न किया जा सकता है। यदि असत् या अविद्यमान को ही उत्पन्न करना है तो किसी विशिष्ट उपादान का चयन करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि फिर तो अपेक्षित कार्य को चाहे किसी से उत्पन्न कर लिया जाता है, किन्तु यतः ऐसा नहीं होता, अपितु विशिष्ट उपादान को ही ग्रहण किया जाता है, अतः सिद्ध है कि कोई विशिष्ट कार्य किसी विशिष्ट उपादान में पहले से सत् है जिसे कि उत्पन्न करने के लिए उस विशिष्ट उपादान को ग्रहण किया जाता है। जिस पदार्थ से कार्यरूप पदार्थ उत्पन्न किया जाता है, उसे उपादान या उपादानकारण कहते हैं, जैसे तेल का उपादान तिल, दही का उपादान दूध एवं मण्मय घट का उपादान मत्तिका है। सत्कार्यवादी इस कारण को उपादानकारण कहते हैं; क्योंकि उसके अनुसार कार्य के उसमें या उसके रूप में सत् होने के कारण उसको (कार्य को) उत्पन्न करने के लिए उसका (कारण में) उपादान या ग्रहण किया जाता है अर्थात् उससे कार्य को व्यक्त रूप में उत्पन्न किया जाता है। असत्कार्यवादी इस कारण को 'समवायिकरण' कहते हैं, क्योंकि इसमें समवेत होता हुआ अर्थात् इससे समवाय सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध होता हुआ कार्य उत्पन्न होता है।

सर्वसम्भवाभाव का तात्पर्य यह है कि यतः चाहे किसी पदार्थ से चाहे किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः सिद्ध है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् न होकर सत् है, क्योंकि यदि पहले से असत् रहने वाले कार्य की उत्पत्ति संभव होती तो असत् रूप से कहीं अन्तर न होने से चाहे किसी पदार्थ से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति की जा सकती थी, और इस प्रकार बालू से तैल और तैल से दही को भी उत्पन्न किया जा सकता था, किन्तु ऐसा होता नहीं, जिससे सिद्ध है कि किसी कारण में पहले से सत् या विद्यमान कार्य को ही उस कारण से उत्पत्ति होती है।

शक्त अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखने वाला कारण ही शक्य को अर्थात् उस कार्य को जिसको उत्पन्न करने की कारण में शक्ति है, उत्पन्न करता है अतः इससे भी यह सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् है, क्योंकि कारण की किसी विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति ही यह है कि वह कार्य उस कारण में स्थित है। इस प्रकार तैल का तिलों में स्थित होना ही तिलों की तैल को उत्पन्न करने की शक्ति है। यदि तिलों में तैल पहले से स्थित न होता तो उनमें तैल को उत्पन्न करने की शक्ति उसी प्रकार कदापि नहीं हो सकती थी जिस प्रकार बालू में तैल के न होने के कारण उसमें तैल को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

कारणभाव का तात्पर्य यह है कि यतः कार्य कारण से भिन्न न होकर कारणात्मक या कारण का ही एक रूप होता है और यत कारण कार्य रूप में आने से पहले भी सत् है, अतः स्वतः सिद्ध है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने मूल रूप

अर्थात् कारण रूप से सत् है। कारण और कार्य दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। किसी को तभी कारण कहा और माना जाता है, जब उसका कोई कार्य होता है, इस कार्य की अपेक्षा से ही वह कारण माना जाता है, इसी प्रकार किसी को तभी कार्य कहा जाता है जब उसका कोई कारण होता है और इस कारण की अपेक्षा से ही उसे कार्य माना जाता है। परस्पर सापेक्ष ये कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं, जिनमें कार्य रूप की अपेक्षा से अविकसित रूप कारण और कारण रूप की अर्पेक्षा से विकसित रूप कार्य है। कार्य ही अपने मूल या अविकसित रूप में कारण है और कारण ही अपने विकसित रूप में कार्य है। दूसरे शब्दों में, कारण ही अपने मूल या अविकसित रूप में कार्य है। इस प्रकार कार्य के कारण का एक विकसित रूप होने से वह अपने इस रूप को प्राप्त करने से पूर्व भी अपने मूल या कारण रूप से सत् है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।।१०।।

अन्वय :– व्यक्तं–हेतुमत्, अनित्यं, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितं, लिङ्गं, सावयवं, परतन्त्रं (अस्ति)। अव्यक्तं–(एतद्) विपरीतं (अस्ति) ।।१०।।

अर्थ :– तत्त्वों का समूह उत्पत्तिशील (हेतुमान्), विनाशशील, संकोचशील (एकदेशीय), क्रियाशील, अनेकशील, हेत्वाश्रयशील, लयशील, सावयवशील तथा पराधीनशील है। व्यक्त की उपर्युक्त शीलताओं से अव्यक्त रहित है अर्थात् व्यक्त से भिन्न है।।१०।।

भाष्यम् :–'प्रकृतिविरूपं सरूपं च' (इति) यदुक्तं तत् कथमित्युच्यते–व्यक्तं महदादिकार्य–(१) हेतुमदिति। हेतुस्यास्ति हेतुमत् उपादानं, हेतुः, कारणं, निमि त्तमिति पर्यायाः। व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमद्व्यक्तं भूतपर्यन्तम्। हेतुमद्बुद्धितत्त्वं प्रधानेन, हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पंचतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण। आकाशः शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्। वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान्। तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत्। आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः। पथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती। एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत्। किचान्यत्–(२) अनित्यम्। यस्मादन्यस्मादुत्पद्यते, यथा–मत्पिण्डादुत्पद्यते घटः, स चानित्यः। किच–(३) अव्यापि, असर्वगतमित्यर्थः यथा प्रधानपुरुषो सर्वगतौ, नैवं व्यक्तम्। किंचान्यत्–(४) सक्रियं, संसारकाले संसरति–त्रयोदशविधेन करणेन संयुक्तं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम्। किंचान्यत् (५) अनेकं। बुद्धिरहङ्कारः, पचतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, पचमहाभूतानि चेति। किंचान्यत्–(६) आश्रितम्। स्वकारणमाश्रयते। प्रधानाश्रिता बुद्धिः, बुद्धिमाश्रितोहङ्कारः, अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि, पचतन्त्रमात्राणि च। पचतन्मात्रश्रितानि पचमहाभूतानि। किच–(७) लिङ्गं लययुक्तं। लयकाले पचमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते। तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे। स च बुद्धौ। सा च प्रधाने लयं यातीति। तथा–(८) सावयवम्। अवयवाः =शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तैः सह। किच–(९) परतन्त्रं। नात्मनः प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धिः, बुद्धितन्त्रोहङ्कारः, अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च, तन्मात्रतन्त्राणि पचमहाभूतानि च। एवं परतन्त्रं=परायत्तम्। व्याख्यातं व्यक्तम्।

अथोव्यक्तं व्याख्यास्यामः। विपरीतमव्यक्तम्। एतैरेव गुणैर्यथोक्तैविपरीतमव्यक्तम्। हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्। न हि प्रधानात् परं किचिदस्ति, यतः प्रधानस्यानुत्पत्तिः, तस्माद् (१) अहेतुमद्व्यक्तम्। तथा–(२) अनित्यं च व्यक्तं, नित्यमव्यक्तमनुत्पाद्यत्वात्। नहि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्तं प्रधानं (नित्यं)। किंचाव्यापि व्यक्तं, (३) व्यापि प्रधानं, सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तम् (४) अक्रियमव्यक्तं, सर्वगतत्वादेव। तथानेकं व्यक्तम्। (५) एकं प्रधानं, कारणत्वात्। त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं, तस्मादेकं प्रधानम्। तदाश्रितं व्यक्तम्, (६) अनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् किचिदस्ति परं, यस्य प्रधानं कार्यं स्यात्। तथा व्यक्तं लिङ्गम्, (७) अलिङ्गमव्यक्तं, नित्यत्वात्। महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते, नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधानम्। तथा सावयवं व्यक्तं, (८) निरवयवमव्यक्तं। न हि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः प्रधाने सन्ति। तथा परतन्त्रं व्यक्तं, (९) स्वतन्त्रमव्यक्तं, प्रभवत्यात्मनः।।१०।।

विशेष :- प्रस्तुत कारिका में व्यक्त की विशेषताएं बताई गई हैं। व्यक्त वही होता है, जिसका कोई व्यक्तित्व या प्रकट रूप होता है जैसे–मनुष्य, पश, पक्षी, घट, पट आदि और व्यक्तित्व में इन विशेषताओं का होना स्वाभाविक है। कोई भी व्यक्तित्व स्वयंसिद्ध नहीं होता, अपितु अपने किसी कारण या मूल रूप से वह वर्तमान रूप को प्राप्त करता है, इस प्रकार वह हेतुमत् अर्थात् सकारण या कार्य होता है। जो कार्य होता है, वह स्वभावतः अनित्य होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है और उत्पत्ति के पूर्व वह पूर्वकारिका के अनुसार सत् होते हुए भी अपने वर्तमान रूप में नहीं था और जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है, फलतः वह बाद में भी वर्तमान रूप नहीं रहेगा। इस प्रकार व्यक्त पदार्थ हेतुमत् या कार्य होते हुए अनित्य होता है। व्यक्तित्व अनिवार्यतः ससीम अर्थात् सीमाओं में बंधा हुआ होता है, असीम होने पर तो व्यक्तित्व ही न रहेगा और फलतः

वह पदार्थ व्यक्त न रहकर अव्यक्त हो जायेगा। ससीम होने के कारण व्यक्तित्व व्यापक अर्थात् सर्वत्र रहने वाला न होकर अव्यापक अर्थात् किसी देश–विशष में ही रहने वाला होता है। इस प्रकार व्यक्त पदार्थ कार्य होते हुए अनित्य और अव्यापक के रूप में क्रमशः कालकृत एवं देशकृत सीमाओं में बंधा हुआ होता है। अव्यापक होने के कारण व्यक्तित्व के स्वतन्त्र या संचलन के लिए अवकाश या स्थान अविशिष्ट बना रहता है, फलतः वह स्पन्दन या संचलन करता रहता है और इस प्रकार वह सक्रिय होता है। व्यक्तित्व अकेला नहीं होता, अपितु उसके अतिरिक्त अनेक सजातीय एवं विजातीय व्यक्तित्व होते हैं। इस प्रकार व्यक्त पदार्थ अनेक होते हैं। जिस प्रकार घट एवं पट आदि व्यक्त पदार्थ अपने मूल रूप या कारण मत्तिका एवं तन्तु आदि पर आश्रित या अवलम्बित होते हैं, क्योंकि मत्तिका आदि को निकाल देने पर उनके वर्तमान रूप का अस्तित्व ही नही रह पाता, उसी प्रकार सभी व्यक्त पदार्थ या उनके व्यक्तित्व अपने–अपने मूल रूपों या कारणों पर आश्रित होते हैं। प्रत्येक व्यक्तित्व अपने मूल रूप या कारणों की सत्ता का लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक या सूचक होता है, क्योंकि मूल रूप या कारण की स त्ता के बिना उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता, अतः उसका अस्तित्व ही यह सूचित कर देता है कि उसके कारण का अस्तित्व है। प्रत्येक व्यक्तित्व अवयवों या हिस्सों वाला होता है इस प्रकार वह सावयव होता है। प्रत्येक व्यक्तित्व तभी कार्यकर होता है या किसी को उत्पन्न कर सकता है जबकि वह अपने मूल रूप या कारण से पूर्ण या भरपूर बना रहे, उदाहरण के लिये व्यक्त शरीर जिन तत्त्वों से बना है, वे यदि शरीर को अपने से पूर्ण न बनाए रहें तो शरीर क्षीण होकर किसी कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तित्व अपने मूल रूप या कारण के परतन्त्र होता है। व्यक्त आश्रित के रूप में अपने स्वरूप और स्थिति के लिए अपने कारण पर अवलम्बित होता है और परतन्त्र के रूप में अपनी प्रवत्ति के लिए अपने कारण पर अवलम्बित होता है। प्रत्येक व्यक्तित्व में इन विशेषताओं के स्वाभाविक होने के कारण व्यक्त पदार्थ, जो कि एक व्यक्तित्व को रखता हे, इन विशेषताओं को रखता है और फलतः अव्यक्त पदार्थ, जो कि किसी व्यक्तित्व को नहीं रखता है, स्वभावतः ही इन विशेषताओं से विपरीत विशेषताओं वाला होता है। अव्यक्त होने के कारण वह अहेतुमत् अर्थात् कारण रहित होते हुए स्वयं मूलकारण और फलतः नित्य होता है, किसी व्यक्तित्व को न रखने के कारण वह असीम या व्यापक होता है, व्यापक होने के कारण उसके स्पन्दन या संचलन के लिए अवकाश या स्थान अवशिष्ट नहीं रहता, फलतः वह निष्क्रिय होता है। यद्यपि कारण माने जाने वाले अव्यक्त में कोई न कोई क्रिया, जैसे परिणामस्वरूप क्रिया, अवश्य होती है, किन्तु यतः उसका स्पन्दन या संचलन नहीं होता, अतः उसे निष्क्रिय माना जाता है। अव्यक्त सर्वव्यापक होने के कारण एक ही होता है। कारण कार्य की सत्ता का सूचक नहीं हो सकता, क्योंकि कारण के रहने पर भी कार्य नहीं रहता, अतः अव्यक्त कारण होने के कारण लिङ्ग नहीं होता। अव्यक्त का कोई व्यक्तित्व नहीं होता, अतः उसके कोई अवयव या हिस्से नहीं होते और इस प्रकार वह निरवयव होता है। अव्यक्त स्वयं मूलकारण होता है अतः वह अपनी प्रवत्ति के लिए किसी के अधीन नहीं और इस प्रकार वह परतन्त्र न होकर स्वतन्त्र होता है।

इस जगत् के सभी व्यक्त पदार्थों में प्रस्तुत कारिका में वर्णित विशेषताएँ मिलती हैं, फलतः जिन व्यक्त पदार्थों का व्यक्तित्व स्पष्टतः अनुभूयमान न होता हो, उनमें भी ये विशेषताएं स्वभावतः रहती हैं, ऐसा मानना होगा। सांख्य स्वाभिमत जड़त्व को दो रूपों में मानता है–अव्यक्त और व्यक्त। इनमें पहला रूप–अव्यक्त–मूल रूप या कारण है ओर दूसरा रूप–व्यक्त–अव्यक्त का ही व्यक्त रूप या कार्य है। अव्यक्त रूप को सांख्य 'प्रधान' या 'प्रकृति' कहता है, जिसे कि वह जगत् का मूलकरण मानता है, व्यक्त रूप के अन्तर्गत मह तत्त्व, अहंकार, पांच तन्मात्राएं, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय एवं पांच स्थूलभूत या महाभूत, ये तेईस तत्त्व या पदार्थ माने जाते हैं। इन व्यक्त पदार्थों में प्रस्तुत कारिका में वर्णित वे विशेषताएं हैं जो व्यक्त की विशेषताएं बताई गई हैं; अव्यक्त अर्थात् प्रधान या प्रकृति में उनसे विपरीत विशेषताएं हैं। कारण से कार्य कई बातों में भिन्नता रखता है और कई बातों में समानता रखता है। यहां प्रस्तुत कारिका में यह बता दिया गया है कि प्रधान या प्रकृति रूप अव्यक्त कारण से महत्तत्व आदि व्यक्त कार्य किन बातों में भिन्नता रखते हैं।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।११।।

अन्वय :– व्यक्त तथा प्रधानं–त्रिगुणम् अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनं, प्रसवधर्मि (स्तः)। पुमान्–तद्विपरीतः। तथा च (वर्त्तते)।।११।।

अर्थ :– त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व तथा प्रसवधर्मित्व–व्यक्त एवं अव्यक्त के समान (तुल्य) धर्म है। पुरुष इनसे भिन्न है। अर्थात् पुरुष में व्यक्ताव्यक्त के समस्त धर्म (उभयसाधारण धर्म) हैं। पुरुष इनसे भिन्न है। अर्थात् पुरुष में व्यक्ताव्यक्त के समस्त धर्म (उभयसाधारण धर्म) नहीं है। वह तो किचित् अंश में ही व्यक्ताव्यक्त के तुल्य धर्म वाला है।।११।।

भाष्यम् :– एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते। यदुक्तं–'सरूपं च'। (१) त्रिगुणं व्यक्तं, सत्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति। (२) अविवेकि व्यक्तं न विवेकोस्यास्तीति। इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति। अयं गौरयमश्व इति यथा। ये गुणास्तद्वयक्तं, यद्वयक्तं ते च गुणा इति। तथा–(३) विषयो व्यक्तं, भोग्यमित्यर्थः। सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात्। तथा–(४) सामान्यं व्यक्तं, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात्। (५) अचेतनं व्यक्तं, सुखदुःखमोहान्न चेतयतीत्यर्थः। तथा (६) प्रसवधर्मि व्यक्तम्। तद्यथा–बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते, तस्मात् पंचतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते, तन्मात्रेभ्यः – पचमहाभूतानि। एवमेते व्यक्तधर्मोः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति। तत्र (१) त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुणं, यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम्। इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति। यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति। तथा–(२) अविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते, अन्ये गुणाः, अन्यत् प्रधानमेवं विवेक्तुं न याति, तद् अविवेकि प्रधानम्। तथा (३) विषयो व्यक्तं, प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वाद् विषय इति। तथा (४) सामान्यं व्यक्तं; प्रधानमपि, सर्व–साधारणात्वात्। तथा (५) अचेतनं व्यक्तं, प्रधानमपि; सुखदुः खमोहान्न चेतयतीति। कथमनुमीयते–इह ह्यचेतनान्मपिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते। तथा (६) प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानमपि प्रसवधर्मि। यतः प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते। एवं प्रधानमपि व्याख्यातम्। इदानीं तद्विपरोतस्तथा च पुमानित्येतद् व्याख्यायते। तद्विपरीतः। ताभ्यां=व्यक्ताक्ताभ्यां विपरीतः – पुमान्। तद्यथा–ञ(१) त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं च, अगुणः पुरुषः। (२) अविवेकि व्यक्तमव्यक्तं च, विवेकी पुरुषः। तथा (३) विषयो व्यक्तमव्यक्तं च, अविषयः पुरुषः। तथा (४) सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्यः पुरुषः। (५) अचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च, चेतनः पुरुषः सुखदुःखमोहां चेतयति=सजानीते तस्माच्चेतनः पुरुष इति। (६) प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानं च, अप्रसवधर्मी पुरुषः, न कि किचित् पुरुषात् प्रसूयते। तस्मादुक्तं तद्विपरीतः पुमानिति। तदुक्तं–'तथा च पुमान्' इति। यत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधानमहेतुमद्यथा व्याख्यातं, तथा च पुमान्। तद्यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं, तद्विपरीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमद्–व्यक्तमहेतुमत् प्रधानम्, तथा च नित्यः पुमान्, अहेतुमान्, अनुत्पाद्यत्वात्। अनित्यं व्यक्तं, नित्यं प्रधानं, तथा च नित्यः पुमान्। अव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तमाक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः, सर्वगतत्वादेव। अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः। आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं, तथा च पुमाननाश्रितः। लिङ्ग व्यक्तमलिङ्गं प्र धानं तथा च पुमानप्यलिङ्गः न क्वचिल्लीयत इति। सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्तं, तथा च पुमान्, निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयोवयवाः सन्ति। किच परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः।।११।।

विशेष :– सांख्याभिमत अव्यक्त 'त्रिगुण' अर्थात् सत्त्व, रजस् एवं तमस्, इन तीन गुणों वाला है और उसका विकसित रूप व्यक्त भी स्वभावतः त्रिगुण अर्थात् उक्त तीनों गुणों वाला है। अव्यक्त में गुणों के अव्यक्त रूप में रहने के कारण उनके ध ार्म–क्रमशः प्रीति या सुख, अप्रीति या दुःख एवं विषाद या मोह–अव्यक्त रूप में रहते हैं और व्यक्त में अर्थात् अव्यक्त की व्यक्त अवस्था में गुणों के व्यक्त होने के कारण उनके उक्त प्रीति या सुख आदि धर्म व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्षतः अनुभूयमान हो जाते हैं और अनुभूयमान होते हुए अपने धर्मी सत्त्व आदि गुणों की सत्ता का अनुमान करा देते हैं।

उक्त प्रकार से अव्यक्त और व्यक्त के त्रिगुणात्मक होने के कारण उनका स्वरूप विविक्त न होकर अर्थात् असंहत या असंघटित स्वरूप वाले एक ही एकात्मक तत्त्व के रूप में न होकर, अविविक्त है अर्थात् परस्पर संकीर्ण रूप में स्थित सत्त्व आदि तीन गुणों या तत्त्वों के संघात के रूप में अनेकात्मक हैं। ये तीनों गुण या तत्त्व ऐसे अविविक्त या अविवेच्य रूप से अव्यक्त और उसके विकसित रूप व्यक्त के स्वरूप में हैं कि उनको परस्पर विविक्त नहीं किया जा सकता और फलतः इन दोनों अव्यक्त और व्यक्त–का स्वरूप अविविक्त है और इसलिए उन्हें प्रस्तुत कारिका में 'अविवेकि' कहा गया है। 'अविवेकि' पद का विग्रह रूप अर्थ है–विवेचनं विवेकः विविक्तता पथक्करणम् वा, न विवेकः अविवेकः सोस्ति अस्येति, स्वरूपघटकभूतानां गुणानाम् परस्परम् अविवेकः अविविक्तता अपथक्करणम् वा अस्ति अस्येति यावत्'। अविवेक या अविविक्तता के नित्ययोग को प्रकट करने के लिए यहाँ मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, अन्यथा 'अविद्यमानः विवेकः यस्येति अविवेकिः' के रूप में ही काम चल जाता।

अव्यक्त और व्यक्त, दोनों ज्ञान या अनुभव के विषय हैं और इस प्रकार ज्ञान या अनुभव के अतिरिक्त हैं, विज्ञान रूप या विज्ञानाकार नहीं, जैसा कि योगाचार बौद्ध मानते हैं। ये दोनों सामान्य या साधारण हैं, क्योंकि किसी एक के द्वारा नहीं, अपितु अनेकों ग्राह्य अर्थात् उनके ज्ञान के विषय हैं। ये दोनों अचेतन या जड़ हैं। ये दोनों 'प्रसवधर्मि' या परिणामशील हैं और फलतः इनसे प्रसव (उत्पत्ति) होता रहता है। सष्टि की अवस्था में तो अव्यक्त से महत् आदि व्यक्त पदार्थों का और महत् आदि से अन्य व्यक्त पदार्थों का प्रसव (उत्पत्ति) होता ही है, प्रलय अवस्था में, जब केवल अव्यक्त रह जाता है, तब भी अव्यक्त में गुणों का सदश परिणाम रूप प्रसव होता रहता है।

सांख्याभिमत पुरुष उक्त बातों में अव्यक्त और व्यक्त से विपरीत है और इस प्रकार वह त्रिगुण न होकर निर्गुण है, अविविक्त या संकीर्ण स्वरूप वाला न होकर एक तत्त्व के रूप में विविक्त या असंकीर्ण रूप वाला है। ज्ञान का विषय न होकर

विषयी अर्थात् विषयों का ज्ञान या अनुभव प्राप्त करने वाला है। पुरुषों में प्रत्येक का अपना–अपना स्वरूप अपने–अपने द्वारा गेय या अनुभाव्य होने के कारण वह सामान्य न होकर विशिष्ट है। अचेतन न होकर चेतन या चित्स्वरूप है। प्रसवधर्मी या परिणामशील न होकर निर्विकार कूटस्थ त त्त्व है।

उक्त बातों में अव्यक्त और व्यक्त से विपरीत होता हुआ भी पुरुष पूर्व कारिका में वर्णित अव्यक्त और व्यक्त की कुछ विशेषताओं को रखने के कारण तत्तद्विशेषताओं की दष्टि से वह अव्यक्त और व्यक्त के समान भी है और इस प्रकार वह अव्यक्त के समान अहेतुमत या कारणरहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है तथा व्यक्त के समान अनेक हैं।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवत्तिनियमार्थाः।

अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवत्तयश्च गुणाः।।१२।।

अन्वय :– गुणा–प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, प्रकाशप्रवत्तिनियमार्थाः, अन्योन्याभिभवाश्रय–जननमिथुनवत्तयश्च, सन्ति।।१३।।

अर्थ :– सत्त्व, रजस् तथा तमस्–ये तीनों गुण क्रमशः सुख, दुःख एवं मोह स्वभाव (स्वरूप) वाले; प्रकाश, प्रवत्ति तथा नियमन नियन्त्रण प्रयोजन वाले, परस्पर–अभिभव–सहायक–उत्पत्ति तथा संयोग रूप व्यापार वाले हैं।।१२।।

भाष्यम् :–एवमेतद्० व्यक्तपुरुषयोः साधर्म्य व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायाम्। व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं, पुरुषस्य वैधर्म्यं च 'त्रिगुणमविवेकी' इत्यादि प्रकृतार्यायां व्याख्यातम्। तत्र यदुक्तं –त्रिगुण' मिति व्यक्तमव्यक्तं च। तत् के ते गुणा इति ?। तत्स्वरूपप्रतिपादनायेदमाह प्रीत्यात्मका, अप्रीत्यात्मका, 'विषादात्मकाश्च गुणाः=सत्त्वरजस्तमांसीत्यर्थः। तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वम्। प्रीतिः=संखु, तदात्मकमिति। अप्रीत्यात्मकं रजः। अप्रीतिदुःखम्। विषादात्मकं तमः। विषादो मोहः। तथा प्रकाशप्रवत्तिनियमार्थाः। अर्थशब्दः – सामर्थ्यवाची। प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः। प्रवत्त्यर्थं रजः, नियमार्थं तमः, स्थितौ समर्थमित्यर्थः। प्रकाशक्रियास्थिति–शीला गुणा इति। तथा अन्योन्याभिभवाश्रय–जनन–मिथुन वत्तपश्च। अन्योन्यभिभवाः। अन्योन्याक्षयाः अन्योन्याजनना अन्योन्यमिथुनाः अन्योन्यवत्तयश्च ते तथोक्ताः। अन्योन्याभिभवा इति। अन्योन्यं परस्पररमभिभवन्तीति, प्रीत्यप्रीत्यादिभिर्धमैंरभिभवन्ति। यथा यदा सत्त्वमुत्कटं भवति, तदा रजस्तमसी अभिभूय, स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते। यदा रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवत्यात्मना धर्मेण। यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विषादस्थित्यात्मकेन इति। तथान्योन्याश्रयाश्चद्वयणुकवद् गुणाः। अन्योन्यजननाः यथा मुत्पिण्डी घटं जनयति। तथा अन्योन्यमिथुनाश्च यथा स्त्रीपुसौ अन्योन्यमिथुनौ तथा गुणाः। उक्तं च–

'अन्योन्यमिथुनाः सर्वे, सर्वे सर्वत्र गामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।।
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते।।
नैषामादिः सम्प्रयोगो, वियोगो वोपलभ्यते।

परस्परसहाया इत्यर्थः। अन्योन्यवत्रयश्च। परस्परं वर्तते, 'गुणाः गुर्णेषु वर्तन्ते' इति वचनात्। यथा सुरुपा सुशीला स्त्री (पत्युः) सर्वसुखहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति। एवं सत्त्वं रजस्तमसोर्वत्तिहेतुः। यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालने, दुष्टनिग्रहेण शिष्टानां सुखमुत्पादयति, दुष्टानां दुःखं मोहं च। एवं रजः – सत्त्वमसोर्वत्ति जनयति। तथा तमः – स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्वरजसोर्वत्तिं जनयति। यथा–मेघाः खमाव त्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वष्ट्या कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम्। एवमन्योन्यवत्तयो गुणाः।।१२।।

विशेष :- प्रीति या सुख, अप्रीति या दुःख एवं विषाद या मोह सत्त्व आदि गुणों के स्वरूपनिरूपक धर्म नहीं, अपितु स्वरूपविशेषक धर्म है और इस प्रकार प्रीति या सुख, अप्रीति या दुःख एवं विषाद या मोह ही स्वयं क्रमशः सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण नहीं, अपितु प्रीति या सुख आदि सत्त्व आदि गुणों के स्वरूप को अपने द्वारा विशिष्ट करने वाले स्वरूपविशेषक धर्म या विशेषतायें हैं और सत्त्व आदि गुण इन प्रीति या सुख आदि धर्मो के आश्रयभूत धर्मी तत्त्व हैं। यतः इस प्रकार प्रीति या सुख आदि सत्त्व आदि गुणों के धर्म या स्वभाव हैं, अतः ये गुण क्रमशः प्रीति या सुख, अप्रीति या दुःख एवं विषाद या मोह देते हैं और इसी रूप में इनको प्रीत्याद्यात्मक या सुखाद्यात्मक अथवा प्रीत्यादिस्वरूप या सुखादिरूप कहा जाता है और उसी रूप में ये प्रस्तुत कारिका में 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मक' कहे गये हैं। यतः ये प्रीति या सुख आदि सत्त्व आदि गुणों के धर्म या स्वभाव

हैं, अतः अपनी सत्ता के अनुभव से अपने धर्मिभूत सत्त्व आदि गुणों की सत्ता का अनुमान करा देते हैं। प्रीति या सुख आदि को ही सत्त्व आदि गुण मानने पर तो गुणों से उत्पन्न होने वाली समग्र सष्टि प्रत्यय मात्र या भावनामात्र होती हुई प्र त्ययवाद को सिद्ध करेगी जो कि सांख्य के वस्तुवाद या यथार्थवाद के विरुद्ध पड़ेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्त्व आदि गुणों को जो प्रीत्यप्रीतिविषादात्मक या सुख–दुःख–मोहात्मक कहा जाता है, वह धर्म के द्वारा धर्मी का निर्देश करने के रूप में कहा जाता है अथवा 'आत्मा' शब्द को 'स्वभाव' के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा जाता है। अस्तु ! इस प्रकार सत्त्वगुण प्रीत्यात्मक या सुखात्मक अर्थात् प्रीति या सुख रूप स्वभाव वाला होते हुए भी सुख देता है, रजोगुण अप्रीत्यात्मक या दुःखात्मक अर्थात् अप्रीति या दुःख रूप स्वभाव वाला तथा तमोगुण विषादात्मक या मोहात्मक अर्थात् विषाद या मोह रूप स्वभाव वाला है।

इन गुणों के कार्य या प्रयोजन प्रकाश, प्रवत्ति और नियम हैं, सत्त्व का कार्य प्रकाश, रजस् का कार्य प्रवत्ति एवं तमस् का कार्य नियम या नियन्त्रण है। ये कार्य भी इन गुणों की सत्ता का अनुमान करा देते हैं; साथ ही इन गुणों के स्वरूप का निरूपण भी क्रमशः प्रकाशक, प्रवर्तक एवं नियामक तत्त्वों के रूप में किया जाता है। इन गुणों का ऐसा व्यवहार है कि ये परस्पर एक–दूसरे को दबा देते हैं, जिससे कभी किसी प्रबल गुण का कार्य होने लगता है, कभी किसी प्रबल गुण का; एक दूसरे के आश्रय बन जाते हैं, जिससे कभी किसी के कार्य में दूसरों से सहायता मिलती है, कभी किसी के कार्य में; एक–दूसरे के उद्भूत होने में सहायक बन जाते हैं और साथ ही दो–दो गुण मिलकर भी कार्य करते हैं।

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वत्तिः।।१३।।

अन्वय :– (सांख्याचार्यैः) सत्त्वमेव–लघु, प्रकाशकम् इष्टम्, रज एव–उपष्टम्भकं चलं च इष्टम्, तम एव–गुरुवरणकम् इष्टम्। (गुणानां) वत्तिः च प्रदीपवत्, अर्थतः (भवति)।।१३।।

अर्थ :– सांख्याचार्यों ने सत्त्वगुण को ही हल्का तथा प्रकाशक माना है, रजोगुण को ही उत्तेजक तथा चचल माना है एवं तमोगुण को ही भारी तथा अवरोधक माना है। प्रदीप की तरह मिलकर तीनों गुणों का व्यापार एक ही प्रयोजन के लिए होता है।।१२।।

भाष्यम् :– सत्त्वं–लघु, प्रकाशकं च। यदा सत्त्वमुत्कटं भवति, तदा लघून्यङ्गानि, बुद्धिप्रकाशश्च, प्रसन्नतेन्द्रियाणां भवति। उपष्टम्भकं चलं च रजः। उपष्टमनातीत्युपष्टम्भकम्=उद्द्योतकं। यथा वषो वषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति, एवं रजोवत्तिः। तथा रजश्च चलं दष्टम्। रजोवत्तिश्चलचित्तो भवति। गुरु वरणकमेव तमः। यदा तम उत्कटं भवति गुरुण्यङ्गानि, आवतानीन्द्रियाणि भवन्ति स्वार्थासमर्थानि। अत्राह–यदि गुणाः परस्परं विरुद्धाः तर्हि कथं स्वमतेनैकमर्थं निष्पादयन्ति ? प्रदीपवच्चार्थतो वत्तिः। प्रदीपेन तुल्यं=प्रदीपवत्, अर्थतः=अर्थ–साधनाय वत्तिरिष्टा। यथा प्रदीपः परस्परविरुद्धतैलाग्निवर्ति–संयोगादर्थप्रकाशजनयति, एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यर्थं निष्पादयन्ति।।१३।।

विशेष :- पूर्वकारिका मे 'प्रकाशप्रवत्तिनियमार्थाः' के रूप में सत्त्वादि गुणों के कार्य या प्रयोजन बताए जा चुके हैं। इन कार्यों के निर्देश से ही यहां इन गुणों के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया गया है कि सत्त्वगुण प्रकाशक है, रजोगुण प्रवर्तक है और तमोगुण नियामक या अवरोधक है। साथ ही यहां यह बताया गया है कि सत्त्वादि गुण क्रमशः प्रकाशक आदि रूप में किस कारण से हैं ? यह कहा गया है कि यतः सत्त्व स्वरूपतः लघु या लाघवयुक्त अर्थात् हल्का और स्फूर्तियुक्त होता है, अतः वह प्रकाशक है, क्योंकि हल्की और स्फूर्तियुक्त या स्फुरणशील वस्तुएं अधिक प्रकाशक होती हैं, यतः रजस् स्वरूपतः क्रियाशील हैं, अतः वह प्रेरक या प्रवर्तक है, क्योंकि क्रियाशील वस्तु दूसरी को भी प्रवत्त कर देती या चला देती है। यतः तमस् भारी है; अतः वह नियामक या अवरोधक है, क्योंकि भारी वस्तु नियमन या अवरोध करती है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, परस्पर अविविक्त रूप से स्थित इन तीनों गुणों से अव्यक्त और व्यक्त का स्वरूप संघटित होता है। अव्यक्त के स्वरूप में ये गुण अपने मूल अव्यक्त रूप में होते हैं और फलतः वहां इनका प्रकाशन आदि कार्य भी अव्यक्त रूप से चलता है जो कि सदश परिणाम के रूप में माना जाता है। व्यक्त में ये गुण अपने विकसित या परिणत व्यक्त रूप में होते हैं और इनका यह विकसित या परिणत व्यक्त रूप ही व्यक्त पदार्थ होता है। व्यक्त पदार्थ में इनके प्रकाशन आदि भी व्यक्त रूप से होते हैं और इनकी सत्ता का अनुमान करा देते हैं।

परस्पर अविविक्त रूप से रहने वाले इन गुणों से संघटित प्रत्येक वस्तु अव्यक्त या व्यक्त–में सत्त्वगुण के कारण उसकी सत्ता या स्वरूप का प्रकाश होता है, रजोगुण के कारण उसमें प्रवत्ति या क्रिया होती है और तमोगुण के कारण प्रवत्ति का नियमन होने से उसमें स्थिरता या स्थिति होती है। अव्यक्त और सूक्ष्म व्यक्त पदार्थो में भले ही इन प्रकाश आदि का अनुभव साधारणतया

नहीं हो पाता, किन्तु ये रहते उनमें भी हैं और स्थूल व्यक्त पदार्थों में तो इनका अनुभव स्पष्टतः होता ही है। यदि इन पदार्थों में सत्त्वगुण न हो तो उनकी सत्ता या स्वरूप का प्रकाशन ही नहीं हो पावे। प्रकाशस्वरूप सत्त्वगुण अपने प्रकाश से सभी पदार्थों का, जिनका कि वह स्वयं भी एक घटक है, स्वरूप प्रकाशित रखता है। साथ ही वह उनकी प्रवत्ति या क्रिया और स्थिरता या स्थिति को भी प्रकाशित करता रहता है। इसके अतिरिक्त, जिन बाह्य या आन्तरिक पदार्थों में इस गुण–सत्त्व–की मात्रा अधिक होती है वे अपने कम सत्त्व वाले पदार्थों को भी प्रकाशित करते रहते हैं। यतः ज्ञान भी एक प्रकार का आन्तरिक प्रकाश ही है, अतः सत्त्वगुण प्रकाशक होने के कारण इस प्रकार के प्रकाश में भी सहायक बनता है। यदि इन जड़ पदार्थों में रजोगुण न हों तो क्रियाविहीन मन्द पड़े रहें और अन्ततः विनष्ट ही हो जावें। रजोगुण अपनी क्रियाशीलता से, सभी पदार्थों को, जिनका कि वह स्वयं भी एक घटक है, क्रियाशील रखता है। साथ ही वह सत्त्वगुण और तमोगुण का प्रवर्तन बनकर उन्हें भी अपने–अपने (कार्यों में) प्रवत्त रखता है। इसके अतिरिक्त, जिन पदार्थों में इस गुण–रजोगुण–की मात्रा अधिक होती है, वे अपने से कम रजोगुण वाले पदार्थों को भी उत्तेजित कर क्रियाशील बनाये रहते हैं। यदि इन पदार्थों में तमोगुण न रहेगा तो चंचल या क्रियाशील रजोगुण इनको निरन्तर क्रियाशील या गतिशील बनाए रहेगा और फलतः न तो कभी इनका स्वरूप ही स्थित रह सकेगा और न इनके द्वारा व्यवस्थित रूप से कार्य ही हो सकेगा। तमोगुण अपनी नियामकता या नियमन से पदार्थों की क्रिया का नियमन या नियन्त्रण करता रहता है या उसमें अवरोध उत्पन्न करता रहता है जिससे पदार्थों का स्वरूप स्थिर रहता है ओर साथ ही उनके द्वारा कार्य भी व्यवस्थित रूप से होता रहता है एवं उन्हें इसके द्वारा विश्रान्ति भी मिलती रहती है, जिससे उन्हें आगे कार्य करने की नई शक्ति प्राप्त होती है। पदार्थों की क्रिया के साथ उनके प्रकाश को भी तमोगुण मर्यादित या व्यवस्थित करता रहता है। इसके अतिरिक्त, जिन पदार्थों में इस गुण–तमोगुण–की मात्रा अधिक होती है, वे अपने से कम तमोगुण वाले पदार्थों को उनके स्वरूप–प्रकाश और क्रिया की दष्टि से मन्द बनाते रहते हैं और उन्हें विश्रान्ति भी देते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जड़ पदार्थ के स्वरूप के ये तीन घटक–सत्त्व, रजस् एवं तमस्–क्रमशः उसके स्वरूप–प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति को करने वाले या बनाए रखने वाले हैं।

सत्त्वगुण लघु या हल्का होने के कारण पदार्थों में लाघव या स्फूर्ति और सूक्ष्मता करता है, वहां तमोगुण गुरु या भारी होने के कारण पदार्थों में गौरव या मन्दता और स्थूलता करता है। इसके अतिरिक्त, जहाँ सत्त्वगुण पदार्थों को प्रकाशित करता है, वहाँ तमोगुण उन्हें आवत्त करता या ढकता है, इसी के दूसरे रूप में जहाँ सत्त्वगुण ज्ञान में सहायक बनता है, वहाँ तमोगुण ज्ञान में बाधक या अज्ञान मे ंसहायक बनता है।

सत्त्वगुण जहाँ पदार्थों के स्वरूप का प्रकाशमान करता हुआ उन्हें शान्त रखता है, वहाँ रजोगुण उन्हें अपनी क्रिया सें संचलित या क्षुब्ध कर देता है। रजोगुण जहाँ इस प्रकार पदार्थों को क्रियाशील बनाता है, वहाँ तमोगुण क्रिया में बाधक होकर उन्हें निष्क्रिय या मन्द कर देता है।

स्वरूप के प्रकाशनमात्र से शान्ति रहती है, अतः सत्त्वगुण प्रीति या सुख देता है, प्रवत्ति या क्रिया से क्षो भ होता है, अतः रजोगुण अप्रीति या दुःख देता है और स्थिरता या स्थिति से स्तब्धता होती है, अतः तमोगुण विषाद या मोह देता है।

उक्त प्रकार से स्वरूप स्वभाव एवं कार्य आदि में तीनों के परस्पर विरुद्ध होने पर भी उनके कार्य करने का व्यवहार दीपक के समान माना जाता है। जिस प्रकार प्रकाश रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए दीपक के स्वरूप के घटक–तेल, बत्ती एवं अग्नि–परस्पर विरुद्ध होते हुए भी व्यवस्थित रूप से संयोजित होने से परस्पर सहकारिता के साथ कार्य करते रहते हैं, उसी प्रकार अव्यक्त और व्यक्त पदार्थों के स्वरूप के घटक तीनों गुण–सत्त्व, रजस् एवं तमस्–परस्पर विरुद्ध होते हुए भी उक्त पदार्थों की समन्वित सत्ता रूप प्रयोजन अर्थात् इनके स्वरूप–प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए और फिर इस प्रयोजन की सिद्धि के द्वारा पुरुषार्थ रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्वभावतः व्यवस्थित रूप से संयोजित होने से परस्पर–सहकारिता के साथ कार्य करते रहते हैं।

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्।

कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्।।१४।।

अन्वय :– (अव्यक्तादौ) अविवेक्यादेः सिद्धिः त्रैगुण्यात् (तथा) तद्विपर्ययाभवात्। कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात् अव्यक्तम् अपि सिद्धम् (भवति)।।१४।।

अर्थ :– अव्यक्त=प्रकृति तथा व्यक्त=महदादि के त्रिगुणात्मक होने से उनमें 'अविवेकित्व' आदि धर्मों की सिद्धि होती है अर्थात् अव्यक्तादि में त्रैगुण्याभाव का अभाव रहने से अविवेकित्व आदि की सत्ता अनुमित होती है। कारण के धर्मों से कार्य के युक्त होने से महदादि का कारणभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी सिद्ध होती है।।१४।।

भाष्यम् :– अन्तरप्रश्नो भवति–'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादिना प्रधानं, व्यक्तं च व्याख्यातम् तत्र प्रधानम्, उपलभ्यमानं महदादि च त्रिगुणम्, अविवेक्यादीति च कथमवगम्यते ? तत्राह–योयमविवेक्यादिर्गुणः स त्रैगुण्यात्। महदादौ व्यक्तेनायं सिद्ध्यति, अत्रोच्यते–तद्विपर्ययाभावात्। तस्य विपर्ययः तद्विपर्ययः तस्याभावः तद्विपर्ययाभावः, तस्मात् सिद्धमव्यक्तम्। यथा–यत्रैव तन्तवस्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोन्यः पटो न, कुतः तद्विपर्ययाभावात्। एवं व्यक्तादव्यक्तमासन्नं भवति। दूरं प्रधानमासन्नं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाभावात्। इतश्चाव्यक्तं सिद्धं–कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य। लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव पटो भवति। एवं महदादि लिङ्गम–अविवेकि, विषयः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि यदात्मकं लिङ्गं तदात्मकमव्यतमपि सिद्धम्।।१४।।

विशेष :- पहले बारहवीं एवं तेरहवीं कारिका में यह बता दिया गया है कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् का स्वभाव क्रमशः सुख, दुःख एवं मोह है तथा इनका कार्य या प्रयोजन क्रमशः प्रकाश, प्रवत्ति एवं नियमन है। यतः जगत् के व्यक्त पदार्थों का स्वभाव भी सुख, दुःख एवं मोह है अर्थात् वे सुख, दुःख एवं मोह देते हैं तथा वे प्रकाश, प्रवत्ति एवं नियमन वाले हैं, अतः स्पष्ट है कि वे त्रिगुणात्मक हैं। यतः यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह कैसे सिद्ध होता है कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् ये तीन गुण हैं और उनका सुख आदि स्वभाव तथा प्रकाश आदि कार्य है, अतः इस विषय को इस रूप में प्रस्तुत करना होगा कि यतः जगत् के प्रत्येक व्यक्त पदार्थ के विषय में यह अनुभूत होता है कि वह सुख, दुःख एवं मोह स्वभाव वाला या सुख आदि देने वाला प्रकाश, प्रवत्ति एवं नियमन वाला है, अतः सिद्ध होता है कि वह ऐसे परस्पर–भिन्न तीन घटकों का संघात रूप है जो सुख, दुःख एवं मोह स्वभाव वाले तथा प्रकाश, प्रवत्ति एवं नियमन रूप वाले हैं। अब यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती कि इन घटकों को 'गुण' कहा जावे या 'द्रव्य' और साथ ही इन्हें किन नामों से अभिहित किया जावे। सांख्य इन्हें गुण कहता है और सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामों से अभिहित करता है, भले ही वह ऐसा मूलतः अपनी ओर से करता हो या किसी पूर्व परम्परा के आधार पर।

इस प्रकार व्यक्त पदार्थ सुख, दुःख एवं मोह स्वभाव वाले एवं प्रकाश, प्रवत्ति एवं नियमन कार्य वाले होने के कारण त्रिगुणात्मक हैं। इनकी यह त्रिगुणात्मकता इस प्रकार अनुभव सिद्ध है कि एक ही पदार्थ भिन्न–भिन्न व्यक्तियों को सुख, दुःख एवं मोह देता है और साथ ही एक पदार्थ एक ही व्यक्ति को विभिन्न अवसरों पर सुखादि देता है। यतः सामान्यतः दष्टिगोचर होने वाले व्यक्ति पदार्थों में त्रिगुणत्मकता अनुभूत होती है, अतः दष्टिगोचर न होने वाले महत् आदि व्यक्त पदार्थों में भी यह माननी होगी।

व्यक्त पदार्थों के इस अनुभव–सिद्ध त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणत्व या त्रिगुणत्मकता को प्रस्तुत कारिका में सिद्ध हेतु के समान प्रयुक्त किया गया है और फिर इसके आधार पर व्यक्त पदार्थों में पूर्ववर्णित अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, प्रसवधर्मित्व की सिद्धि की गई है। कोई हेतु अपने साध्य की सत्ता की सिद्धि तभी कर सकता है, जबकि अपने स्वरूप के अनुसार या तो अन्वयव्यतिरेकी हो अर्थात् अपने साध्य के द्वारा अन्वय और व्यतिरेक, इन दोनों के रूपों में व्याप्त हो, अथवा केवलान्वयी हो अर्थात् अपने साध्य के द्वारा केवल व्यतिरेक रूप में व्याप्त हो अथवा केवलव्यतिरेकी हो अर्थात् अपने साध्य के द्वारा केवल व्यतिरेक रूप में व्याप्त हो। 'अन्वय' का स्वरूप 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्' के रूप में होता है और फलतः हेतु की अपने साध्य के द्वारा अन्वय रूप में व्याप्ति या अन्वय–व्याप्ति जहां हेतु है, वहाँ साध्य है, इस रूप में होती है और व्यतिरेक का स्वरूप 'तदभावे तदभावः' के रूप में होता है और फलतः हेतु की साध्य के द्वारा व्यतिरेक रूप में व्याप्ति या व्यतिरेकव्याप्ति 'जहाँ साध्य नहीं है, वहाँ हेतु नहीं है', इस रूप में होती है। प्रस्तुत स्थल में अविवेकित्व आदि साध्य को सिद्ध करने वाले 'त्रैगुण्य' हेतु को ग्रन्थकार ने केवलव्यतिरेकी रूप में प्रयुक्त किया है, इसीलिए कहा है कि व्यक्त में त्रैगुण्य से अविवेकित्व आदि की सिद्धि होती है, क्योंकि उसके अर्थात् अविवेकित्व आदि विपर्यय या अभाव में त्रैगुण्य हेत का अभाव प्राप्त होता है, जैसे कि पुरुष में अविवेकित्व आदि के अभाव में त्रैगुण्य हेतु का अभाव प्राप्त होता है। यहां 'जहां त्रैगुण्य है, वहाँ अविवेकित्व है', इस रूप में अन्वय–व्याप्ति का कोई उदाहरण नहीं है, क्योंकि ऐसा उदाहरण जगत् के पदार्थों में ही मिल सकता है, किन्तु वे सब पदार्थ व्यक्त के रूप में पक्ष या विवाद–स्थल बने हुए हैं, अतः वे स्वयं ही अपने दष्टांत या उदाहरण नहीं हो सकते। अव्यक्त उदाहरण बन सकता है, किन्तु उसकी स्वयं सत्ता ही अभी साध्य अर्थात् सिद्ध करने की है। इस प्रकार कारिका के पूर्वार्ध में त्रैगुण्य रूप केवलव्यतिरेकी हेतु के आधार पर व्यक्त में अविवेकित्व आदि की सिद्धि की गई है और अनुभव से भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि त्रिगुणात्मक व्यक्त अविवेकित्व आदि से युक्त है।

यतः सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य कारण का ही एक विकसित रूप होता है और इस प्रकार कार्य के गुण या धर्म कारण के ही गुण या धर्म होते हैं, अतः त्रिगुणत्व एवं अविवेकित्व आदि धर्मों से युक्त व्यक्त रूप कार्य के आधार पर यह स्पष्टतः, सूचित होता है कि इसका कारण भी त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनात्व एवं प्रसवधर्मितव से युक्त है और

यही सांख्याभिमत अव्यक्त का प्रधान स्वरूप है। इस प्रकार कारिका के उत्तरार्ध के द्वारा उक्त धर्मों या विशेषताओं से युक्त सांख्याभिमत अव्यक्त या प्रधान की सत्ता की सिद्धि होती है।

भेदानां परिमाणात्, समन्वयात् शक्तितः प्रवत्तेश्च।

कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य।। १५।।

अन्वय :– भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवत्तेः, कारणकार्यविभागात्, वैश्वरूप्यस्य अविभागात् च कारणम् अव्यक्तम्, अस्ति।।१५।।

अर्थ :– कार्यों का सीमित परिणाम होने से, कार्य–कारण मे समानरूपता रहने से, कारणनिष्टशक्ति से कार्य की प्रवत्ति=अभिव्यक्ति होने से, कार्य–कारण में भिन्नता रहने से तथा नानाविध कार्यों के साथ कारण की अभिन्नता रहने से बुद्धि आदि समस्त व्यक्त पदार्थों (भेदों=कार्यों) का अकेला अव्यक्त प्रधान (प्रकृति) मूलकारक सिद्ध होता है।।५।।

भाष्यम् :– 'त्रैगुण्यादविवेक्यादिर्व्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्' एवं 'कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्ध' मित्येतन्मिथ्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्तीति न वाच्यं, सतोपि पाषाणगन्धादेरनुपलम्भात्। एवं प्रधानमप्यस्ति, किन्तु नोपलभ्यते, तदाह–कारणमस्त्यव्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः। भेदानां परिमाणात् लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दष्टं, यथा कुलालः परिमितैर्मत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति। एवै महदपि=महदादि लिङ्गं परिमितं–भेदतः। प्रधानकार्यम्–एका बुद्धिरेकोहङ्कारः, पचतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि, पच महाभूतानीति। एवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं, यद्व्यक्तं परिमितमुत्पादयति। यदि प्रधानं न स्यात् तदा निष्परिमाणमिदंव्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदानामस्ति प्रधानं यस्मात् व्यक्तमत्पन्नम्। तथा–समन्वयात् इह लोके प्रसिद्धिर्दष्टा, तथा व्रतधारिणं वटुं दष्ट्वा समन्वयति–'नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणा'विति। एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दष्ट्वा साधयामोस्य यत् 'कारणं भविष्यती'ति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम्। तथा–शक्तितः प्रवत्तेश्च–इह यो यस्मिन् शक्तः स तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते, यथा कुलालो घटस्य करणे समर्थो घटमेव, करोति न पटं, रथं वा। तथा अस्ति प्रधानं कारणं, कुतः ? कारणकार्यविभागात्। करोतीति–कारणम्। क्रियत इति कार्यम्। कारणस्य, कार्यस्य च विभागो, यथा–घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो, न तथा तत्कारणै, मत्पिण्डो वा घटं निष्पादयति, न चैवं घटौ मत्पिण्डम्। एवं महदादि लिङ्गं दष्ट्वानुमीयते, 'अस्ति विभक्तं तत्कारणं यस्य विभाग इदं व्यक्त' मिति। इतश्च–अविभागात् वैश्वरूप्यस्य–विश्वं=जगत्, तस्य रूपं=व्यक्तिः। विश्वरूपस्य भावो–वैश्वरूपं, तस्याविभागादस्ति प्रधानम्। यस्मात् त्रैलोक्यस्य पचानां पथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं विभागो नास्ति, महाभूतेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमित्येतानि पचमहाभूतानि प्रलयकाले सष्टिक्रमेर्णवाविभागं यान्ति तन्मात्रेषु परिणामिषु, तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो–बुद्धौ बुद्धिःप्रधाने। एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृतावविभागं गच्छन्ति, तस्मादविभागात् क्षीरदधिवद् व्यक्ताव्यक्तयोरस्त्यव्यक्तं कारणम्।।१५।।

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।

परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।।१६।।

अन्वय :– अव्यक्तं त्रिगुणतः समुदयात् च प्रवर्तते। (कार्यवैचित्र्ये हेतुमाह) प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत्।।१६।।

अर्थ :– त्रिगुण के पथक्–पथक् रूप से तथा समुदाय रूप से अव्यक्त प्रवत्त होता है। जल की भांति, त्रिगुणात्मका प्रकृति का प्रत्येक गुण भिन्न–भिन्न आश्रय से अनेक रूपों में परिणत (परिवर्तित) हो जाता है।।१६।।

भाष्यम् :– अतश्च–अव्यक्तं प्रख्यातं कारणमस्ति, यस्मान्महदादि लिङ्ग प्रवतते। त्रिगुणतः =त्रिगुणात्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्। तथा समुदयात्। यथा गङ्गास्रोतांसि त्रीणि रुद्रमूर्द्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति। यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति–त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते। यस्मादेकस्मात् प्रधानाद् व्यक्तं तस्मादेकरूपेण भवितव्यम्। नैव दोषः। परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रय–विशेषात्। एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ताः, मनुष्या दुःखेद, तिर्यचो मोहेन। एकस्मात् प्रधानात् प्रवत्तं व्यक्तं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवद्भवति। 'प्रतिप्रती'ति वीप्सा। गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषः, तं गुणाश्रयविशेषं प्रतिनिधाय–प्रतिप्रति–गुणाश्रयविशेषपरिणामात् प्रवर्तते व्यक्तम्। यथा–आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद्भिद्यते तत्तद्रसान्तरैः एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रवत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुकुटं, रजस्तमसी उदासीने, तेन तेत्यन्तसुखिनः। मनुष्येषु रज उत्कटं भवति, सत्त्वतमसी उदासीने, तेन तेयन्तदुखिनः। तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति, सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेत्यन्तमूढ़ा।।१६।।

विशेष :– पूर्वकारिका में यह सिद्ध किया जा चुका है कि मूल कारण त्रिगुणात्मक है, यहाँ अब यह सिद्ध किया जा रहा है कि वह कारण स्वरूपतः अव्यक्त है। इस जगत् में जितने भी भेद या कार्य अर्थात् कार्य रूप पदार्थ हैं, वे सब परिमित या सीमाओं में आबद्ध दष्टिगोचर होते हैं और परिमित या सीमाओं में आबद्ध होना ही व्यक्त होना है। फलतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो परिमित या सीमित अथवा व्यक्त होगा वह कार्य ही होगा, भले ही वह अन्य कार्यों का कारण हो, किन्तु वह ऐसा मूल कारण नहीं हो सकता कि किसी का कार्य न हो। इस प्रकार किसी को भी मूल कारण न माना जावे उसे अपरिमित या असीमित ही मानना होगा और यही अव्यक्त का स्वरूप है। कार्य रूप पदार्थ किसी न किसी आकार को रखते हैं, उनमें उनके ऐसे कारण का, जो कि कार्यों के आकार से विहीन है, समन्वय या अनुप्रवेश दष्टिगोचर होता हैं। जिस प्रकार मिट्टी के घट में घट के आकार से विहीन मिट्टी का समन्वय या अनुप्रवेश दष्टिगोचर होता है। इस प्रकार जो आकारवान् होगा, वह अपने आकार से विहीन अपने कारण से समन्वित होगा, और आकारवान् होना ही व्यक्त होना है। फलतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो आकारवान् या व्यक्त होगा, वह कार्य होते हुए अपने कारण से समन्वित ही होगा। इस प्रकार जो मूल कारण माना जावेगा उसे आकारविहीन अव्यक्त ही मानना होगा। यतः अव्यक्त स्वतः आकारविहीन होता है, अतः वह फिर किसी अन्य से समन्वित नहीं होता।

जैसा कि सत्कार्यवाद के प्रसंग से पूर्व में देखा जा चुका है, कार्य अव्यक्त रूप से अपने कारण में रहता है और कारणमें कार्य का अव्यक्त रूप से रहना ही कारण की कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हैं इस प्रकार जो व्यक्त होगा, वह अवश्य ही अपने व्यक्त होने से पूर्व अपने कारण के रूप में अव्यक्त होगा और इस प्रकार वह (व्यक्त) मूल कारण नहीं हो सकता। मूल कारण अव्यक्त ही मानना होगा, क्योंकि उसे फिर स्वतः ही अव्यक्त होने के कारण किसी रूप में अव्यक्त नहीं होना।

सत्कार्यवाद के अनुसार कार्यों के कारणों में सत् होने से कारणों से कार्यों का विभाग या उद्भव होता है और फिर कार्यों का अपने कारणों में ही अविभाग या लय हो जाता है। इस प्रकार विभक्त पदार्थ कार्य है और यतः विभक्त होना ही व्यक्त होना है और अविभक्त होना ही अव्यक्त होना है। अतः जो कोई भी व्यक्त पदार्थ होगा, वह अवश्य ही कहीं से विभक्त हुआ है और अवश्य ही उसे कहीं अविभक्त हो जाना है, इस प्रकार वह मूल कारण नहीं हो सकता। मूल कारण यही माना जा सकता है जो कहीं से विभक्त या व्यक्त नहीं हुआ अर्थात् स्वरूपतः अव्यक्त है।

यह त्रिगुणात्मक अव्यक्त सदा परिणत होता रहता है, बिना परिणाम के यह क्षण भर भी नहीं रहता। यह प्रलयावस्था में 'त्रिगुणतः' परिणत होता है अर्थात् इसके तीनों गुणों को इस प्रकार से सदश परिणाम होता है कि सत्त्वगुण का सत्त्वगुण के रूप में रजोगुण का रजोगुण के रूप में और तमोगुण का तमोगुण के रूप में। सष्टि की अवस्था में इस अव्यक्त को किसी एक गुण या किन्हीं गुणों के समुदाय अर्थात् आधिक्य या अधिक उद्भव के रूप में विसदश या विषम परिणाम होता है। जिस प्रकार जल भिन्न–भिन्न आश्रयों को पाकर विविध रूप में–विभिन्न फल आदि पदार्थों के मधुर एवं अम्ल आदि विभिन्न रसों के रूप में परिणतः होता है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक अव्यक्त अपने ही अधिक उद्भव होने वाले एक–एक गुण के आश्रय के भेद से विविध रूपों में परिणत होता है, अव्यक्त से इस प्रकार प्रथमतः जो तत्त्व या पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनसे फिर आगे और पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विविध रूप वाले समग्र जगत् की सष्टि हो जाती है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोरित भोक्तभावात् केवल्यार्थ प्रवत्तेश्च।।१७।।

अन्वय :–पुरुषः अस्ति–संघातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययात्, अधिष्ठानात् भोक्तभावात् कैवल्यार्थं प्रवत्तैश्च (इति पच हेतोः) ।।१७।।

अर्थ :– बुद्धयादि (सधात) पदार्थ अपने से भिन्न के लिए होने से, (पुरुष में) सत्त्वादि त्रिगुण का अत्यन्ताभाव रहने से, अधिष्ठेयों का अधिष्ठाता होने से, भोग्यों का भोक्ता होने से तथा कैवल्य–के लिए प्रवत्ति होने से पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है।।१७।।

भाष्यम् :–एवमार्याद्वयेन प्रधानास्यास्तित्वमवगम्यते। इतश्चोत्तरं पुरुषास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह–यदुक्तं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्मोक्षः प्राप्यत' इति, तत्र व्यक्तादनन्तरमव्यक्तं पचभिः कारणैरधिगतं व्यक्तवत्। पुरुषोपि सूक्ष्मस्तस्याधुनानुमितास्तित्वं प्रतिक्रियते। अस्ति पुरुषः कस्मात् ? सङ्घातपरार्थत्वात्। योयं महदादिसङ्घातः स पुरुषार्थं इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात्, पर्यङ्कवत्। यथा पर्यङ्क प्रत्येकं गात्रोत्पलपादपीठ–तूली प्रच्छादनपटोपधानसङ्घातः परार्थो, न हि स्वार्थः पर्यङ्कस्य, न हि किचिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति। अतोवगम्यतेस्ति पुरुषो, यः पर्यङ्के शेते

'यस्यार्थ प्रयङ्कस्तत्परार्थम्। इदं शरीरं पचानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादि सङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति। इतश्चात्मास्ति–त्रिगुणादिविपर्ययात्। यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां 'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादि। तस्माद्विपर्ययात् येनोक्तं–'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्'। अधिष्ठानात् यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाधिष्ठितः प्रवर्तते, तथात्माधिष्ठानाच्छरीरमिति। तथा चोक्तं षष्ठितन्त्रे–पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते'। अतोस्त्यात्मा–भोक्तभावात् यथा मधुरराम्ललवणकटुतिक्तकषायषड्सोपबंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते, एवं महदालिङ्गस्य भोक्तत्वाभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमिति। इतश्च, कैवल्यार्थ प्रवत्तेश्च। केवलस्य भावः कैवल्यः तन्निमित्तं यतः विद्वान् संसारसन्तानक्षयमिच्छति। एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीरव्यतिरिक्ताः।।१७।।

विशेष :– पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिये यहां सर्वप्रमुख हेतु 'संघातपरार्थत्वात्' दिया गया है। इसका तात्पर्य है कि इस जगत् में यह देखने को मिलता है कि जो संघातात्मक या संघटनात्मक पदार्थ है अर्थात् ऐसे पदार्थ हैं जो अपने विभिन्न अवयवों के योग से संहत या संघटित हुए हैं वे सभी परार्थ हैं अर्थात् अपने से दूसरे के काम मे आते हैं। जिस प्रकार ईंट, गारा, चूना, पत्थर एवं लोहा आदि अवयवों के योग से संघटित होने वाला घर स्वयं अपने काम में न आकर अपने से भिन्न रहने वालों के काम में आता है। इसी प्रकार जगत् के सब संघातात्मक या संघटनात्मक पदार्थ स्वयं अपने काम न आकर अपने से दूसरों के काम आते हैं और इस प्रकार वे सब परार्थ हैं। यतः जगत् में दष्टिगोचर होने वाले सब पदार्थ संघात रूप या संघटनात्मक हैं, अतः ये सब परार्थ हैं, और जो अव्यक्त, महत्तत्व एवं अहंकार आदि दष्टिगोचर नहीं होते हैं, वे भी त्रिगुणात्मक होने अर्थात् गुणों के संघात के रूप में होने के कारण परार्थ सिद्ध होते हैं। अव्यक्त और तन्मूलक सभी जागतिक संघटनात्मक होने के कारण ये अपने से भिन्न जिस 'पर' या दूसरे के लिए हैं, वही पुरुष है।

यद्यपि यह देखने को मिलता है कि एक संघात्मक पदार्थ दूसरे संघातात्मक पदार्थ के काम में आता है, जैसे संघातात्मक घर उसमें रहने वालों के संघातात्मक शरीरों के काम आता है, इसी प्रकार यतः सभी संघातात्मक पदार्थ दूसरे संघातात्मक पदार्थों के काम में आते हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि संघातों की परार्थता के आधार पर यह सिद्ध होने पर भी कि एक संघात दूसरे संघात के काम आता है, यह सिद्ध नहीं होता कि संघात रूप पदार्थ अपने से भिन्न किसी 'पुरुष' तत्त्व के काम में आते हैं और इस प्रकार उनसे भिन्न कोई 'पुरुष' तत्त्व है, किन्तु फिर भी यतः, एक संघात दूसरे संघात के काम में आता है ये दूसरा संघात तीसरे संघात के काम में आता है, इस प्रकार चलते–चलते संघातों की परार्थता के कारण अन्त में कहीं भी जाकर विवश हो यह मानना ही पड़ेगा कि अमुक अन्तिम संघात अपने से भिन्न किसी ऐसे असंघात रूप से या असंहत तत्त्व के लिये है, जो कि असंघात रूप होने के कारण परार्थ न होकर स्वार्थ अर्थात् अपने लिए हैं, अतः संघातों से भिन्न असंघात रूप या असंहत तत्त्व की सत्ता सिद्ध होती है और यह असंघात रूप तत्त्व ही पुरुष तत्त्व है। सब संघात रूप पदार्थ साक्षात् रूप से या किसी माध्यम से इस असंघात रूप या असंहत पुरुष तत्त्व के लिए है। बाह्य संघातात्मक पदार्थ करणकलेवर आदि संघातों के माध्यम से और करणकलेवर आदि संघात साक्षात् रूप से पुरुषतत्त्व के ही लिये हैं।

प्रस्तुत कारिका में पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिए दिये गये अन्य हेतु एक प्रकार से प्रायः 'संघातपरार्थत्वात्' हेतु के विस्तार रूप या व्याख्यान रूप हैं। 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' हेतु के द्वारा यह बताया गया है कि यतः अव्यक्त, एवं तन्मूलक सभी व्यक्त पदार्थ पूर्ववर्णित प्रकार से त्रिगुण, अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मी होते हुए संघात रूप हैं और इस प्रकार उक्त त्रिगुणत्व आदि धर्म संघातरूपत्व या संहतत्व से व्याप्त हैं, अतः संघात से पर या भिन्न असंघात रूप या असंहत तत्त्व, जिसके लिए सभी संघात हैं, त्रिगुणत्व आदि धर्मों से विपरीत धर्मो वाले तत्त्व अर्थात् निर्गुण, विविक्त, अविषय, असामान्य या विशेष, चेतन एवं अप्रसवधर्मी या निर्विकार तत्त्व के रूप में अपेक्षित हैं, क्योंकि उसमें त्रिगुणत्व आदि धमों को व्याप्त करने वाले संहतत्व रूप व्यापक धर्म के अभाव के त्रिगुणत्व आदि धर्मों को व्याप्त करने वाले संहतत्व व्यापक धर्म के अभाव में त्रिगुणत्व आदि व्याप्य धर्म उसी प्रकार नहीं रह सकते जिस प्रकार धूम को व्याप्त करने वाले व्यापक अग्नि के अभाव में व्याप्त धूम नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि यतः त्रिगुणत्व आदि धमों से युक्त अव्यक्त एवं तन्मूलक सभी व्यक्त पदार्थ संघातरूप होने के कारण अपने से पर या भिन्न के लिए हैं। अतः इस पर या भिन्न को त्रिगुणत्व आदि धर्मों से विपरीत धर्म वाला तत्त्व होना चाहिए और त्रिगुणत्व आदि धर्मों से विपरीत धर्म वाला यह तत्त्व ही पुरुष तत्त्व है।

अव्यक्त एवं तन्मूलक सभी पदार्थ जड़ हैं, अतः इनके अधिष्ठान या नियन्त्रण के लिए किसी चेतनतत्त्व की आवश्यकता है, क्योंकि चेतन तत्त्व के अधिष्ठान या नियन्त्रण के बिना जड़ पदार्थ व्यवस्थित रूप से कार्य नहीं कर सकते। यह अधिष्ठाता चेतन तत्त्व ही पुरुष तत्त्व है।

अव्यक्त एवं तन्मूलक सभी पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक होने के कारण भोग्य हैं और भोग्य होने से वे किसी ऐसे

भोक्ता की अपेक्षा रखते हैं, जिसको वे सुखदुःखमोहात्मक रूप में वेदनीय या अनुभाव्य हों। यह भोक्ता तत्त्व ही पुरुष तत्त्व है।

शास्त्र अव्यक्त या प्रकृति से विविक्त होने के रूप में कैवल्य प्राप्त करने के लिए उपदेश देने में प्रवत्त हैं और साथ ही मनीषी जनों की इस प्रकार के कैवल्य को प्राप्त करने के लिए प्रवत्ति देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अव्यक्त या प्रकृति और तन्मूलक व्यक्त पदार्थों से अतिरिक्त कोई पुरुषतत्त्व है जिसके कैवल्य के लिये शास्त्र उपदेश देते हैं और मनीषी जन प्रयत्नशील हैं, क्योंकि यदि ऐसा न होता और केवल प्रकृति और तन्मूलक व्यक्त पदार्थ ही होते तो यतः अव्यक्त या प्रकृति का स्वयं अपने से ही या अपने से उत्पन्न होने वाले व्यक्त पदार्थो ं से अथवा व्यक्त पदार्थों का अपने मूल अव्यक्त या प्रकृति से विविक्तता रूप कैवल्य नही हो सकता, अतः शास्त्रों का कैवल्य के लिये उपदेश और मनीषी जनों का कैवल्य के लिये प्रयास नहीं होता। इसके अतिरिक्त, यतः कैवल्य दुःखाभाव रूप है और प्रकृति एवं तन्मूलक सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने के कारण स्वभावतः दुःखात्मक होने से दुःखाभाव रूप कैवल्य की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकते, अतः इस दष्टि से भी शास्त्रों की इनके लिए कैवल्य के उपदेश में और मनीषी जनों की इनके लिए कैवल्य की प्राप्ति में प्रगति कदापि नहीं होती।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवत्तेश्च।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।१८।।

अन्वय :– पुरुषबहुत्वं सिद्धम्–जनन–मरण–करणानां प्रतिनियमात्, अयुगपत्प्रवत्तेश्च, त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव (इति त्रयहेतोः) ।।१८।।

अर्थ :– प्रत्येक शरीर में जन्म मरण एवं अन्तः बाह्येन्द्रियों (करणों) की पथक्–२ व्यवस्था रहने से, कार्यों के प्रति संसार के प्राणियों की एक साथ प्रवत्ति न होने से तथा प्र त्येक शरीरधारी में त्रैगुण्य की विलक्षणता दिखलाई पड़ने से पुरुषबहुत्ववाद' सुस्थिर होता है।।१८।।

भाष्यम् :– अथ सः किमेकः सर्वशरीरेधिष्ठाता मणिरसनात्मकसूत्रवत्, आहोस्विद् बहवः आत्मानः प्रतिशरीरमधिष्ठातार इति ? अत्रोच्यते–जन्म च मरणश्च, करणानि च–जन्ममरणकरणानि, तेषां प्रतिनियमात्। प्रत्येक नियमादित्यर्थः। यद्येक एव आत्मा स्यात्तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन्; एकस्य मरणे सर्वेपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्यान्धत्वमूकत्वकुणित्वखजत्वलक्षणे सर्वेपि बधिरान्धमूककुणिखजाः स्युः, न चैवं भवति, तस्मात्–जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् सिद्धम्। इतश्च,–अयुगपत्–प्रवत्तेश्च युगपत्=एककालं, न युगपद् अयुगपत् प्रवर्तनम्। यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवत्तिर्दश्यते एके धर्मे प्रवत्ताः अन्येधर्मे, वैराग्येन्ये, ज्ञानेन्ये प्रवत्ताः, तस्माद् अयुगपत् प्रवत्तेश्च–बहवः इति सिद्धम्। किचान्यत् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव। त्रिगुणभावविपर्ययाच्च पुरुषाबहुत्वं सिद्धम्। यथा सामान्ये जन्मनि एकः सात्त्विकः, सुखी, अन्यो राजसो दुःखी, अन्यस्तामसो मोहवान् एवं त्रैगुण्यविपर्ययाद्बहुत्वं सिद्धमिति।।१८।।

विशेष :– जगत् के प्राणियों में यह व्यवस्था देखी जाती है कि एक जन्म लेता है तो तब सब जन्म नहीं लेते, कोई एक मरता है तो सब नहीं मर जाते, किसी एक की कोई बाह्य या आन्तरिक इन्द्रिय विकल या विनष्ट होती है तो सब का ऐसा नहीं हो जाता, इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि सब की एक साथ प्रवत्ति नहीं होती और जिनकी प्रवत्ति भी होती है उनकी किसी एक ही काम में प्रवत्ति नहीं होती और न सब की एक सी ही प्रवत्ति होती है। साथ ही यह भी देखा जाता है कि सब प्राणियों में सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों की स्थिति एक सी नहीं है, अपितु किसी में सत्त्व गुण की बहुलता या अधिकता है, किसी में रजस् की और किसी में तमस् की, जिसके फलस्वरूप कोई सत्त्वबाहुल्य होने के कारण स्वाध्याय, मनन, सत्संग, भजन आदि कार्यों में अधिक रुचि लेता है, कोई संघर्ष या राजनैतिक कार्यो में अधिक तत्पर रहता है और कोई निद्रा, आलस्य एवं अज्ञान से ग्रस्त रहता है। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी में पुरुष या आत्मा भिन्न–भिन्न हैं और इस प्रकार पुरुष का बाहुल्य या अनेकत्व सिद्ध होता है। यदि सब प्राणियों में एक ही पुरुष होता तो एक साथ ही सभी प्राणियों का जन्म होता, एक साथ ही सभी मरते, एक साथ ही सभी अन्धे, बहरे, गूंगे एवं विक्षिप्त या पागल होते, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता जिससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी में पथक् या भिन्न पुरुष त त्त्व है, जो पथक्–पथक रूप से जन्म लेता, मरता एवं विभिन्न इन्द्रियों से विकल या रहित होता रहता है। इसके अतिरिक्त यदि सभी प्राणियों में एक ही पुरुष होता तो वह जिस कार्य में प्रवृत्त होता उस कार्य में सभी प्राणियों की प्रवत्ति देखी जाती, किन्तु ऐसी स्थिति दष्टिगोचर नहीं होती, जिससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी में पथक् या भिन्न पुरुष है और फलतः विभिन्न प्राणी विभिन्न कार्यों में प्रवत्त होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त यदि सभी प्राणियों में एक ही पुरुष होता तो सभी प्राणी गुणों की स्थिति की

दष्टि से एक से अर्थात् सत्त्वप्रधान, रजःप्रधान या तमःप्रधान देखे जाते, जो कि नहीं दीखते । इससे भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी में पथक् प्राणी में पथक् भिन्न पुरुष है और विभिन्न प्राणी गुणों की स्थिति की दष्टि से विभिन्न प्रकार के देखे जाते हैं।

तस्माच्च पिपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टत्वमकर्तभावश्च।।१६।।

अन्वय :– तस्मात् विपर्यासात् च अस्य पुरुषस्य साक्षित्वं, कैवल्यं, माध्यस्थ्यं दष्टत्वम् अकर्तभावः च सिद्धः (भवति)।।१६।।

अर्थ :– जड़भुत व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थों के त्रिगुणात्वादि नानाविध धर्म पुरुष में उपलब्ध न होने से पुरुष साक्षित्व, केवलत्व (कैवल्य), मध्यस्थत्व (माध्यस्थ्य), द्रष्टत्व तथा अकर्तत्व स्वरूप का सिद्ध होता है।

भाष्यम् :–'अकर्ता पुरुष' इत्येतदुच्यते–तस्माच्च विपर्यासात्। तस्माच्य=यथोक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद्विपर्ययात्–निर्गुणः, पुरुषो, विवेकी, भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तस्तस्मात्, सत्त्वरजस्तमः सु कर्तभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति, –योयमधिकृतो बहुत्वं प्रति। गुणा एव कर्तारः प्रवतन्ते, साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तत एव। किचान्यत्, कैवल्यं=केवलभावः। कैवल्यम् अन्यत्वमित्यर्थः। त्रिगुणेभ्यः केवलः=अन्यः। माध्यस्थ्यं–मध्यस्थ–भावः। परिव्राजकवत् मध्यस्थः, पुरुषोप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते, तस्माद्–द्रष्ट–त्वमकर्तभावश्च। यस्मान्म ध्यस्थस्तस्माद् द्रष्टा' तस्मादकर्ता पुरुषस्तेषां कर्मणामिति, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः कर्मकर्तभावेन प्रवर्तन्ते, न पुरुषः। एवं पुरुषस्यास्तित्वं च सिद्धम्।।१६।।

विशेष :- प्रस्तुत कारिका में यह बताया जा रहा है कि यतः त्रिगुणत्व आदि सभी धर्मों की दष्टि से पुरुष अव्यक्त और तन्मूलक व्यक्त के विपरीत है अर्थात् निर्गुण, विवेकी अविषय, असाधारण चेतन एवं अप्रसवधर्मी या निर्विकार है, अतः यह भी सिद्ध होता है कि वह (पुरुष) साक्षी, केवल, मध्यस्थ या उदासीन, द्रष्टा एवं अकर्त्ता है। निर्गुण होने के कारण वह दुःखरहित है, अतः केवल अर्थात् दुःखत्रयाभाव रूप कैवल्य से युक्त है, निर्गुण होने के कारण ही वह सुख–दुःख दोनों से रहित होने के कारण मध्यस्थ अर्थात् तटस्थ या उदासीन है। गुण क्रियाओं के प्रयोजक होते हैं, साथ ही क्रिया एक प्रकार का परिणाम या विकार भी है, किन्तु यतः पुरुष निर्गुण एवं अप्रसवधर्मी अर्थात् अपरिणामी या निर्विकार है, अतः वह अकर्त्ता या निष्क्रिय है। यतः पुरुष जड़ नहीं, अपितु चेतन है, और साथ ही वह विषय नहीं, अपितु अविषय है, अतः वह साक्षी और द्रष्टा है। जड़ पदार्थ साक्षी या द्रष्टा नहीं हो सकता, विषय माने जाने वाला पदार्थ भी दश्य हो सकता है, साक्षी या द्रष्टा नहीं हो सकता, किन्तु यतः पुरुष न जड़ है और न विषय है, अपितु चेतन और अविषय है, अतः साक्षी और द्रष्टा है। साक्षी भी द्रष्टा ही होता है, किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि वह साक्षात् रूप से द्रष्टा होता है। पुरुष सब पदार्थों या दश्यों के प्रति सामान्य रूप से द्रष्टा भी है, किन्तु अपने अव्यवहित रूप से संनिहित बुद्धि के प्रति वह साक्षी अर्थात् साक्षात् द्रष्टा भी है। इस प्रकार पुरुष जहां निर्गुण, विविक्त या विवेकी, अविषय, असाधारण, चेतन एवं अप्रसवधर्मी या निर्विकार है वहां वह साक्षी, केवल, मध्यस्थ द्रष्टा एवं अकर्त्ता भी है।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।

गुणकर्तत्वेपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।।२०।।

अन्वय :– तस्मात् तत्संयोगात् अचेतनं लिङ्गं चेतनावत् इव (भवति) तथा गुणकर्तत्वे अपि उदासीनः (पुरुषः) कर्त्ता इव भवति।।२०।।

अर्थ :–त्रिगुणात्मिका परिणामशीला बुद्धि के 'कर्त्री होने पर और अत्रिगुण अपरिणामी पुरुष के 'अकर्ता' होने पर भी दोनों के असाधारण (विलक्षण) संयोग के फलस्वरूप जड़ बुद्धि 'चेतनवती' प्रतीत होती है और कर्तत्वधर्म त्रिगुणात्मक पदार्थों का होने पर भी उदासीन द्रष्टा तथा साक्षिमात्र पुरुष कर्ता की तरह अवभासित होता है।।२०।।

भाष्यम् :– यस्मादकर्ता पुरुषस्तत् कथमध्यवसायं करोति धर्मं करिष्याम्यधर्म न करिष्यामी' त्यतः कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुषः, एवमुभयथा दोषः स्यादिति। अत उच्यते–इह पुरुषश्चेतनावान्; तेन चेतनावभाससंयुक्तं महदादि लिङ्गं चेतनावदिव भवति। यथा लोके घटः शीतसंयुक्तः शीतः, उष्णसंयुक्त उष्णः एवं महदादि लिङ्गं तस्य संयोगात्=पुरुषसंयोगात् चेतनावदिव भवति। तस्माद् गुणा अध्यवसायं कुर्वन्ति, न पुरुषः। यद्यपि लोके 'पुरुषः कर्ता, गन्तेत्यादि' प्रयुज्यते, तथाप्यकर्ता पुरुषः। कथम् गुणकर्तत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः। गुणानां कर्तत्वे सति, (तथा=) उदासीनोपि पुरुषः कर्तेत भवति न कर्ता। अत्र दष्टान्तो भवति,–यथाचौरश्चौरैः सह गहीतश्चौर इत्यगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः, तैः संयुक्तः पुरुषोकर्तापि कर्त्ता भवति, कर्तसंयोगात्? एवं व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विभागो विख्यातः, यद्विभागान्मोक्षप्राप्तिरीति।।२०।।

विशेष :- प्रकृति की महत्तत्व आदि तेईस विकृतियाँ व्यक्त के अन्तर्गत आती हैं और इस प्रकार सामान्यतः ये सभी महत्तत्व आदि तेईस तत्त्व लिङ्ग हैं, किन्तु यतः इन तेईस तत्त्वों के अन्तर्गत आने वाले महाभूतों से पुरुष का साक्षात् संयोग या सम्पर्क प्रतीत नहीं होता, अतः प्रस्तुत कारिका में से सब तत्त्व 'लिङ्ग' शब्द के द्वारा अभिप्रेत प्रतीत नहीं होते। आगे चालीसवीं कारिका में सांख्यकारिकाकार ने 'लिङ्ग' शब्द को सूक्ष्मशरीर के अभिधान के रूप में प्रयुक्त किया है। इस शरीर को 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' के रूप में उन्होंने महत्तत्व या बुद्धि से लेकर सूक्ष्म अर्थात् तन्मात्रा पर्यन्त तत्त्वों से संघटित माना है। इस शरीर से पुरुष का साक्षात् संयोग भी रहता है, अतः यहाँ 'लिङ्ग' शब्द से सूक्ष्म शरीर को अभिहित किया गया है, यह स्पष्ट होता है कि यतः इस सूक्ष्म शरीर में प्रमुख तत्त्व महत्तत्व या बुद्धि है और बुद्धि से ही पुरुष का साक्षात् या अव्यवहित रूप से संयोग सम्पर्क होता है तथा अन्य तत्त्वों से पुरुष का सम्पर्क बुद्धि के माध्यम से होता है, अतः यहाँ 'लिङ्ग' शब्द से प्रमुखतः अकेले बुद्धि तत्त्व को भी अभिप्रेत माना जा सकता है। प्रलयावस्था में पुरुष अव्यक्त अर्थात् प्रकृति के अव्यक्त रूप से संसष्ट रहता हुआ अव्यक्त के समान ही जडवत् बना रहता है। उस समय वह न कुछ विवेक प्राप्त कर सकता है और न किसी प्रकार का भोग प्राप्त कर पाता है। सष्टि की अवस्था में मूल अव्यक्त का संसर्ग रहने पर भी उसके व्यक्त रूप बुद्धि आदि का संयोग या संसर्ग पुरुष को प्राप्त होता है। इस अवस्था की स्थिति का वर्णन प्रस्तुत कारिका में किया गया है कि 'तस्मात्' अर्थात् इसलिये कि पूर्व में यह स्पष्टतः बताया जा चुका है कि प्रकृति और सन्मूलक महत्तत्व या बुद्धि आदि स्वरूपतः अचेतन और सक्रिय हैं और पुरुष स्वरूपतः चेतन और निष्क्रिय है और फलतः यह नहीं माना जा सकता कि बुद्धि आदि चेतन हैं और पुरुष कर्त्ता है, किन्तु फिर भी 'तत्संयोगात्' अर्थात् प्रकृतिमूलक बुद्धि आदि तथा पुरुष के परस्पर संयोग या सम्पर्क के कारण एक ओर तो बुद्धि आदि वास्तव में स्वरूपतः अचेतन होते हुए भी चेतन के समान हो जाते हैं या चेतन प्रतीत होने लगते हैं और दूसरी ओर पुरुष वास्तव में स्वरूपतः अकर्त्ता या निष्क्रिय होते हुए भी कर्त्ता के समान हो जाता है या कर्त्ता प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार परस्पर संयोग अर्थात् सम्पर्क या संनिधान के कारण बुद्धि आदि और पुरुष, इन दोनों में से एक–दूसरे की विशेषतायें एक दूसरे में इस रूप में भाषित होने लगती है कि पुरुष चेतनता बुद्धि आदि से भासित होती है और बुद्धि आदि की सक्रियता पुरुष में भाषित होती है। दूसरे शब्दों में, निष्क्रिय एवं चेतन पुरुष और सक्रिय एवं अचेतन बुद्धि आदि का इस रूप में संयोग होता है कि दोनों में तादात्म्य या अभेद सा होकर दोनों के द्वारा एक ऐसा व्यक्तित्व बन जाता है जो चेतन होते हुए कर्त्ता है।

पहले चेतन पुरुष से साक्षात् या अव्यवहित रूप से सम्पक्त या संनिहित जड़ बुद्धि चेतनवत् प्रतीत होती है, और फिर बुद्धि के माध्यम से जड़ सूक्ष्मशरीर चेतनवत् प्रतीत होता है और फिर यहां तक कि सूक्ष्मशरीर के माध्यम से जड़ स्थूल शरीर भी चेतनवत् या चेतनायुक्त प्रतीत होता है, जिसके कारण स्थूल देह में भी आत्माभिमान हो जाता है। इस प्रकार चेतना का मूल स्रोत चेतन पुरुष है। जब पुरुषयुक्त सूक्ष्मशरीर स्थूल शरीर को छोड़ देता है तो उसकी वास्तविक जड़ता स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर से पुरुष का सम्पर्क छूटने पर फिर उसमे किंचिन्मात्र भी चेतना उसी प्रकार नहीं रह सकती जिस प्रकार वास्तव में ज्वलन एवं प्रकाश से रहित, किन्तु अग्नि के सम्पर्क से ज्वलन एवं प्रकाश से युक्त हो जाने वाले, इंधन से अग्नि का सम्पर्क हट जाने पर उसमें किचिन्मात्र भी ज्वलन एवं प्रकाश नहीं रहता।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।२१।।

अन्वय :–पुरुषस्य कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य दर्शनार्थं पङ्ग्वन्धवतः अपि उभयोः संयोगः (भवति), तत्कृतः सर्गः भवति।।२१।।

अर्थ :–पुरुष के द्वारा प्रधान के दर्शन या भोग के लिए तथा पुरुष के दुःखत्रयाभाव रूप कैवल्य के लिये लङ्गड़े और अन्धे के समान दोनों का अर्थात् प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है और उसी संयोग से सष्टि भी होती है।।२१।।

भाष्यम् :– अथैतयोः प्रधान–पुरुषयोः किं हेतुः सङ्घातस्य ? उच्यते–पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थम्। प्रकृतिं, महदादिकार्यं भूतपर्यन्तं पुरुषः पश्यति प्रधानस्यापि–पुरुषेण सह संयोगः कैवल्यार्थम्। स च एतदर्थ, संयोगः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि दष्टव्यः। यथा एकः पङ्गुरेकश्चान्धः, एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्यस्तेनकृतादुपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवादितश्चेतश्च चेरतुः। स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ। पुनस्तयोः स्ववचसोर्विश्वस्तत्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति। अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमीरोपिताः, एवं शरीरारूढपङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धो याति, षङ्गुश्चान्धस्कन्धारूढः। एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति, पङ्गुवत् न क्रिया, प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवत्, न दर्शनशक्तिः। यथा वानयोः षङ्ग्न्धयो कृतार्थविभागो भविष्यतीप्सितस्थानप्राप्तयोः एवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते, पुरुषोपि प्रधानं दष्ट्वा कैवल्यं गच्छतिः तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति। किचान्यत्–तत्कृतः सर्गः तेन संयोगेन कृतस्तत्कृतः, सर्गः=सष्टि। यथा स्त्री–पुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषं संयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः।।२१।।

विशेष :— यद्यपि प्रकृति और पुरुष अनादिकाल से परस्पर संयुक्त हैं, किन्तु यतः सष्टि के बना इस अनादि संयोग से इन दोनों का कोई अपेक्षित कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता, अतः ये दोनों सष्टि के द्वारा अपने अपेक्षित कार्यों को सम्पन्न करने के लिए पुनः ऐसे रूप में संयुक्त होते हैं कि इस संयोंग से सष्टि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप दोनों के अपेक्षित कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। प्रकृति की अपेक्षा या अपेक्षित कार्य यह है कि पुरुष उसका दर्शन या भोग करे और पुरुष की अपेक्षा या अपेक्षित कार्य यह है कि वह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से दुःखनिवत्तिरूप कैवल्य को प्राप्त कर सके। यदि कोई वस्तु उपयुक्त नहो सके तो उसको स्वरूप—लाभ प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार यतः सष्टि के बिना प्रकृति पुरुष के द्वारा इष्ट अर्थात् भुक्त या उपयुक्त नहीं हो पाती, अतः उसे (प्रकृति को) स्वरूप—लाभ प्राप्त नहीं हो पाता। फलतः उसकी पुरुष से यह अपेक्षा है कि वह (पुरुष) उसका (प्रकृति का) दर्शन या भोग करे। पुरुष की प्रकृति से अपेक्षा है कि वह (प्रकृति) उसके लिए (पुरुष के लिए) ऐसा साधन जुटा देवे जिसे वह (पुरुष) कैवल्य को प्राप्त कर सके। प्रलयावस्था में दोनों की उक्त अपेक्षाएं पूर्ण नहीं हो पाती हैं। प्रकृति की अपेक्षा इसलिए पूर्ण नहीं हो पाती कि इस अवस्था में वह एक तो अव्यक्त रूप में रहती है, अतः उसका क्या दर्शन या भोग किया जाये, दूसरे इस अवस्था में पुरुष अव्यक्त प्रकृति से संसष्ट होने के कारण जडवत् या सुप्तवत् रहता है और फलतः उसमें दर्शन या भोग करने की योग्यता नहीं होती, अतः प्रकृति को यह अपेक्षित होता है कि सष्टि हो, जिससे एक ओर तो उसके विविध रूप व्यक्त हो जायेंगे जो दश्य या भोग्य बन सकेंगे और दूसरी ओर पुरुष को भी उसके (प्रकृति के) व्यक्त रूपों में से अन्यतम बुद्धि आदि साधन प्राप्त हो जायेंगे जिनके द्वारा वह उक्त विविध रूपों का दर्शन या भोग कर सकेगा। प्रलयावस्था में पुरुष की उक्त कैवल्यप्राप्ति रूप अपेक्षा इसलिये पूर्ण नहीं हो पाती कि कैवल्य प्रकृति—पुरुष—विवेक से ही प्राप्त हो सकता है और यह विवेक अव्यक्त प्रकृति के संसर्ग के कारण जड़वत् या सुप्तवत् बने हुए पुरुष को हो नहीं सकता, अपितु अव्यक्त प्रकृति के व्यक्त रूप बुद्धि से सहकार या सहयोग से ही हो सकता है और यह बुद्धि रूप व्यक्त सष्टि होने पर ही प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार अपनी—अपनी अपेक्षा की पूर्ति के लिए प्रकृति और पुरुष, इन दोनों का सष्टि रूप समान लक्ष्य हो जाता है, जो कि दोनों के सष्ट्युद्देश्यक संयोग से ही सम्पन्न हो सकता है, अतः दोनों सष्टि रूप समान लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से उसी प्रकार परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, जिस प्रकार देशान्तर—गमन रूप समान लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से ऐसे दो व्यक्ति, जिनमें एक पङ्गु है और अन्धा है, इस रूप में परस्पर संयुक्त हो जाते हैं कि पङ्गु अन्धे पर सवार होकर निर्देशन करता है और अन्धा गमन करता है। प्रकृति और पुरुष में प्रकृति जड़ और सक्रिय होने के कारण गमनकर्त्ता अन्धे के समान है और पुरुष चेतन और निष्क्रिय होने के कारण निर्देशक पङ्गु के समान है। प्रकृति और पुरुष के इस संयोग से फिर सष्टि होने लगती है।

यद्यपि प्रकृति को कोई अपेक्षा नहीं हो सकती और प्रकृति संसर्ग के कारण जड़वत् बने हुए पुरुष को भी कोई अपेक्षा नहीं हो सकती, किन्तु यतः सष्टि होने से प्रकृति की इस रूप में उपयोगिता हो जाती है कि पुरुष के द्वारा उसका दर्शन या भोग होने लगता है तथा पुरुष का यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है है कि उसे कैवल्योपयोगी विवेकज्ञान का बुद्धि रूप साधन प्राप्त हो जाता है, अतः स्वाभाविक रूप से सष्ट्युपयोगी संयोग होने पर भी यह कह दिया जाता है कि मानो एक—दूसरे की अपेक्षा की पूर्ति के लिए प्रकृति और पुरुष सष्टि करने के लिए परस्पर संयुक्त हुए हैं। साथ ही इस कारिका से यह तथ्य ज्ञात होता है कि प्रकृति और पुरुष में से कोई अकेला सष्टि नहीं करता, अपितु दोनों के सष्ट्युपयोगी संयोग से सष्टि होती है।

प्रकृतेर्महांस्ततोहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पचभ्यः पचभूतानि।।२२।।

अन्वय :— प्रकृतेः महान्, ततः (महतः) अहंकारः, तस्मात् (अहंकारात्) षोडशकः गणः, तस्मात् षोडशकात् अपि पचभ्यः (पचतन्मात्रेभ्यः) पच भूतानि च (आर्विर्भवन्ति) ।।२२।।

अर्थ :— प्रकृति से महान् (महत्=बुद्धि), महान् से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रिय तथा पचतन्मात्रक सोलह तत्त्वों का समूह तथा सोलह पदार्थों में से केवल पचतन्मात्राओं द्वारा पचमहाभूतों का आविर्भाव (उत्पत्ति=अभिव्यक्ति) होता है।।२२।

भाष्यम् :— इदानीं सर्गविभागदर्शनार्थमाह—प्रकृतिः=प्रधानं, ब्रह्म, अव्यक्तं, बहुधानकं, मायेति पर्यायाः। अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महान्—उत्पद्यते। महान्, बुद्धि; आसुरी, मतिः, ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते। तस्माच्च महतोहङ्कार उत्पद्यते। अहङ्कारो, भूतादिर्वैकृतस्तैजसोभिमान इति पर्यायाः। तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादहङ्कारात् षोडशकः—षोडषस्वरूपेण गण उत्पद्यते। स यथा—पचतन्मात्राणि=शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मां:, गन्धतन्मात्रमिति, 'तन्मात्र'—'सूक्ष्म'—पर्यायवाच्यानि। तत एकादशेन्द्रियाणि—श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, घ्राणमिति पच बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादयूवायूपस्थानि पच कर्मेन्द्रियाणि। उभयात्मकमेकादशं मनश्च। एष षोडशको गणोहङ्कारादुत्पद्यते। किच—पचभ्यः पचभूतानि तस्मात् षोडशकाद् गणात्

पचभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पच वै महाभूतान्युत्पद्यन्ते। यदुक्तं–शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः गन्धतन्मात्रात् पथिवी, एवं पचभ्यः परमाणुभ्यः –पच महाभूतान्युत्पद्यन्ते।।२२।।

विशेष :- पूर्वकारिका में यह बताया जा चुका है कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से सष्टि होती है। इस संयोग के होने पर यतः पुरुष अप्रसवधर्मी अर्थात् अपरिणामी या निर्विकार है, अतः उससे कुछ उत्पन्न नहीं होता, अपितु प्रकृति के विकारशील होने से उसका ही विभिन्न तत्त्वों के रूप में परिणाम होता है और इस प्रकार उससे समग्र जगत् की सष्टि होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि चित्स्वरूप पुरुष के संविधान से प्रकृति में सष्टि–क्रिया प्रारम्भ होती है और उसके फलस्वरूप उससे समग्र जगत् की सष्टि होती है। प्रकृति से सर्वप्रथम महान् अर्थात् महत् या महत्तत्व की सष्टि होती है, महत्तत्व प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम या विकार है। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्त्वप्रधान माना जाता है। व्यष्टि रूप में इसी महत्तत्व के व्यष्टि रूप इस बुद्धितत्त्व के सम्पर्क से ही चित्स्वरूप पुरुष ज्ञानवान् या ज्ञानयुक्त हो अपने को ज्ञाता के रूप में अनुभूत करते हुए, फिर उसके फलस्वरूप दर्शन या भोग आदि विभिन्न क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में अनुभूत करता है। बुद्धितत्त्व को 'सत्त्व' भी कहा गया है और योग की भाषा में इसे ही 'चित्त' कहा जाता है। महत्तत्व या बुद्धितत्त्व ही प्रमुखतः चित्त है, क्योंकि यही प्रकृति का सर्वप्रथम व्यक्त रूप होने के कारण अपने मूल अव्यक्त या व्यक्त चिह्न होते हुए उसकी (अव्यक्त की) सत्ता का सूचक होता है। जैसा कि आगे की कारिका में स्पष्ट है। अध्यवसाय या निश्चय महत्तत्व और उसके व्यष्टि रूप बुद्धि का असाधारण व्यापार होते हुए इसका स्वरूपनिरूपक धर्म है।

महत्तत्व से अभिमानात्मक अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से पांच तन्मात्राएं और ग्यारह इन्द्रियां, ये सोलह तत्त्व या पदार्थ उत्पन्न होते हैं। तन्मात्राओं को सूक्ष्म या सूक्ष्मभूत भी कहा जाता है। शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा एवं गन्धतन्मात्रा, ये पांच तन्मात्राएं होती हैं। इनमें यतः केवल अपने–अपने गुण शब्द आदि होते हैं, इनका कोई विशेष रूप नहीं होता, अतः इन्हें 'तन्मात्रा' और अपने–अपने गुणों के आधार पर 'शब्दतन्मात्रा' आदि कहा जाता है। तन्मात्राएँ आकाश आदि भूतों की सूक्ष्म रूप होती हैं। जैसे शब्दतन्मात्रा आकाश का सूक्ष्म रूप है, स्पर्शतन्मात्रा वायु का सूक्ष्म रूप है, अतः इन्हें 'सूक्ष्म' या 'सूक्ष्मभूत' भी कहा जाता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, ये पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक् पाणि, पाद, पायु (गुदा) एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय), ये पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन जो कि उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों माना जाता है, ये ग्यारह इन्द्रियां होती हैं।

उक्त सोलह तत्त्वों में से ग्यारह इन्द्रियों से तो फिर कुछ उत्पन्न नहीं होता, किन्तु शब्दतन्मात्रा आदि पांच तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु अग्नि, जल एवं पथिवी, ये पांच स्थूलभूत या महाभूत उत्पन्न होते हैं। यह भी माना जाता है कि आकाश तो अकेली शब्दतन्मात्रा से उत्पन्न होता है, किन्तु आगे वायु आदि स्पर्शतन्मात्रा आदि से उत्पन्न होते हुए भी अकेली स्पर्शतन्मात्रा आदि से नहीं, अपितु पूर्ववर्तिनी तन्मात्रा या तन्मात्राओं से युक्त स्पर्शतन्मात्रा आदि से उत्पन्न होते हैं।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।

सात्त्विकमेतदूरूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।।२३।।

अन्वय :– अध्यवसायो बुद्धिः, एत–धर्मो, ज्ञानं, विराग, ऐश्वर्यं एतद् सात्त्विकम् रुपम। अस्मात् विपर्यस्तं तामसम् रुपम् ।।२३।।

अर्थ :– बुद्धि, निश्चयात्मिका व्यापारवती है। इसके धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य सात्विकरूप हैं। धर्मादि के विपरीत अधर्म अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य तामसरूप हैं।

भाष्यम् :– यदुक्तं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्ष' इति, तत्र महदारि भूतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्यक्तं व्याख्यातम्। अव्यक्तमपि 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादिना व्याख्यातम्। पुरुषोपि 'सङ्घतपरार्थत्वात्' इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः। एवमेतानि पचविंशतितत्त्वानि, यत्तैस्त्रैलोक्यं व्याप्तं जानाति, तस्य भावोस्तित्वम्। यथोक्तं–

'पचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।

जटी, मुण्डी, शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः।।'

तानि यथा, –प्रकृतिः, पुरुषो, बुद्धिरहङ्कारः, पच तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पच महाभूतानि इति। एतानि पचविंशतितत्त्वानि।

तत्रोक्तं 'प्रकृतेर्महानुत्पद्यते'। तस्य महतः किं लक्षणमित्येतदाह–अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम्। अध्यवसानम्–अध्यवसायः। यथा बीजे भविष्यद्वत्तिकोहङ्कारस्तद्वदध्यवसायः – 'अथं घटः' 'अर्थ पट' इत्येवमध्यवस्यति या सा 'बुद्धि'रिति लक्ष्यते। सा च

बुद्धिरष्टाङ्गिका, सात्त्विक तामसरूपमेदात्। तत्र बुद्धेः सात्विकं रूपं चर्तुर्विधं भवति। धर्मो, ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं चेति। तत्र धर्मो नाम–दयादानयमनियमलक्षणः। तत्र यमाः, नियमाश्च पातजलेभिहिताः–'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'। 'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः'। ज्ञानं, प्रकाशोवगमो, भानमिति पर्यायाः। तच्च द्विविधं–बाह्यमाभ्यन्तरं चैति। तत्र बाह्यं नाम–वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्ततछन्दो ज्योतिषारूयषङ्गसहिताः, पुराणानि, न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति। आभ्यन्तरं–प्रकृतिपुरुषज्ञानम्। इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, अर्थ पुरुषः सिद्धौ, निर्गुयाा व्यापी, चेतन इति। तत्र बाह्यज्ञानेन लोकपङ्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः। आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः। वैराग्यमपि द्विविधं–बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं दष्टविषयवैतष्ण्यम्–अर्जनरक्षण क्षय–सङ्ग–हिंसा–दोष दर्शनाद्विरक्तस्य। आभ्यन्तरं 'प्रधानमप्यत्र स्वप्नेन्द्रजालसदश'मिति विरक्तस्य मोक्षेप्सौर्यदुप्यश्चते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्। ऐश्वर्यं=ईश्वर–भावः। तच्चाष्टगुणम्–अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यमीशित्वं, वशित्वं–यत्रकामवसायित्वं चेति। अर्णोभावोणिमा सूक्ष्मो मूत्वा जगति विचरतीति। महिमा महान् भूत्वा विचरतिति। लघिमा, मणालीतूलावयवादपि लघुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति। प्राप्तिः, –अभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नोति। प्राकाम्यं–प्रकामतो यदैवच्छति वदैव विद्धति। ईशित्वं–प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे वशित्वं–सर्व वशीभवति। यत्रकामावसायित्वं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति। चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्त्विकानि रूपाणि। यदा सत्त्वेन रजस्तमसी अभिभूते, तदा पुमान् बुद्धिगुणान् धर्मादीनाप्नोति। किचान्यत्–तामसमस्माद्विपर्यस्तम्। अस्माद्धर्मादेविपरीतं तामसं बुद्धिरूपम्। तत्र धर्माद्विपरीतोधर्मः एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति। एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा। बुद्धिस्त्रिगुणादिव्यक्तादुत्पद्यते।।२३।।

विशेष :- अध्यवसाय या निश्चय बुद्धि का असाधरण व्यापार होता हुआ उसका स्वरूपनिरूपक धर्म है अतः उसका लक्षण 'अध्यवसाय' के रूप में किया गया है। चित्स्वरूप पुरुष के संनिधान (सामीप्य या सम्पर्क) से चैतन्य प्राप्त करने वाली बुद्धि को जो 'करना चाहिए' यह निश्चय है, वही 'अध्यवसाय' है जो कि बुद्धि का अपना असाधरण या विशिष्ट व्यापार या कार्य है, (क्रिया और क्रियावान् में अभेद की विवक्षा में) यहां इस कार्य से अभिन्न बुद्धि बताई गई है। यही (अध्यवसाय ही) सजातीय एवं विजातीय पदार्थों का व्यवच्छेदक अर्थात् बुद्धि से पथक् करने वाला होने के कारण बुद्धि का लक्षण है।

इस प्रकार बुद्धि का लक्षण करने के बाद उसके विवेक–ज्ञान में उपयोगी सात्त्विक और तामस धर्मों को बताते हैं कि धर्म, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य, ये बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं और इसके विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य, ये उसके तामस रूप हैं। अभ्युदय अर्थात् ऐहलौकिक कल्याण एवं निःश्रेयस अर्थात् पारलौकिक कल्याण का हेतु धर्म है। इससे यज्ञ एवं दान आदि के अनुष्ठान या सम्पादन से उत्पन्न होने वाला धर्म अभ्युदय का हेतु है और अष्टांग योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाला धर्म निःश्रेयस का हेतु है। प्रकृति के गुण और पुरुष के अन्यत्व या भेद का प्रकाशन ज्ञान है। विराग वैराग्य अर्थात् राग का अभाव है। उसकी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार, ये चार संज्ञाएं हैं।

राग आदि कषाय या मल चित्त में रहते हैं, इन्द्रियों को उनके अपने अपने विषयों में प्रवृत्त करते हैं, सो ये इन्द्रियों को विषयों में प्रवत्त न करें, इसलिये इन कषायों या मलों के परिपाक अर्थात् शान्ति या सफाई के लिए किया गया प्रयत्न 'यतमान' नामक वैराग्य है। इस परिपाक या शान्ति के किए जाने पर कुछ कषाय पक जाते या शान्त हो जाते हैं और कुछ आगे शान्त होंगे। इनके परिपाक में इस प्रकार का पूर्वापर (आगे–पीछे) का क्रम होने पर बाद में पकने वाले कषायों से पहले पके हुए कषायों को (इस उद्देश्य से) व्यतिरेक नामक वैराग्य है। इन्द्रियों को प्रवत्त करने में असमर्थ हो जाने के कारण पके हुए कषायों को केवल उत्सुकता या विषय–तष्णा के रूप में मन में ही नियत रखना अर्थात् इस रूप में उन्हें उभरने न देना कि वे फिर इन्द्रियों को विषयों में प्रवत्त कर सकें, 'एकेन्द्रिय' नामक वैराग्य है। दष्ट अर्थात् भोजन–पान आदि लौकिक और आनुश्रविक अर्थात् स्वर्ग आदि वेदोक्त अलौकिक या पारलौकिक विषयों के उपस्थित होनें पर भी उनके प्रति उत्सुकता या तष्णा की भी निवत्ति रूप जो वैराग्य के उक्त तीनों भेदों से बाद में होने वाला वैराग्य है, वह 'वशीकार' नामक वैराग्य है, जिसका वर्णन भगवान् पतजलि ने इस रूप में किया है कि दष्ट या लौकिक और आनुश्रविक या वेदोक्त पारलौकिक विषयों से वितष्ण या तष्णाविहीन हो जाने वाले वैराग्य 'वशीकार' नामक वैराग्य है। बुद्धि का यह उक्त प्रकारक धर्म विराग या वैराग्य है।

ऐश्वर्य भी बुद्धि का वह धर्म है जिससे अणिमा आदि सिद्धियों का प्रादुर्भाव या प्रकट्य होता है। इनमें अणिमा अणुत्व या सूक्ष्मता है जिससे योगी शिला में भी प्रवेश कर जाता है। लघिमा लघुत्व या हल्कापन है जिससे सूर्य की किरणों का सहारा लेकर वह सूर्यलोक को चला जाता है। गरिमा गुरुत्व या भारीपन है, जिससे भारी हो जाता है, महिमा महत्त्व या विशालता है जिससे महान् या विशाल हो जाता है। प्राप्ति अर्थात् प्राप्त करने की शक्ति, जिससे अंगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू लेता है। प्राकाम्य इच्छा का अनभिघात अर्थात् उसमें बाधा या रूकावट का न होना है जिससे जल के समान भूमि में उछलता और डूबता है। वशित्व अर्थात् नियमाकत्व या नियन्त्रण करना, जिससे आकाश आदि भूत एवं तदुत्पन्न भौतिक पदार्थ अवश्य ही वश में हो जाते हैं। ईशित्व अर्थात् स्वामित्व, जिससे आकाश आदि भूत और तदुत्पन्न भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति एवं

लय या विनाश का स्वामी हो जाता है अर्थात् भूत एवं भौतिक की उत्पत्ति आदि करने में समर्थ हो जाता है। जो कामावसायित्व है वह सत्यसंकल्पता है जिससे योगी का प्राणियों के विषय में जैसा संकल्प होता है, वैसे ही प्राणी हो जाते हैं। अन्य मनुष्यों के निश्चय निश्चेतव्य अर्थात् निश्चित किए जाने वाले पदार्थों या विषयों का अनुसरण करते हैं और योगियों के निश्चय का तो निश्चेतव्य पदार्थ ही अनुसरण करते हैं। ये चार बुद्धि के सात्त्विक धर्म हैं। बुद्धि के तामस धर्म तो इसके विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य नाम वाले चार हैं।

अभिमानोहङ्कारः तस्माद्‌द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।

एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपचकश्चैव।। २४।।

अन्वय :— सात्त्विकः एकादशः वैकृतात् अहङ्कारात् प्रवर्तते, भूतादेः तन्मात्रः, स तामसः, तैजसात् उभयम्।

अर्थ :— सात्त्विक ग्यारह इन्द्रियाँ 'वैकृत' नामक सात्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं। ''भूतादि' नामक तामस अहंकार से तन्मात्राओं का समुदाय उत्पन्न होता है तथा राजस (तैजस) अहंकार दोनों समुदायों की उत्पत्ति में सहायक होता है ।।२४।।

भाष्यम् :— एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम्। अहङ्कारलक्षणमुच्यते—एकादशकश्चयणः=एकादशेन्द्रियाणि, तथा तन्मात्रो गणः पचकः =पचलक्षणोपेतः। शब्दतन्मात्र—स्पर्शतन्मात्र—रूपतन्मात्र—रसतन्मात्र—गन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः।।२४।।

विशेष :- अभिमान 'अहंकार' नामक तत्त्व का असाधारण व्यापार होते हुए उसका स्वरूपनिरूपक धर्म है, अतः अभिमान रूप क्रिया और अहंकार रूप क्रियावान् में अभेद मानते हुए अहंकार का लक्षण या स्वरूप—परिचय अभिमान के रूप में दिया गया है। जो इन्द्रियों से ग्रहण किया गया है और मन से जिसका मनन या विचार किया गया है, उसका मैं अधिकारी हूँ, इस विषय में मैं समर्थ हूँ, ये विषय मेंरे लिए है, मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई इसका अधिकारी नहीं है, इसलिए 'मैं अधिकारी हूँ, इस रूप में जो अभिमान है, वह अहंकार का असाधारण व्यापार होने के कारण 'अहंकार' है। उसका आधार लेकर ही बुद्धि इस रूप में निश्चय करती है कि मुझे यह करना चाहिये। उसके कार्य के भेद को बताते हैं कि उससे दो प्रकार की सष्टि होती है। इन दो प्रकारों को बताते हैं कि ग्यारह संख्या वाला समुदाय अर्थात् ग्यारह इन्द्रियां और पांच तन्मात्राएं। अहंकार से दो प्रकार की ही सष्टि होती है, अन्य नहीं, इस बात का अवधारण या निश्चय ग्रन्थकार 'एव' श ब्द के द्वारा करते हैं।

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।

भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्।।२५।।

अन्वय :— वैकृतात् अहङ्कारात् सात्त्विकाः एकादशकः प्रवर्तते, भूतादेर्तन्मात्रः प्रवर्तते, सः तामसो (भवति), तैजसात् उभयं प्रवर्तते।।२५।।

अर्थ :— 'वैकृत' अहंकार (सत्त्वगुणप्रधान अहंकार की पारिभाषिक संज्ञा 'वैकृत') से सत्वबहुल ग्यारह इन्द्रियों का समूह अभिव्यक्त होता है। 'भूतादि' अहंकार (तमोगुणप्रधान अहंकार की पारिभाषिक संज्ञा 'भूतादि') से पचतन्मात्राओं का समूह प्रकट (उत्पन्न) होता है, जो तमोबहुल है। 'तैजस' अहंकार (रजोगुण विशिष्ट अहंकार की पारिभाषिक संज्ञा 'तैजस') से उपरि वर्णित दोनों गुणों की अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होती है।।२५।।

भाष्यम् :— किंलक्षणात्सर्ग इत्येतदाह—सत्त्वेनाभिभूते यदा रजस्तमसी अहङ्कारे भवतस्तदा सोहङ्कारः—सात्त्विकः। तस्य च पूर्वाचायैंः संज्ञा कृता, वैकृत इति। तस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते। यस्मात् सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रिययाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते—सात्त्विक एकादशक इति। किचान्यत् ? भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः। तमसाभिभूते सत्त्वरजसी अहङ्कारे यदा भवतः, तदा सोहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यकृता संज्ञा 'भूतादि' तस्मात् भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पचको गण उत्पद्यते। भूतानामादिभूतस्तमोबहुलः, तेनोक्तः स तामसः। तस्माद् भूतादेः पचतन्मात्रको गणः। किच—तैजसादुभयम्। यदा रजसाभिभूते स॒त्त्वतमसौ अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात् सोहङ्कारस्तैजस इति संज्ञां लभते तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते उभयमिति। एकादशको गणस्तन्मात्रः पचकः। योयं सात्त्विकोहङ्कारो, वैकृतिको=विकृतो भूत्वा, एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति, स तैजसमहङ्कारं सहायं गुह्णाति। सात्त्विको निष्क्रियः, स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः। तथा तामसोहङ्कारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहङ्कारेण क्रियावता युक्तस्तन्मात्राण्युत्पादयति। तेनोक्तं—तेजसादुभयमिति। एवं तैजसेनाहङ्कारेणेन्द्रियाण्येकादश, पच तन्मात्राणि कृतानि भवन्ति।।२५।।

विशेष :- अहंकार तीन प्रकार का होता है—सत्विक, राजस एवं तामस। इन तीन प्रकार के अहंकारों के त्रिगुणात्मक होने पर भी सात्विक अहंकार सत्त्व प्रधान, राजस, रजःप्रधान और तापम तमः प्रधान होता है। इनके पारिभाषिक नाम क्रमशः वैकृत, तैजस एवं भूतादि हैं।

प्रकाश और लाघव (हल्कापन) गुणों से ग्यारह इन्द्रियों का समुदाय सात्त्विक है जो कि 'वैकृत' नामक सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है। 'भूतादि' नामक तामस अहंकार से तन्मात्राओं का समुदाय उत्पन्न होता है, क्यों ? इसलिए कि वह तामस है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि अहंकार एक ही है, फिर भी विभिन्न गुणों के उद्भव और अभिभव से वह भिन्न कार्य करता है। यदि यह कहा जाये कि यदि सत्त्वगुण और तमोगुण से समग्र कार्यजात उत्पन्न हो जाता है तो फिर अकिचित्कर अर्थात् कुछ न करने वाला रजोगुण व्यर्थ है, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तैजस' नामक राजस अहंकार से उक्त दोनों समुदाय उत्पन्न होते हैं। यद्यपि राजस् का कोई अन्य कार्य नहीं है, फिर भी सत्त्व और तमस् स्वयं क्रियाहीन होने के कारण समर्थ होते हुए भी अपने–अपने कार्य को नहीं करते हैं, किन्तु रजस् चल या प्रवत्तिशील होने के कारण उनको जब चलाता है तब वे अपना कार्य करते हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार के कार्य में अर्थात् इन्द्रियों और तन्मात्राओं के उत्पादन में सत्त्व और तमस् में क्रिया को उत्पन्न करने के द्वारा रजस् का कारणत्व है और फलतः रजस् व्यर्थ नहीं है।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।।२६।।

अन्वय :– चक्षु–श्रोत्र–घ्राण–रसना–त्वगाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि आहुः। वाक्–पाणि–पाद–पायु–उपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि आहुः।। २६।।

अर्थ :– चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक्–ये ज्ञानेन्द्रिय कही जाती हैं। वाक्, पाणि (हाथ) पाद (पैर), पायु तथा उपस्थ–ये कर्मेन्द्रिय कही जाती हैं।।२६।।

भाष्यम् :– 'सात्त्विक एकादशक' इत्युक्तो यो वैकृतात् सात्त्विकादहङ्कारादुत्पद्यते, तस्य का संज्ञेत्याह–चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते। स्पश्यतेनेनेति स्पर्शनं=त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोस्ति, तेनेदं पठ्यते–स्पर्शकानीत। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पच विषयान् बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति–पच बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायुपस्थानि कर्मेन्दियाण्याहुः। कर्म कुर्वन्तीति–कर्मेन्द्रियाणि। तत्र वाग्वदति, हस्तौ नाना व्यापारं कुरुतः, पादौ गमनागमनं, पायुरुत्सर्गं करोति, उपस्थ आनन्दं–प्रजोत्यन्त या।।२६।।

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।

गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाभेदाश्च।।२७।।

अन्वय :– अत्र मनः सङ्कल्पकम्, उभयात्कम्, इन्द्रियं च साधर्म्यात्, नानात्वं गुणपरिणामविशेषात् बाह्यभेदाश्च।।२७।।

अर्थ :– इन्द्रियों में मन संकल्पात्मक व्यापार वाला है। वह ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय उभय रूप है। अन्य दस इन्द्रियों की भांति सात्त्विक अहंकार का कार्य होने से वह भी इन्द्रिय है। गुणों के परिणामविशेष अर्थात् भिन्न–भिन्न अदष्टविशेष से–घट, पट आदि बाह्य पदार्थों की भांति–इन्द्रियों में वैचित्र्य (नानात्व=अनेकता) दिखाई पड़ती है।।२७।।

भाष्यम् :– एवं बुद्धीन्द्रिय–कर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि। मन एकादशकं किमात्मकं, किंस्वरूपं चेति? तदुच्यते–अत्र=इन्द्रियवर्गे मन उभयात्मकम्। बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत्, कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत्। कस्माद् ?। बुद्धीन्द्रियाणां प्रवत्तिं कल्पयति, कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः। सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम्। किचान्यत् इन्द्रियं च, साधर्म्यात्=समानधर्मभावात्, सात्त्विकाहङ्काराद् बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्य प्रति तस्मात् साधर्म्यान्मनोपीन्द्रियम्। एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाद्वैकृतादहङ्कारादुत्पन्नानि। तत्र मनसः का वत्तिरिति सङ्कल्पो–वत्तिः। बुद्धीन्द्रियाणां–शब्दादयो वत्तयः कर्मेन्द्रियाणां–वचनादयः।

अथैतानीन्द्रियाणि भिन्नानि=भिन्नार्थग्राहकाणि=किमीश्वरेण, उत स्वभावेन कृतानि ?। यतः प्रधानबुद्ध्यहङ्कारा अचेतनाः पुरुषोप्यकर्तेति। अत्राह इह साङ्ख्यानां स्वभावो नाम कश्चित्कारणमस्ति। अत्रोच्यते–गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं, बाह्यभेदाश्च। इमान्येकादशेन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पचानां, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पचानां, सङ्कल्पश्च–मनसः। एवमेते भिन्नानामेवेन्द्रियाणामर्थाः गुणपरिणाम–विशेषात्। गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं, बाह्यार्थभेदाश्च। अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण, 'नाहंकारेण, न बुद्धया, न प्रधानेन, न पुरुषेण। (किन्तु) स्वभावात् कृतगुण–परिणामेनेति। गुणानामचेतनत्वान्न प्रवर्त्तते ?। प्रवर्तत एव। कथम् ?। वक्ष्यतीहैव–'वत्सविवद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवत्तिः प्रधानस्य।' एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, विशेषोपि तत्कृत एव, येनोच्चैः प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितं, तथा घ्राणं, तथा श्रोत्रं, तथा जिह्वा स्वदेशे स्वार्थग्रहणाय एवं तदर्था अपि। यत उक्तं शास्त्रान्तरे–'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' गुणानां या वत्तिः सा गुणविषया एवेति बाह्यार्था–विज्ञेया गुणकृता एवेत्यर्थः प्रधानं यस्य कारणमिति।।२७।।

विशेष :- यतः ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, इन दोनों प्रकार की इन्द्रियां के कार्यों में मन का अधिष्ठान अपेक्षित है, अतः इसे दोनों प्रकार की इन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय माना गया है, संकल्प करना मन का असाधारण व्यापार होते हुए इसका स्वरूपनिरूपक धर्म है, अतः इसका लक्षण या स्वरूप—परिचय 'संकल्प' के रूप में दिया गया है।

मन इन्द्रियों के द्वारा विशेषताओं से रहित केवल 'यह' के रूप में सामान्यतः आलोचित अर्थात् गहीत या संवेदित वस्तु को 'यह ऐसा नहीं, 'ऐसा' है इस रूप में ठीक तरह कल्पित करता है अर्थात् विशेषणविशेष्य—भाव के साथ विवेचित करता है।

यह सही, किन्तु जिस प्रकार अपने असाधारण व्यापारों से युक्त महत्तत्व और अहंकार इन्द्रिय नहीं है, उसी प्रकार मन भी अपने असाधारण व्यापार से युक्त होने के कारण इन्द्रिय नहीं हो सकता, इसके उत्तर में कहते हैं कि मन इन्द्रिय भी है। क्यों ? इन्द्रियों के समान धर्म वाला या सदृश होने के कारण। अन्य इन्द्रियों के साथ मन का सादश्य सात्विक अहंकार रूप उपादान कारण से उत्पन्न होना है, इन्द्रलिङ्गत्व अर्थात् आत्मा का चिह्न होना नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से महत्तत्व और अहंकार के भी आत्मा का चिह्न होने के कारण इनको भी इन्द्रिय मानने का प्रसंग उपस्थित होगा। इसलिए इन्द्रलिङ्गत्व इन्द्रिय की व्युत्पत्ति मात्र है, प्रवत्ति अर्थात् 'इन्द्रिय' शब्द के प्रयोग का निमित्त अर्थात् हेतु या आधार नहीं।

तो फिर एक ही सात्विक अहंकार से ग्यारह या ग्यारह प्रकार की इन्द्रियां कैसे होती हैं, इसके उत्तर में कहते हैं कि गुणों के परिणाम—भेद से इन्द्रियों का अनेकत्व या अनेकरूपत्व बाह्य आकाश आदि भेदों के समान है। शब्द आदि विषयों के उपभोग—प्रवर्तक अदष्ट रूप सहकारी के भेद से कार्यों का भेद होता है। अदष्ट का भेद भी गुणों का परिणाम ही है। 'बाह्यभेदाश्च', यह दष्टान्त के लिए है जिसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार बाह्य आकाश आदि भेद हैं, उसी प्रकार यह भी अर्थात् इन्द्रियों का अनेकत्व या अनेकरूपत्व भी है।

रूपादिषु पचानामालोचनमात्रमिष्यते वत्तिः।

वचनादानविरहणोत्सर्गानन्दाश्च पचानाम्।।२८।।

अन्वय :— पचानां (चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियाणां) रूपादिषु (यत्) आलोचनामात्रं (तेन्) वत्तिः इष्यते। पचानां च वचन—आदान—विहरण—उत्सर्ग—आनन्दाः (वत्तयः इष्यन्ते)।।२८।।

अर्थ :— चक्षुरादि पांच ज्ञानेन्द्रियों की रूपादि पांच विषयों में जो आलोचनामात्रता है, वही ज्ञानेन्द्रियों की 'वत्ति' कही जाती है और वागादि पांच कर्मेन्द्रियों की वचन (बोलना), आदान (लेना), विहरण (चलना), उत्सर्ग (मलत्याग) तथा आनन्द (उपभोग) संज्ञक वत्तियां कही जाती हैं।।२८।।

भाष्यम् :— अथेन्द्रियस्य कस्य का वत्तिरिति ?। उच्यते। 'मात्र' शब्दो विशेषार्थोविशेषव्यावत्यर्थो, यथा—'भिक्षापात्रं लभ्यते' नान्यो विशेष इति। तथा चक्षुः रूपमात्रे, न रसादिषु। एवं शेषाण्यपि। तद्यथा—चक्षुषो—रूपं, जिह्वा—रसः, घ्राणस्य—गन्धः, श्रोत्रस्य—शब्द', त्वचः — स्पर्शः। एवमेषां बुद्धीन्द्रियाणां वत्तिः कथिता। कर्मेन्द्रियाणां वत्तिः कथ्यते—वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पचानाम्। कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः। वाचो वचनं हस्तयोरादानं, पादयोर्विहरणं, पायोर्भुक्तस्याहारस्य, परिणतमलोत्सर्गः उपस्थस्य आनन्दः=सुतोत्पत्तिविषया वत्तिरिति सम्बन्धः।।२८।।

विशेष :- नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियां रूप आदि विषयों का केवल आलोचन अर्थात् इस रूप में केवल संवेदन या विशेषतारहित अनुभव करती है कि यह रूप आदि हैं। ये रूप आदि कैसे हैं, यह विवेचन तो मन करता है। नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा एवं श्रोत्र, ये ज्ञानेन्द्रियां क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द, इन विषयों का आलोचन या संवेदन करती हैं। वाणी, पाणि, पाद, गुदा एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय), इन कर्मेन्दियों के व्यापार क्रमशः वचन (भाषण), आदान (ग्रहण), गमन, मल—त्याग एवं रमण हैं।

स्वालक्षण्यं वत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।

सामान्यकरणवत्तिः प्राणाद्या वायवः पच।।२६।।

अन्वय :— त्रयस्य स्वालक्षण्यं वत्तिः, सा (च) एषा असामान्या भवति, (एषां) सामान्यकरणवत्तिः प्राणाद्याः पच वायवः भवन्ति।।२६।।

अर्थ :— बुद्धि, अहंकार और मन तीनों का अपना अपना लक्षण बताया गया है। 'वत्ति' अर्थात् 'व्यापार' कहा जाता है और यह उनकी 'विशेषवत्ति' है। करणों की अन्य 'सामान्यवत्ति' भी है। यह प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान संज्ञक पांच वायु रूप है।।२६।।

भाष्यम् :— अधुना बुद्धयहङ्कारमनसामुच्यते, —स्वलक्षणस्वभावा—स्वालक्षण्या। 'अध्यवसायो बुद्धि' रिति लक्षणमुक्तं,

सैव बुद्धिवत्तिः। तथा 'अभिमानोहङ्कार' इत्यभिमानलक्षणोभिमानवत्तिश्च। 'सङ्कल्पकं मन' इति लक्षणमुक्तं तैन सङ्कल्प एव मनसो वत्तिः। त्रयस्य=बुद्ध्यहङ्कारमनसां स्वालक्षण्या वत्तिः –असामान्या या प्रागभिहिता। बुद्धीन्द्रियाणां च वत्तिः साप्यसामान्यैवेति। इदानीं वत्तिराख्यायते–सामान्यकरणवत्तिः। सामान्येन करणानां वत्तिः –प्राणाद्याः वायवः पच। प्राणापानसमानोदानव्याना इति पच वायवः –सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वत्तिः। यतः प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं कर्म तस्य त्रयोदशविधस्यापि सामान्या वत्तिः सति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ इति। प्राणोपि पजरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं–करोतीति। प्राणनात्–'प्राण' इत्युच्यते। तथापनयनादपानः। यत्र यत् स्पन्दनं तदपि सामान्यवत्तिरिन्द्रियस्य। तथा समानो मध्यदेशवर्ती य आहारादीनां समं नयनात् समानो वायुः तत्र यत् स्पन्दनं तत्–सामान्यकरणवत्तिः। तथा ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशान्मस्तकान्तर्गोचरः तत्रोदाने यत् स्पन्दनं तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वत्तिः। किच शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेसौ शरीव्याप्याकाशवद्व्यानः। तत्र यत् स्पन्दनं तत् करणजालस्य–सामान्या वृत्तिरिति व्याख्याताः। त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्या वत्तिरित्यर्थः।।२६।।

विशेष :- बुद्धि, अहंकार और मन, ये तीनों अन्तःकरण अपना अलग–अलग क्रमशः अध्यवसाय (निश्चय), अभिमान एवं संकल्प रूप व्यापार करते हैं और तीनों मिलकर जीवन–धारण रूप व्यापार करते हैं। जो वे अपना अलग–अलग व्यापार करते हैं, वह उनका निजी असाधारण व्यापार है कि एक के व्यापार को दूसरा नहीं करता और जिस व्यापार को वे मिलकर करते हैं वह उनका ऐसा सामान्य या साधारण व्यापार है कि उसे वे सभी करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पांच वायु या प्राणों का धारण अर्थात् जीवन–धारण तीनों अन्तःकरणों के द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाने वाला व्यापार है। तात्पर्य है कि अन्तःकरणों में जीने की स्वाभाविक प्रवत्ति है, अतः वे यथाशक्ति जीवन को धारण किए रहते हैं।

युगपचतुष्टयस्य तु वत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दष्टे तथाप्यदष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वत्तिः।।३०।।

अन्वय :– दष्टे तु तस्य चतुष्टयस्य वत्तिः युगपत् क्रमशश्च निर्दिष्टा। तथा अदष्टेपि तत्पूर्विका त्रयस्य वत्तिः युगपत् क्रमशश्च निर्दिष्टा।।३०।।

अर्थ :– प्रत्यक्ष पदार्थ का ज्ञान होने में चार करणों (रूपादि पदार्थ के अनुसार चक्षुरादि एक–एक बाह्यकरण तथा तीन अन्तःकरण मन, अहंकार एवं बुद्धि) की वत्ति (व्यापार) एक साथ (युगपत्=क्रमरहित) अथवा क्रम से होती है। परोक्ष पदार्थों में भी बाह्येन्द्रिय के तात्कालिक व्यापार को छोड़कर लेकिन पूर्वकालिक बाह्येन्द्रियजन्यज्ञानपूर्वक तीन अन्तःकरण–मन, अहंकार एवं बुद्धि की वत्ति युगपत् अथवा क्रम से होती है।।३०।।

भाष्यम् – युगपचतुष्टयस्य। बुद्ध्यहङ्कारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति। चतुष्टयस्य द ष्टे = प्रति–विषयाध्यवसाये युगपद्वत्तिः। बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षूंषि–युगपदेककालं रूपं पश्यन्ति–'स्थाणुरय'मिति। बुद्ध्यहङ्कारमनो–जिह्वा–युगपद्रसं गह्णन्ति। बुद्ध्यहङ्कार मनो–घ्राणानि–युगपद् गन्धं गह्णन्ति। तथा त्वक् श्रोत्रे अपि। किश्च 'क्रमशच तस्य निर्दिष्टा'। तस्येति=चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वत्तिर्भवति। यथा कश्चित् पथि गच्छन् दूरादेव दष्टा 'स्याणुरयं पुरुषो वे'ति संशये व्यवच्छेदभूता बुद्धिर्भवति–स्थाणुरय'मिति। अतो अहङ्कारश्च निश्चयार्थः 'स्थाणुरेवे'ति। एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वत्तिर्दष्टा। यथा यथा रूपे, तथा शब्दादिष्वपि बोद्धव्या। दष्टे=दष्टविषये। किचान्यत् ? तथाप्यदष्टत्रयस्य तत्पूर्विका वत्तिः। अदष्टे–अनागतेतीते च काले, बुद्ध्यहङ्कारमनसां रूपे चक्षुः पूर्विका त्रयस्य वत्तिः। स्पर्शे–त्वक्पूर्विका। गन्धे–घ्राणपूर्विका। रसे–रसपूर्विका। शब्दे–श्रवणपूर्विका बुद्ध्यहङ्कारामनसामनागते=भविष्यति कालेतीते च तत्पूर्विका–क्रमशो वत्तिः। वर्तमाने युगपत्, क्रमशश्चेति।।३०।।

विशेष :- प्रत्यक्षगोचर पदार्थ के विषय में चारों प्रकार के करण अर्थात् इन्द्रिय, मन, अहंकार एवं बुद्धि कभी एक साथ अपना कार्य करते हैं, जैसे सर्प आदि को अचानक देखने के अवसर पर जहाँ चक्षुरिन्द्रिय दर्शन रूप आलोचन का कार्य करती है वहीं उसके साथ ही मन, अहंकार एवं बुद्धि ये अन्तःकरण भी अपना क्रमशः संकल्प, अभिमान एवं अध्यवसाय का कार्य करते हैं, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति सर्प को देखते ही झट हट जाता है। ये चारों करण कभी क्रमशः अपना कार्य करते हैं, जैसे कि वे सामान्य रूप से इस प्रकार प्रायः करते ही हैं कि पहले इन्द्रिय अपने विषय का निर्विकल्प रूप में आलोचन करती है, उसके बाद मन सविकल्पक रूप में उस विषय के स्वरूप को निश्चित करता है, फिर अहंकार उस विषय के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने के रूप में अभिमान करता है और उसके बाद बुद्धि उस विषय के ग्रहण या परित्याग करने के विषय में अध्यवसाय या निश्चय करती है।

परोक्ष पदार्थ के विषय में इन्द्रियां काम नहीं करती हैं, केवल तीनों अन्तःकरण (मन, अहंकार एवं बुद्धि) अपना कार्य

करते हैं। इतनी बात अवश्य है कि परोक्ष पदार्थ के विषय में भी इन अन्तःकरणों की प्रवत्ति तभी होती है जबकि उस पदार्थ या तत्समान किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव पूर्व में हो चुका होता है। परोक्ष पदार्थ के विषय में भी इन तीन अन्तःकरणों का कार्य या व्यापार कभी एक साथ होता है, जैसे कि कभी किसी विषय का स्मरण आते ही उसके विषय में झट एक साथ संकल्प, अहंकार एवं अध्यवसाय हो जाता है और कभी इनका कार्य क्रम से होता है, जैसे कि प्रायः इस रूप में हुआ ही करता है कि किसी भी परोक्ष परार्थ के विषय में धीरे–धीरे विचार चलता रहता है और तब अन्त में किसी अध्यवसाय या निश्चय पर पहुँचा जाता है।

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वत्तिम्।

पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्।।३१।।

अन्वय :–(करणानि) परस्पराकूतहेतुकां स्वां स्वां वत्तिं प्रतिपद्यन्ते, (अत्र) पुरुषार्थ व हेतुः, केनचित् करणं न कार्यते।।३१।।

अर्थ :– ऊपर कथित तेरह करण पारस्परिक अभिप्राय के कारण अपनी–अपनी वत्ति अर्थात् व्यापार के लिए प्रवत्त होते हैं। उनकी प्रवत्ति का प्रेरक एक मात्र पुरुषार्थ है। ईश्वर आदि किसी अन्य कारण से अन्तः तथा बाह्यकरण क्रियाशील नहीं होते हैं।।३१।।

भाष्यम् :– किच–स्वां–स्वामिति वीप्सा। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि स्वां–स्वां वत्तिं परस्पराकूतहेतुकाम। 'आकूतमादरसम्भ्रमः' इति। प्रतिपद्यन्ते=पुरुषार्थ–करणाय बुद्धयहङ्कारादयः। बुद्धिरहङ्काराकूतं ज्ञात्वा स्वविषयं प्रतिपद्यते। किमर्थमिति चेत् ? पुरुषार्थ एवं हेतुः। 'पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इत्यवमर्थ गुणानां प्रवत्तिः। तस्मादेतानि करणानि पुरुषार्थ प्रकाशयन्ति। यद्यचेतनानीति कथं स्वयं प्रवर्तते ?। न केनचित् कार्यते करणम्। पुरुषार्थ एवैकः कारयतीति वाक्यार्थः। न केनचित्–ईश्वरेण, पुरुषेण वा, कार्यते=प्रबोध्यते करणम्।।३१।।

विशेष :- जिस प्रकार विभिन्न जन एक समान लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक–दूसरे का इस रूप में अभिप्राय जानकर कि अमुक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है, अपने–अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार चारों प्रकार के करण एक–दूसरे के अभिप्राय को इस रूप में जानकर कि पुरुष के अमुक लक्ष्य या अभीष्ट की पूर्ति करनी है, अपने–अपने कार्यों में लग जाते हैं। इस विषय में अर्थात् करणों के द्वारा अपने–आने कार्यों को करने में पुरुषार्थ ही हेतु अर्थात् प्रेरक या प्रयोजक है अर्थात् पुरुषार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से ये करण स्वाभाविक रूप से अपने–अपने कार्यों में व्यापत रहते हैं, अन्य कोई प्रयोजक या प्रेरक इनसे कार्य नहीं कराता है।

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।

कार्यं च तस्य दशधाहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च।।३२।।

अन्वय :– करणं त्रयोदशविधं, तत् आहरण–धारण–प्रकाशकरं, तस्य च कार्यम् आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च दशधा भवति।।३२।।

अर्थ :– करण तेरह प्रकार (बुद्धि, अहंकार, मन, पचज्ञनेन्द्रिय, तथा पचकर्मेन्द्रिय) का है। ये आदान (कर्मेन्द्रियों का व्यापार), धारण (अन्तकरणात्रय का व्यापार) तथा प्रकाश (ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार) करने वाले हैं। इनका आहार्य, धार्य तथा प्रकाश्य कार्य दस–दस प्रकार का है।।३२।।

भाष्यम् :– बुद्ध्यादि कतिविधं तदित्युच्यते–करणं महदादि, त्रयोदशविधं बौद्धव्यम्। पच बुद्धीन्द्रियाणि–चक्षुरादीनि, पच कर्मेन्द्रियाणि–वागादीनीति–त्रयोदशविधं करणम्। तत् किं करोतीत्येतदाह–'तदाहरणधारणप्रकाशकरम्' तत्राहरणं, धारणं च–कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति। प्रकाशं–बुद्धीन्द्रियाणि। कतिविधं कार्य तस्येति ? तदुच्यते–कार्यं च तस्य दशधा। तस्य=करणस्य, कार्यं=कर्त्तव्यमिति। दशधा=दशप्रकारम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धरूपं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यमेतद्दशविधं। कार्यं। बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति, धारयन्ति चेति।।३२।।

विशेष :- पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं तीन अन्तःकरणत्र(मन, अहंकार एवं बुद्धि), इस प्रकार करण तेरह प्रकार के हैं। यहां इनको तीन वर्गों में इस रूप में विभक्त किया गया है कि इनमें से कुछ विषयों का आहरण करते हैं अर्थात् उनको ग्रहण करने आदि के रूप में व्याप्त करते हैं, कुछ धारण करते हैं और कुछ प्रकाशित करते हैं। कर्मेन्द्रियां विषयों का आहरण करती हैं अर्थात् उन्हें व्याप्त करती हैं, ज्ञानेन्द्रियां विषयों को प्रकाशित करती हैं और तीन अन्तःकरण विषयों को स्मति आदि के रूप में धारण करते हैं अथवा अपनी प्राण आदि वत्तियों के द्वारा शरीर का धारण करते हैं जो कि पाचभौतिक होने के कारण

शब्द आदि पांच विषयों वाला है। कर्मेन्द्रियों की दष्टि से विषय आहार्य, ज्ञानेन्द्रियों की दष्टि से प्रकाश्य और अन्तःकरणों की दष्टि से धार्य हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध, ये पांच विषय होते हैं जो कि दिव्य और अदिव्य के रूप में दो–दो प्रकार के होने से दस प्रकार के हैं। ये इस प्रकार के विषय कर्मेन्दियों में वाक् केवल शब्द को विषय बनाती है और ज्ञानेन्द्रियों में भी एक–एक इन्द्रिय केवल एक–एक शब्द आदि को विषय बनाती हैं, किन्तु फिर भी यतः सभी कर्मेन्द्रियों के समूह के विषय मिलकर पांच होते हैं और सभी ज्ञानेन्द्रियों के समूह के विषय मिलकर पांच होते हैं और दिव्य और अदिव्य के भेद से ये दस–दस हो जाते हैं, अतः कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के दस–दस ही विषय बताये गये हैं। जहां तक अन्तःकरणों का सम्बन्ध है, उनमें तो प्रत्येक के ही दस विषय हो जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक अन्तःकरण दसों विषयों को धारण करने मे समर्थ है।

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।

साम्प्रत्कालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्।।३३।।

अन्वय :– अन्तःकरणं त्रिविधं, त्रयस्य विषयाख्यं बाह्यं दशधा (भवति) बाह्यं करणं साम्प्रतकालम्, आभ्यन्तरकरणं त्रिकालं भवति ।।३३।।

अर्थ :– आभ्यन्तरकरण (बुद्धि, अहंकार तथा मन भेद से) तीन प्रकार का है। अन्तःकरण का व्यापारजनक बाह्यकरण (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय भेद से) दस प्रकार का होता है। बाह्यकरण अपने सन्निकृष्ट वर्तमान विषय को ग्रहण करता है। आभ्यन्तरकरण तीनों काल के विषयों को ग्रहण करता है।।३३।।

भाष्यम् :– किच–अन्तःकरणमिति–बुद्ध्यहङ्कारमनांसि। त्रिविधं–महदादिभेदात् दशधा बाह्यं च। बुद्धीन्द्रियाणि पच, कमेन्द्रियाणि पच, दशविधमेतत् करणं बाह्यम्। तत्र यस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं=बुद्ध्यहङ्कारमनसां भोग्यम्। साम्प्रतकालं। श्रोत्रं–वर्त्तमानमेव शब्दं श्रणोति, नातीतं न च भविष्यतम्। चक्षुरपि वर्त्तमानं रूपं पश्यति, नातीतं, नानागतम्। त्वगवर्त्तमानं स्पर्शम्, जिह्वा वर्त्तमानं रूपं पश्यति, नातीतं, नानागतम्। पाणी वर्त्तमानं घटमाददाते। नातीतमनागतं च। पादौ वर्त्तमान पन्थानं विहरतो, नातीतं, नाप्यानागतम्। पायूपस्थौ च वर्त्तमानावुत्सर्गानन्दौ कुरुतः, नातीतौ, नानागतौ। एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालमुक्तम्। त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिकालविषयाणि। बुद्धिर्वर्त्तमानं घटं बुध्यते, अतीतमनागतं चेति। अहङ्कारो वर्त्तमानेभिमानं करोत्यतीतेनागते च। तथा मनो वर्त्तमाने सङ्कल्पं कुरुतेतीतेनागते च। एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति।।३३।।

विशेष :- तेरह प्रकार के करणों में 'अन्तःकरणम्' आदि के रूप में अवान्तर विभाग करते हैं। बुद्धि, अहंकार और मन, इस रूप में अन्तःकरण तीन प्रकार के हैं। ये शरीर के भीतर वर्तमान होने से अन्तःकरण हैं। बाहरीकरण दस प्रकार के हैं जो कि तीन अन्तःकरणों के 'विषयाख्य' हैं यानी उसके विषयों को उपस्थित करते हैं अर्थात् उनके द्वारा किये जाने वाले संकल्प, अभिमान एवं अध्यवसाय रूप कार्यों में द्वार या साधन बनते हैं। इनमें ज्ञानेन्द्रियां अपने आलोचन या विषय–प्रकाशन रूप व्यापार के द्वारा तथा कर्मेन्द्रियां अपने–अपने विभिन्न व्यापारों के द्वारा अन्तःकरणों के विषयों को उपस्थित करतीं या उनके संकल्प आदि कार्यों में द्वार या साधन बनती हैं।

बाह्य और आन्तरिक करणों के दूसरे वैशिष्ट्य या भेद को बताते हैं–बाह्य या बाहरी इन्द्रियाँ 'साम्प्रतकाल' या वर्तमानकालिक होती हैं अर्थात् वर्तमान काल के पदार्थों को अपना विषय बनाती हैं। वर्तमान या समीपवर्ती अनागत या भविष्यत् और अतीत या भूत भी वर्तमान है और इसलिए वाणी भी वर्तमान काल–विषयक होती है अर्थात् वर्तमान काल के शब्दों को विषय बनाने वाली होती है। भीतरी करण या अन्तःकरण त्रिकाल या तीनों कालों के पदार्थों को विषय बनाने वाले होते हैं जैसे–'वर्षा हो चुकी है', क्योंकि नदी में विशिष्ट प्रकार का उफान या उफनता हुआ जल–प्रवाह है, इस पर्वत की कुज में आग है, क्योंकि वहाँ धूम है, कोई अवरोधक या रुकावट डालने वाला कारण न हुआ तो वर्षा होगी, क्योंकि चीटियाँ इधर उधर अपने अण्डे ले जा रही हैं', और इन्हीं बातों के अनुरूप संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय होते हैं।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पच विशेषाविशेषविषयाणि।

वाग् भवति शब्दविषया शेषाणि तु पचविषयाणि।।३४।।

अन्वय :– तेषां (बाह्यकरणानां) पच बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाविशेषविषयाणि (भवन्ति), वाक् शब्दविषया भवति, शेषाणि (कर्मेन्द्रियाणि) तु पचविषयाणि भवन्ति।।४।।

अर्थ :– पूर्वकथित दस बाह्यकरणों में श्रोत्रादि संज्ञक पांच ज्ञानेन्द्रियां 'विशेष' (स्थूल) एवं 'अविशेष' (सूक्ष्म) दोनों प्रकार के पदार्थों को अपने ज्ञान का विषय बनाती हैं। (कर्मेन्द्रियों में) वागिन्द्रिय केवल स्थूल शब्दः विषयक होती है। अवशिष्ट कर्मेन्द्रियां तो स्थूलवर्ग के शब्द स्पर्शादि पांचों विषयों को ग्रहण करती हैं।।३४।।

भाष्यम् :– इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेषविषयं गह्णन्ति, कानि निर्विशेषमिति ?। तदुच्यते–बुद्धीन्द्रियाणि तेषां–सविशेषं निर्विशेषं च विषयं गह्णन्ति। सविशेषविषयं–मानुषाणां शब्दस्पर्शरूपसगन्धान् सुखदुःखमोहविषययुक्तान् बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति। देवानां निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति। तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये वाग्भवति शब्दविषया। देवानां, मानुषाणां च वाग्वदति, श्लोकादीनुच्चारयति, तस्माद्देवानां, मानुषाणां च वागिन्द्रियं तुल्यम्। शेषाव्यपि वाग्व्यतिरिक्तानि पाणिपादपायूपस्थसंज्ञितानि पच विषयाणि। पच विषयाः शब्दादयो येषां तानि पचविषयाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणो सन्ति। पचशब्दादिलक्षणायां भुवि पादो विहरति। पाय्विन्द्रियं पचक्लप्तमुत्सर्गं करोति। तथोपस्थेन्द्रियं पचलक्षणं शुक्रमानन्दयति।।३४।।

विशेष :- तन्मात्राएं या सूक्ष्मभूत अविशेष हैं और स्थूलभूत विशेष है। सूक्ष्मभूत या तन्मात्राओं में शब्द आदि गुण सूक्ष्म रूप से होते हैं, विशेष रूप में अभिव्यक्त नहीं होते तथा साथ ही उनका स्वरूप भी ऐसे विशेष या विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त नहीं होता कि सामान्यतः सर्वसाधारण को यह ज्ञात हो सके यह कौनसा सूक्ष्म भूत हे, अतः उन्हें 'अविशेष' कहा जाता है, इसके विपरीत स्थूल भूतों में शब्द आदि गुण पूर्णतः या विशिष्ट रूप से अभिव्यक्त रहते हैं और साथ ही उनका स्वरूप भी ऐसे विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त होता है कि सर्वसाधारण यह जान लेता है कि यह कौन सा स्थूल भूत है, अतः उन्हें 'विशेष' कहा जाता है। अविशेष या सूक्ष्म भूतों में रहने वाले शब्द आदि गुण भी अविशेष या सूक्ष्म होते हैं और विशेष या स्थूल भूतों में रहने वाले शब्द आदि गुण विशेष या स्थूल होते हैं और इस प्रकार 'विशेषाविशेषविषयाणि' का तात्पर्य है कि ज्ञानेन्द्रियां अविशेष या सूक्ष्म या विशेष या स्थूल शब्द आदि को विषय बनाती हैं। सर्वसाधारण की ज्ञानेन्द्रियां विशेष या स्थूल शब्द आदि को विषय बनाती हैं और योगी आदि विशिष्ट महानुभावों की ज्ञानेन्द्रियां अविशेष या सूक्ष्म और विशेष या स्थूल, या इन दोनों प्रकार के शब्द आदि को विषय बनाती हैं। वाणी केवल शब्द को विषय बनाती हैं, जबकि अन्य कर्मेन्द्रिया शब्द आदि पांचों गुणों को विषय बनाती हैं। वाणी को छोड़ अन्य कर्मेन्द्रियां घट–पट आदि पदार्थों को व्याप्त करती हैं जो कि शब्द आदि पांच गुणों वाले हैं और इस प्रकार इनके शब्द आदि पांचों गुण विषय बनते हैं। कर्मेन्द्रियों के विषय में कारिकाकार ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि ये सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के शब्द आदि को विषय बनाती हैं या केवल स्थूल शब्द आदि को ही। यतः इनके विषय में उन्होंने यह नहीं कहा है कि ये अविशेष या सूक्ष्म को भी विषय बनाती हैं। अतः यही संभावना होती है कि उनके मत में ये केवल स्थूल शब्द आदि को ही विषय बनाती हैं।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्व विषयमवगाहते यस्मात्।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि।।३५।।

अन्वय :– यस्मात् सान्तकरणा बुद्धिः सर्वं विषयम् अवगाहते, तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, शेषाणि (बाह्यकरणानि) द्वाराणि।।३५।।

अर्थ :– चूँकि अन्तःकरणवर्गीय मन और अहंकार के सहित बुद्धि समस्त विषयों का अवगाहन निश्चयात्मक ज्ञान करती है, इसलिये त्रिविध अन्तःकरण द्वारि=प्रधान हैं और अवशिष्ट बाह्यकरण द्वार=गौण हैं।।३४।।

भाष्यम् :– सान्तत्करणा बुद्धिः। अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः। यस्मात् सर्व विषयमवगाहते=गह्णाति। त्रिष्वति कालेषु शब्दादीन गह्णाति तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि। 'करणानी'ति वाक्यशेषः।।३५।।

विशेष :- यतः अहंकार और मन के साथ बुद्धि ही विषय के यथार्थ स्वरूप का निर्धारण करती है और साथ ही यह निर्णय करती है कि उस विषय का ग्रहण या त्याग किया जावे या उसके साथ क्या व्यवहार किया जावे, अतः तीनों अन्तःकरण प्रधान हैं और यतः बाह्य इन्द्रियां विषयों को अन्तःकरणों के समक्ष उपस्थित करतीं और प्रकाशित करती हैं, अतः वे इस रूप में अन्तःकरणों के समक्ष उपस्थित करतीं और प्रकाशित करती हैं, अतः वे इस रूप में अन्तःकरणों के केवल द्वार या साधन का कार्य करने के कारण उनके द्वार या साधन मात्र हैं।

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।

कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति।।३६।।

अन्वय :– एते गुणोविशेषाः परस्परविलक्षणा (अपि) प्रदीपकल्पाः पुरुषस्य कृत्स्नम् अर्थ प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति।।३६।।

अर्थ :– त्रिगुण के विकारस्वरूप श्रोत्रादि दस, मन और अहंकार–विषयग्रहण की परस्पर विलक्षणता से विशिष्ट होते हुए भी प्रदीप के प्रकाशक तत्त्वों–बत्ती, तेल तथा अग्नि की भाँति परस्पर मिलकर; पुरुष को समस्त पद–पदार्थ स्फुरित (प्रत्यक्ष) हो सके, तदर्थ स्वगहीत समस्त विषय 'बुद्धि' को समर्पित कर देते हैं।।३६।।

भाष्यम् :–किचान्यत्–यानि करणान्युक्तानि–एते गुणविशेषाः। किं विशिष्टाः। प्रदीपकल्पाः=प्रदीपवद्विषयप्रकाशकाः। परस्परविलक्षणाः=असदशाः, भिन्नविषया इत्यर्थः। गुणविशेषेति। गुणविशेषाः=गुणेभ्यो जाताः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्व स्वमर्थं पुरुषस्य प्रकाश्य, बुद्धौ प्रयच्छन्ति=बुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः। यतो बुद्धिस्थं सर्वं विषयसुखादिकं पुरुष उपलभते।।३६।।

विशेष :- केवल बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से ही बुद्धि प्रधान नहीं है, अपितु जो अहंकार और मन प्रधान बताये गये हैं उनकी भी अपेक्षा से बुद्धि प्रधान है, इस बात को 'एते' आदि कारिका के द्वारा ग्रन्थकार कहते हैं। जिस प्रकार ग्राम का अध्यक्ष गह या परिवार के स्वामियों से कर लेकर जनपद या क्षेत्र के अध्यक्ष को देता है और जनपद का अध्यक्ष सर्वाध्यक्ष अर्थात् समग्र देश के अध्यक्ष को देता है और वह सर्वाध्यक्ष राजा को देता है, उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियां (विषयों का) आलोचन या संवेदन प्राप्त कर उन्हें मन को समर्पित करती हैं, मन उनके विषय में संकल्प कर अर्थात् उनके विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण कर अहंकार को सौंपता है, फिर अहंकार उनके विषय में अभिमान कर अर्थात् 'ये मेरे हैं या मेरे काम के हैं' आदि रूप में विचार कर सभी करणों की अध्यक्षा बुद्धि को सौंपता है। इसी बात को कारिका में इस रूप में कहा गया है कि 'ये सब करण पुरुष के अर्थ या अभीष्ट को प्रकाशित कर बुद्धि को देते हैं।' बाह्य इन्द्रियां, मन और अहंकार, ये 'गुणविशेष' हैं अर्थात् सत्त्व, रजस् ओर तमस्, इन गुणों के विकार हैं, वे परस्पर विरोधशील या विरुद्ध स्वभाव वाले होने पर भी पुरुष के भोग और अपवर्ग रूप से एकवाक्यता को प्राप्त कराते हैं अर्थात् भोगापवर्ग रूप समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए परस्पर एक हो जाते हैं। जिस प्रकार बत्ती, तेल, और अग्नि गाढ अन्धकार को हटाने के द्वारा रूप के प्रकाश के लिये मिलकर एक दीपक हो जाते हैं, इसी प्रकार ये गुणविशेष अर्थात् गुणों के विकार रूप बाह्य इन्द्रियां, मन और अहंकार (पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए मिलकर एक हो जाते हैं, इस प्रकार अन्वय होता है।

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्ममम्।।३७।।

अन्वय :– यस्मात् बुद्धिः पुरुषस्य सर्वं प्रति उपभोगं साधयति, सैव च पुनः सूक्ष्मं प्रधानपुरुषान्तरं विशिनष्टि।।३७।।

अर्थ :– चूंकि; बुद्धि पुरुष के लिए सभी प्रकार के भोगों को उपस्थित करती है और वही पुनः प्रकृति पुरुष के सूक्ष्मभेद को भी प्रकट करती है, इसलिये वह 'प्रधान' (प्रमुख) कही गई है।।३७।।

भाष्यम् :– इदचान्यत्–सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु, सर्वं प्रत्युपभोगम्–उपभोगं प्रति, देवमनुष्यतिर्यक्षु बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियद्धारेण सान्तःकरणा बुद्धिः साधयति=सम्पादयति यस्मात् तस्मात्–सैव च विशिष्टि=प्रधानपुरुषयोर्विषयविभागं करोति, प्रधानपुरुषान्तरं= नानात्वमित्यर्थः। सूक्ष्ममिति। अनधि–कृततपश्चरणैरप्राप्यम्। 'इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, इयं बुद्धिः, अहमहङ्कारः, एतानि पच तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पच महाभूतानि, अयमन्यः पुरुष एभ्यो व्यतिरिक्तं' इत्येवं बोधयति यस्यावापादपवर्गो भवति।।३७।।

विशेष :- समस्त करण विषयों को बुद्धि को ही क्यों सौंपते हैं, बुद्धि ही अहंकार या मन को प्रमुख मारकर क्यों नहीं सौंपती है इसके उत्तर में कारिकाकार 'सर्वम्' आदि कहते हैं। पुरुषार्थ का प्रयोजक या निमित्त होते हुए उसका जो साक्षात् या अव्यवहित साधन है, वह प्रधान है। बुद्धि ही इसका साक्षात् साधन है, इसलिए वही प्रधान है। जिस प्रकार सर्वाध्यक्ष राजा के प्रयोजन का साक्षात् साधन होने के कारण प्रधान है, अन्य ग्रामाध्यक्ष आदि तो उसके सहकारी हैं। बुद्धि पुरुष के सन्निहित या अत्यन्त समीप होने के कारण उसकी छाया या प्रतिबिम्ब के पड़ने से तद्रूप अर्थात् पुरुषरूप सी होकर पुरुष के समस्त विषयों के उपभोग को सम्पादित करती है। भोग सुख एवं दुखों के अनुभव के रूप में है औ वह बुद्धि में होता है, और बुद्धि पुरुषरूपा सी है, अतः वह पुरुष को उपभोग कराती है। जिस प्रकार विषयों के आलोचन या संवेदन, संकल्प और अभिमान उन–उन रूपों में परिणत होते हुए बुद्धि में संक्रान्त होते या आते हैं अर्थात् बुद्धि व्यापार के रूप में हो जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियां के व्यापार भी बुद्धि के निजि अध्यवसाय व्यापार के रूप में वैसे ही एक रूप हो जाते हैं, जिस प्रकार अपनी सेना के साथ मिली हुई ग्रामाध्यक्ष की सेना भी सर्वाध्यक्ष की सेना होती है। 'सर्व' अर्थात् समस्त शब्द आदि विषयों के सम्बन्ध में पुरुष का जो भोग होता है, उसे बुद्धि ही सम्पादित करती है।

यदि पुरुष के सब विषयों के उपभोग की सम्पादिका बुद्धि है तो फिर पुरुष का कभी मोक्ष नहीं होगा, इसके उत्तर में 'सैव च' आदि कहते हैं। विषयोपभोग के पश्चात् बुद्धि ही प्रकृति और पुरुष के अन्तर अर्थात् विशेष या भेद को करता है। 'अन्तरं (विशेषं) विशिनष्टि' का प्रयोग 'ओदनपाकं पचति' के समान है। यहां 'करना' का अर्थ प्रतिपादन है। किन्तु इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के अन्दर या भेद के कृतक अर्थात् किया हुआ या उत्पन्न होने के कारण उसके द्वारा उत्पाद्य मोक्ष भी अनित्य

होगा, इसके उत्तर में 'विशिनष्टि' कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि 'सविकार प्रकृति भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ', इस प्रकार के पहले से ही विद्यमान अन्तर को, जो कि अविवेक से अविद्यमान सा हो गया है, बुद्धि बताती या प्रकट करती है, न कि वह इस अन्तर को उत्पन्न करती है, जिससे यह अन्तर और इससे होने वाला मोक्ष अनित्य हो सके। इस प्रकार अपवर्ग रूप पुरुषार्थ भी इस रूप में बता दिया गया कि वह बुद्धि के द्वारा ही होता है।

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पच पचभ्यः।

एते स्मतः विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च।।३८।।

अन्वय :– तन्मात्राणि अविशेषाः तेभ्यः पचभ्यः पच भूतानि एते विशेषा स्मताः च (यतः) शान्ताः घोराः मूढ़ाः च (सन्ति)।।३८।।

अर्थ :– शब्दादि पांच सूक्ष्म तन्मात्राएं 'अविशेष' कही जाती हैं। इन पांच से शब्दादि पांच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं, इन्हें ही 'विशेष' कहा जाता है क्योंकि ये शान्त, घोर एवं मूढरूप होते हैं।।३८।।

भाष्यम् :– पूर्वमुक्तं–विशेषाविशेषविषयाणि। तत् के विषयास्तान् दर्शयति। यानि पच तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते–शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रम्,–एतानि–अविशेषा उच्यन्ते। देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः। तेभ्यः पचभ्यः=तन्मात्रेभ्यः, पच महाभूतानि=पथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते–एते स्मता विशेषाः। गन्धतन्मात्रात् पथिवी। रसतन्मात्रादापः। रूपतन्मात्रात्तेजः। स्पर्शतन्मात्राद्वायुः। शब्दतन्मात्रादाकाशः। इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतानि, एते विशेषाः=मानुषाणां विषयाः, शान्ताः=सुखलक्षणाः, घोराः=दुःखलक्षणाः, मूढ़ा=मोहजनकाः। यथा–आकाशः कस्यचिदनवकाशादन्तर्गहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकः शान्तो भवति। तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्माकः घोरो भवति। स एव पन्थानं गच्छतो वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढो भवति। एवं वायुर्घर्मार्त्तस्य शान्तो भवति, शीतार्त्तस्य घोरो, धूलिशर्कराविमिश्रोतिवान् मूढ इति। एवं तेजः प्रभतिषु द्रष्टव्यम्।।३८।।

विशेष :- शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा एवं गन्धतन्मात्रा, ये पांच तन्मात्राएं होती हैं। इनमें यतः केवल अपने गुण शब्द आदि होते हैं, इनका कोई विशेष रूप नहीं होता, अतः इन्हें 'तन्मात्रा' और अपने–अपने गुणों के आधार पर शब्दतन्मात्रा आदि कहा जाता है। तन्मात्राएं आकाश आदि भूतों की सूक्ष्म रूप होती हैं, जैसे शब्दतन्मात्रा आकाश का सूक्ष्म रूप है, स्पर्शतन्मात्रा वायु का सूक्ष्म रूप है, अतः इन्हें 'सूक्ष्म' या 'सूक्ष्मभूत' भी कहा जाता है, इनमें शान्तत्व आदि उपभोग के योग्य विशेषतायें नहीं होतीं अथवा होने पर भी ऐसे उद्भूत रूप में नही होती कि सर्वसाधारण के द्वारा अनुभूत हो सकें, अतः इन्हें 'अविशेष' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त ये एक–दूसरे से व्यावत्त या पथक् रूप में भी सर्वसाधारण के द्वारा अनुभूत नहीं होतीं, इस दष्टि से भी इन्हें 'अविशेष' कहा जाता है।

उक्त शब्दतन्मात्रा आदि पांच तन्मात्राओं में क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पथिवी, इन पांच स्थूल भूतों या महाभूतों की उत्पत्ति होती है। कारिका में सामान्यतः केवल इतना ही कहा गया है कि पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों की उत्पत्ति होती है, जिसका तात्पर्य आपाततः यही लिया जा सकता है कि पांच तन्मात्राओं में से एक–एक तन्मात्रा से क्रमशः आकाश आदि पांच भूतों में से एक–एक भूत की उत्पत्ति होती है, उदाहरण के लिए जैसे–शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है और स्पर्शतन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है, किन्तु जैसा कि पूर्व में बाईसवीं कारिका की सांख्यतत्त्वकौमुदी व्याख्या में देखा जा चुका है और प्रस्तुत कारिका की सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी संक्षिप्त रूप में देखा जा सकता है, कुछ टीकाकारों का अभिमत है कि सांख्य के अनुसार आकाश तो अकेली शब्दतन्मात्रा से उत्पन्न होता है, किन्तु आगे वायु आदि स्पर्शतन्मात्रा आदि से उत्पन्न होते हुए भी अकेली स्पर्शतन्मात्रा आदि से नहीं, अपितु पूर्ववर्तिनी तन्मात्रा या तन्मात्राओं से युक्त स्पर्श तन्मात्रा आदि से उत्पन्न होते हैं।

आकाश आदि स्थूलभूतों या महाभूतों में इनका अपना ऐसा विशेष रूप उद्भूत हो जाता है, जिससे ये एक–दूसरे से पथक् रूप में अनुभूत होने लगते हैं, साथ ही इनमें शान्तत्व, घोरतत्व एवं मूढत्व, ये विशेषताएं उपभोग्य रूप में उद्भूत हो जाती हैं, अतः इन्हें 'विशेष' कहा जाता है। भूतों की शान्त अवस्था में सत्त्वगुण का आधिक्य होता है और फलतः वह सुखद होती है, घोर अवस्था में रजोगुण का आधिक्य होता है और फलतः वह दुःखद होती है, मूढ़ अवस्था में तमोगुण का आधिक्य होता है और फलतः वह मोहजनक होती है। सत्त्व आदि गुणों की अधिकता के कारण ही भूतों में शान्त आदि अवस्थायें होती हैं।

सूक्ष्मा मातापितजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितजा निवर्तन्ते।।३९।।

अन्वय :— सूक्ष्माः, मातापितजाः, प्रभूतैः सह विशेषाः त्रिधा स्युः। तेषां सूक्ष्माः नियताः, मातापितजा (महाभूतानि च) निवर्तन्ते।।३६।।

अर्थ :— सूक्ष्मशरीर, माता पिता से उत्पन्न षाट्कौशिक स्थूलदेह तथा पचस्थूलभूत—ये तीन 'विशेष' कहे जाते हैं। इनमें सूक्ष्मशरीर नित्य तथा माता—पिता के संयोग से उत्पन्न स्थूलशरीर निवर्तनशील हैं।।३६।।

भाष्यम् :— अथान्ये विशेषाः, सूक्ष्माः=तन्मात्राणि, यत्संगहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्मशरीरं महदादि लिङ्गं सदा तिष्ठति, संसरति च, ते—सूक्ष्माः। तथा माता—पितजाः=स्थूलशरीरोपचायकाः, ऋतुकाले मातापितसंयोगे शोणितशुक्रमिश्रीभावेनोदरान्तः सूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति। तत् सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरशितपीतनानाविधरसेन नाभिनिबन्धेनाप्यायते, तथाप्यारब्धं शरीरं सूक्ष्मैर्मातापितजैश्च सह महाभूतैस्त्रधा विशेषैः, पष्ठौदरजङ्घाकट्युरःशिरःप्रभति षाट्कौशिकं, पाचभौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जासंभतम्, आकाशोवकाशदानाद्, वायुर्वर्थनात्, तेजः पाकाद्, आपः संग्रहात्, पथिवी धारणात्, समस्तावयवोपेतं मातुरुदराद्बहिर्भवति। एवमेते त्रिधा विशेषाः स्युः। अत्राह—के नित्याः, के वा अनित्याः ?। सूक्ष्मास्तेषां नियताः। सूक्ष्माः=तन्मात्रसंज्ञकास्तेषां मध्ये नियताः= नित्याः, तैरारब्धशरीरीमधर्मवशात् पशुमगपक्षिसरीसपस्थावरजातिषु संसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु। एवमेतन्नियतं सूक्ष्मशरीरं संसरति न यावज्ज्ञानमुत्पद्यते। उत्पन्ने ज्ञाने विद्वान् शरीरं त्यक्त्वा, मोक्षं गच्छति तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति। मातापितजा निवर्तन्ते। तत् सूक्ष्मशरीरं परित्यज्येहैव प्राणत्यागवेलायां मातापितजा निवर्तन्ते। मरणकाले मातापितजं शरीरमिहैव निवत्य भूम्यादिषु प्रलीयते, यथात त्त्वम्।।३६।।

विशेष :- विशेषो के अवान्तर भेद को 'सूक्ष्म' आदि के रूप में बताते हैं। तीन प्रकार के विशेष होते हैं। विशेषों के उन प्रकारों या भेदों को बताते हैं। सूक्ष्म अर्थात् अनुमानगम्य सूक्ष्म, शरीरों, मातापितज अर्थात् माता और पिता से उत्पन्न होने वाले षट् कोशों से निर्मित स्थूल शरीर। इनमें माता से लोम (बाल), रक्त और मांस होते हैं, पिता से स्नायु, हड्डी एवं मज्जा होती हैं, इस प्रकार ये छः कोश होते हैं। प्रकृष्ट अर्थात् महान् भूत प्रभूत हैं अर्थात् महाभूत हैं, इनके साथ पूर्वोक्त दो मिलकर तीन विशेष होते हैं। इनमें सूक्ष्म शरीर एक विशेष है, माता और पिता से उत्पन्न होने वाला स्थूल शरीर दूसरा विशेष है, महाभूत तीसरे विशेष हैं। महाभूतों के वर्ग में ही घट आदि का समावेश है।

सूक्ष्म और माता एवं पिता से उत्पन्न होने वाले स्थूल शरीर का विशेष या भेद बताते हैं। इन विशेषों में जो सूक्ष्म शरीर है वे नियत अर्थात् नित्य हैं और माता एवं पिता से उत्पन्न होने वाले स्थूल शरीर निवत्त या नष्ट हो जाते हैं। वे या तो पथ्वी में गाढ़ने पर मिट्टी हो जाते हैं या जलाए जाने पर राख हो जाते हैं या जन्तुओं के द्वारा खाये जाने पर विष्ठा बन जाते हैं।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम।।४०।।

अन्वय :— पूर्वोत्पन्नम्, असक्तं, नियतम्, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं निरूपभोगं, भावैः अधिवासितं, लिङ्ग (सूक्ष्मशरीरं) संसरति।।४०।।

अर्थ :— सष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, व्यवधानवरहित अर्थात् इच्छानुसार शिला, परमाणु आदि में प्रवेश की सामर्थ्य से युक्त, मोक्षपर्यन्त नित्य, महदादि से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रपर्यन्त पदार्थों से निर्मित, स्थूलशरीर के बिना भोग के सामर्थ्य से रहित, धर्मादि आठ भावों से युक्त तथा महाप्रलय के समय लय को प्राप्त होने वाला 'लिङ्गशरीर' (सूक्ष्मशरीर) संसरण करता है।।४०।।

भाष्यम् :—सूक्ष्मं च कथ। संसरति ?। तदाह—यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति। किचान्यत् असक्तं—न संयुक्तं—तिर्यग्योनिदेंवमानुषस्थनुषु, सूक्ष्मवात्, कुत्रचिदसक्तं, पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति=गच्छति। नियतम्। यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति। तश्च=महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्। महानादौ यस्य तत्=महदादि=बुद्धिरहङ्कारो, मन इति। पचं तन्मात्राणि (=सूक्ष्माः)। सूक्ष्मपर्यन्तं=तन्मात्रपर्यन्तं, संसरति=शूलग्रहपिणीलिकावत् लोकान् त्रीनपि लोकान्। निरुपभोगं=भोग रहितं। तत् सूक्ष्मशरीरं माता—पितजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भोगेषु समर्थं भवतीत्यर्थः। भावैरधिवासितम्। पुरस्ताद्भावान् =धर्मादीन् वक्ष्यामः := तैरधिवासितम्=उपरजितम्। लिङ्गमिति। प्रलयकाले महदादि सूक्ष्मपर्यन्ते करणोपेतं प्रधाने लीयते, असंसरणयुक्तं सत् आसर्गकालमत्र वर्तते प्रकृतिमोहबन्धनबद्धं सत् संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति। पुनः सर्गकाले संसरति तस्मालिङ्—सूक्ष्मम्।।४०।।

विशेष :- सूक्ष्म शरीर महत्तत्व, अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय एवं तन्मात्राएं, इन अठारह तत्त्वों से संघटित होता है। यतः इन तत्त्वों में मन सहित ग्यारह इन्द्रियां शान्तत्व, घोरत्व एवं मूढत्व विशेषताओं से युक्त होने के कारण 'विशेष' होती हैं, अतः इन्द्रियों से युक्त यह सूक्ष्म शरीर 'विशेष' के अन्तर्गत माना जाता है। यह शरीर सष्टि के प्रारम्भ में ही उत्पन्न होने वाले तत्त्वों से संघटित होता है और तभी प्रति पुरुष को एक—एक मिल जाता है। इस प्रकार यह पूर्वोत्पन्न है। यह इतना

सूक्ष्म होता है कि शिला एवं भीत आदि में होकर भी पार निकल जाता है, कहीं भी इसके प्रवेश करने में रूकावट नहीं होती। इस प्रकार यह असक्त है। स्थूल शरीर प्रति जन्म में बदलता रहता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर महाप्रलयपर्यन्त एक ही बना रहता है और इस प्रकार यह नियत है। महाप्रलय में यतः इसके संघटक महत्तत्व आदि तत्त्वों का ही मूल कारण प्रधान में विलय हो जाता है, अतः यह उस समय स्वतः ही नहीं रह सकता। विभिन्न विषयों का भोग या उपभोग अथवा अनुभव स्थूल शरीर के द्वारा ही हो सकता है। स्थूल शरीर के बिना स्वयं सूक्ष्म शरीर उपभोग नहीं कर सकता। इस प्रकार यह निरुपभोग या उपभोगरहित है। स्थूल शरीर के द्वारा जो कार्य किये जाते हैं, उनसे जो धर्म–अधर्म, ज्ञान–वैराग्य आदि विभिन्न भाव में उद्धत होते हैं, उनमें सूक्ष्म शरीर बुद्धि के माध्यम से वासित होता रहता है अर्थात् उनके संस्कारों से युक्त होता रहता है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न अनुभवों के संस्कारों की छाप इस पर पड़ती रहती है। इसलिये यहां इसे 'भावैरधिवासितम्' कहा गया है। भावों से अधिवासित होने अर्थात् धर्म–अधर्ग आदि के संस्कारों से युक्त होने के कारण इस शरीर को संसरण करना पड़ता है अर्थात् जन्म–मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है। संस्कारों को वह अपने साथ ही अगले जन्म या जन्मों में ले जाता है। इस प्रकार यह भावों से अधिवासित होता हुआ या संस्कारों से युक्त होता हुआ संसरण करता रहता है। सूक्ष्म शरीर को 'लिंग' या 'लिंग शरीर' भी कहा जाता है, जैसा की यहां भी कहा गया है। जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है, प्रत्येक व्यक्त पदार्थ लिंग है, क्योंकि वह 'लयं लीनं गमयति या 'लिङ्ग्यते अनेन', इस व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार अपने अज्ञात कारण की सत्ता को सूचित करता या उसका ज्ञान कराता है। सूक्ष्म शरीर को भी उक्त व्युत्पत्त्यर्थों के अनुसार 'लिङ्ग' कहते हैं। सूक्ष्म शरीर अपने कारण की सत्ता का भी सूचक होता है, क्योंकि यह पुरुष के बिना नहीं रहता, इसके साथ पुरुष का अस्तित्व अनिवार्यतः होता है। इस प्रकार पुरुष का लिङ्ग अर्थात् उसकी सत्ता का सूचक होने के कारण भी सम्भवतः इसे 'लिङ्ग' या 'लिङ्ग शरीर' कहा जाता है।

चित्रं यथाश्रयमते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।

तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्।। ४१।।

अन्वय :– यथा चित्रं आश्रयम् ऋते (न तिष्ठति), यथा छाया स्थाण्वादिभ्यो विना (न तिष्ठति), तद्वत् लिङ्गं विशेषैः विना निराश्रयं न तिष्ठति।।४१।।

अर्थ :– जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र और स्थाणु (आधार) के बिना छाया नहीं रह सकती है उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर (तन्मात्राओं) के बिना निराधार बुद्धि आदि (अवयव) नहीं रह सकते हैं।।४१।।

भाष्यम् :– 'किंप्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरतीत्येवं चोदिते सति–आह–चित्रं यथा कुड्याद्याश्रयमते न तिष्ठति, स्थाण्वादिभ्यः=कीलका–दिभ्यो बिना यथा छाया न तिष्ठति=तैर्विना न भवति। आदिग्रहणाद्यथा–शैत्यं विना नापो भवन्ति, शैत्यं वाद्भिविना। अग्निरुष्णं विना, वायुः स्पर्शं विना, आकाशमवकाशं विना, पथ्वी गन्धं बिना। तद्वत्=एतेन दष्टान्तेन न्यायेन, विनाविशेषैः =अविशेषैस्तन्मात्रैविना न तिष्ठति। अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते। शरीरं पचभूतमयम्, विशेषिणा शरीरेण बिना क, लिङ्गस्थानं चेति क्व, (यदैव) एकदेहमुज्झति तदैवान्यमाश्रयति। निराश्रयम्=आश्रयरहितम्। लिङ्गं=त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः।।४१।।

विशेष :- पूर्वकारिका में यह बताया जा चुका है कि लिङ्ग शरीर या सूक्ष्म शरीर महत्तत्व या बुद्धि अहंकार, मन सहित ग्यारह इन्द्रिय एवं पांच तन्मात्राओं में संघटित होता है। यहां यह बताया गया है कि सूक्ष्म शरीर के उक्त अठारह संघटक तत्त्वों में से पांच तन्मात्राएं अवशिष्ट बुद्धि आदि तेरह त त्त्वों के ठहरने के लिये आधार का काम करती हैं और फलतः उनके बिना सूक्ष्म शरीर का संघटन नहीं हो सकता और इस प्रकार सूक्ष्म शरीर में अन्य तत्त्वों के स्थित रहने की आधारभूत तन्मात्राएं अनिवार्यतः अपेक्षित हैं। इनके बिना सूक्ष्म शरीर निराधार होता हुआ स्थित नहीं रह सकता। जिस प्रकार मकान के विभिन्न संघटक पदार्थों में से किसी एक के विषय में यह कहा जावे कि अमुक पदार्थ के बिना मकान ठहर नहीं सकता तो ऐसा कहने में 'मकान' शब्द से उस आधारभूत पदार्थ से अतिरिक्त अवशिष्ट संघटक पदार्थों का अर्थ लिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर के संघटक तत्त्वों में से एक–तन्मात्राओं के विषय में जो यह कहा गया है कि तन्मात्राओं के बिना लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर ठहर नहीं सकता, इस कथन में सूक्ष्म शरीरवाची 'लिङ्ग' तन्मात्राओं के अतिरिक्त अवशिष्ट बुद्धि आदि तेरह संघटक तत्त्वों के समुदाय के अर्थ में लिया जाता है।

अस्तु ! इस प्रकार सूक्ष्म शरीर के तन्मात्रातिरिक्त बुद्धि आदि तेरह तत्त्व तन्मात्राओं या सूक्ष्मभूतों पर आश्रित रहते हुए कार्य करते हैं और यतः तन्मात्राओं का महाभूतों और फलतः स्थूलशरीरारम्भक महाभूतों के सूक्ष्म अंशों से सीधा सम्पर्क है, अतः सूक्ष्म शरीर की तन्मात्राएं स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध होने मे एक उपयोगी माध्यम का काम करती है।

प्रस्तुत कारिका के उत्तरार्ध के 'तद्वद्विनाविशेषैः' पदों का कुछ टीकाकारों के अनुसार 'तद्वद् विना विशेषैः' के रूप

में भी पाठान्तर माना गया है, किन्तु जहां 'अविशेषैः' पाठ मानने वाले टीकाकारों ने इस पद का 'तन्मात्राएं' अर्थ माना है, जो कि उचित ही है, वहाँ 'विशेषैः पाठ मानने वालों ने प्रायः इस पद का 'सूक्ष्म शरीर' अर्थ माना है और यतः ऐसा मानने वाले यहाँ 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ तन्मात्रातिरिक्त अवशिष्ट बुद्धि आदि तेरह संघटक तत्त्व मानते हैं, अतः उनके अनुसार भी 'विशेष' के अर्थ 'सूक्षम शरीर' का तात्पर्य भी केवल तन्मात्राओं से ही रह जाता है। इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार के पाठों को मानने वालों के अनुसार इन पाठों का तात्पर्य तन्मात्राओं से ही रहता है। ऐसी दशा में जब तन्मात्राएं 'तन्मात्राण्यविशेषाः' के अनुसार 'अविशेष' हैं 'विशेष' नहीं, तो फिर यहां तन्मात्राओं के बोधक पद 'अविशेष' की स्थिति ही अधिक उचित एवं प्रामाणिक प्रतीत होती है और इस संस्करण में 'अविशेषैः' पाठ को ही मान्यता दी गई है।

यदि यहां 'विशेषैः पाठ मानकर इसका अर्थ 'स्थूल शरीर' या 'महाभूतों के सूक्ष्म अंश' माना जावे तो कारिका के उत्तरार्ध का अर्थ होगा कि स्थूल शरीर या महाभूतों के स्थूलशरीराम्भक सूक्ष्म अंशों के बिना सूक्ष्म शरीर निराधार होता हुआ स्थित नहीं रह सकता, ऐसा अर्थ माना तो जा सकता है, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सांख्य की ऐसी कोई मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर निरन्तर स्थूल शरीर में ही रहता है और स्थूल शरीर के बिना कभी स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता। जबकि सम्भावना यह है कि एक स्थूल शरीर के परित्याग और दूसरे स्थूल शरीर के परिग्रहण के बीच के काल में सूक्ष्म शरीर के बिना रहता है।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्।।४२।।

अन्वय :– पुरुषार्थहेतुकम् इदं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् नटवत् व्यवतिष्ठते।।४२।।

अर्थ :– पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए उत्पन्न यह सूक्ष्म शरीर धर्म–अधर्म आदि निमित्त या कारण और स्थूल शरीर का ग्रहण रूपी नैमित्तिक या कार्य के प्रसंग की परम्परा से प्रकृति के व्यापक होने के कारण नट के समान व्यवहार करता है। अर्थात् विविध रूपों को धारण करता है।।४२।।

भाष्यम् :– किमर्थम् ? तदुच्यते–पुरुषार्थः कर्त्तव्यः?' इति प्रधानं प्रवर्त्तते। स च द्विविधः, शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च। शब्दाद्युपलब्धिर्ब्रह्मादिषु लोकेषु गन्धादिभोगाावाप्तिः। गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्मोक्ष इति। तस्मादुक्तं–पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रव र्त्तते इति। निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। निमित्तं=धर्मादि, नैमित्तिकम् ऊर्ध्वगमनादि पुरस्तादेव वक्ष्यामः प्रसंगेन प्रसक्त्या। प्रकृतेः=प्रधानस्य, विभुत्वयोगात्। यथा–राजा स्वराष्ट्रेविभुत्वाद्यद्यदिच्छति तत्तत्करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र विभुत्वयोगान्निमित्तनैमि त्तिकप्रसंगेन व्यवतिष्ठते=पथक् पथग्देहधारणे लिङ्गस्य व्यवस्थां करोति। लिङ्ग=सूक्ष्मैः=परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचित्तं शरीरं, त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते। कथम् ? नटवत्। यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्च देवो भूत्वा निर्गच्छति, पुनर्मानुषः, पुनर्विदूषकः एवं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य–हस्ती, स्त्री, पुमान् भवति।।४२।।

विशेष :- प्रकृति पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए कार्यरत है और इसलिये उसने सूक्ष्म शरीर को पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए उत्पन्न कर उसे इसी कार्य में लगाया है। पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए उत्पन्न और कार्यरत सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार विभिन्न स्थूल शरीरों को धारण करता है, जिस प्रकार नट या अभिनेता अभिनेयों के कार्यों को प्रदर्शित करने के लिए विभिन्न अभिनेयों की भूमिकाओं को धारण करता है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा स्थूल शरीरों को ग्रहण करने मे निमित्त धर्म एवं अधर्म आदि है। इन धर्म एवं अधर्म आदि निमित्तों का नैमित्तिक या कार्य सूक्ष्म शरीर के द्वारा स्थूल शरीर का धारण करना है। धर्म एवं अधर्म रूपी निमित्त से सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरों को धारण करता है और इन स्थूल शरीरों के द्वारा जो कार्य किये जाते हैं उनसे जो धर्म एवं अधर्म आदि होते हैं, वे अगले स्थूल शरीर को धारण करने में निमित्त बनते हैं। इस प्रकार धर्म एवं अधर्म रूपी निमित्त और स्थूल शरीर धारण रूपी नैमित्तिक के सम्बन्ध की परम्परा अनादि काल से चल रही है। अब यह प्रश्न रह जाता है कि सूक्ष्म शरीर जिन विभिन्न स्थूल शरीरों को धारण करता है, उनके उपादान उसे कहां से प्राप्त हो जाते हैं। इसका उत्तर कारिकाकार ने यह दिया है कि यतः प्रकृति विभु या सर्वव्यापक है, अतः वह सर्वत्र चाहे कैसे भी स्थूल शरीर के निर्माण के लिए उपादान प्रस्तुत कर देती है और फलतः शरीर को प्रकृति–निर्मित स्थूल शरीर प्राप्त हो जाता है। जैसा निमित्त होता है वैसा ही मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदि के स्थूल शरीर के रूप में नैमित्तिक सूक्ष्म शरीर को प्राप्य हो जाता है।

सांसिद्धिकाश्च भावा प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः
दष्टाः करणश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः।।४३।।

अन्वय :- भावाः—सांसिद्धिकाः, प्राकृतिका, वैकृताश्च (भवन्ति) तत्र धर्माद्याः करणा श्रयिणः दष्टाः, कललाद्याश्च कार्याश्रिणो दष्टाः।

अर्थ :- 'भाव' तीन प्रकार के हैं—सांसिद्धिकभाव, प्राकृतिकभाव तथा वैकृतभाव। धर्मादि भाव गुद्धि=करण के आश्रय से रहते हैं तथा कललादि भाव (माँस मज्जा) शरीराश्रित होते हैं।

भाष्यम् :- भावैरधिवासितं लिङ्ग संसरति 'त्युक्त ततः के भावाः इत्याह—भावास्त्रिविधाश्चिन्त्यन्ते, —सांसिद्धिकाः प्राकृताः, वैकृताश्च तत्र सांसिद्धिका यथा—भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्नाः धर्मो, ज्ञानं वैराग्यमंश्वर्यमिति प्राकृताः कथ्यन्ते—ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक—सनन्दन—सनातन—सनत्कुभारा बभूवुः। तेषांमुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां षोडशवर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः तस्मादेते प्राकृताः। तथा वैकृता यथा—आचार्यमूर्ति निमित्तं कृत्वास्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते, ज्ञानाद्वैराग्यं वैराग्याद्धर्मः धर्मादैश्वर्यमिति। आचार्यमूर्त्तिरपि विकृतिरिति, तस्माद्वैकता एते भावा उच्यन्ते, यैरधिवासितं लिङ्गं संसरति। एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः तामसाः विपरीताः सात्त्विकमेतद्रूपं तामसामस्याद्विपर्यस्तम्।

इत्यत्र व्याख्याताः। एवमष्टौ। धर्मा ज्ञानं, वैराग्यनैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यनित्यष्टौ भावाः। क्व वर्तन्ते ? दष्टाः करणांश्रयिणः। बुद्धिः करणं तदाश्रयिणः। एतदुक्तम्—अध्यवसायो बुद्धिः धर्मो ज्ञानमिति। कार्यं=देहस्तदाश्रया कललाद्या ये 'मातजा' इत्युक्ताः। शुक्रशोषितसंयोगे विवद्धिहेतुकाः बुदबुदमांसपेशीप्रभतयः, तथा कौमारयौवनस्थविरत्वादयोभावा अन्नपानरसनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिणः उच्यन्ते, अन्नादिविषयभेगनिमि त्ता जायन्ते।। ४३।।

विशेष :- यहां भाव दो प्रकार के बताये गये हैं—धर्म आदि ओ कलल (रजस् और वीर्य का मिश्रण) आदिं धर्म आदि भाव करण अर्थात् बुद्धि के भाव या परिणाम हैं और इस प्रकार के बौद्धिक भाव हैं तथा कलल आदि स्थूल शरीर के भाव हैं। स्थूल शरीर की प्रथम अवस्था कलल अर्थात् स्त्री के रजस् और पुरुष के वीर्य के मिश्रण के रूप में होती है और उसके बाद बुद्बुद्, मांस—पिण्ड आदि अवस्थाएँ होती हैं। यतः ये अवस्थाएं या परिणाम आकाश आदि भूतों की अवस्थाएं हैं, अतः कलल आदि भौतिक भाव हैं। इस प्रकार ये दो प्रकार के भाव यहां बताये गये हैं—बौद्धिक भाव और भौतिक भाव। इनमें प्रथम बुद्धि के भाव हैं और दूसरे स्थूल शरीर के भाव हैं। यहां धर्म आदि बौद्धिक भाव दो प्रकार के बताये गये हैं; एक तो सांसिद्धिक अर्थात् स्वभावसिद्ध या जन्मसिद्ध, ये बिना प्रयत्न के जन्म से ही प्राप्त हुए होते हैं, जैसे—कपिल आदि महामुनियों को ये जन्म से ही प्राप्त थे। इन भावों को 'प्राकृतिक' कहा गया है। दूसरे धर्म आदि भाव वे हैं, जो यज्ञादि उपायों के अनुष्ठान से प्राप्त होते हैं, वे सर्वसाधारण को उपायों के अनुष्ठान से प्राप्त होते ही हैं, इन्हें यहाँ 'वैकृत' कहा गया है। कुछ टीकाकारों के अनुसार यहाँ सांसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृत, इस रूप में तीन प्रकार के बौद्धिक भाव बताये गये हैं। इन टीकाकारों के अनुसार उत्पन्न होने के साथ होने वाले भाव सांसिद्धिक उत्पन्न होने के बाद स्वतः होने वाले भाव प्राकृतिक और प्रयत्न से होने वाले भाव वैकृत हैं।

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।।४४।।

अन्वय :— धर्मेण ऊर्ध्वं गमनं (भवति), अधर्मेण अधस्तात् गमनं (भवति), ज्ञानेन च अपवर्गो (भवति) विपर्ययात् बन्धः इष्यते।।४४।।

अर्थ :— धर्म से ऊर्ध्वलोक की ओर गमन होता है, अधर्म से अधोलोक की ओर गमन होता है, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है तथा विपर्यय अर्थात् अज्ञान से बन्धन होता है।। ४४।।

भाष्यम् :— 'निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेने'ति यदुक्तमत्रोच्यते—धर्मेण गमनमूद्ध्र्वम्। धर्मं निमित्तं कृत्वोर्ध्वमुपनयति। उद्ध्र्वमित्यष्टौ स्थानानि गह्यन्ते। तद्यथा—ब्राह्मं, प्राजापत्यं साम्यमैन्द्रं, गान्धर्वं, याक्षं, राक्षसं, पैशाचिमिति—तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति। पशुमगपक्षिसरीसपस्थावरान्तेष्वधर्मो निमित्तम्। किश्च ज्ञानेन चापवर्गः। अपवर्गश्च्च पचविंशतितत्त्वज्ञानम्। तेन निमि त्तेनापवर्गो= मोक्षः। ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्त्तते। परम्—आत्मा उच्यते। विपर्ययादिष्यते बन्धः अज्ञानं निमित्तम्। स चैष नैमित्तिकः—प्राकृतो, वैकारिको, दाक्षिणिकश्च्च बन्ध इति वक्ष्यति पुरस्तात्। यदिदमुक्तं—

प्राकृतेन च बन्धेन, तथा वैकारिकेण च।

दाक्षिणेन ततीयेन बद्धो, नान्येन मुच्यते।।४४।।

विशेष :- निमित्त और नैमित्तिक जान लिए, अब कौन निमित्त कौन सा नैमित्तिक है, यह बताते हैं। धर्म से ऊपर द्युलोक आदि लोकों को गमन होता है। अधर्म से नीचे को अर्थात् सुतल आदि लोकों को गमन होता है। ज्ञान से मोक्ष होता है। तब

तक ही प्रकृति भोग प्रस्तुत करती रहती है जब तक विवेक–ज्ञान उत्पन्न नहीं करती है। विवेक ज्ञान होने पर कृतकृत्य होने से विवेक–ज्ञान सम्पन्न पुरुष के प्रति निवत्त हो जाती है अर्थात् उसके लिए फिर भोग प्रस्तुत नहीं करती। जैसा कि कहते हैं– 'विवेक ज्ञान पर्यन्त प्रकृति का चेष्टित अर्थात् भोग–सम्पादन रूप कार्य रहता है।' 'विपर्यय' अर्थात् ज्ञान का तत्त्वज्ञान से विपरीत अज्ञानता अतत्त्वज्ञान से बन्धन माना जाता है। बन्धन तीन प्रकार का होता है–प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षिणिक। इनमें जो प्रकृति को आत्मा या पुरुष मानकर प्रकृति की उपासना करते हैं उनका प्राकृतिक बन्धन होता है जो कि पुराण में प्रकृति में लीन होने वालों के विषय में कहा गया है–'अव्यक्त या प्रकृति की उपासना करने वाले पूरे सौ हजार मन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं। वैकृतिक या वैकारिक बन्धन उनका होता है जो भूत, इन्द्रिय, अहंकार एवं बुद्धि, इन विकारों को ही आत्मा या पुरुष समझते हुए उनकी उपासना करते हैं। उनके विषय में यह कहा जाता है–'इन्द्रियों की उपासना करने वाले दश मन्वन्तर तक इन्द्रियों में, भूतों की उपासना करने वाले पूरे सौ मन्वतन्र तक भूतों में, अहंकार की उपासना करने वाले हजार मन्वतन्र तक अहंकार में, बुद्धि की उपासना करने वाले दस हजार मन्वन्तर तक बुद्धि में विलीन होते हुए दुःखरहित होकर रहते हैं।' 'जिनका वैकृतिक या वैकारिक बन्धन होता है, वे विदेह होते हैं। इष्ट अर्थात् यज्ञादि और पूर्त अर्थात् बावड़ी, कूप एवं मन्दिर आदि के निर्माण आदि कर्मों से दाक्षिणिक बन्धन प्राप्त होता है। पुरुष–तत्त्व के ज्ञान से रहित होते हुए इष्ट एवं पूर्त करने वाला व्यक्ति भी कामनाओं से व्यथित मनवाला होने के कारण बन्धन में ही पड़ा रहता है।

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद् रागात्।

ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः।।४५।।

अन्वय :– वैराग्यात् प्रकृतिलयः (भवति), राजसात् रागात् संसारो भवति ऐश्वर्यात् अविघातः (भवति), विपर्ययात् तद्विपर्यासः (भवति) ।।४५।।

अर्थ :– वैराग्य से प्रकृतिलय, रजोमय राग से संसरण (जन्म मरण) , ऐश्वर्य से इच्छा की पूर्ति ऐश्वर्य के अभाव से उसका (इच्छा का) हनन होता है। ४५।।

भाष्यम् –तथान्यदपि निमित्तं–यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति, न तत्त्वज्ञानं, तस्माद् अज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयः, मतोष्टासु प्रकृतिषु प्रधानबुद्ध्यहङ्कार–तन्मात्रेषु लीयते, न मोक्षः। ततो भूयोपि संसरति। तथा योयं राजसो रागः – 'यजामि' दक्षिणां ददामि, येनामुष्मिन् लोकेत्र यदिव्यं मानुषं सुखमनुभवामि'। एतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति। तथा ऐश्वर्यादविघातः। एतदैश्वर्यमष्टगुणमणिमादियुक्तं तस्मादैश्वर्यनिमित्तादविघातो नैमित्तिको भवति=ब्राह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्य न विहन्यते। किचान्यत्, –विपर्ययात्तद्विपर्यासः तस्य=अविघातस्य विपर्यासो=विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते।।४५।।

विशेष :- 'वैराग्य से प्रकृति में लय होता है' अर्थात् पुरुष–तत्त्व का ज्ञान न रखने वाले पुरुष का वैराग्य मात्र में लय होता है। प्रकृति के ग्रहण से प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, भूत एवं इन्द्रियों का ग्रहण हो जाता है, इनकी आत्मबुद्धि से उपासना करने वाले का इनमें लय हो जाता है। कालान्तर में फिर इनसे प्रकट हो जाता है। राजस् राग से संसार होता हे। ''राजसात्' पद से रजोगुण के दुःख का हेतु होने का कारण संसार की दुःखहेतुता सूचित होती है अर्थात् यह सूचित होता है कि संसार दुःख का हेतु है। 'ऐश्वर्य से अविघात होता है अर्थात् इच्छा की पूर्ति में कोई बाधा या रूकावट नहीं होती। ईश्वर या ऐश्वर्य–सम्पन्न जन जो कुछ चाहता है वही वह कर लेता है। विपर्यय अर्थात् अनैश्वर्य से उसकी विपरीतता अर्थात् सर्वत्र इच्छा की पूर्ति में रुकावट होती है।

एष प्रत्ययसर्गो विषर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।

गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पचाशत्।। ४६।।

अन्वय :– एषः प्रत्ययसर्गः विषर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः (चतुर्विधा भवति) गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च पचाशत् भेदाः तु (भवन्ति ।।४६।।

अर्थ :– पूर्वोक्त अष्टभावात्मक बुद्धिसर्ग (संक्षेप में) विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि नाम से चार प्रकार का है और गुणों की न्यूनाधिकता के कारण उसके (विस्तार से) पचास भेद होते हैं।।४६।।

भाष्यम् :–एष निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोडशविधो व्याख्यातः स क्रियात्मक इत्याह–यथा–एष षोडशविधो निमित्त–नैमित्तिकभेदो व्याख्यातः, एष 'प्रत्ययसर्ग' उच्यते। प्रत्ययो=बुद्धिरित्युक्ता, अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो, ज्ञानमित्यादि। स च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा भिद्यते, विपर्ययाशक्ति–तुष्टिसिद्ध्याख्यभेदात्। तत्र संशयज्ञानं विपर्ययः। यथा कस्यचित् स्याणुदर्शने –स्याणुरयं,

पुरुषो वे'ति संशयः। अशक्तिर्यथा—तमेव स्थाणुं सम्यग् दष्ट्वा संशयं छेत्तुं न शक्नोतीत्यशक्तिः। एवं ततीयस्तुष्ट्याख्यो यथा—तमेव स्थाणुं ज्ञातुं, संशयितुं वा नेच्छति, 'किमनेनास्माक' मित्येषा तुष्टिः। चतुर्थः सिद्ध्याख्यो यथा—आनन्दितेन्द्रियः स्थाणुमारूढां वल्लिं पश्यति शकुनिं वा, तस्य सिद्धिर्भवति स्थाणुरय'मिति। एवमस्य चर्तुविधस्य प्रत्ययसर्गस्य। गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पचाशत्। योयं सत्त्व—रजस्तमोगुणानां वैष्म्यं=विष र्म्दः, तेन तस्य प्रत्ययसर्गस्य पचाशद्भेदा भवन्ति।।४६।।

विशेष :- धर्म, अधर्म आदि बुद्धि के धर्म या भाव या परिणाम हैं और इस प्रकार ये 'प्रत्ययसर्ग' अर्थात्! बौद्धिक सर्ग या बौद्धिक परिणाम हैं। 'प्रत्यय' शब्द यहां बुद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ है। बुद्धि के इन विभिन्न धर्मों या भावों या परिणामों का एक—दूसरे प्रकार से विपर्यय, अशक्ति, तष्टि और सिद्धि, इन चार वर्गों में विभाजन किया जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य एवं अनैश्वर्य, इन पूर्वोक्त आठ धर्मों या भावों या परिणामों में से ज्ञान का सिद्धि में और अज्ञान का विपर्यय में अन्तर्भाव हो जाता है और धर्म, वैराग्य एवं ऐश्वर्य का तुष्टि में तथा अधर्म, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य का अशक्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि, इन चार भेदों या वर्गों के गुणों के न्यूनाधिक्य के कारण एक—दूसरे गुण के अभिभव या दब जाने से आगे बताये जाने वाले पचास भेद हो जाते हैं। कभी किसी एक गुण के आधिक्य और अवशिष्ट दो गुणों के नैयून्य से दो गुण दब जाते हैं और कभी कहीं दो गुणों के आधिक्य से अवशिष्ट एक गुण के नैयून्य से एक न्यून गुण दब जाता है और इस प्रकार बुद्धि के विभिन्न धर्मों या भावों या परिणामों के पचास भेद हो जाते हैं। बुद्धि—धर्मों का विपर्यय आदि चार वर्गों या भेदों में विभाजन समास में अर्थात् संक्षिप्त विभाजन है और आगे बताये जाने वाले पचास भेदों के रूप में विभाजन व्यास में अर्थात् विस्तत विभाजन है।

पच विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।

अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नधाष्टधा सिद्धिः।।४७।।

अन्वय :— विपर्ययभेदाः पच भवन्ति, करणवैकल्यात् अशक्तिः च अष्टाविंशतिभेदा (भवति), तुष्टिः नवधा (भवति) सिद्धिः अष्टधा (भवति)।।४७।।

अर्थ :— 'विपर्यय' के पांच भेद होते हैं। करणों के दोष के कारण 'अशक्ति' के अट्ठाईस भेद होते हैं। 'तुष्टि' नौ प्रकार की होती है तथा 'सिद्धि' आठ प्रकार की होती है।।४७।।

भाष्यम् :— तथा क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति, रजस्तमसी उदासीने। क्वापि रजः, क्वापि तम इति। भेदाः कथ्यन्ते—पच विपर्ययभेदाः। ते यथा—तमो, मोहो, महामोहः, तमिस्रान्धतामिस्र इति। एषां भेदानां नानात्वं वक्ष्यतेनन्तरमेवेति अशक्तेस्त्वष्टाविंशतिभेदा भवन्ति, करणवैकल्यात्। तानपि वक्ष्यामः। ऊर्ध्वस्रोतसि राजसानि ज्ञानानि। तथा तुष्टिर्नवधाष्टविधा सिद्धिः। सात्त्विकानि ज्ञानानि तत्रैवोर्ध्वस्रोतसि।।४७।।

विशेष :- बुद्धिधर्मो को, जैसा कि पूर्व कारिका में देखा जा चुका है, संक्षेप में विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि, इन चार वर्गों या भेदों में विभक्त किया जाता है। इनमें विपर्यय के पांच अशक्ति के अट्ठाईस, तुष्टि के नौ और सिद्धि के आठ भेद होते हैं। इस प्रकार बुद्धि धर्मों के पचास भेद हो जाते हैं।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये क्रमशः तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध्तामिस्र इन नामों के साथ पांच विपर्यय के भेद होते हैं अर्थात् जो योगदर्शन में अविद्या आदि नामों से अभिहित किये जाते हैं वह सांख्य में क्रमशः तमस् आदि नामों से अभिहित किये जाते हैं और योग के अनुसार यह अविद्या आदि अथवा सांख्य के अनुसार तमस् आदि विपर्यय के पांच भेद होते हैं, क्योंकि अस्मिता आदि चार भी विपर्यय या अविद्या से उत्पन्न होने के कारण। उसी के स्वभाव वाले होते हैं। अथवा, अविद्या या विपर्यय के द्वारा जो वस्तु विपरीत रूप में अर्थात् अवस्तु के रूप में अवधारित की जाती या जानी जाती है, उसी वस्तु में अस्मिता आदि अविद्या के स्वभाव वाले होने के कारण अभिनिवेश करते हैं। इसीलिये सांख्याचार्य भगवान् वार्षगण्य ने यह कहा है कि अविद्या पाँच पर्वों वाली होती है अर्थात् अविद्या पाँच प्रकार की होती है।

भेदस्तमसोष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।

तामिस्रोष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः।।४८।।

अन्वय :— तमसः मोहस्य च अष्टविधो भेदः, महामोहः दशविधः, तामिस्रः तथा अन्धतामिस्रः अष्टादशधा (भवति)।।४८।।

अर्थ :— 'तम' और 'मोह' में प्रत्येक के आठ—आठ भेद 'महामोह' के दस भेद तथा 'तामिस्र' एवं 'अन्धतामिस्र' के अठारह—अठारह भेद होते हैं।।४८।।

भाष्यम् :– एतत् क्रमेण वक्ष्यते। तत्र विपर्ययभेदा उच्यन्ते–तमसस्तावदष्टधा भेदः। प्रलयोज्ञानाद्विभज्यते. सोष्टासु प्रकृतिषु लीयते, प्रधानबुद्ध्यहङ्कारपचतन्मात्राख्यासु तत्र लीनमात्मानं मन्यते–'मुक्तोह'मिति। तमोभेद एषः। अष्टविधस्य मोहस्य भेदो अष्टविध एवेत्यर्थः। तत्राष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्य, तत्र सङ्गादिन्द्रादयो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरत्येषोष्टाविधो 'मोह' इति दशविधो महामोहः। शबदस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पच विषयाः सुखलक्षणाः, मानुषाणामप्येते एव शबदादयः पच विषयाः एवमेतेषु दशसु 'महामोह' इति। तामिस्रोष्टादशधा। अष्टविधमैश्वर्यं, दष्टानुश्रविका दश, एतेषामष्टादशानां सम्पदमनुनन्दन्ति, विपदं नानुमोदन्ते। एषोष्टादश–विधो विकल्पस्तामिस्रः। यथा तामिस्रोष्टगुणमैश्वर्यं दष्टानुश्रविका दश विषयास्तथान्धता–मिस्रोप्यष्टादशभेद एव। किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एव भ्रियतेष्टगुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते, ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते, सोन्धतामिस्र इति। एष विपर्यय–भेदास्तमःप्रभतयः पच प्रत्येकं भिद्यमाना द्विषष्टिभेदाः संवत्ता इति।।४८।।

विशेष :- पूर्व कारिका में विपर्यय के पांच भेद बताये गये हैं। इन पांच भेदों के नाम प्रस्तुत कारिका में तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र बताये गये हैं।

तमस् या अविद्या के आठ भेद होते हैं। अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार एवं पांच तन्मात्राएँ, इन आठ अनात्माओं में आत्मबुद्धि, अविद्या या तमस् है। उसके आठ प्रकार के विषय होने के कारण वह आठ प्रकार का है। 'मोह के भी' यहां आठ प्रकार के भेद का 'च' से सम्बन्ध हो जाता है और इस प्रकार यह अर्थ होता है कि मोह भी आठ प्रकार का है। देव अणिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कर अमतत्व का अभिमान करते हुए अपने अणिमा आदि ऐश्वर्य को नित्य या सदा रहने वाला मानते हैं। ये अस्मिता या मोह है जो कि आठ प्रकार के ऐश्वर्य के विषय वाला होने के कारण आठ प्रकार का है। महामोह दस प्रकार का होता है। शब्दादि आदि पांच विषयों के दिव्य ओर अदिव्य रूप में दो प्रकार के होने से दस प्रकार के उक्त विषयों में जो राग या आसक्ति है वह महामोह है, वह दस–दस प्रकार विषयों वाला होने के कारण दस प्रकार का है। तामिस्र या द्वेष अठारह प्रकार का है। शब्द आदि दस विषय अपने स्वरूप से ही रजनीय अर्थात् आकर्षक या मन को अपने प्रति अनुरक्त करने वाले हैं, अणिमा आदि ऐश्वर्य स्वरूप से रजनीय नहीं, अपितु रजनीय शब्द आदि विषयों के उपाय हैं। ये शब्द आदि विषय भोग्य रूप में उपस्थित होने पर एक–दूसरे के द्वारा उपहत अर्थात् अभिभूत या विनष्ट होने पर तथा उनके अणिमा आदि उपाय स्वरूप से ही कोपनीय अर्थात् क्रोध या द्वेष को उत्पन्न करने वाले होते हैं। इस प्रकार शब्द आदि दस विषयों के साथ अणिमा आदि ऐश्वर्यों के मिलने से अठारह भेद हो जाते हैं। इनको विषय बनाने वाला द्वेष या तामिस्र अठारह विषयों वाला होता है। अभिनिवेश अन्धतामिस्र है। 'तथा' शब्द से 'अष्टादशधा' का सम्बन्ध हो जाता है। देव अणिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कर शब्द आदि दस विषयों को भोगते हुए इस रूप में डरते हैं कि हमारे शब्द आदि भोग्यों और उनके अणिमा आदि उपायों को असुर आदि उपहत या विनष्ट न करें। सो यह भव अभिनिवेश या अन्धतामिस्र है जो कि अठारह विषयों वाला होने के कारण अठारह प्रकार का है। इस प्रकार पांच भेदों वाला विपर्यय अवान्तर भेद से बासठ प्रकार का होता है।

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।

सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम्।।४६।।

अन्वय :– एकादश इन्द्रियवधाः बुद्धिवधैः सह अशक्तिः उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययात् बुद्धेर्वधाः सप्तदश (भवन्ति)।।४६।।

अर्थ :–ग्यारह इन्द्रियों की ग्यारह असमर्थताएं बुद्धि की असमर्थताओं के सहित 'अशक्ति' कही जाती हैं। तुष्टि एवं सिद्धियों की अनुपलब्धि से बुद्धि की सत्रह असमर्थताएं (दोष) होती हैं।

भाष्यम् :– अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते–भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टाविंशति भेदा' इत्युद्दिष्टम्। तत्रैकादशेन्द्रियवधाः बाधिर्यम् अन्धता, प्रसुप्तिः, उपजिह्विका, घ्राणपाको, मूकता, कुणित्वं, खा ज्यं, गुदावर्त्तः, क्लैब्य–मुन्माद इति। सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ये बुद्धिवधास्तैः सहाशक्तेरष्टाविंशतिभेदा भवन्ति। सप्तदश वधा बुद्धेः। सप्तदशवधास्ते तुष्टिभेद–सिद्धिभेदवैपरीत्येन। तुष्टिभेदा नव, सिद्धिभेदा अष्टौ, एतद्विपरीतैः सह एकादश (इन्द्रिय) वधा, एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति।।४६।।

विशेष :- उक्त प्रकार से विपर्यय के पांच भेदों को बताकर अट्ठाईस भेदों वाली अशक्ति की 'एकादश' आदि के रूप में बताते हैं। इन्द्रिय के वधों का ग्रहण बुद्धि के वधों का कारण होने से है, न कि अशक्ति के भेदों में परिगणित करने के लिए, तात्पर्य यह है कि इन्द्रियवध स्वरूपतः अशक्ति नहीं, अपितु बुद्धि–वधों के हेतु होने के कारण अशक्ति है। इन्द्रियों के ग्यारह वध हैं–'बधिरता, कोढ, अन्धापन, जड़ता या रस के स्वाद का ज्ञान न होना, गन्ध का ज्ञान न होना, गूंगापन, टोंटापन, लंगड़ापन, क्लीवता या नपुंसकत्व, गुदा का दोष मन्दता या मन की शिथिलता', ये क्रमशः श्रोत्र आदि इन्द्रियों के वध हैं। इनके कारण इतनी ही बुद्धि के अपने व्यापार का कार्य में अशक्ति कही जाती है। इन्द्रियवध रूप हेतु और बुद्धिवध रूप हेतुमान् या कार्य

के अभेद की विवक्षा से यहां इस रूप मं सामानाधिकरण्य या अभेद माना गया है कि इन्द्रियवधों को भी अशक्ति कहा गया है।

इस प्रकार इन्द्रियवध के द्वारा होने वाली बुद्धि की अशक्ति को बताकर बुद्धि की स्वरूपतः अशक्तियों को बताते हैं कि वधों के साथ। बुद्धि के स्वरूपतः वध कितने हैं, यह बताने को कहते हैं कि बुद्धि के सत्रह वध हैं। कैसे ? तुष्टियों और सिद्धियों के विपर्यय या अभाव से। तुष्टि नौ प्रकार की हैं, अतः उनके विपर्यय या अभाव, उनके भेदों के द्वारा इस रूप में निरूपित होने से कि अमुक तुष्टि का विपर्यय या अभाव, नौ प्रकार के होते हैं, इसी प्रकार सिद्धि आठ हैं, अतः उनके विपर्यय उनके द्वारा निरूपित होने से आठ होते हैं।

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।

बाह्या विषयोपरमात् पच न नव तुष्टयोभिमताः।।५०।।

अन्वय :– प्रकृति–उपादान–काल–भाग्याख्याः चतस्रः आध्यात्मिक्यः तुष्ट्यः (भवन्ति), (तथा) विषयोपरमात् पच बाह्याः तुष्टयः, (एवं मिलित्वा) नव तुष्टयः अभिमताः।।५०।।

अर्थ :– प्रकृति, उपादान, काल एवं भाग्य नाम की चार आध्यात्मिक तुष्टियां हैं। (तथा) विषयों में उपरति होने से पांच प्रकार की बाह्य तुष्टियां हैं। इस प्रकार सब मिलाकर नौ तुष्टियां (सांख्याचार्यों को) अभिमत हैं।।५०।।

भाष्यम् :– विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनामेवं भेदक्रमो द्रष्टव्यः। तत्र तष्टिर्नवधा कथ्यते–आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः। अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः। ताश्च प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः। तत्र प्रकृत्याख्या यथा कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति, तस्याः सगुणनिर्गुणत्वं च, तेन तत्त्वं=तत्कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्षः। एषा प्रकृत्याख्या। उपादानख्या यथा–कश्चिदविज्ञायैव तत्त्वान्युपदानग्रहणं करोति–'त्रिदण्डकमण्डलुविविदिषाभ्यो मोक्ष'–इति, तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एषा उपादानाख्या। तथा कालाख्या–'कालेन मोक्षो भविष्यमतीति' कि तत्त्वाभ्यासेनेत्येषा कालाख्या तुष्टिस्तस्य नास्ति मोक्ष इति। तथा भाग्याख्या–'भाग्येनैव मोक्षो भविष्यती'ति भाग्याख्या। चतुर्द्धा तुष्टिरिति। बाह्या विषयोपरमाच पच। बाह्यास्तुष्ट्यः पच विषयोपरमात्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोर्जनरक्षण–क्षय–सङग–हिंसा दर्शनात्। (धन) वद्धिनिमित्तं पाशुपाल्यवाणिज्यप्रतिग्रहसेवाः कार्याः, एतदजेनं दुःखम्। अर्जितानां रक्षणे दुःखम्। उपभोगात्क्षीयत इति क्षयदुःखम्। तथा विषयोपभोगसङ्गे कृते नास्तोन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः। तथा न अनुपहत्य भूतान्युपभोग इत्येष हिंसादोषः। एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पचविषयोपरमात् पच तुष्ट्यः। एवमाध्यात्मिकी–बाह्याभेदान्नव तुष्ट्यः। तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि–'अम्भः, सलिलं, मेघो, वष्टिः सुतमः, पारं, सुनेत्रं, नारीकम्, अनुत्तमाम्भसिकम्' इति। आसां तुष्टीनां विपरीता अशक्तिभेदाद् बुद्धिवधा भवन्ति। तद्यथा–अनम्भोसलिलममेघ इत्यादिवैपरीत्याद् बुद्धिवधा इतिै।।५०।।

विशेष :- तुष्टि नौ प्रकार की होती है, यह बताया जा चुका है। उनका 'आध्यात्मिक्यः'' आदि के रूप में परिगणन करते हैं। 'प्रकृति से अतिरिक्त या भिन्न आत्मा है', ऐसा जानने के बाद असत् या अयथार्थ उपदेश से संतुष्ट होकर जो श्रवण, मनन आदि के द्वारा विवेक–ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता है, उसकी चार आध्यात्मिक तुष्टियां होती हैं। यतः ये तुष्टियाँ प्रकृति से अतिरिक्त आत्मा के विषय में होती हैं, अतः वे आध्यात्मिक हैं। वे कौन सी हैं, यह बताने को कहते हैं कि वे प्रकृति, उपादान,काल एवं भाग्य नामों वाली हैं। प्रकृति आदि जिनकी आख्या संक्ष्या या संज्ञा है वे 'प्रकृत्यपादानकालभाग्याख्य' है।

इनमें 'प्रकृति' नामक तुष्टि वह होती है, जैसे किसी को यह उपदेश दिया जावे कि 'विवेक–ज्ञान प्रकृति का ही एक परिणाम है और उनको प्रकृति ही करती है, अतः उसके लिए ध्यान का अभ्यास करना व्यर्थ है, सो बेटे ! ऐसे ही बने रहो तो जिसको ऐसा उपदेश दिया गया है उस शिष्य को प्रकृति के विषय में जो तुष्टि होती है, वह 'प्रकृति' नाम वाली तुष्टि 'अम्भस्' कही जाती है अर्थात् इस 'प्रकृति' नामक तुष्टि का दूसरा नाम अम्भस्' भी है।

'विवेक–ज्ञान प्राकृत या प्रकृति का परिणाम होने पर भी केवल प्रकृति से नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने पर तो प्रकृति के सब के प्रति समान होने से सबको सदा विवेक–ज्ञान होने लगेगा, वह संन्यास से होता है, अतः संन्यास ग्रहण करो, हे आयुष्मन् ! तुम्हें ध्यान का अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं,' इस प्रकार के उपदेश प्राप्त होने पर जो तुष्टि होती है, वह 'उपादान' नामक तुष्टि 'सलित' कही जाती है।

'संन्यास भी तत्काल मोक्ष–प्रद नहीं है। वह कुछ काल व्यतीत होने पर ही तुम्हें सिद्धि देगा, इसलिये तुम्हें बेचैन होने की आवश्यकता नहीं', इस प्रकार के उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'काल' नामक तुष्टि 'औघ' कही जाती है।

'विवेक–ज्ञान न प्रकृति से होता है, न काल से और न उपादान से, अपितु भाग्य से होता है। इसलिये मदालसा के

बच्चे अत्यन्त बालक या छोटे होने पर भी माता के उपदेश से ही विवेक–ज्ञान सम्पन्न होकर मुक्त हो गये, इसलिये भाग्य ही विवेक–ज्ञान का कारण है, अन्य कुछ नहीं', इस प्रकार के उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'भाग्य' नामक तुष्टि द'ष्टि' कही जाती है।

बाह्य या बाहरी तुष्टियों को प्रदर्शित करते हैं। विषयों के उपरम या वैराग्य से होने वाली बाह्य तुष्टियाँ पाँच होती हैं। प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार आदि अनात्माओं को आत्मा मानने वाले को वैराग्य होने पर जो तुष्टियां होती हैं वे बाह्य हैं क्योंकि वे आत्मज्ञान के अभाव में अनात्मा के विषय में प्रवत्त होती हैं। ये तुष्टियां वैराग्य होने पर होती हैं और वैराग्य के हेतुओं के पांच होने से वैराग्य भी पांच होते हैं। अतः वैराग्यों के पांच होने के कारण बाह्य तुष्टियाँ भी पाँच होती हैं जिनके द्वारा उपरत हुआ जाता है वह उपरम या वैराग्य है, विषय से उपरम विषयोपरम या विषय–वैराग्य है। विषय अर्थात् शब्द आदि भोग्य पांच हैं, उपरम भी पाँच हैं। स्पष्टतया समझने के लिए, अर्जन या उत्पादन, रक्षण, विनाश, भोग और हिंसा, इन पांच दोषों के दर्शन रूप कारण से उत्पन्न होने वाले पांच उपरम होते हैं, जो कि इस प्रकार हैं–सेवा (नौकरी) आदि धन कमाने के उपाय हैं, वे सेवक आदि को दुःखित करते हैं। कहा भी है 'अभिमानी दुष्ट स्वामी के द्वार पर दण्डधारी पहरेदार के प्रचण्ड अर्धचन्द्र से उत्पन्न होने वाली पीड़ा को समझता हुआ कौन बुद्धिमान नौकरियों मे लगेगा ? इसी प्रकार अन्य भी धनोपार्जन के उपाय दुःखद हैं, यह सोचकर विषयों के वैराग्य होने में जो तुष्टि होती है वह 'पार' कहलाती है। इसी प्रकार उपार्जित धन राजा, चोर, अग्नि, बाढ़ आदि से नष्ट हो जावेगा, अतः उसकी रक्षा करने में बड़ा दुःख होता है, ऐसी भावना करने वाले को विषयों के वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है, वह दूसरी 'सुपार' कही जाती है। इसी प्रकार 'बड़े भारी परिश्रम से उपार्जित धन भोग से क्षीण हो जाता है', इस प्रकार उसके विनाश की भावना करने वाले को विषयो से वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है, वह तीसरी 'पारापार' कही जाती है। इसी प्रकार शब्द आदि विषयों के भोग के अभ्यास से कामनाएँ बढ़ती हैं और वे विषयों के न मिलने पर कामी जन को दुःखी करती हैं, इस प्रकार भोग के दोष की भावना करने वाले विषयोपरम होने पर जो तुष्टि होती है, वह चौथी 'अनुत्तमाम्भस' कहलाती है। इसी प्रकार प्राणियों को बिना कष्ट पहुंचाए विषयोपभोग सम्भव नहीं है, वह पाँचवीं 'उत्तमाम्भस्' कहलाती है।

इस प्रकार चार आध्यात्मिक और पांच बाह्य तुष्टियों के मिलने से नौ तुष्टियाँ मानी जाती हैं।

ऊहः शब्दोध्ययनं दुःखविघातस्त्रयः सहृत्प्राप्तिः।

दानं च सिद्ध्योष्टौ सिद्धेः पूर्वोङ्कुशस्त्रिविधः।।५१।।

अन्वय :– ऊहः, शब्दः, अध्ययनं, दुःखविघाताः त्रयः, सुहृत्प्राप्तिः, दानं च (इति) अष्टौ सिद्धयः सन्ति। पूर्वः त्रिविधः (विपर्ययाशक्तितुष्टिरूपः बुद्धिव धः) सिद्धैः अङ्कुशः (अस्ति)।।५१।।

अर्थ :– तर्कजनित आत्मज्ञान–'ऊहसिद्धि', पदजनित आत्मज्ञान–'शब्दसिद्धि', शास्त्रानुसंधानपरस्पर होने वाली आत्मविषयक–'अध्ययनसिद्धि' दुःखनाश से उत्पन्न होने वाली 'तीन सिद्धियां', आत्मज्ञान का उपदेश देने में समर्थ मित्र का साहचर्य–'सुहृत्प्राप्ति' संज्ञक सिद्धि तथा 'दानसिद्धि'–इस प्रकार आठ सिद्धियां होती हैं। बुद्धिवध के प्रथम तीन भेद 'विपर्यय' 'अशक्ति' तथा 'तुष्टि' चतुर्थविध 'सिद्धि' के लिये अङ्कुशस्वरूप (बाधारूप) हैं।।५१।।

भाष्यम् :– सिद्धिरुच्यते। ऊहो यथा कश्चितन्नित्यसमूहते–ःकिमिह सत्यं, किं परं, किं नैःश्रेयर्सं, किं कृत्वा कृतार्थः स्याम्' इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते, 'प्रधानादन्य एव पुरुषः, इतोन्या बुद्धिरन्योहङ्कारोन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि, पच महाभूतानी'त्येवं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, येन मोक्षो भवति। एषा 'ऊहा'ख्या प्रथमा सिद्धिः। तथा–शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्ध्यहङ्कार–तन्मात्रेन्द्रियापचमहाभूतविषयं ज्ञानं भवति, तथा मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या सिद्धिः। अध्ययनाद्=वेदादिशास्त्रा' ध्ययनात् पचविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्य, तेन मोक्षं यातीत्येषा ततीया सिद्धिः। दुःखविघातत्रयम्। आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविघाताय गुरुं समुपगम्य तत उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः। एषैव दुःखत्रयभेदात्त्रिधा कल्पनीयेति षट् सिद्धयः। तथा सहृत्प्राप्तिः यथा कश्चित् सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति एषा सप्तमी सिद्धिः। दानं यथा–कश्चिद्भगवतां प्रत्याश्रयौषधित्रिदण्डकुण्डिकादीनां ग्रासाच्छादनादीनां च दानेनोपकृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति। एषाष्टमी सिद्धिः। आसामष्टानां सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञाः कृताः–तारं, सुतारं, तारतारं, प्रमोदं, प्रमुदितं, प्रमोदमानं, रम्यकं, सदाप्रभुदितम् इति। आसां विपर्ययाद् बुद्धैर्वधा चे विपरीतास्ते अशक्तौ निक्षिप्ताः यथातारमसुतारतारमित्यादि द्रष्ट्व्यम्। अशक्तिभेदा अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धिवधैरेकादशेन्द्रियवधा इति तत्र तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धानां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा अष्टाविंशतिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धीनामेवोद्देशो, निर्देशश्च कृत इति। किचान्यत् ? सिद्धेः पूर्वोङ्कुशस्त्रिविधः। सिद्धेः पूर्वा या विपर्ययाशक्तितुष्टस्ता एव सिद्धेरङ्कुशस्तद्भेदादेव त्रिविधः। यथा–हस्ती गहीताङ्कुशेन वशो भवति, एवं

विपर्ययाशक्तितुष्टिभिर्गहीतो लोकोज्ञानमाप्नोति, तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, तस्मान्मोक्ष इति।।५१।।

विशेष :- गौण और मुख्य भेदों के साथ 'ऊहः' आदि के रूप में सिद्धियों को बताते हैं। विनष्ट किये जाने वाले दुःखों के तीन होने से उनके विघात या विनाश तीन हैं और इस प्रकार ये तीन मुख्य सिद्धियां हैं। उनके उपाय के रूप में होने के कारण अन्य पांच सिद्धियां गौण हैं वे भी हेतु (कारण) और हेतुमती (कार्य) के रूप में व्यवस्थित हैं अर्थात् उसमें भी कुछ साधान और कुछ साध्य हैं। उनमें प्रथम अध्ययन रूपा सिद्धि हेतु कारण या साधन ही हैं। मुख्य सिद्धियां तो हेतुमती अर्थात् कार्य या साध्य ही हैं। बीच की चार सिद्धियां हेतु और हेतुमती हैं अर्थात् कारण और कार्य दोनों ही हैं (अपने से बाद की सिद्धि के प्रति कारण और पूर्व की सिद्धि के प्रति कार्य हैं)। विधिपूर्वक गुरु के मुख से अध्यात्मविद्या का अक्षरमय या शाब्दिक स्वरूप ग्रहण करना अर्थात् गुरुमुख से अध्यात्मविद्या का श्रवण करना 'अध्ययन' नामक प्रथम सिद्धि 'तार' कही जाती है। उसका कार्य या साध्य 'शब्द' नामक सिद्धि हैं 'शब्द' पद शब्द से उत्पन्न होने वाले अर्थज्ञान का भी उपलक्षण है अर्थात् अर्थज्ञान को भी लक्षित करता है, क्योंकि कार्य में कारण का उपचार हो सकता है अर्थात् कार्य के लिए उसके कारण का वाचक शब्द का औपचारिक प्रयोग हो सकता है। वह 'सुतार' कही जाती है। पाठ और अर्थ की दष्टि से यह दो प्रकार का श्रवण है। 'ऊह' या तर्क। तर्क शास्त्र के अविरोधी न्याय या तर्कों के द्वारा शास्त्र के अर्थ का परीक्षण है और परीक्षण संशय तथा पूर्वपेक्ष के निराकरण के द्वारा उत्तरपक्ष या सिद्धान्त को स्थापित करना है। इसको आगमवेत्ता या शास्त्रज्ञ मनन कहते हैं। यह 'ऊह' नामक तीसरी सिद्धि 'तारतार' कही जाती है। अपने आप किया हुआ मनन तब तक अमनन ही है, जब तक कि वह सुहृदयों के द्वारा सम्मत न हो, इसलिए दूसरे मनन को 'सुहृत्प्राप्ति' के रूप में बताते हैं। न्याय या तर्क के द्वारा स्वयं अपने द्वारा परीक्षित विषय में व्यक्ति तब तक श्रद्धा नहीं करता है, जब तक कि वह परीक्षित अर्थ गुरु, शिष्य एवं सहपाठियों के साथ सम्वाद न प्राप्त कर ले अर्थात् उनके द्वारा सम्मत न हो जावे। इसलिए सुहृदों की अर्थात् गुरु, शिष्य ओर सहपाठियों के रूप में सम्वादकों की प्राप्ति 'सुहृत्प्राप्ति' है। यह 'सुहृत्प्राप्ति' नामक चौथी सिद्धि 'रम्यक' कहलाती है। 'दान' विवेकज्ञान की शुद्धि है, क्योंकि 'शोधन' अर्थ वाली 'द्वैप्' धातु से इस 'दान' पद की व्युत्पत्ति या निष्पत्ति हुई है। जैसा कि भगवान् पतजलि ने कहा है कि—'विप्लवरहित विवेकख्याति या विवेकज्ञान दुःखों के हान या विनाश का उपाय है। 'अविप्लव' का अर्थ शुद्धि है और वह वासनाओं या संस्कारों के सहित संशय और विपर्यय के परिहार के द्वारा स्वच्छ या निर्मल चित्तवत्ति के प्रवाह में विवेकज्ञान का स्थापन या जमाना है। विवेक—ज्ञान की यह शुद्धि आदर या निष्ठा के साथ दीर्घकाल तक निरन्तर किए हुए अभ्यास के परिपाक के बिना नहीं हो सकती, अतः उसके (अभ्यास के) 'दान' या शुद्ध विवेक—ज्ञान रूप कार्य में वह (अभ्यास) भी संगहीत अर्थात् अन्तर्भूत या समाविष्ट हो जाता हैं। यह 'दान' नामक पांचवीं सिद्ध सदामुदित कही जाती है। तीन मुख्य सिद्धियाँ प्रमोद, मुदित और मोदमान हैं, इस प्रकार आठ सिद्धियां हैं।

अन्य जयमंगलाकार आदि प्रस्तुत कारिका का व्याख्यान या सिद्धियों के स्वरूप का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—उपदेश आदि के बिना पूर्वजन्मों के अभ्यास के कारण तत्त्व का जो स्वयं सूझना या तत्त्व ज्ञान का स्वयं हो जाता है वह 'ऊह' नामक सिद्धि है। जो दूसरे के द्वारा किए गए सांख्यशास्त्र के पाठ या पारायण को सुन कर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'शब्द' नामक सिद्धि है, क्योंकि वह शब्दों के पाठ या पारायण के बाद होती है। जो शिष्य और आचार्य के सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र का शाब्दिक रूप में तथा अर्थज्ञाान के साथ अध्ययन कर ज्ञान उत्पन्न होता है वह अध्ययन से होने वाली सिद्धि 'अध्ययन' है। जो तत्त्व को जान चुकने वाले सुहृद् या मित्र को प्राप्त कर ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञानरूपा सिद्धि 'सुहृत्प्राप्ति' है। दान भी सिद्धि का हेतु है। धन आदि के दान से आधारित या सत्कृत ज्ञानी ज्ञान को देता है। इस व्याख्यान का युक्तत्व और अयुक्तत्व स्वयं विद्वानों को समझना चाहिये, सिद्धान्त मात्र के व्याख्यान में प्रवत्त हमारे लिए दूसरों के दोषों को दिखाना व्यर्थ है।

सिद्धि और तुष्टि के विपर्यय से होने वाली अशक्ति के रूप में जो बुद्धि का वध या उपघात है वह सत्रह प्रकार का है। इस प्रत्ययसर्ग या बौद्धिक सर्ग में सिद्धि उपादेय या ग्राह्य है, वह विदित ही है। उसके निवारण के हेतु विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि हेय हैं, इस बात को इस रूप में कहते हैं—'पूर्ववर्णित सिद्धि के तीन प्रकार के अंकुश या बाधक हैं। 'पूर्व' शब्द विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि का परामर्श या निर्देश करता है। वे सिद्धि रूपिणी हथिनियों के अंकुश हैं, क्योंकि वे उनके निवारक या बाधक हैं, इसलिए यह तात्पर्य है कि सिद्धियों के विरोधी या बाधक होने के कारण विपर्यय शक्ति और तुष्टि हेय या त्याज्य हैं।

न विना भावैलिङ्गं न विना, लिङ्गेन भावनिर्वत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।।५२।।

अन्वय :– भावैः विना लिङ्गं न (भवति) (तथैव) लिङ्गेन विना भावनिर्वृ्त्तिः न (भवति)। तस्मात् भावाख्यो लिङ्गाख्यो द्विविधः सर्गः प्रवर्तते।।५२।।

अर्थ :– (जिस प्रकार) धर्मादि आठ भावों से युक्त बुद्धिसर्ग के बिना तन्मात्राओं से होने वाले लिङ्गसर्ग (भौतिकसर्ग) की उत्पत्ति नहीं हो सकती है उसी प्रकार भोग्य शब्दादि तथा भोगाधिष्ठान शरीर रूप लिङ्गशरीर के बिना बुद्धिसर्ग की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसलिये (सांख्यशास्त्र के अनुसार) भावाख्य एवं लिङ्गाख्य दोनों प्रकार का सर्ग प्रवत्त होता है।।५२।।

भाष्यम् :– अथ यदुक्तं 'भावैरधिवासितं लिङ्गं' तत्र भावा धर्मादयोष्टावुक्ता। बुद्धिपरिणामाः –विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणताः, स भावाख्यः – प्रत्ययसर्गो, लिङ्गश्च तन्मात्रसर्गश्चतुर्दशभूतपर्यन्त उक्तः, तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ किमुभयविधसर्गेणेत्यत आह–भावैः=प्रत्ययसर्गैर्विना लिङ्गं न=तन्मात्रसर्गो न, पूर्वपूर्वसंस्कारादष्टा–कारितत्वादुत्तरोत्तरदेहलम्भस्य। लिङ्गेन=तन्मात्रसर्गेण च–विना भावनिवत्तिर्न। स्थूलसूक्ष्मदेह–साध्यत्वाद्धर्मादेः, अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय, तत्तज्जातीयापेक्षित्वेपि तत्त्द्व्यक्तीनां परस्परानपेक्षित्वात्। तस्माद्भावाख्यो, लिङ्गाख्यश्च द्विविधः प्रवर्त्तते सर्ग इति।।५२।।

विशेष :- बुद्धि के धर्म, अधर्म आदि भाव या परिणामों के आधार पर ही शब्द आदि भोग्य, सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर के रूप में भोगायतन तथा विभिन्न लोकों के रूप में भोगस्थान प्राप्त होते हैं। इस प्रकार, जैसा कि पूर्व में भी 'निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन' के रूप में कहा जा चुका है, धर्म अधर्म आदि बुद्धि के भाव निमित्त हैं और उनसे होने वाले शब्द आदि भोग्य और उनका भोग तथा भोगायतन एवं भोगस्थान नैमित्तिक हैं और फलतः बिना भावों या बौद्धिक सर्ग के भोग्य आदि रूपी भौतिक सर्ग–संभव नहीं, किन्तु यतः आगे इस भौतिक सर्ग से ही अर्थात् भोगस्थान में रहकर भोगायतन शरीरों के द्वारा विभिन्न भोगों के भोग एवं अन्य कार्यों को करने से ही बुद्धि के भाव या परिणाम होते हैं या अस्तित्व में आते हैं, अतः भौतिक सर्ग के बिना बौद्धिक सर्ग भी संभव नहीं। इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार के ही सर्गों–बौद्धिक सर्ग और भौतिक सर्ग–की उपयोगिता है। ये दोनों सर्ग उक्त प्रकार से अन्योन्याश्रित या एक–दूसरे पर आश्रित हैं और इन दोनों के अन्योन्याश्रय की यह परम्परा बीज और अंकुर के समान स्वभावतः अनादिकाल से चली आ रही है, इसके विषय में अन्योन्याश्रय दोष कोई नहीं रह जाता।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पचधा भवति।

मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः।।५३।।

अन्वय :– दैवः –(सर्गः) अष्टविकल्पो भवति, तैर्यग्योनश्च पचधा भवति, (अयमेव), समासतो भौतिकः सर्गः (अस्ति)।।५३।।

अर्थ :– देवताओं की सष्टि आठ प्रकार की होती है। पशुपक्षियों की सष्टि पांच प्रकार की होती है तथा मनुष्यों की सष्टि एक प्रकार की होती है। यही संक्षेप में भौतिकसष्टि है।।५३।।

भाष्यम् :– किचान्यत्–तत्र अष्टविकल्पो दैवः दैवमष्टप्रकारं–प्राजापत्यं, सौम्यम्, ऐन्द्रं, गान्धर्वं याक्षं, राक्षसं, पैशाचमिति। पशुमगपक्षिसरीसपस्थावराणि भूतान्येवं पचविधस्तैरश्चः। मानुषयोनिरेकैव। इति चतुर्दश भूतानि।।५३।।

विशेष :- तन्मात्राओं से पच महाभूत या स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। इन भूतों से जो विभिन्न प्रकार के स्थूल शरीर एवं पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे ही संक्षेप में भौतिक सर्ग के अन्तर्गत हैं। स्थूल शरीरों के प्रमुख प्रकारों को योनियों के नाम से भी अभिहित करते हैं। यहां तीन प्रकार की योनियां बताई गई हैं। दैवी, तिर्यग् एवं मनुष्य, इन योनियों के भी विभिन्न भेद होते हैं। यहाँ बताया गया है कि देवयोनियां आठ प्रकार की होती हैं, तिर्यग् योनियां पांच प्रकार की होती हैं, मनुष्य योनि एक प्रकार की होती है। ब्राह्य, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच, ये आठ प्रकार की देवयोनियां हैं। पशु, मग, पक्षी, सरीसप, स्थावर, ये पांच तिर्यग् योनियां हैं। विभिन्न घट, पट आदि जागतिक पदार्थ स्थावर के अन्तर्गत ही मान लिये जाते हैं। सारे जगत् के मनुष्य एक ही प्रकार के माने जाते हैं, अतः मनुष्य योनि एक ही प्रकार की है।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।

मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः।।५४।।

अन्वय :– ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः सर्गः, मूलतः तमोविशालः सर्गः, मध्ये रजोविशालः सर्गः (इति) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः सर्गो भवति।। ५४।।

अर्थ :– 'ऊर्ध्व' अर्थात् 'देवसष्टि' सत्त्वगुणप्रधान, 'मूल' अर्थात् 'तिर्यक् सष्टि' तमोगुणप्रधान तथा 'मध्य' अर्थात् 'मनुष्ययोनि' रजोगुणप्रधान होती है। इस प्रकार ब्रह्मादि से स्तम्बपर्यन्त सष्टि त्रिगुणात्मक है।।५४।।

भाष्यम् :– त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यते–ऊर्ध्वमिति। अष्टसु देवस्थानेषु सत्त्वविशालः=सत्त्वविस्तारः, सत्त्वोत्कर्ष इति। तत्रापि रजस्तमसी स्तः। तमोविशालश्च मूलतः। पश्वादिषु स्थावरान्तेषु सर्वः सर्गस्तमसाधिक्येन व्याप्तः। तत्रापि सत्त्वरजसी स्तः। मध्ये=मानुषे रज उत्कटम्। तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते। तस्माद् दुःखप्राया मनुष्याः एवं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः। ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थः। एवम्–अभौतिकः सर्गो=लिङ्गसर्गो, भावसर्गः। भूतसर्गः=देवमानुषतैर्यग्योना इति। एष प्रधानकृतः षोडशविधः।।५४।।

विशेष :- इस भौतिक सर्ग की चैतन्य (ज्ञान) के उत्कर्ष (आधिक्य) एवं निष्कर्ष सम्बन्धी तारतम्य के आधार पर ऊपर,नीचे और मध्य के रूप में त्रिविधता 'ऊर्ध्व सत्त्वविशालः' आदि के रूप में बताते हैं। भुवर्लोक से सत्त्वलोक पर्यन्त लोक सत्त्वप्रधान है। पशु से लेकर स्थावर पर्यन्त निम्न सष्टि मोहमय होने के कारण तमःप्रधान है। सात द्वीपों एवं समुद्रों से युक्त मध्यवर्ती भूलोक धर्म और अधर्म के आचरण से युक्त होने एवं दुःख की अधिकता के कारण रजःप्रधान है। इस लोकस्थिति को संक्षेप में इस प्रकार बताते हैं कि यह ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त है। स्तम्ब के ग्रहण से वक्ष आदि का भी ग्रहण हो जाता है।

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्यविनिवत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन।।५५।।

अन्वय :– तत्र चेतनः पुरुषः जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति लिङ्गस्य आविनिवत्तेः तस्मात् स्वभावेन दुःखं भवति।।५५।।

अर्थ :– पूर्ववर्णित नानाविध योनियों में शरीराधिष्ठित चेतन 'पुरुष' जन्म–मरण से उत्पन्न दुःख भोगता है, जब तक उसका सूक्ष्मशरीर से सर्वदा के लिए सम्बन्ध नहीं छूट जाता है। इस प्रकार पुरुष को स्वभावतः दुःख रहता है।।५५।।

भाष्यम् :– तत्रेति। तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु, जराकृतं, मरणकृतं चैव दुखं चेतनः=चैतन्यवान् पुरुषः प्राप्नोति, न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो, न तन्मात्राणीन्द्रियाणि, महाभूतानि च। कियन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोतीति, तद्विविनक्ति–लिङ्गस्याविनिवत्तेरिति। यत्तन्महदादिलिङ्शरीरेणाविश्य तत्र व्यक्तीभवति, तद्यावन्न निवर्त्तते संसारशरीरमिति, तावत् संक्षेपेण त्रिषु स्थानुषे पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति। लिङ्गस्याविनिवत्तेः=लिङ्गस्य विनिवत्तिं यावत्। लिङ्गनिवत्तौ मोक्षो, मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति। तत् पुनः केन निवर्त्तते ? यदा पचविंशतितत्त्वज्ञानं स्यात् स त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षणम्, 'इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार इमानि पचतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, पचमहाभूतानि एभ्योन्यः पुरुषो विसदश' इत्येवंज्ञानाल्लिङ्गनिवत्तिस्ततो मोक्ष इति।।५५।।

विशेष :- उक्त प्रकार से सष्टि को प्रदर्शित कर उसकी मोक्ष के साधनभूत वैराग्य के लिए उपयुक्त दुःखहेतुता को 'तत्र' आदि के रूप में बताते हैं। वहाँ अर्थात् शरीर आदि में। यद्यपि विभिन्न प्राणी विविध और विचित्र आनन्दों का भोग करते हैं, फिर भी सबको जरा और मरण से होने वाला दुःख समान रूप से है। सबको, कीड़े तक को भी मत्यु का डर इस रूप में है कि 'ऐसा न हो कि मैं न रहूँ, मैं बना रहूँ।' दुःख भय का हेतु है, अतः मरण दुःख है। यह सही, किन्तु दुःख आदि प्रकृतिजन्य होते हुए बुद्धि के गुण हैं, सो ये चेतन पुरुष से सम्बद्ध कैसे होते हैं, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'पुरुष' का अर्थ ही है कि वह लिङ्ग शरीर रूपी पुरी में सोता है। लिङ्ग बुद्धिसम्बद्ध है, अतः चेतन पुरुष भी बुद्धि और उसके गुणों से सम्बद्ध हो जाता है। फिर लिङ्गसम्बन्धी दुःख चेतन पुरुष को कैसे होता है, इसके उत्तर में कहते हैं कि लिङ्ग की निवत्ति न होने के कारण अर्थात् लिङ्ग से भेद न करने के कारण। पुरुष से लिङ्ग के भेद को ग्रहण न करने के कारण पुरुष लिङ्ग के धर्मों को अपने में अध्यस्त या आरोपित कर लेता है। अथवा 'अविनिवत्तैः' के स्थान पर 'आ' विनिवतेः' के रूप में पाठ मानकर इसके 'आ' के द्वारा दुःखप्राप्ति की अवधि इस रूप में कही जाती है कि जब तक लिङ्ग शरीर की निवत्ति नहीं होती, तब तक दुःख प्राप्त होता है।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थ आरम्भः।।५६।।

अन्वय :– इति प्रकृतिकृतः महदादिविशेषभूतपर्यन्तः (सर्गः) स्वार्थे इव प्रतिपुरुषविमोक्षार्थ परार्थे आरम्भो भवति।।५६।।

अर्थ :– इस प्रकार मूलप्रकृति द्वारा किया गया महत् से लेकर आकाशादि विशेषभूतपर्यन्त यह सर्ग (सष्टि) अपने प्रयोजन की भांति प्रत्येक पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिए दूसरे के प्रयोजनार्थ आरम्भ किया जाता है।।५६।।

भाष्यम् :– प्रकृतेः किंनिमित्तमारम्भ इत्युच्यते–'इत्येष परिसमाप्तौ निर्देशे च। प्रकृतिकृतौ=प्रकृतिकरणे, प्रकृतविक्रियायां, य आरम्भो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः 'प्रकृतेर्महान्, महतोहङ्कारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, तन्मात्रेभ्यः पचम हाभूतानि'

त्येष, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थ=पुरुषं प्रति देवमनुष्यतिर्यग्भावं गतानां विमोक्षार्थमारम्भः। कथम् ? स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः। यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति, एवं प्रधानम्। पुरुषोत्र प्रधानस्य न किचित् प्रत्युपकारं करोति। स्वार्थ इव। न च स्वार्थः, परार्थ एव। अर्थः=शब्दादिविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च। 'त्रिषु लोकेषु शब्दादि–विषयैः पुरुषा योजयितव्याः, अन्ते च मोक्षेणे'ति प्रधानस्य प्रवत्तिः। तथा चोक्तम्–'कुम्भवत् प्रधानं, पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते' इति।।५६।।

विशेष :- पूर्व में कहे हुए सर्ग के कारण के विषय में विप्रतिपत्तियों का 'इत्येष' आदि के रूप में निराकरण करते हैं। जो आरम्भ किया जावे अर्थात् सर्ग या सष्टि है। महत्तत्व से लेकर महाभूतपर्यन्त यह सष्टि प्रकृति ने ही की है, ईश्वर ने नहीं, न इसका उपादान कारण ब्रह्म है और न यह बिना कारण के ही है। अकारण या बिना कारण के होने पर यह या तो सदा बनी ही रहनी चाहिए या फिर इसका बिल्कुल अभाव होना चाहिए। ब्रह्म इसका उपादानकारण इसलिए नहीं हो सकता कि ब्रह्म रूप चितिशक्ति का परिणाम नहीं होता। यह ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित प्रकृति के द्वारा भी नहीं की गई है, क्योंकि व्यपाररहित ईश्वर अधिष्ठाता नहीं हो सकता। व्यापाररहित तक्षा (बढई) बसूले आदि का अधिष्ठान नहीं करता। किन्तु यदि यह सष्टि प्रकृति के द्वारा की हुई है तो उस नित्य प्रकृति के निरन्तर प्रवत्तिशील होने से कभी विराम न होने के कारण सदा ही सष्टि होती रहेगी और फलतः कोई भी मुक्त न होगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए किया हुआ आरम्भ (सष्टि) स्वार्थ सा प्रतीत होता हुआ परार्थ है। जिस प्रकार भात की इच्छा रखने वाला व्यक्ति भात बनाने के लिए पाक–क्रिया में प्रवृत्त होकर भात के बन जाने पर पकाने से निवत्त हो जाता है, इसी प्रकार प्रत्येक पुरुष को मुक्त कराने के लिए प्रवत्त प्रकृति जिस पुरुष को मुक्त करा देती है उसके प्रति फिर प्रव त्त नहीं होती। यही तथ्य 'स्वार्थ इव' के रूप में कहा गया है, जिसका तात्पर्य है कि स्वार्थ के लिए जैसा आरम्भ या कार्य होता है वैसा ही परार्थ के लिए आरम्भ है अर्थात् जिस प्रकार वह स्वार्थ की सिद्धि होने पर रोक दिया जाता है उसी प्रकार परार्थ या पुरुष की सिद्धि होने पर प्रकृति के द्वारा कार्य रोक दिया जायेगा।

वत्सविवद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवत्तिरज्ञस्य।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवत्तिः प्रधानस्य।।५७।।

अन्वय :– यथा वत्सविवद्धिनिमित्तम् अज्ञस्य क्षीरस्य प्रवत्तिः (स्वाभाविकी) तथा पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्य प्रवत्तिः (स्वाभाविकी) भवति।।५७।।

अर्थ :–जिस प्रकार बछड़े की वद्धि के लिये ज्ञानशून्य अचेतन दुग्ध का मात–स्तनों से निःक्षरण होना अत्यन्त स्वाभाविक है, उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिये अचेतन प्रधान की सष्टि–योजना अत्यन्त स्वाभाविक है।।५७।।

भाष्यम् :– अत्रोच्यते–अचेतनं प्रधानं चेतनः पुरुष इति–'मया त्रिषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः। पुरुषो योज्योन्ते मोक्षः कर्त्तव्य' इति कथं चेतनवत् प्रवत्तिः ? सत्यं। किन्त्वचेतनानामपि प्रवत्तिर्दष्टा, निवत्तिश्च यस्मादित्याह। यथा तणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवद्धिं करोति; पुष्टे च वत्से निर्वतते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्येति, अज्ञस्य प्रवत्तिरिति।।५७।।

विशेष :- स्वार्थ या परार्थ चेतन प्रवत्त होता है, अचेतन प्रकृति ऐसी नहीं हो सकती अर्थात् वह स्वार्थ या परार्थ प्रवत्त नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि प्रकृति का अधिष्ठाता या नियामक कोई चेतन है। पुरुष या जीव चेतन होने पर भी प्रकृति का अधिष्ठान या नियन्त्रण नहीं कर सकते, क्योंकि वे प्रकृति के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। इसलिए कोई सभी पदार्थों का देखने वाला अर्थात् सर्वत्र प्रकृति का अधिष्ठाता है और वह ईश्वर है। इसके उत्तर में कारिकाकार 'वत्सविवद्धिनिमित्तम्' आदि कहते हैं। प्रयोजन होने पर अर्थात् प्रयोजन की सिद्धि के लिए अचेतन पदार्थ भी प्रवत्त होता हुआ दीखता है, जैसे बच्चे या बछड़े की वद्धि या पुष्टि के लिए अचेतन दूध प्रवत्त होगी। यह कहना भी उचित नहीं कि दूध की प्रवत्ति के भी ईश्वराधिष्ठान के कारण होने से साध्य या सिद्धान्त पक्ष के अन्तर्गत होने के कारण इस साध्य या सिद्धान्त में कोई व्यभिचार या दोष नहीं आता कि चेतन ही स्वतः प्रवत्त हो सकता है, अचेतन नहीं, क्योंकि प्रेक्षावान् अर्थात् जानकार या चेतन की प्रवत्ति के स्वार्थ और करुणा से व्याप्त होने के कारण जगत् की सष्टि से ये दोनों व्यावत्त होकर चेतन की प्रवत्ति से जगत् की सष्टि हुई है, इस तथ्य को भी व्यावत्त कर देते या हटा देते हैं। जिनको सभी अभीष्ट पूर्वतः ही प्रा प्त हैं अर्थात् जो अवाप्त–समस्तकाम हैं, ऐसे भगवान् को जगत् की सष्टि करने से क्या अभीष्ट प्राप्त करना है। करुणा से भी भगवान् की जगत् की सष्टि करने से क्या अभीष्ट प्राप्त करना है। करुणा से भी भगवान् की जगत् की सष्टि में प्रवत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सष्टि से पूर्व जीवों के इन्द्रिय, शरीर और विषयों के उत्पन्न न होने के कारण दुःखों के न होने से किस को दूर करने की इच्छा के रूप में करुणा होगी। सष्टि होने के बाद दुःखितों को देखकर करुणा को स्वीकार करने से तो, करुणा से सष्टि और सष्टि से करुणा, इस रूप में ऐसा अन्योन्याश्रय दोष होगा कि जिसका उत्तर देना कठिन है।

इसके अतिरिक्त करुणा से प्रेरित होकर तो ईश्वर सुखी प्राणियों की ही सष्टि करेगा, सुखी–दुःखी आदि विविध प्राणियों की नहीं। यदि यह कहा जावे कि कर्मों की विचित्रता या विविधता से प्राणियों का वैचित्र्य या वैविध्य है, तो फिर किसी चेतन को कर्मों का अधिष्ठाता मानने की आवश्यकता है ?

ईश्वर के द्वारा कर्मों का अधिष्ठान न करने मात्र से ही अचेतन कर्म की प्रवत्ति से अनुपपन्न होने से उसके कार्य या फलरूप शरीर, इन्द्रिय और विषयों की उत्पत्ति न होने पर दुःख–निवत्ति भी सरल हो जावेगी। अचेतन प्रकृति की प्रवत्ति में न स्वार्थ प्रयोजक या हेतु है और न करुणा, इसलिए उसके विषय में उक्त दोषों का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता, उसकी प्रवत्ति में जो केवल परार्थता का हेतु है, वह उपपन्न या संगत है। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है जिस प्रकार बच्चे या बछड़े की वद्धि के लिए अचेतन दूध की प्रवत्ति होती है, उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए अचेतन प्रकृति की प्रवत्ति होती है।

औत्सुक्यविनिवत्त्यर्थ यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्।।५८।।

अन्वय :– यथा लोकः औत्सुक्यनिवत्त्यर्थं क्रियासु प्रवतते, तद्वत् अव्यक्तं पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते।।५८।।

अर्थ :– जिस प्रकार व्यक्ति अपनी इच्छा–पूर्त्ति के लिये तत्संबन्धित क्रियाओं में प्रवत्त होता है, उसी प्रकार मूलप्रकृति (प्रधान) भी पुरुष को मोक्ष (भोग के पश्चात् मोक्ष) प्रदान करने के लिए महदादि रूप से परिणत होती है।।५८।।

भाष्यम् :– किच–यथा लोक इष्टौत्सुक्ये सति तस्य निवत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते गमनागमनक्रियासु, कृतकार्यो निवर्तते, तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थ–शब्दादि–विषयोपलब्धिलक्षणं, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा, प्रधानं निवर्तते।।५८।।

विशेष :- लोक में व्यक्तियों को किसी साध्य या फल को प्राप्त करने के लिए उत्सुकता या इच्छा रहती है और फलतः वे उस उत्सुकता की निवत्ति के लिए अर्थात् उस इच्छा की पूर्ति के लिए उसके साधनभूत कार्यों में प्रवत्त होते हैं और फिर उन कार्यों के करने से साध्य या फल की प्राप्ति होने पर उत्सुकता या इच्छा निवत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति को मानो पुरुष के मोक्ष के लिए स्वाभाविक उत्सुकता या इच्छा है, फलतः वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसके साधनभूत सष्टि–कार्य में प्रवत्त होती है। यतः अचेतन प्रकृति में उत्सुकता या इच्छा नहीं हो सकती, अतः यही कहना होगा कि प्रकृति में पुरुष के मोक्ष के साधनभूत सष्टि–कार्य को करने के लिए स्वाभाविक प्रवत्ति है। पाश्चात्य भौतिकवादी यह कह सकते हैं कि प्रकृति सष्टि कार्य में स्वाभाविक रूप से प्रवत्त होती रहती है, उसे इससे कोई मतलब नहीं कि इस सष्टि–कार्य से किसी का मोक्ष होता है या बन्धन होता है।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः।।५६।।

अन्वय :– यथा नर्तकी रङगस्य (आत्मानं) दर्शयित्वा नत्यात् निवर्त्तते तथा प्रकृतिः पुरुषस्य आत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते।।५६।।

अर्थ :– जिस प्रकार नत–चातुरी (नाचने वाली) मचस्थित प्रेक्षकों के समक्ष अपने नत्य का प्रदर्शन करके नत्य से विराम ले लेती है उसी प्रकार 'प्रकृति', 'पुरुष' के सामने अपने स्वरूप का प्रकाशन करके सदा के लिए (उसके प्रति) निवत्त हो जाती है।।५६।।

भाष्यम् :– किचान्यत्, –यथा नर्त्तकी शृंगारादिरसैरितिहासादिभावैश्च निबद्धानि गीतवादित्रनत्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नत्यान्निवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य–बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेन, निवर्तते।।५६।।

विशेष :- नर्तकी के नत्य को देखने के बाद दर्शकों को उसके प्रति कोई उत्सुकता नहीं रहती, फलतः नर्तकी स्वतः ही नत्य से विरत हो दर्शकों के सामने से हट जाती है। इसी प्रकार अपने से भिन्न रूप में प्रकृति के वास्तविक स्वरूप और रहस्यों को अनुभूत करने के बाद तत्त्ववेत्ता या विवेक–ज्ञान–युक्त पुरुष को उसके (प्रकृति के) प्रति कोई उत्सुकता नहीं रहती, फलतः प्रकृति उस पुरुष के प्रति कृतकृत्य हो स्वतः ही विरत हो जाती है अर्थात् उसके समक्ष फिर किसी भी रूप में अपना प्रदर्शन न कर उसके बन्धन का हेतु नहीं बनती।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतः तस्यार्थमपार्थकं चरति।।६०।।

अन्वय :–उपकारिणी गुणवती प्रकृतिः नानाविधैः उपायैः तस्य अनुपकारिणः अगुणस्य सतः पुंसः अर्थम् अपार्थकम् चरति।।६०।।

अर्थ :– उपकारशीला एवं गुणशीला प्रकृति अनेक प्रकार के उपायों द्वारा प्रत्युपकार (बदले में उपकार) करने वाले सुखादि गुणशून्य पुरुष के अभिप्रेत अर्थ (लक्ष्य) को निःस्वार्थ सिद्ध करती है।।६०।।

भाष्यम् :– कथं को वास्या निवर्तको हेतुः १। तदाह–नानाविधैरुपायैः प्रकृतिः पुरुषस्योपकारिण, अनुपकारिणः पुंसः। कथम् १। देवमानुषतिर्यग्भावेन सुखदुःखमोहात्मकभावेनः–एव नानाविधैरुपायैरात्मनं प्रकाश्य–'अहमन्या' 'त्वमन्य' इति, निवर्तते। सतो नित्यस्य,–तस्यार्थमपार्थकं चरति=कुरुते। यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुरुते, नामनः प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृतिः पुरुषार्थं चरति=करोत्यपार्थकम्। पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्तते।।६०।।

विशेष :- प्रकृति पुरुष का इस रूप में उपकार करती है कि उसके लिए भोग प्रस्तुत करती है तथा बाद में मोक्ष के लिए साधन प्रस्तुत करती है, किन्तु इसके बदले में पुरुष उसका कोई उपकार या प्रत्युपकार नहीं करता। इस प्रकार जहाँ प्रकृति उपकारिणी है, वहां पुरुष अनुपकारी है और इसीलिए जहाँ प्रकृति गुणवती अर्थात् मेवा, उपकार आदि अच्छे गुणों से युक्त है, वहां पुरुष इस प्रकार के गुणों से विहीन है। प्रकृति ऐसी उपकारिणी गुणवती है कि पुरुष के अनुपकारी एवं गुणविहीन होने पर भी उसके अभीष्ट का साधन अनेक प्रकार के उपायों से करती है। इस प्रकार यहां ऐसे दम्पत्ति का स्वरूप व्यक्त किया गया है जिनमें पत्नी गुणवती एवं कमाने वाली है और पति गुणविहीन निखट्टू होते हुए पत्नी के लिए कुछ भी करने वाला नहीं है।

यहां 'गुणवती' एवं 'अगुणस्य' पदों में श्लेष है। इन पदों का एक अर्थ तो वह है जो ऊपर दिया जा चुका है, जिसके अनुसार 'गुण' शब्द सामान्यतः सौशील्य, सेवाभाव आदि का वाचक है, दूसरा अर्थ सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण हैं, जहाँ प्रकृति इन गुणां से युक्त या त्रिगुणात्मक होने के कारण वस्तुतः 'गुणवती' है, वहाँ पुरुष प्रकृति के उक्त तीन गुणों से रहित या निर्गुण होने के कारण वस्तुतः 'अगुण' है।

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य।।६१।।

अन्वय :– प्रकृतेः सुकुमारतरं किचित् (अपि) न अस्ति इति मे मतिः भवति, या दष्टा अस्मि इति पुनः पुरुषस्य दर्शनं न उपैति।।६१।।

अर्थ :– त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अधिक संकोचशील दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा मुझ कारिकाकार का निश्चय (विश्वास) है। क्योंकि वह (पुरुष के द्वारा) 'मैं देख ली गई हूँ' इस प्रकार जाकर (लज्जा से झुकी हुई) पुनः पुरुष के दष्टिपथ में नहीं जाती है अर्थात् उसका भोग्य नहीं बनती है।।६२।।

भाष्यम् :– निवत्ते च किं करोतीत्या। लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं न किचिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थ एवं मतिरुत्पन्ना। कस्मात् ?। अहमनेन पुरुषेण दष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति। पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः। तत्र सुकुमारतं वर्णयति। केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते–

'अज्ञो जन्तुरनाशोयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा'।।

अपरे स्वभावकारणिकां ब्रुवते–

'केन शुक्लीकृता हंसा, मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव-' इति।

अत्र साङ्ख्याचार्या आहुः–निगुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्। कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव ? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। तथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभयः कृष्ण एव इति। एवं त्रिगुणानां प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। तथा–केषाचित् कालः कारणमिति। उक्तं च–

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते जगत्।

कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः।।

व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः तेन कालोन्तर्भूतोस्ति। स हि व्यक्तः, सर्वकर्तत्वात्, कालस्यापि प्रधानमेव कारणम्। स्वभावोप्यत्रैव लीनः। तस्मात् कालो न कारणम्। नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति। न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य। अतः प्रकृतेः सकुमारतरं=सुभोग्यतरं, न किचिदीश्वरादि कारणमस्तीति मे मतिर्भवति। तथा च लोके रूढम्।।६१।।

विशेष :- यह सही, किन्तु जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों को नत्य दिखाकर निवत्त होने के बाद भी फिर अपने दर्शकों के कौतूहल या इच्छा के कारण प्रवत्त होती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के समक्ष अपने को प्रदर्शित कर निवत्त होने के बाद भी फिर उसके प्रति प्रवत्त हो जावेगी, इसके उत्तर में 'प्रकृतेः' आदि कहते हैं। सुकुमारता अत्यधिक लज्जाशीलता अर्थात् दूसरे पुरुष के द्वारा देखे जाने की असहिष्णुता है। जिस प्रकार सूर्य के द्वारा भी न देखी जाने वाली, अत्यधिक मन्द या लज्जाशील नेत्रों एवं धीमी चाल वाली कुलवधू असावधानी से सिर पर पड़े हुए अचल के सरक जाने पर यदि परपुरुष के द्वारा देख ली जाती है तो वह सावधान हो ऐसा प्रयत्न करती है जिससे उसको दूसरे पुरुष न देख लें, उसी प्रकार प्रकृति भी कुलवधू से भी अधिक लज्जाशील है जिससे वह किसी पुरुष के विवेक से देख लिये जाने पर फिर उसके दष्टिगोचर नहीं होती।

तस्मान्न बध्यतेद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।६२।।

अन्वय :—तस्मात् अद्धा कश्चित् न संसरति, न बध्यते नापि मुच्यते। प्रकृतिरेव नानाश्रया सतो संसरति बध्यते मुच्यते। च।।६२।।

अर्थ :— पुरुष के निर्गुण तथा अपरिणामी होने से वस्तुतः कोई भी पुरुष 'संसरण' (आवागमन) नहीं करता है, 'बंधता' नहीं है और 'मुक्त' भी नहीं होता है। (अपितु) प्रकृति (बुद्धि) ही विभिन्न योनि के चैतन्याधिष्ठित शरीरों का आश्रय प्राप्त करती हुई 'संसरण', 'बन्धन' एवं 'मोक्ष' को प्राप्त करती है।।६२।।

भाष्यम् :— 'पुरुषो मुक्तः' 'पुरुषः संसारी'ति नोदिते आह—तस्मात् कारणात्, पुरुषो न बध्यते, नापि संसरति, यस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव नानाश्रया=दैवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते, मुच्यते, संसरति चेति। अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्गगतश्च कथं संसरति ?। अप्राप्तप्रापणार्थ संसरणमिति तेन पुरुषो बध्यते, पुरुषो मुच्यते, पुरुषः संसरतीति व्यपदिश्यते, येन संसारित्वं विद्यते। सत्त्वपूरुषान्तरज्ञानात्तत्वं पुरुषास्याभिव्यज्यते। तद्भिव्यक्तौ केवलः, शुद्धः, मुक्तः, स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति। अथ यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति, ततो मोक्षोपि नास्ति ? अत्रोच्यते—प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति, मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं, त्रिविधेन बन्धेन बध्यते। उक्तश्च—

'प्राकृतेन च बन्धेन, तथा वैकारिकेणन च।

दाक्षिणेन ततीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते।।

तत् सूक्ष्मं धर्माधर्मसंयुक्तम्।।६२।।

विशेष :- पुरुष निर्गुण, निर्विकार एवं निष्क्रिय है, अतः उसमें बन्धन रूप विकार जो कि वासना और क्लेशों सहित कर्माशयों के रूप में होता है, नहीं हो सकता और जब इस प्रकार उसका बन्धन नहीं तो उसका मोक्ष नहीं होता। साथ ही पुरुष के निष्क्रिय होने के कारण स्वरूपतः उसके द्वारा संसरण नहीं होता अर्थात् वह जन्म—मरण प्राप्त नहीं करता। यतः प्रकृति ही पुरुष के विषय में प्रवत्त होती है और वही पुरुष से निवत्त हो जाती है, अतः एक प्रकार से मानो प्रकृति ही पुरुष के साथ बंधती है, उससे मुक्त होती है और अपने विकार रूप लिङ्ग शरीर के द्वारा पुरुष के साथ बंधी हुई संसरण करती या जन्म—मरण प्राप्त करती है।

यतः कारिकाकार अब तक पर्याप्त रूप में सांख्यशाास्त्रीय ज्ञान दे चुके हैं, पुरुष और प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को समझा चुके हैं, अतः वे अब उस विषय को उक्त रूप में देख रहे हैं, ताकि व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् पुरुष—स्वरूप को समझता हुआ यह अनुभव करे कि वह अपने स्वरूप में विस्ततः निर्गुण, निर्विकार, एवं निष्क्रिय है और उससे भिन्न प्रकृति

ही उससे लिपटी हुई उसे बन्धन या दुःखों का अनुभव करा रही है, जब कि वह वस्तुतः सदा मुक्त एवं दुःखरहित है। प्रकृति साथ में पड़ गई है तो चली भी जावेगी, वह तो जैसा निर्गुण, निर्विकार, निष्क्रिय एवं दुःखरहित रूप में पूर्ण मुक्त है, वैसा ही सदा बना रहेगा।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।।६३।।

अन्वय :– प्रकृतिः पुरुषार्थं (भोगार्थं) प्रति आत्मना एव सप्तभिः रूपैः आत्मानं बध्नाति। सैव च पुरुषार्थं (अपवर्गार्थं) प्रति (आत्मना एव) एकरूपेण आत्मानं विमोचयति।।६३।।

अर्थ :– प्रकृति भोग रूप पुरुषार्थ के लिए अपने ही धर्मादि सात रूपों (भावों) के द्वारा स्वयं को बांधती है और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिये अपने ही ज्ञान रूप एक भाव के द्वारा स्वयं को मुक्त करती है।।६३।।

भाष्यम् :– 'प्रकृतिश्च बध्यते, प्रकृतिश्च मुच्यते, संसरती'ति कथम् ? तदुच्यते–रूपैः सप्तभिरेव। एतानि सप्त प्रोच्यन्ते–धर्मो, वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम्। एतानि 'प्रकृतेः सप्त रूपाणि। तैरात्मानं=स्वं बध्नाति प्रकृतिः। आत्मना=स्वेनैव। सैव प्रकृतिः पुरुषस्यार्थ=पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इति। विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण=ज्ञानेन।।६३।।

विशेष :- प्रकृति पुरुष के साथ अपने को बांधती है और वही पुरुष से अपने को मुक्त करती या छुड़ाती है। बन्धन के साधन भी प्रकृति के ही रूप या भाव हैं और मुक्ति का साधन भी प्रकृति का ही एक रूप या भाव है। बन्धन के हेतु या साधन अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य ऐश्वर्य और अनैश्वर्य हैं तथा मोक्ष का हेतु या साधन ज्ञान है। बन्धन के हेत भी प्रकृति के हैं और मोक्ष का हेतु भी प्रकृति का है। पुरुष को अपने पास से कुछ नहीं लगाना है। इसलिए कहा गया है कि प्रकृति ही अपने सात रूपों या भावों से अपने को बाँधती है और वही अपने एक रूप या भाव से अपने को छुड़ाती है।

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।६४।।

अन्वय :– एवं तत्त्व अभ्यासात् 'न अस्मि, न मे, न अहम्' इति अविशेषम् अविपर्ययात् विशुद्धं केवलं ज्ञानम् उत्पद्यते।।६४।।

अर्थ :– पूर्व कथित वर्णन के अनुसार 'तत्त्वज्ञान' का (पौनःपुन्येन) अभ्यास करने से 'मैं (क्रियावान्) नहीं हूं, मेरा (भोक्तत्व) नहीं है तथा मैं (कर्ता) नहीं हूं–इस प्रकार का सर्वथा परिपूर्ण, संशय–विपर्यय–विकल्प रूप मालिन्य से रहित अतएव परिशुद्ध केवलज्ञान (कैवल्यविषयकज्ञान) उत्पन्न होता है।।६४।।

भाष्यम् :– कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते ?। एवमुक्तेन क्रमेण पचविंशतितत्त्वालोचनाभ्यासात् 'इयं प्रकृतिः, अयं पुरुषः, एतानि पचतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानी'ति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते। नास्मि=नाहमेव भवामि। न–मे=मम शरीरं तत्, यतोहमन्यः, शरीरमन्यत्। नाहमित्यपरिशेषम्, अहङ्काररहितम्। अविपर्ययाद्विशुद्धम्। विपर्ययः=संशयोविपर्ययादसंशयाद्विशुद्धं=केवलं, तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यते=अभिव्यज्यते, ज्ञानं=पचविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति।।६४।।

विशेष :– सांख्यशास्त्र का अध्ययन कर या गुरु से श्रवण कर अव्यक्त या प्रकृति, उससे उत्पन्न होने वाला व्यक्त अर्थात् महत्तत्व आदि तेईस तत्त्व तथा पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने के बाद उस ज्ञान का निरन्तर अभ्यास काने से वह ज्ञान या तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख–निवत्ति रूप कैवल्य का साक्षात् हेतु या साधन है। यह ज्ञान या विज्ञान या तत्त्वज्ञान का स्वरूप यह है कि पुरुष तत्त्वज्ञान से पूर्व भ्रम या मिथ्याज्ञान या अयथार्थज्ञान के कारण प्रकृति और बुद्धि, मन एवं शरीर आदि प्राकृतिक विकारों में आत्माभिमान कर अपने को मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीड़ा तथा स्त्री या पुरुष के रूप में अनुभव करते हुए यह निश्चय करता है कि वह उक्त रूप में अपने को जैसा अनुभूत करता रहा है, वैसा नहीं है, अपितु प्रकृति और उसके बुद्धि, मन एवं शरीर आदि विकारों से व्यतिरिक्त 'पुरुष–तत्त्व' है।

तत्त्वज्ञान से पूर्व पुरुष बुद्धि के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव करता हुआ 'अहम्' (मैं) के रूप में अपना अनुभव करता रहता है। यतः अपने से व्यतिरिक्त बुद्धितत्त्व या सत्त्व के साथ तादात्म्य का अनुभव करना स्वयं मिथ्याज्ञान है, अतः उसके कारण होने वाला 'अहम्' के रूप में अपना अनुभव भी मिथ्याज्ञान है। बुद्धि के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हुए जहाँ पुरुष को अपनी 'अहम्' के रूप में अनुभूति होती है, वहीं उससे अपनी 'ज्ञाता' के रूप में अनुभूति होने लगती है और फलतः वह अपने

को 'अहम् ज्ञाता' के रूप में अनुभूत करने लगता है और उसके आधार पर ही वह अपने को द्रष्टा, भोक्ता एवं विभिन्न क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में अनुभव करने लगता है। फलतः यदि पुरुष का 'अहम्' के रूप में अपना अनुभव, जो कि मिथ्याज्ञान या मिथ्याज्ञानजन्य अनुभव है, समाप्त हो जावे तो उसके कारण उस पर जो ज्ञातत्व, द्रष्टत्व, भोक्तत्व एवं विभिन्न क्रियाओं का कर्तत्व आरोपित हो गया है, वह स्वतः ही समाप्त हो जावे। पुरुष का 'अहम्' के रूप में अपना अनुभव तभी समाप्त हो सकता है, जबकि उसका बुद्धि के साथ तादात्म्य का अनुभव समाप्त हो जावे। तत्त्वज्ञान की स्थिति में यतः पुरुष को यह निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है कि वह प्रकृति और तज्जन्य बुद्धि से व्यतिरिक्त पुरुष तत्त्व है, अतः वह उससे अपना तादात्म्य नहीं करता और फलतः यह अनुभव करता है कि वह 'अहम्' न होकर अहन्त्वविहिन पुरुष तत्त्व है।

यतः सभी प्रकार का ज्ञान, चाहे वह सामान्य ज्ञान हो, चाहे मिथ्याज्ञान हो और चाहे तत्त्वज्ञान हो, बुद्धि की ही देन होता है, अतः यह मानना होगा कि उक्त रूप तत्त्वज्ञान की स्थिति में पुरुष का बुद्धि के साथ सम्पर्क रहता है, किन्तु उस समय बुद्धि सत्त्वगुण के अतिरेक से अत्यन्त निर्मल होता है और फलतः पुरुष इस निर्मल सात्त्विक बुद्धि के माध्यम से ही अपना और प्रकृति तथा तज्जन्य बुद्धि का भेद स्पष्टतया समझता रहता है। इस प्रकार जहाँ उसे 'नास्मि' और 'न मे' की अनुभूति तो पूर्णतः होती ही रहती है, वहाँ बुद्धि के सम्पर्क में बने रहने के कारण तत्त्वज्ञान रूप ज्ञान या अनुभव के प्रति पुरुष के कर्तत्व के बने रहने से 'अहम्' के रूप में हल्की अनुभूति होने पर भी उसे यह स्पष्ट अनुभूति होती रहती है कि वस्तुतः वह 'अहम्' नहीं, अपितु बुद्धि के कारण 'अहम्' की अनुभूति हो रही है और आगे चलकर बुद्धि से सम्पर्क हटते ही 'अहम्' की अनुभूति भी पूर्णतः विलुप्त हो जावेगी और वह अपने अनुभूतिविहीन और अहन्त्वविहीन चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हो जावेगा।

'अहम्' की अनुभूति बनी रहने पर भी 'नास्मि' और 'न मे' के रूप में 'मैं ऐसा नहीं या वैसा नहीं या अमुक हूँ, अमुक मेरा नहीं', इस प्रकार की अनुभूति हो सकती है, अतः तत्त्वज्ञान में पहले 'नास्मि' और 'न मे' की स्थिति आ जाती है और बाद में 'नाहम्' की स्थिति प्राप्त होती है। तत्त्वज्ञान में भी, जैसा कि अभी पूर्व में कहा जा चुका है, 'नाहम्' की स्थिति केवल स्पष्टतया अनुभूत करने या समझने की वस्तु रहती है, किन्तु आगे कैवल्य प्राप्त होने के साथ अर्थात् प्रकृति और तज्जन्य बुद्धि आदि का सम्पर्क छूटने से पुरुष के 'केवल' होने के साथ अहन्त्व के अवशेष और उसकी अनुभूति साथ ही 'नास्मि', 'न मे' और 'नाहम्' की भी अनुभूति तथा अन्य किसी भी प्रकार की अनुभूति यदि कोई हो तो, सब अनुभूतियां पुरुष का साथ छोड़ जाती हैं।

तेन निवत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः।।६५।।

अन्वय :– तेन स्वस्थः प्रेक्षकवत् अवस्थितः (स्वच्छः) पुरुषः अर्थवशात् निवत्तप्रसवां सप्तरूपविनिवत्तां प्रकृतिं पश्यति।।६५।।

अर्थ :– यच्च–यावत् पदार्थों के विषय में अपरोक्षात्मक भेदज्ञान होने के पश्चात् स्वच्छ अर्थात् पक्षपातरहित तटस्थ साक्षी की भांति औपाधिक सम्पर्कशून्य अतएव अपने स्वरूप में स्थित निष्क्रिय तत्त्वज्ञानी पुरुष–भोगापवर्ग रूप प्रयोजन के सम्पन्न हो जाने से अतएव महदादि पदार्थोत्पत्ति से रहित, धर्मादि सात भावों से निवत्त (अभिभूत) अर्थात् कृतकृत्य हुई त्रिगुणात्मिका प्रकृति को–देखता है।।६५।।

भाष्यम् :– ज्ञाने पुरुषः किं करोति ?। तेन=विशुद्धेन केवलज्ञानेन, पुरुषः प्रकृतिं पश्यति, प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यम्। अवस्थितः स्वस्थः। यथा रङ्गप्रेक्षकोवस्थितो नर्त्तकीं पश्यति, स्वस्थः–स्वस्मिंस्तिष्ठति स्वस्थः=स्वस्थानस्थित।। कथंभूतां प्रकृतिम् ?। निवत्तप्रसवां=निवृत्तबुद्ध्यहङ्कारकार्याम्। अर्थवशात् सप्तरूपविनिवत्तां, निवत्तितुरुषोभयप्रयोजनवशाद्, यैः सप्तभी रूपैर्धर्मादिभिरात्मानं बध्नाति, तेभ्यः सप्तेभ्यो रूपेभ्यो विनिवत्तां प्रकृति पश्यति।।६५।।

विशेष :- प्रस्तुत कारिका में यह बताया गया है कि तत्त्वज्ञान से पुरुष प्रकृति का दर्शन करता है। यतः पुरुष बुद्धि के सम्पर्क के बिना प्रकृति का दर्शन नहीं कर सकता, अतः जैसा कि पूर्व में भी कहा जा चुका है, यह मानना होगा कि इस स्थिति में भी पुरुष का बुद्धि से सम्पर्क रहता है। इतनी बात अवश्य है, जैसा कि यहाँ भी पुरुष के 'स्वच्छः' विशेषण से स्पष्ट कर दिया गया है कि इस स्थिति में पुरुष स्वच्छ या निर्मल रहता है अर्थात् उसका रजस् तमस् की वत्तियों से कलुषित होने वाली बुद्धि से सम्पर्क नहीं रहता, अपितु निर्मल सात्त्विक बुद्धि से सम्पर्क रहता हैं इन निर्मल सात्त्विक बुद्धि के माध्यम से ही

पुरुष प्रकृति का दर्शन करता है तथा साथ ही जहाँ वह यह समझता रहता है कि वह प्रकृति से भिन्न है, वहाँ वह यह भी समझता रहता है कि वह जिस बुद्धि रूप माध्यम से प्रकृति का दर्शन कर रहा है, उससे भी भिन्न है।

जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसके प्रति प्रकृति अपना प्रसव करना बन्द कर देती है। प्रकृति के दो ही प्रसव या उपादान हैं–एक भोग और दूसरा विवेक–ज्ञान जिससे अपवर्ग होता है। त त्त्वज्ञान होने पर भोग रूप प्रसव तो स्वतः ही बन्द हो जाता है और यतः तत्त्वज्ञान या विवेकज्ञान रूप प्रसव भी हो चुकता है, अतः इसकी भी अब आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान के बाद प्रकृति के दोनों प्रकार के प्रसव निवत्त या बन्द हो जाते हैं। तत्त्वज्ञान की स्थिति में पुरुष ऐसी 'निवत्तप्रसवा' प्रकृति का दर्शन करता है। प्रकृति के धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य, ये आठ अवशिष्ट धर्म आदि सात रूप उद्भूत होते रहते हैं। जब ज्ञान का तत्त्वज्ञान हो जाता है तब इस ज्ञान या इसके सम्पन्न होने की सामर्थ्य से उक्त धर्म आदि सात रूप निवत्त हो जाते हैं या उद्भूत होना बन्द कर देते हैं। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से या त त्त्वज्ञान की स्थिति में पुरुष 'सप्तरूपविनिवत्ता' प्रकृति का दर्शन करता है।

रङ्गस्थ इत्युपेक्षक एको दष्टाहमित्युपरमत्यन्या।

सति संयोगेपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य।।६६।।

अन्वय :–एकः (पुरुषः) –मया दष्टा इति उपेक्षकः, अन्या (प्रकृतिः)–अहं दष्टा इति उपरमति। (अतः) तयोः (व्यापकप्रकृतिपुरुषयोः) संयोगे सति अपि सर्गस्य प्रयोजनं न अस्ति।।६६।।

अर्थ :– एक तरफ तत्त्वज्ञानी पुरुष 'मैंने प्रकृति को भलीभांति देख लिया है' यह सोचकर प्रकृति की उपेक्षा करता है। दूसरी तरफ प्रकृति 'पुरुष द्वारा मैं देख ली गई' यह सोचकर (उस ज्ञानी पुरुष से सम्बन्धित) सष्टि व्यापार को समाप्त करती है। अतः व्यापक दोनों तत्त्वों का संयोग (पूर्ववत् एवं सर्वदा) बना रहने पर भी पुनः सष्टि की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं रहती है।।६६।।

भाष्यम् :– रङ्गस्थ इति। यथा रङ्गस्य इत्येवमुपेक्षकः, एकः=केवलः शुद्धः पुरुषस्तेनाहं दष्टेति कृत्वा उपरता=निवता एका=एकैव प्रकृतिः, त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति, मूर्तिवधे जातिभेदात्। एवं प्रकृतिपुरुषयोर्निवत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोस्ति, न तु संयोगात् कृतः सर्गो भवति सति संयोगेपि, तयोः=प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे, प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य–सष्टेः चरितार्थत्वात्। प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं श ब्दविषयौपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च। उभयत्रापि चरितार्थत्वात्–सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं येन पुनः सर्ग इति। यथा दानग्रहणनिमित्ते–उत्तमर्णाधमर्णयोर्द्रव्यविशुद्धौ सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धो भवति। एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति।।६६।।

विशेष :- प्रकृति और पुरुष के संयोग से सष्टि होती है और तत्त्वज्ञान होने पर उक्त प्रकृति–दर्शन की अवस्था में भी दोनों का संयोग बना रहता है, अतः सष्टि होती रहनी चाहिए। इस शंका का समाधान यहाँ इस रूप में किया गया है कि प्रकृति का दर्शन कर पुरुष तो इसलिए प्रकृति की उपेक्षा करने लगता है कि उसने अब प्रकृति के वास्तविक रूप को देख लिया, अब उसे प्रकृति से कुछ नहीं करना है और प्रकृति भी पुरुष के द्वारा देख लिए जाने पर इसलिए पुरुष से विरत हो जाती है कि अब तो पुरुष ने उसको वास्तविक रूप में देख लिया और फलतः अब वह उसके प्रति आकृष्ट ही नहीं हो सकता है। इस प्रकार दोनों के द्वारा एक–दूसरे के प्रति उपेक्षा भाव रखने से दोनों के संयोग के बने रहने पर भी उसी प्रकार सष्टि नहीं होती, जिस प्रकार एक–दूसरे के प्रति उपेक्षा–भाव वाले स्त्री और पुरुष साथ–साथ रहने पर भी उनके द्वारा सष्टि नहीं होती। सष्टि के लिए परस्पर आकर्षण या लगाव परम आवश्यक है। सष्टि के हेतुभूत संयोग का प्रयोजन भी 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य' के रूप मं यह बतला दिया गया है कि पुरुष के द्वारा प्रकृति के दर्शन या भोग के लिए पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति और पुरुष संयोग होता है। तत्त्वज्ञान की स्थिति प्राप्त होने पर ये दोनों ही प्रयोजन सिद्ध हो चुकते हैं। पुरुष प्रकृति का पूर्ण भोग कर चुकता है और फिर उसे उसके वास्तविक रूप में देख चुकता है और साथ ही कैवल्य के हेतुभूत विवेकज्ञान को भी प्राप्त कर चुकता है। इस प्रकार प्रयोजनों के सिद्ध हो चुकने से तत्त्वज्ञान होने पर प्रकृति–दर्शन की अवस्था में प्रकृति और पुरुष का जो संयोग रहता है, उसमें वे प्रयोजन ही नहीं रहते, जिनकी सिद्धि के लिए अब तत्त्वज्ञानप्राप्त पुरुष के लिए सष्टि हो। दूसरे शब्दों में, यह संयोग भोग और अपवर्ग रूप प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नहीं जो कि इन प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए सष्टि हो। इस प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर प्रकृति–प्रयोजन को सिद्ध करने की आवश्यकता न होने से प्रकृति और तत्त्वज्ञानप्राप्त पुरुष का संयोग रहने पर भी इस पुरुष के प्रति प्रकृति द्वारा कोई सष्टि नहीं की जाती।

पुरुष का प्रकृति के प्रति तभी तक आकर्षण रहता है तब तक कि वह उसे उसके वास्तविक रूप में नहीं देख लेता। दूसरी ओर प्रकृति का भी स्वभाव यह है कि वह पुरुष के प्रति तभी तक सष्टि—कार्य करती या उसके समक्ष विभिन्न रूपों को धारण करती है, जब तक कि पुरुष उसे वास्तविक रूप में देखकर उसके प्रति आकर्षण को समाप्त नहीं कर देता। यतः तत्त्वज्ञान की स्थिति में पुरुष भी प्रकृति को उसके वास्तविक रूप में देखकर उसके प्रति उपेक्षा कर देता है या उसके प्रति अपने आकर्षण को समाप्त कर देता है और प्रकृति भी यह जानकर कि उसे उसके वास्तविक रूप में पुरुष द्वारा देख लिया गया है और अब उसके प्रति पुरुष को आकर्षण नहीं है, पुरुष से विरत हो जाती है, अतः फिर दोनों के संयोग से बने रहने पर भी प्रकृति के द्वारा तत्त्वज्ञानप्राप्त पुरुष के प्रति सष्टि—कार्य नहीं किया जाता।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच् चक्रभ्रमिवद् धतशरीरः।।६७।।

अन्वय :— सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनाम् अकारणप्राप्तौ (सत्यपि) संस्कारवशात् चकभ्रमिवत् धतशरीरः सन् (तत्त्वज्ञानी) तिष्ठति।।६७।।

अर्थ :— सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से (सचित एवं क्रियमाण) धर्माधर्मादि की जन्मान्तरोत्पादक कारणता नष्ट हो जाने पर भी प्रारब्धजनित संस्कारों के सामर्थ्य से—वेगाख्य संस्कार से चक्र के भ्रमण की तरह—शरीर धारण करता हुआ तत्त्वज्ञानी रहता है।।६७।।

भाष्यम् :— यदि पुरुषस्योत्पन्ने ज्ञाने मोक्षो भवति, ततो मम कस्मान्न भवतीत्यत उच्यते। यद्यपि पचविंशतितत्त्वज्ञानं भवति, तथापि संस्कारवशाद्—धतशरीरो योगी तिष्ठति। कथम् ? चक्रभ्रमवत्=चक्रभ्रमेण तुल्यम्। यथा कुलालश्चक्रं भ्रमयित्वा घटं करोति मत्पिण्डं चक्रमारोप्य, पुनः कृत्वा घटं पर्यामुचति चक्रं भ्रमत्येव, संस्कारवशात्, एवं—सम्यग्ज्ञानाधिगमात्—उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य धर्मादीनामकारणप्राप्तौ एतानि सप्तरूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि। यथा नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि न समर्थानि। धर्मादीनामकारणप्राप्तौ संस्कारवशाद्धतशरीरस्तिष्ठति ज्ञानाद्वर्तमानधर्माधर्मक्षयः कस्मान्न भवति ?। वर्तमानत्वादेव क्षणान्तरे क्षयमत्येति। ज्ञानं त्वनागतं कर्म दहति वर्तमानशरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठानकरणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षः।।६७।।

विशेष :- जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, तत्त्वज्ञाान की प्राप्ति होने पर प्रकृति के धर्म आदि सात रूप निवत्त हो जाते हैं और इस प्रकार धर्म आदि आगे किसी फल को देने के प्रति कारण नहीं रहते। ऐसी स्थिति में यह शंका हो सकती है कि शरीर धर्म आदि के कारण ही मिला है और जब तत्त्वज्ञान से धर्म आदि का कारणत्व नहीं रहता तो त त्त्वज्ञान के प्राप्त होते ही पुरुष का शरीर से वियोग हो जाना चाहिये। इस शंका का यहां इस रूप में समाधान किया गया है कि जिस प्रकार कुम्भकार के द्वारा दण्ड से चाक को एक बार घुमाए जाने के बाद फिर उसके द्वारा उसे न घुमाने पर भी वह तब तक घूमता रहता है जब तक कि एक बार घुमाए जाने का संस्कार (वेग नामक संस्कार) उसमें बना रहता है, उसी प्रकार धर्म आदि के द्वारा अर्थात् प्रारब्ध कर्मों के द्वारा एक बार शरीर के दिए जाने पर वह (शरीर) तब तक बना ही रहता है जब तक उसके कारणभूत प्रारब्ध कर्मों को भोगना ही पड़ता है और फलतः जब तक उनके संस्कार रहते हैं तब तक उनके कारण प्राप्त होने वाला शरीर बना रहता है।

प्रस्तुत कारिका के द्वारा उक्त रूप में जीवन्मुक्त की स्थिति प्रदर्शित की गई है। तत्त्वज्ञानप्राप्त पुरुष एक प्रकार से जीवन्मुक्त अर्थात् जीता हुआ ही या शरीर को धारण करता हुआ ही मुक्त हो जाता है। वह प्रकृति एवं प्रकृतिजन्य बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय एवं शरीर आदि से अपने को विविक्त रूप से देखता रहता है और फलतः धर्म आदि उसको आगे फल देने को कारण नहीं बनते, उसे केवल तब तक शरीर धारण करते रहना है, तथा फलों को निरपेक्ष प्रेक्षक के समान देखते रहना या भोगते रहना है, जब तक कि प्रारब्ध कर्मों के अनुसार वर्तमान शरीर के धारण करने की जो अवधि पहले से ही नियत कर दी गई है, तब तक त त्त्वज्ञानी को भी शरीर धारण करना पड़ता है और उन्ही कर्मों के अनुसार वर्तमान शरीर के द्वारा भोग्य जो भोग नियत कर दिये गये हैं, वे निरपेक्ष या निर्लिप्त भाव से देखने या भोगने पड़ते हैं। प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों के समाप्त होने पर तत्त्वज्ञानी को शरीर से छुटकारा मिल जाता है और वह, जैसा कि आगे बताया गया है, ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य को प्राप्त कर लेता है या पूर्णतः मुक्त हो जाता है।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवत्तौ।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।।६८।।

अन्वय :–शरीरभेदे प्राप्ते सति चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवत्तौ (सत्यां तत्त्वज्ञानी) ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकम् उभयं कैवल्यम् आप्नोति।।६८।।

अर्थ :– (प्रारब्धकर्मफलभोग के पश्चात्) शरीर का नाश होने पर कृतकृत्य (पुरुष के प्रति भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध कर चुकने से) प्रधान का अपने व्यापार से पूर्णतया विराम होने पर ज्ञानी ऐकान्तिक (अवश्यंभावि) एवं आत्यन्तिक (सार्वकालिक) मोक्ष प्राप्त करता है।।६८।।

भाष्यम् :–स किंविशिष्टो भवतित्युच्यते। धर्माधर्मजनितसंस्कारक्षयात् प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानस्य विनिवृत्तौ ऐकान्तिकम्=अवश्यम्, आत्यन्तिकम्=अन्तर्हितं, कैवल्यम्=केवलभावान्मोक्षः। उभयम्=ऐकान्तिकात्यन्तिकमित्येवं विशिष्टं कैवल्यमाप्नोति।।६८।।

विशेष :- प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों के समाप्त होने पर तत्त्वज्ञानी पुरुष के दोनों प्रकार के शरीर वियुक्त होकर विनष्ट हो जाते हैं। इसके बाद यतः प्रकृति उस तत्त्वज्ञानी पुरुष के प्रति चरितार्थ हो चुकती अर्थात् भोग और विवेक ज्ञान रूप प्रयोजनों को सिद्ध कर चुकती है, अतः वह उसको दूसरे शरीर नहीं देती, अपितु उससे पूर्णतः निवत्त हो जाती है, और फलतः अब पुरुष को प्रकृति का दर्शन भी नहीं होता, क्योंकि प्रकृति के निवत्त होने से तज्जन्य बुद्धि के भी न रहने से पुरुष का वह बुद्धिजन्य आगन्तुक ज्ञान भी समाप्त हो जाता है, जिसके कारण वह ज्ञाता बना हुआ था ओर जिसके द्वारा वह प्रकृति का दर्शन करता था। अस्तु ! इसप्रकार प्रकृति की निवत्ति होने पर पुरुष ऐसे कैवल्य अर्थात् मोख या दुःखत्रय–विनाश को प्राप्त करता है जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है। यह कैवल्य 'ऐकान्तिक' इसलिए है कि यह तत्त्वज्ञान से अनिवार्यतः होता है और 'आत्यन्तिक' इसलिए है कि यह एक बार होकर फिर समाप्त या विनष्ट नहीं होता अपितु सदा बना रहता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष सदा के लिए मुक्त हो जाता है, फिर वह कभी संसार–चक्र में नहीं पड़ता। इसी उद्देश्य अर्थात् ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य की सिद्धि के लिए, जैसा कि प्रथम कारिका से स्पष्ट है, सांख्यशास्त्र का प्रारम्भ हुआ और फलतः इसी उद्देश्य की सिद्धि को दष्टि में रखकर कारिकाकार द्वारा प्रस्तुत सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थ–सांख्यकारिका–की रचना की गई।

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।

स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्।।६६।।

अन्वय :– परमर्षिणा इदं गुह्यं पुरुषार्थज्ञानं समाख्यातम्। यत्र भूतानां स्थिति–उत्पत्ति–प्रलयाः चिन्त्यन्ते।।६६।।

अर्थ :– महर्षि कपिल द्वारा अत्यन्त रहस्यपूर्ण, मोक्षदायक उपरिवर्णित सांख्यज्ञान कहा गया हैं जिस ज्ञान में (ज्ञान के अन्तर्गत) प्रकृति के विकार अर्थात् महदादि कार्य की स्थिति, आविर्भाव तथा तिरोभाव के सम्बन्ध में विचार किया गया है।।६६।।

भाष्यम् :– पुरुषार्थः=मोक्षस्तदर्थ ज्ञानमिदं, गुह्यं=रहस्यं, परमर्षिणा=श्रीकपिलर्षिणा समाख्यातं=सम्यगुक्तम्, यत्र ज्ञाने भूतानां=वैकारिकाणां, स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः=अवस्थानाविर्भावतिरोभावा, चिन्त्यन्ते=विचार्यन्ते, येषां विचारात् सम्यक् पचविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते संवित्तिरिति।।६६।।

सांख्य कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणम् हि।

यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम्।।

इति सांख्यकारिकायां गौडपादकृतं भाष्यं समाप्तम्।

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेनुकम्पया प्रददौ।

आसुरिरपि पचशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्।।७०।।

अन्वय :– मुनिः अनुकम्पया अग्र्यं पवित्रम् एतत् आसुरये प्रददौ, आसुरिरपि पचशिखाय, तेन त तन्त्रं बहुधा कृतम्।।७०।।

अर्थ :– महर्षि कपिल ने दयावशात् अनादि काल से चले आने वाला श्रेष्ठ, अत्यन्त पवित्र यह सांख्यज्ञान आसुरि (नाम के अपने शिष्य) को दिया। आसुरि ने भी पचशिख (नाम के अपने शिष्य) को दिया और पचशिखाचार्य ने इस शास्त्र का (शिष्य परम्परा द्वारा) बहुत प्रचार किया।।७०।।

शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्यादिभिः।

संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्।।७१।।

अन्वय :– शिष्यपरम्परया आगतम् एतत् आर्यमतिना ईश्वरकृष्णेन सिद्धान्तं सम्यग् विज्ञाय आर्याभिः संक्षिप्तम्।।७१।।

अर्थ :– शिष्य–परम्परा से प्राप्त इस सांख्यज्ञान को तत्त्वज्ञानी ईश्वर–कृष्ण ने सांख्यसिद्धान्त का संशय, विपर्यय तथा विकल्प से रहित ज्ञान प्राप्त कर आर्या छन्द में संगहीत किया।।७१।।

सप्तत्यां किल येर्थस्तेर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।

आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि।।७२।।

अन्वय :– सप्तत्याम् आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ये अर्थाः (सन्ति) ते कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य अर्थाः सन्ति किल।।७२।।

अर्थ :– सत्तर कारिकाओं के द्वारा प्रतिपादित इस सांख्यीय तत्त्वज्ञान के प्रबन्ध में ऋषि आदियों के वंश चरितादि की कथाओं से रहित तथा परमत के खण्डन से भी रहित जो पच्चीस पदार्थ निरूपित किये गये हैं, वे षष्टितन्त्रनामक ग्रन्थ के पदार्थ निश्चित रूप से हैं।।७२।।

अर्थसंग्रह

भूमिका

मीमांसा शब्द का अर्थ :– मान् धातु से सन् और स्त्रीत्व को विवक्षा में टाप् प्रत्ययों के योग से 'मीमांसा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसमें दीर्घत्व तथा अभ्यास 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' नियम के अनुसार होते हैं। वस्तुतः मान् धातु भ्वादि तथा चुरादि दोनों गणों में पठित है। दोनों ही स्थलों पर उसे पूजार्थक स्वीकार किया है। वार्तिकाकार उसको 'जिज्ञासार्थक' भी मानते हैं। इन विचारकों की दष्टि से पूजा और जिज्ञासा दो अर्थ स्पष्ट होते हैं। भट्टोजिदीक्षित ने चुरादि प्रकरण में ३१०वीं धातु के विवेचन के अवसर पर इसको सन्नन्त होने पर विचारार्थक स्वीकार किया है। इस प्रकार पूजा, जिज्ञासा, और विचार–ये तीन अर्थ मान् धातु के प्राप्त होते है।

अर्थसंग्रहकार भास्कर ने इसको और भी स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार धर्म का विचार प्रस्तुत करने वाला शास्त्र 'मीमांसा' है, न कि कोई भी विचार। विख्यात 'भामती' टीका के रचयिता वाचस्पति मिश्र मीमांसा को 'पूजितविचार' का वाचक स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार अर्थग्रहण करने पर मान् धातु के पूजा तथा जिज्ञासा या विचार दोनों अर्थों की संगति बैठ जाती है, किन्तु यह संगति व्युत्पत्तिगत न होकर ऐतिहासिक होगी। भामतीकार की दष्टि में पूजितता अर्थ परमपुरुषार्थभूत सूक्ष्मतम ब्रह्मज्ञान के विषय में निर्णय देने के कारण है, इसी प्रकार जैमिनिनय के अनुसार परमपुरुषार्थभूत स्वार्थ आदि की प्राप्ति के विशिष्ट साधनों का प्रतिपादक या निर्णायक मानकर यहाँ भी वह अर्थ स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु सत्य यह प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में शनैः शनैः वेदों के प्रति आदर का भाव बढ़ते रहने पर उससे सम्बद्ध विचारों के प्रति भी लोगों में पूज्य–भाव बढ़ा और मीमांसा पूजित विचार का वाचक हो गया। मान् के दोनों अर्थों की संगति में दीर्घ अन्तराल की अपेक्षा रही।

इस प्रकार निष्पत्तिगत पूजा, जिज्ञासा, विचार और पूजितविचार अर्थों को व्यक्त करने वाला मीमांसाशब्द 'धर्मविचारशास्त्र' अर्थ में रूढ़ हो गया है।

मीमांसा के पर्याय :– मीमांसाशब्द तथा मीमांसादर्शन दोनों अतिप्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। यद्यपि मीमांसादर्शन का जो उद्धार जैमिनि मुनि ने किया उसकी महत्ता के कारण ही इस दर्शन का नाम 'जैमिनिनय' पड़ गया।

कुछ श्रौतसूत्रों में मीमांसा का समानार्थक शब्द 'समयविद्या' मिलता है। इसके प्रथमसूत्र की व्याख्या करते हुए 'उज्ज्वला' नाम की टीका में आचार्य हरदत्त ने 'समय' कौ पौरुषेयी व्यवस्था कहा है, आचारो को उन पर आश्रित कहा है।

शनैः शनैः इसके नामान्तर भी प्रयुक्त होने लगे। 'न्याय' शब्द इस शास्त्र के साथ बहुशः प्रयुक्त हुआ है। वाचस्पति मिश्र, पार्थसारथि, आचार्य माधव सदश आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नामकरण भी न्यायशब्द के साथ किया–जैसे न्यायकणिका, न्यायरत्नमाला, न्यायमाला–विस्तर आदि। यह नाम इस शास्त्र की विचार–प्रधानता तथा इसमें प्रमाणों से अर्थ–परीक्षण को प्रमुखता के कारण है। आपदेव सदश आचार्यों ने तो मीमांसा के भी साथ न्याय–पद का प्रयोग कर अपने ग्रन्थ का नाम 'मीमांसा–न्यायप्रकाश' रखा।

मीमांसा का एक अन्य प्रचलित नाम 'पूर्वमीमांसा' है। संभवतः जब मीमांसा का अर्थ 'पूजितविचार स्वीकार करने वाले वेदान्ती अपने शास्त्र को भी पूजित ही घोषित करने लगे, उस समय दोनों का पार्थक्य प्रकट करने के लिये प्राचीनता तथा अर्वाचीनता के क्रम से 'पूर्व' और 'उत्तर' शब्दों का योग किया जाने लगा। प्राचीनता और अर्वाचीनता का आधार इसलिए माना गया क्योंकि शंकराचार्य ने इन दोनों दर्शनों में कारण–कार्य भाव अपेक्षित नहीं स्वीकार किया है। साक्षात् रूप से पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि उत्तरमीमांसा वेद के अन्तिम भाग उत्तरांश उपनिषद् से सम्बद्ध है और मीमांसा कर्मकाण्ड अर्थात् वेदों के पूर्वभाग से, अतः दोनों में मीमांसा होने के कारण पार्थक्य का ज्ञापन पूर्व और उत्तर शब्दों से किया गया।

इसी प्रकार पूर्वतन्त्र, विचारशास्त्र, धर्ममीमांसा, अध्वरमीमांसा, वाक्यशास्त्र आदि नाम समय–समय पर अन्य शास्त्रों में इसकी भिन्नता, धर्म की स्पष्टता अथवा तत्कालीन शास्त्रीय प्रमुख प्रवत्तियों के परिचायक हैं।

लौगाक्षिभास्कर :- इनका वास्तविक नाम भास्कर तथा कुलनाम लौगाक्षि था। इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने जहाँ भी अपना परिचय दिया है वहाँ अपना नाम भास्कर नहीं छोड़ा है, लौगाक्षि पद कहीं है कहीं नहीं। यथा–अर्थसंग्रह' के प्रारम्भिक

श्लोक में लोगाक्षिभास्कर पूरा नाम है तथा उसी ग्रन्थ के अन्त में केवल 'भास्कर' है। इसी प्रकार इनके दूसरे ग्रन्थ तर्ककौमुदी के उपान्त्य श्लोक में 'भास्कर शर्मा' मात्र है। तर्ककौमुदी के द्वितीय मंगल–श्लोक में भी लौगाक्षिपद प्रयुक्त हैं, तथापि वह सर्वत्र न होने से इनका वंशनाम ही प्रतीत होता है।

भास्कर का परिवार :– अन्य भास्करों ने अपनी भिन्नता को प्रकट करने के लिए ग्रन्थकार ने अपने कुल का वाचक लौगाक्षि–पद प्रयुक्त किया। इनके पिता का नाम सामान्यतः मुद्‌गल तथा पितामह का रुद्र कहा जाता है। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इनको रुद्र का भतीजा स्वीकार किया है। गजेन्द्रगडकर तथा करमरकर महोदयों ने मंगलाचरण के श्लोक के आधार पर वायुदेव तथा रमा के इनके पिता एवं माता अथवा गुरु–गुरुपत्नी होने की संभावना व्यक्त की है। कीथ का ही मत सामान्यतः स्वीकार किया जाता है।

यद्यपि वासुदेव और रमा दोनों पदों का अर्थ सामान्यतः विष्णु ओर लक्ष्मी ही स्वीकार किया जाता है और इनको भास्कर गे गुरु–गुरुपत्नी अथवा पिता और माता का नाम नहीं माना जाता है, तथापि यह विशेष विचार है कि उन्होंने इन दोनों पदों का अविकल प्रयोग अपने दोनों ग्रन्थों में किया है। अर्थसंग्रह के मंगल श्लोक, 'तर्ककौमुदी' के प्रथम 'मंगल–श्लोक' तथा अन्तिम मंगल श्लोक में वासुदेव और रमा द्रष्टव्य हैं। यदि व्यक्ति–विशेष के वाचक ये पद न होते तो सर्वत्र एक ही पद का प्रयोग न होता। ग्रन्थकार विष्णु और लक्ष्मी के अन्य पर्यायों का प्रयोग अवश्य करता। 'तर्ककौमुदी' के श्लोकों में प्रयुक्त 'सुरवैरिभङ्गं', 'नवनीरदाभं', 'मत्स्यादिरूपैः' शब्दों से उनकी विष्णु और लक्ष्मी के रूप में प्रतीति अवश्य होती है, किन्तु 'वारितदोषसङ्गम्', 'विद्यानिधानं', सदश पदों से यह संभावना बढ़ जाती है कि रमा भास्कर की गुरुपत्नी और वासुदेव गुरु थे, जिनको पाचरात्र–वैष्णवधर्म से प्रभावित होने के कारण वह विष्णुस्वरूप ही मानते रहे हों। अतः इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वासुदेव भास्कर के गुरु तथा रमा गुरुपत्नी का नाम था।

देश तथा काल :– भास्कर का समय सामान्यत १६वीं शताब्दी ई० का अन्तिम भाग अथवा १७वीं का पूर्व भाग स्वीकार किया जाता है। लौगाक्षि सदश वंश दक्षिण में अधिक हुआ करते हैं, अतः इनका दक्षिण भारतीय होना सुनिश्चित है। अपनी तर्ककौमुदी में इन्होंने काशी की मणिकर्णिका का उल्लेख किया है जिससे इनके काशीवासी होने की संभावना बढ़ जाती है। संभव है, आज काशी में निवास कर रहे दक्षिण भारतीयों की भाँति यहीं जीवनयापन किया हो, किन्तु जन्मसूत्र दक्षिणी हो।

ग्रन्थ :– भास्कर के केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं (१) मीमांसा का 'अर्थसंग्रह' (२) वैशेषिकदर्शन का 'तर्ककौमुदी'। दोनों ही प्रकरण–ग्रन्थ हैं और अपने–अपने दर्शनों के प्रतिपाद्यों का सामान्य ज्ञान कराते हैं। 'तर्ककौमुदी' में न्याय के विषयों का वैशेषिक–पद्धति पर विवेचन है। 'अर्थ–संग्रह' मीमांसा का एक लघुकाय प्रकरण ग्रन्थ है, जिसमें शाबरभाष्य में प्रतिपादित बहुत से विषयों का अतिसंक्षेप में निरूपण है। संक्षेप में अधिकतम विषयों को प्रस्तुत करने के कारण इस ग्रन्थ का प्रचार जिज्ञासु–सामान्य में अत्यधिक हुआ और उपयोगी होने पर भी अनेक प्रकरण–ग्रन्थ इतने प्रचलित न हो सके। यहाँ केवल कर्मकाण्ड के सम्बद्ध विधि आदि वेद के पांचों विभागों का निरूपण है।

टीकाकार :– इस ग्रन्थ की संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनेक टीकायें, अनुवाद तथा व्याख्यायें हुई हैं। अब तक उपलब्ध टीकाओं में रामेश्वर शिवयोगी की 'कौमुदी' व्याख्या सबसे प्राचीन है। इस टीका का प्रकाशन वाराणसी, बम्बई आदि अनेक स्थानों से हो चुका है। डा० कामेश्वरनाथ मिश्र द्वारा रचित 'प्रकाशिका' इस टीका की महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हिन्दी व्याख्या है जो चौखम्बा सुरभारती से प्रकाशित हुई है।

इस ग्रन्थ की दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका म० म० कृष्णनाथ न्यायपचानन की 'प्रतिपादिका' है। इस टीका में अत्यन्त सरल भाषा में सप्रमाण विषयों को स्पष्ट किया गया है। इसका प्रकाशन कलकत्ता से १६२१ शकाब्द में हुआ।

इसी प्रकार जीवानन्द विद्यासागर की भी टीका कलक त्ता से छप चुकी है जिस पर 'कौमुदी' का केवल प्रभाव ही नहीं है, अपितु स्थान–स्थान पर पूरा का पूरा अवतरण ही ले लिया गया है।

कलकत्ता से ही म० म० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण की 'अमला' टीका भी १८६६ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। यद्यपि यह टीका संक्षिप्त है, तथापि सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण है।

विख्यात–वैदुष्य पण्डित श्रीपट्टाभिराम शास्त्री के द्वारा लिखित 'अर्थालोक' टीका वाराणसी से १६७७ में डा० वाचस्पति उपाध्याय की 'लोचन' हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित हुई है।

इस ग्रन्थ का अंग्रेजी भाषा में सटिप्पण अनुवाद भी अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है। डॉ० जी० थीबो ने इसका अंग्रेजी

अनुवाद १८८२ ई० में प्रकाशित कराया जिसका पुनर्मुद्रण भी हो चुका है। अनुवाद प्रामाणिक है और छिट–पुट टिप्पणियों से विभूषित है।

श्री डी० आर० गोखले ने अर्थसंग्रह का अंग्रेजी अनुवाद 'कौमुदी' के साथ १६३२ ई० में पूना से प्रकाशित कराया।

प्रमुख विवेचनीय विषय

1. **धर्म तथा उसका लक्षण।**
2. **भावना का लक्षण तथा उसके दो भेद।**
3. **वेद का लक्षण तथा उसके विभाग।**
4. **विधि का लक्षण तथा उसके प्रकार।**

इन महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन आगे किया जा रहा है–

१. धर्म तथा उसका लक्षण

प्रश्न उठते हैं – धर्म क्या है ? उसका लक्षण क्या है ?

इन प्रश्नों के उत्तर में हम कह सकते हैं कि–

मीमांसाशास्त्र का उद्देश्य 'धर्म' की व्याख्या करना है कुमारिलभट्ट कहते हैं–"धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्" अर्थात् – धर्म के विषय में कहना मीमांसादर्शन का प्रयोजन है। लौगाक्षिभास्कर के अनुसार–'यागादिरेव धर्मः।' अर्थात् यागादि क्रियाओं का सम्पादन करना ही धर्म है। यहाँ 'एव' शब्द से चैत्यवन्दनादि (वक्ष–पूजा) का निषेध और 'आदि' शब्द से दान, होम आदि क्रियाओं का तथा द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। इसलिए ज्ञात हो गया कि 'यागादिरेव धर्मः'। दूसरे प्रश्न के उत्तर में लोगाक्षिभास्कर कहते हैं :–

"वेद प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः।"

अर्थात् वेद में प्रतिपादित, प्रयोजनवाला और अर्थयुक्त विषय ही धर्म है। निर्दुष्ट लक्षण को तीन दोषों (अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव) से रहित होना चाहिये। अर्थसंग्रहकार द्वारा धर्म के विषय में दिया गया लक्षण इन तीनों दोषों से रहित है।

धर्म के लक्षण में तीन विशेषतायें हैं :–

(१) वेद प्रतिपाद्यो धर्मः (२) प्रयोजनवान् धर्मः (३) अर्थो धर्मः। इनका विवेचन इस प्रकार है :–

१. वेद प्रतिपाद्य धर्म :-

अर्थात् धर्म वह है जो वेद द्वारा प्रतिपदित किया गया हो। जैसे 'स्वर्गकामः यजेत्'। यह वाक्य यज्ञ के लिए है और वेद में कहा गया है। लक्षण में 'वेदप्रतिपाद्य' पद देने से भोजनादि में धर्म लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। यद्यपि भोजन तप्त्यादिरूप प्रयोजनवाला भी है और इष्ट भी है, किन्तु वह राग प्राप्त होने और वेदप्रतिपाद्य अर्थात् विधेय रूप में वेद प्रतिपादित न होने के कारण 'धर्म' नहीं कहा जा सकता। शंका होती है कि–

"अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः, षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिशन्नु गहस्थस्य यथेष्ट ब्रह्मचारिणाम्।।"

अर्थात् – मुनियों ने आठ ग्रास भोजन वनवासियों ने सोलहग्रास भोजन तथा गहस्थियों ने बत्तीस ग्रास भोजन करना चाहिये और ब्रह्मचारी अपनी इच्छा के अनुसार भोजन कर सकते हैं।

प्रस्तुत इन विधिपरक वाक्यों से भोजन भी विधिबोधित सिद्ध होता है अतः वेदप्रतिपाद्य लक्षण भोजन में भी अतिव्याप्त हो जायेगा और तब यह धर्म का लक्षण निर्दुष्ट नहीं रहेगा।

शंका के समाधान में कहते हैं–ऐसा नहीं क्योंकि उपर्युक्त स्मतिवचन सामान्य भोजनपरक न होकर ग्रासनियमपरक है।

२. प्रयोजनवान् धर्म :-

"प्रयोजनवान् धर्मः' कहने से धर्म की प्रयोजनवत्ता सिद्ध होती है। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोजन धर्म नहीं है, अपितु धर्म ही प्रयोजन वाला है। स्वर्गादि धर्म के प्रयोजन होते हैं और इष्ट भी। अतः प्रयोजन में धर्म लक्षण में 'प्रयोजनवत्' पद सन्निविष्ट किया गया है। इससे लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ।

३. अर्थो धर्म :-

इसी प्रकार अनर्थफल प्रदान करने वाले अनर्थभूत श्येन आदि यज्ञों में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लक्षण में 'अर्थ' (इष्ट) पद रखा गया है। अभिप्राय यह है कि श्येन आदि यज्ञ यद्यपि वेद प्रतिपादित है और शत्रुमारणरूप प्रयोजन वाले भी हैं, किन्तु अर्थ (इष्ट) नहीं है। क्योंकि श्येनादि यज्ञ करने के पश्चात् प्रायश्चित करने का भी विधान पाया जाता है और प्रायश्चित करने में दुःख ही होता है। अतः ये यज्ञ केवल सुख उत्पन्न न कर दुःख भी उत्पन्न करते हैं। दुःख प्राप्ति किसी का अर्थ (इष्ट) नहीं हो सकती। अतः अनर्थोत्पादक होने के कारण श्येन कर्म धर्म नहीं हो सकता।

यहाँ पुनः शंका होती है कि नरक जनक कर्म ही अनर्थ होता है। श्येन कर्म नरक (दुःख) जनक नहीं है। अतः वह अनर्थ भी नहीं है। फिर मीमांसा दर्शन के चतुर्थाध्याय में जैमिनि ने इष्ट साधक होने तथा वेदबोधित होने के कारण श्येन कर्म को भी धर्म कहा है। अतः लक्षणगत (अर्थ) पद का व्यावर्त्य श्येन नहीं हो सकता।

समाधान में कहते हैं कि यह शंका निर्मूल है। क्योंकि शत्रुवध निश्चित रूप से नरक जनक है। यदि ऐसा न होता तो श्येन कर्म के बाद प्रायश्चित की व्यवस्था क्यों की जाती ? अतः अनर्थफल वाला होने के कारण शत्रुवध द्वारा नरक जनक श्येन कर्म भी 'अनर्थ' ही है। फिर जैमिनी ने तो चौथे अध्याय में साक्षादिष्ट साधक होने और वेद–प्रतिपादित होने के कारण ही उसे धर्म कहा है। वस्तुतः अभिचार (श्येन) कर्मों से मनुष्य राग में प्रवत्त होता है और वेद केवल ऐसे अभिचार कर्मो को मात्र साधन के रूप में प्रतिपादित करता है। वे अनिष्टजनक तो होते ही हैं। अतः यहाँ जैमिनि के वाक्य से विरोध नहीं मानना चाहिये।

इस प्रकार प्रयोजनवान्, वेदप्रतिपाद्य और अर्थवान् होने से धर्म का लक्षण सिद्ध होता है।

२. भावना तथा उसके भेदों का विवेचन

भावना :-

उत्पन्न होने वाली वस्तु आदि की उत्पत्ति में उत्पादक का जो व्यापार विशेष 'कारण' होता है, उसे भावना कहते हैं–"भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भवायितुर्व्यापार विशेषः।" यहाँ व्यापार विशेष से तात्पर्य मानसिक व्यापार से है। उसे 'विशेष' इस विशेषण से विभूषित इसलिए किया गया है कि वह बाह्य जगत् में प्रत्यक्ष देखी जाने वाली क्रिया न होकर मानसिकी क्रिया है।

'भावना' के उपर्युक्त लक्षण को इस लौकिक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है–यज्ञदत्त ने देवदत्त से कहा' 'ओदनं पच'। अब देवदत्त यज्ञदत्त के उक्त वाक्य को सुनकर सोचता है कि यज्ञदत्त का अभिप्राय है–मुझ (देवदत्त) में ओदन पकाने के प्रति प्रवत्ति उत्पन्न करना ताकि मैं ओदन पकाऊँ। इस प्रकार यज्ञदत्त के उक्त वाक्य से देवदत्त में ओदन पकाने की प्रवत्ति उत्पन्न होती है और उसके अनुसार वह तण्डुलादि सामग्री लेकर ओदन पकाने की क्रिया सम्पन्न करता है। यहाँ यज्ञद त्त का उक्त 'अभिप्राय' ही भावना है क्योंकि देवदत्त की 'प्रवत्ति' उत्पन्न होने में वही 'कारण' है। मीमांसा की पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'शाब्दी भावना' कहते हैं। देवदत्त की इस प्रवत्ति का विषय है––ओदन–पाचन'। इस पाकात्मक क्रिया के अनुष्ठान में देवदत्त की उक्त प्रवत्ति ही 'अनुकूल' अर्थात् कारण है। देवदत्त की इस प्रवत्ति को मीमांसक "आर्थी भावना" कहते हैं।

'भावना' व्यापार विशेष अर्थात् क्रिया विशेष है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–"भाव्यते अनया इति भावना।" अर्थात् जिसके द्वारा होने के लिए प्रेरित किया जाये। जिस प्रकार क्रिया के द्वारा कुछ करने की ओर प्रवत्त हुआ जाता है, उसी प्रकार भावना के द्वारा भी कुछ उत्पन्न होने की ओर प्रवत्त हुआ जाता है।

यहाँ यह स्मरणीय रहे कि जिस प्रकार श्रोता शब्द पहले सुनता है, अर्थाधिगमन बाद में करता है किन्तु वक्ता के मस्तिस्क में उच्चार्यमाण शब्द का अर्थ और प्रयोजन पहले से ही विद्यमान होते हैं, इसी प्रकार शाब्दीभावना पहले और आर्थीभावना बाद में रहती है। अभिप्रायः यह है कि शाब्दीभावना आर्थीभावना को उत्पन्न करती है।

भेद :-

भावना के दो भेद माने गये हैं–शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना। 'यजेत् स्वर्गकामः।' इस वाक्य में 'यजेत्' पदस्थ 'त' प्रत्ययनिष्ठ लिङ् लकार में शाब्दी भावना है जिसका अभिप्रायः है–श्रोता में याग की प्रवत्ति उत्पन्न करना। श्रोता में याग की

प्रवत्ति, आर्थीभावना कहलायेगी क्योंकि वह याग के मुख्य प्रयोजन भूत अर्थ (फल) के साथ अव्यभिचारिणी (नियम का उल्लंघन न करने वाली) होती है, अर्थात् श्रोता में याग करने की प्रवत्ति उत्पन्न होने के बाद उसके द्वारा याग का अनुष्ठान किये जाने पर स्वर्गादि फल अवश्य प्राप्त होता है लेकिन शाब्दी भावना के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि उपर्युक्त वाक्य को सुनकर श्रोता में याग करने की प्रवत्ति उत्पन्न नहीं होती तो याग में अप्रवर्तमान् (न लगे हुए) श्रोता को स्वर्गादिफल (अर्थ) की प्राप्ति नहीं हो सकती।

१. **शाब्दीभावना :-** प्रयोजक का वह मानस व्यापार (अभिप्राय विशेष) जो प्रयोज्य पुरुष में प्रवत्त्युत्पादन का हेतु है, शाब्दी भावना कहा जाता है। प्रयोजक का यह अभिप्राय विशेष 'लिङ्' पद का वाच्यार्थ होता है क्योंकि लिङ् पद को सुनकर ही यह अनुभव करता है–"यह प्रयोजक पुरुष मुझे प्रवत्त कर रहा है, यह मेरी प्रवत्ति में अनुकूल व्यापार वाला है।" इस प्रकार का अनुभव ही इस बात का प्रमाण है कि 'लिङ्' पद का अर्थ 'शाब्दीभावना' है क्योंकि लिङ् पद के सुनने पर ही उक्त प्रकार का अनुभव होता है, अन्य पद के सुनने पर नहीं। वस्तुतः जिस शब्द से जो अर्थ नियमतः प्रतीत होता है वही उसका वाच्यार्थ होता है क्योंकि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होता है, जैसे–'गो' शब्द से हमेशा 'गोत्व' का ही बोध होता है, शुक्ल, कृष्ण आदि वर्णों का नहीं।

शाब्दीभावना के तीन अंश :- शाब्दीभावना में साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता, ये तीन अंश नितान्त अपेक्षित होते हैं जिस प्रकार विधिपरक 'यजेत्' पद के सम्बन्ध में किं यजेत्, केन यजेत् और कथं यजेत् इन तीनों रूपों में जिज्ञासा होती है, उसी प्रकार भावना से सम्बन्धित 'भावयेत्' पद के सम्बन्ध में भी किं भावयेत, केन भावयेत्, कथं भावयेत्–इन तीनों रूपों में जिज्ञासा होती है। किं भावयेत् से साध्य की, केन भावयेत् से साधन की और कथं भावयेत् से 'इति कर्त्तव्यता' की आकांक्षा होती है।

साध्य :– शाब्दीभावना का साध्य क्या है ? उत्तर है–आर्थीभावना। क्यों ? क्योंकि एक ही प्रत्यय से दोनों भावनाओं का बोध होता है। उदाहरणार्थ–यजेत् पदस्थ एक ही 'त' प्रत्यय से शाब्दी एवं आर्थी दोनों की भावनाओं का क्रमशः बोध होता है। इस प्रकार दोनों भावनाओं में भावक–भाव्य सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। शाब्दीभावना 'भावक' (कराने वाली) तथा आर्थी भावना भाव्य (होने वाली)।

साधन :- शाब्दी भावना का 'साधन' लिङ्ादि ज्ञान है। साधन को करण भी कहते हैं यहां लिङ्ादि का तात्पर्य लट्, लेट्, लोट आदि लकारों से भी है क्योंकि जिस प्रकार लिङ्ग से भावना का बोध होता है उसी प्रकार लट्, लोट् आदि लकारों से भी शाब्दी एवं आर्थी भावना का बोध होता हैं। जैसे–'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में 'जुहोति' पदस्थ 'ति' प्रत्यय के लट् अंश से भी 'यजेत् स्वर्गकामः' के समान एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया है।

इतिकर्त्तव्यता :- कर्त्तव्य के प्रकार को 'इतिकर्त्तव्यता' और सामान्य के भेदक विशेष को प्रकार कहते हैं। आर्थी भावना के साध्य होने के कारण 'इतिकर्त्तव्यता' का सम्बन्ध आर्थी भावना से है। इस प्रकार 'कथं भावयेत्' वाक्य का अभिप्राय हुआ–आर्थी भावना को किस प्रकार निष्पन्न करें। अभिप्रायः यह है कि 'यजेत् स्वर्गकामः' जैसे विधि वाक्यों में 'कथं यजेत्' जैसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर अर्थवाद द्वारा यागादि की प्रशंसा करके उक्त आकांक्षा का शमन किया जा सकता है। इस आकांक्षा के शमन (शान्त होने) में उक्त 'प्रकार की यागादि की प्रशंसा' ही विशेष करण (हेतु) है जिसे यहां 'इति कर्त्तव्यता' कहा गया है। ध्यान रहे कि आर्थीभावना की उत्पत्ति में लिङ्ादि ज्ञान भी करण होता है किन्तु वह 'सामान्यकरण' है जबकि इतिकर्त्तव्यता विशेष करण होती है।

आर्थीभावना :- स्वर्गादिप्रयोजनरूपफलविषयक (स्वर्गादि उद्देश्य के फल सम्बन्धी) इच्छा से उत्पन्न यागादि रूप क्रिया विषयक व्यापार 'आर्थीभावना' कहा जाता है। जैसे 'यजेत् स्वर्गकामः' वाक्य को सुनकर पुरुष में स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा होती है परन्तु स्वर्गरूप प्रयोजन की प्राप्ति यागादि रूप क्रिया से ही संभव है। अतः श्रोता में स्वर्गरूप प्रयोजन को प्राप्त करने की इच्छा से यागादि रूप क्रिया के सम्पादन करने की प्रवत्ति उत्पन्न होती है। पुरुष की यह याग विषयक प्रवत्ति ही उसका मानसिक व्यापार है और इसी को 'आर्थीभावना' कहते हैं।

आर्थीभावना के तीन अंश :– आर्थीभावना भी साधन साध्य और इतिकर्त्तव्यता इन तीन अंशों की–किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत् के रूप में आकांक्षा रखती है।

साध्य :– इस आर्थीभावना का साध्य स्वर्गादिफल है। आर्थीभावना से उत्पन्न होने पर स्वर्गादिकाम पुरुष याग का सम्पादन करता है। और यज्ञ निष्पादन के पश्चात् ही कालान्तर में मरणोपरान्त स्वर्गादिफल की प्राप्ति होती है।

साधन :– आर्थी भावना को 'केन भावयेत्' इस रूप में साधनाकांक्षा होने पर 'यागादि ही साधन है।' यह उत्तर प्राप्त होता है। इसमें स्वयं वेद वाक्य प्रमाण है। जैसे 'यजेत् स्वर्गकामः' इस वैदिक विधि वाक्य से ज्ञात होता है कि याग करने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अतः यागादि क्रियाएं ही स्वर्गादिफलरूप साध्य की साधन हैं।

इति कर्त्तव्यता :- कथं भावयेत् के रूप में इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाजादि अंग समुदाय के अनुष्ठान से यह उत्तर प्राप्त होता है अर्थात् प्रयोजनफल रूप साध्य स्वर्गादि को प्रयाज, अनुयाज आदि अंगों के अनुष्ठानपूर्वक यागानुष्ठान से सिद्ध करें।

३. वेद का लक्षण तथा उसके विभाग

वेद का लक्षण :– "अपौरुषेयं वाक्यं वेदः।" वेद के इस लक्षण में अपौरुषेय और वाक्य ये दोनों पद वेद के स्वरूप को भलिभांति स्पष्ट कर देते हैं–

प्रथमतः वेद वाक्यात्मक (शब्दात्मक) होते हैं, किन्तु महाभारतादि के वाक्यों अथवा मनु–याज्ञवल्क्यादि ऋषियों के धर्मशास्त्रीय वाक्यों में 'वाक्यात्मक वेद' की अतिव्याप्ति को रोकनें के लिए दूसरा विशेषण 'अपौरूषेय' दिया है। महाभारत आदि ऋषि प्रणीत होने के कारण पौरुषेय हैं। किन्तु सभी अपौरुषेय पदार्थ वेद नहीं हो सकते। परमाणु काल में आत्मा आदि अनेक पदार्थ 'अपौरुषेय' होंते हैं, किन्तु वे 'वाक्यात्मक' नहीं होते। अतः उन्हें वेद नहीं कहा जा सकता। इसीलिए उक्त लक्षण में 'वाक्य' पद सन्निविष्ट किया गया है।

इस प्रकार "अपौरुषेय वाक्य" के रूप में वेद का लक्षण निश्चित किया गया है।

वेद के विभाग – वेद के पांच विभाग किये गये हैं :–

१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध तथा ५. अर्थवाद। इन सभी का विवेचन इस प्रकार है :–

१. विधि :– अलौकिक विषयों पर प्रकाश डालने वाले वाक्य ही विधि हैं। विधि का लक्षण है–तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः अर्थात् अज्ञात अर्थ को बतलाने वाला वेद का भाग विधि कहा जाता है। वह विधि उस अर्थ का विधान करती है जो दूसरे प्रमाण से ज्ञात नहीं है। अतः अज्ञात और प्रयोजनयुक्त अर्थ के विधान से विधि की सार्थकता है। विधि की तीन विशेषतायें हैं :–

१. विधि अज्ञात अर्थ को बतलाती है।

२. विधि प्रयोजन से युक्त होती है।

३. विधि भावना प्रदान करती है।

जैसे–"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।" स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र यज्ञ करे। यह अज्ञात अर्थ है जो किसी भी प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से ज्ञात नहीं है। इस विधि का प्रयोजन है–स्वर्ग की प्राप्ति तथा भावना है–"अग्निहोत्रहोमेन स्वर्ग भावयेत्।" इस प्रकार विधि की सार्थकता है।

२. मन्त्र :– प्रयोगसमवेतार्थस्मारकाः मन्त्राः। प्रयोग से सम्बन्धित प्रयोजन को जो स्मरण करते हैं, वे मन्त्र हैं। अर्थात् यागानुष्ठान से सम्बन्धित उपयुक्त पदार्थों का स्मरण करना मन्त्र का कार्य है। याग के दो रूप होते हैं–द्रव्य और देवता। इन दोनों ही रूपों का स्मरण या यों कहिये कि इन दोनों का निश्चय मन्त्रों द्वारा ही किया जाता है। मीमांसा की दष्टि में वेद का एक–एक शब्द सार्थक है तो पूरे मन्त्र को निरर्थक नहीं माना जा सकता। मन्त्रों का प्रयोजन दष्ट होता है।

यहाँ शंका उठती है कि–मन्त्रों का तो अदष्ट प्रयोजन मानना चाहिये क्योंकि अनुष्ठान काल में मन्त्रों के यथास्थान उच्चारण से अदष्ट फल (पुण्य) की प्राप्ति होती है, अतः मन्त्रों का दष्ट प्रयोजन मानना ठीक नहीं।

किन्तु मीमांसकों की दष्टि में उक्त प्रकार की शंका निर्मूल है। उनका कहना है कि जब मन्त्रों का दष्ट फज माना जा सकता है ञ(यहाँ मन्त्रोच्चारण का दष्ट फल स्मरणात्मक रूप है) तो फिर अदष्ट प्रयोजन की कल्पना करना उचित नहीं है। जब कोई वस्तु सामने है तो उसे छोड़कर केवल काल्पनिक वस्तु के पीछे दौड़ना कहाँ तक ठीक कहा जा सकता है।

३. नामधेय :– "नामधेयानां व विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्वम्।" अर्थात् विधेयार्थ का निश्चय करने से नामधेय की सार्थकता है। वस्तुतः नामधेय का अर्थ है–संज्ञा अर्थात् किसी यज्ञ का नाम। नामधेय विधेयार्थ–क्रिया मात्र का बोध कराते हैं।

मीमांसा मं 'नामधेय' एक पारिभाषिक शब्द है जो वस्तुतः यागनामधेय का संक्षिप्त रूप है। जहाँ किसी विधि वाक्य में

प्रयुक्त किसी शब्द को उसके यौगिक अर्थ का बोधक न मानकर किसी याग विशेष का नाम मान लिया जाता है, वहाँ वह शब्द 'नामधेय' कहा जाता है। जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह एक विधिवाक्य है। यहाँ पर यज्ञ का साधन उद्भिद् है। उद्भिद् के दो अर्थ हैं—१. कुदाल २.यज्ञ का नाम विशेष। यहाँ पर उद्भिद् अर्थ कुदाल तो नहीं किया जा सकता अतः यज्ञ ही हो सकता है। यजेत् क्रिया है और पशु की कामना फल है। इनसे उद्भिद् का अर्थ यज्ञ—विशेष ही होता है। अतः नामधेय की सार्थकता इसी में है कि वह अन्य अर्थों की निवत्ति कर यज्ञ विशेष का विधेय प्रस्तुत करता है।

४. निषेध :– "पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः।" अर्थात् जो वाक्य पुरुष को क्रिया करने के लिए मना करते हैं, उन्हें निषेध कहते हैं। निषेध वाक्यों का उद्देश्य है, अनर्थ उत्पन्न करने वाली क्रियाओं से पुरुष को हटाना या रोकना। निषेध स्वभाव से ही प्रवर्तना का विरोधी होता है क्योंकि अनर्थोत्पादक क्रियाओं के करने से रोकता है। जिस प्रकार विधि वाक्य विधीयमान् यज्ञ आदि के लिए प्रवत्त कराता है, उसी प्रकार निषेध वाक्य अनिष्ट कार्य से निवत्त कराता है। उदाहरण के लिए 'न कलजं भक्षयेत् (कलज नहीं खाना चाहिए)। अतः यह निषेधवा क्य अनिष्टकारी कलज के खाने को मना करता है। अतः यह निषेध वाक्य है।

५. अर्थवाद :–"प्राशस्त्यनिन्दान्यतपरं वाक्यं अर्थवादः।" अर्थात् प्रशंसा अथवा निन्दा करने वाले वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। अर्थवाद विधेय अर्थ की प्रशंसा करता है तथा निषिद्ध अर्थ की निन्दा करता है। अर्थात् प्रवत्ति और निवत्ति में सहायक हैं। अर्थवाद वाक्य स्वयं में एक प्रकार से अ धूरा ही होता है। प्रशंसापरक अर्थवाद को विधिवाक्य की और निन्दापरक अर्थवाद को निषेधवाक्य की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार विधि और अर्थवाद में, निषेध और अर्थवाद में एकवाक्यता होती है। अर्थवाद के दो भेद माने गये हैं—१. विधि शेष और २. निषेध शेष। विधिशेष अर्थवाद में विधि और निषेधशेष अर्थवाद में निषेध वाक्य प्रमुख होता है तथा अर्थवाद उसका पूरक होता है। अर्थवाद वाक्य क्रियापरक या धर्मपरक होते हैं। यही इनकी सार्थकता है।

४. विधि का लक्षण तथा उसके प्रकार

गन्थकार ने विधि का विवेचन तीन स्थानों पर किया है। एक स्थान पर उन्होंने विधि को इन—"उत्पत्ति विधि, गुण विधि तथा गुण विशिष्ट विधि" तीन भेदों में विभाजित किया है।

दूसरे स्थल पर लौगाक्षिभास्कर ने विधि के इन चार—'"उत्पत्तिविधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि तथा प्रयोग विधि" प्रभेदों का विवेचन किया है।

विधियों का एक विभाजन मन्त्र प्रकरण में भी तीन प्रकार—"अपूर्व विधि, नियम विधि तथा परिसंख्या विधि" उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त विधियों में सर्वप्रथम कथित तीन विधि महत्त्वपूर्ण हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है :–

विधि की परिभाषा :– प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ का बोध कराने वाले वैदिक वाक्य विधि कहे जाते हैं। ये वाक्य न केवल विधि के अन्य भेदों में अपितु सभी प्रकार के वेद वाक्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। वेद का वेदत्व विधि की इसी विशेषता के कारण है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

अर्थात्—प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमिति से जो विषय नहीं जाना जाता, उस विषय को हम वेद के द्वारा जान पाते हैं और इसी से वेद की वेदता (ज्ञातता) सिद्ध होती है।

इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के लिए वेद जिन उपायों को बताता है, वे उपाय लौकिक नहीं अलौकिक होते है—

"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारपोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद।"

विधि प्रकार विवेचन :-

१. प्रधान विधि :– "तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः।" अर्थात् अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने वाला वेदभाग विधि है। वेद प्रतिपादित इन अलौकिक उपायों का ज्ञान प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों से सम्भव नहीं है। विधि जिस विषय का ज्ञान कराती है, उसका कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य रहता है। इस प्रकार, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अज्ञात, प्रयोजनवान् विषय का ज्ञान कराना

विधि का लक्षण है। किन्तु स्मरण रहे कि अज्ञात विषय का मात्र ज्ञान कराना ही उसका लक्ष्य नहीं है, अपितु वह ज्ञान सप्रयोजन होता है।

अतः क्रिया विशेष के सम्पादन का भी वह विधान करती है। इससे ज्ञात होता है कि विधि के प्रमुख कार्य हैं :–

१. विधि उस अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराती है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात नहीं है।

२. विधि का अर्थ सप्रयोजन होता है।

३. विधि क्रिया विशेषण का विधान करती है जिससे उस क्रिया में प्रवत्त करने की प्रेरणा भी देती है।

इसी कारण वेद में विधि की सार्थकता सिद्ध होती है। उदाहरण–"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" यह एक विधि वाक्य है। अग्निहोत्र के सम्पादन का फल स्वर्ग प्राप्ति है, अतः अग्निहोत्र 'प्रयोजनवान्' अर्थ हुआ। दूसरे शब्दों में अग्निहोत्र क्रिया और उसका फल है स्वर्ग–प्राप्ति। अग्निहोत्र और स्वर्ग प्राप्ति – दोनों में साधन–साध्य सम्बन्ध है जिसका बोध वाक्यगत भावना से भलिभांति हो जाता है। भावना के दो प्रधान अंशों साधन और साध्य का क्रमशः ततीया एवं द्वितीया विभक्ति से बोध होता है। अतः 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य का अग्निहोत्र–होमेन स्वर्गं भावयेत् रूप में अर्थ होता है। यहाँ अग्निहोत्र होम का ज्ञान वेद के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से नहीं हो पाता। यही नहीं, यह विधि अग्निहोत्र होम क्रिया का विधान कर उसमें स्वर्गकाम व्यक्ति को प्रवत्त भी करती है।

गुणविधि :– जहाँ पर कर्म (यागादि) दूसरे प्रमाण से प्राप्त हों, वहाँ पर जो विधि उस कर्म को उद्दिष्ट करके गुणमात्र का विधान करती है गुणविधि कहलाती है। जैसे 'दध्ना जुहोति' गुण विधि मुख्य क्रिया के अंगभूत द्रव्य या देवता का विधान करती है। इसे ही गुण विधान कहते हैं। गुण हमेशा अप्रधान या गौण होता है। जब मुख्य कर्म या विधान किसी अन्य प्रमाण से हुआ रहता है, तब यह विधि उस मुख्य कर्म के अङ्गभूत द्रव्यादि का विधान करती है। जैसे 'दध्ना जुहोति' यह विधि वाक्य केवल 'दधि' द्रव्य का विधान करता है। यहाँ 'जुहोति' अंश अर्थात् होम का विधान तो "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।" इस वाक्य से पहले ही प्राप्त हो चुका है। 'दध्ना जुहोति' इस विधि वाक्य में 'जुहोति' का अर्थ 'होम' ही प्रमुख है, उसी का उद्देश्य करके उसके अङ्गभूत द्रव्य 'दधि' का विधान इस विधिवाक्य द्वारा किया जाता है। इस विधि वाकय में 'दध्ना' साधन है और 'होम' साध्य है। इस विधि वाक्य का भावानुकूल अर्थ 'दध्ना होमं भावयेत्' होगा।

साध्य के समक्ष साधन गौण ही रहता है। अतः यहाँ दधि रूप गुण (साधन) का विधान होने के कारण गुणविधि है।

गुण विशिष्ट विधि :– जहाँ पर दोनों (कर्म औद गुण) अप्राप्त हों वहाँ पर जो विधि विशिष्ट का विधान करती है, गुण विशिष्ट विधि कहलाती है। जैसे 'सोमेन यजेत्' गुणविशिष्ट विधि कर्म और गुण – दोनों का विधान करती है। किन्तु यहाँ शंका हो सकती है कि एक ही काल में एक वाक्य के द्वारा दो पदार्थों का विधान कैसे हो सकता है ?

इस शंका के निराकरण में मीमांसक कहते हैं कि विधिवाक्य से केवल एक पदार्थ–होम आदि मुख्य क्रिया का विधान मानकर तथा गुण को उस मुख्य क्रिया (विशेष्य) और गुण (विशेषण) में विशेषण–विशेष्य भाव सम्बन्ध होने के कारण विशेष्य भूत क्रिया के विधान के अन्तर्गत विशेषणभूत गुण भी आ जाता है। इस कार्य का सम्पादन लक्षणा शक्ति के द्वारा होता है। 'सोमेन यजेत्' यह गुण विशिष्ट विधि का उदाहरण है। यहाँ मुख्य कर्म 'याग' का विधान किसी अन्य प्रमाण से नहीं, अपितु –सोमेन यजेत्' वाक्य से ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'सोमेन' पद का अर्थ लक्षणा से 'सोमवता' लेने पर 'सोम' गुण का भी विधान इसी विधि वाक्य के द्वारा हो जाता है। वस्तुतः 'सोम' गुण है। 'सोमेन' पद में मत्वर्थलक्षणा मानने से अर्थात् 'सोमेन' का अर्थ 'सोमवता' मान लेने पर 'सोमवता' पद 'सोमेन यजेत्' वाक्य द्वारा विधेय याग का विशेषण बन जाता है।

तब 'सोमेन यजेत्' वाक्य का अभिप्राय होता है–"सोमवता यागेन इष्ट भावयेत्" अर्थात् सोमयुक्त याग से इष्ट (स्वर्ग) की भावना करे। 'सोमवता' विशेषण और यागेन विशेष्य है जो एक दूसरे से पथक् नहीं है। इस प्रकार उक्त विधि वाक्य से 'याग' के साथ–साथ 'सोम' गुण का भी विधान होने के कारण यहाँ विशिष्ट विधि हुई।

ओ३म्

महामहोपाध्यायलौगाक्षिभास्कर प्रणीतः

अर्थसंग्रहः

वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः।

कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसंग्रहम्।। १।।

अर्थ—लक्ष्मीपति विष्णु को प्रणाम कर लागाक्षिभास्कर महर्षि जैमिनि द्वारा सूत्रबद्ध किये गये मीमांसाशास्त्र में प्रवेश कराने के लिए—'अर्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं।

(१) अथ परमकारुणिको भगवाजैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनीय तत्रादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामास-'अथातो धर्मजिज्ञासे'ति। (जै०सू०१।१।१) अत्राथशब्दो वेदाध्ययनान्तर्यवचनः। अतः शब्दो हि वेदाध्ययन दष्टार्थत्वं ब्रूते।

'स्वाध्यायोध्येतव्य' इत्यध्ययनविधौ तदध्ययनस्यार्थज्ञाषनरूपदष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनात्। तथा च वेदाध्ययनानन्तरं यतोर्थज्ञानरूपदष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोधर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्येति शेषः। जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा। अतो धर्मविचारशास्त्रभिदभारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः।

अर्थ—अतीव करुणामय श्रीमान जैमिनि मुनि ने धर्म के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के लिये बारह अध्यायों वाले 'मीमांसासूत्र' ग्रन्थ की रचना करके वहाँ प्रारम्भ में धर्म के विषय में जिज्ञासा को सूचित किया कि—ञ(**अथ अतः धर्म जिज्ञासा**)—वेदाध्ययन के अनन्तर अर्थज्ञानरूप दढ़ प्रयोजन की सिद्धि के लिये वेद के अर्थस्वरूप धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये। यहाँ इस सूत्र में 'अथ' शब्द वेद के अध्ययन के आनन्तर्य का वाचक है। सूत्र में प्रयुक्त 'अतः' पद वेद के अध्ययन की दढ़—प्रयोजनता को व्यक्त करता है। 'स्वाध्योयोध्येतव्य'' अध्ययन के विधायक रस वाक्य में वेद के अध्ययन का अर्थज्ञानरूप दढ़—प्रयोजन निर्धारित किया गया है। इस प्रकार इस अथानो आदि पूरे सूत्र का अर्थ हुआ कि वेद के अध्ययन का दढ़फल उसके अर्थ का ज्ञान है इसलिये वेदाध्ययन के पश्चात् वेद के अर्थभूत धर्म के ज्ञान की इच्छा करनी चाहिये। सूत्र में 'कर्त्तव्या' पद उपात्त नहीं है, छूट गया है अतः अर्थ की संगति के लिये उसका अध्याहार कर लेना चाहिये। 'जिज्ञासा' पद में 'विचार' अर्थ की प्राप्ति के लिये लक्षणाशक्ति का ग्रहण अपेक्षित है। 'जिज्ञासा' पद के अर्थ का विचार करते समय 'लक्षणा' शक्ति का आश्रय लेना चाहिये। इसलिये मीमांसाशास्त्र के इस प्रारम्भिक सूत्र का अर्थ यह हुआ कि धर्म पर विचार करने वाले इस शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये।

विशेष :- बारह अध्यायों वाले मीमांसा शास्त्र के प्रणेता आचार्य जैमिनी धर्म जिज्ञासा का आरम्भ करते हैं—अथातो धर्म जिज्ञासा। हमारी शास्त्र परम्परा में "अथ" शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे—मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न आदि। इस सूत्र में 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य है। अनन्तर कहने से किसी पूर्ववर्त्ती की आकांक्षा होती है यहाँ वेदाध्ययन ही पूर्ववर्ती कर्म हो सकता है। उसके अनन्तर ही धर्मजिज्ञासा अर्थात् वेदार्थविचार करना चाहिए। वेदाध्ययन के बिना वेदार्थ—विचार रूप धर्मजिज्ञासा का उदय नहीं हो सकता। अतः 'अथ' शब्द के सामर्थ्य से ही वेदाध्ययन पूर्ववर्ती कर्म होकर धर्मजिज्ञासा का हेतु बन जाता है। यद्यपि सामान्य दष्टि से सूत्र में प्रयुक्त 'अथः' पद निरर्थक प्रतीत होता है परन्तु पूज्यमहर्षि द्वारा प्रणीत कोई भी पद निरर्थक नहीं हो सकता। यदि कहा जाये कि 'अथ' शब्द का तात्पर्य मङ्गलाचारण है तो यह उपयुक्त नहीं है। 'अथ' शब्द वस्तुतः मङ्गल का सूचक है वाचक नहीं है। अतः 'अथ' शब्द आनन्तर्य बोधक होने के साथ—साथ वेदार्थ विचार का हेतु भी है।

परम्परा के अनुसार मीमांसाशास्त्र जिसे वेदार्थ विचार भी कहा जाता है—'स्वाध्यायोध्येतव्यः'' इस विधि से नियन्त्रित है। इस विधि वाक्य का अभिप्राय यह है कि अपने अधिकार के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी शाखा का अध्ययन गुरु से अर्थज्ञानपूर्वक परम्परानुसार करना चाहिय। —अर्थज्ञान' को ही दष्टार्थ कहा गया है। क्योंकि 'लभ्यमाने फले दष्टे नादष्टपरिकल्पना' अर्थात् दष्टफल के रहते हुये अदष्ट फल की कल्पना न्यायोचित नहीं है। अतः यह शंका स्वाभाविक है कि 'स्वाध्यायोध्येव्यः' इस विधि का फल क्या है ? पूर्वपक्ष के मत में विश्वजित् न्याय के अनुसार स्वर्ग ही हो सकता है। विधिवाक्य के रहते यदि श्रुति समर्पित फल न हो तो इस प्रकार के स्थल में स्वर्गरूप फल की कल्पना कर लेनी चाहिये। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि स्वाध्यायविधि का अक्षरग्रहणात्मक—अध्ययन रूप अर्थ किया गया है जिसका तात्पर्य केवल अक्षरमात्र के ग्रहण से नहीं अपितु अक्षर के साथ—साथ अर्थ के ग्रहण से भी है। अतः अर्थावबोध अर्थात् अर्थ का ज्ञान अध्ययन का दष्ट फल होता है। दष्टफल के होने पर अदष्टफल की कल्पना उचित नहीं क्योंकि अर्थज्ञानरूप प्राप्त फल का परित्याग कर अप्राप्त स्वगरूप

फल की कल्नना करने से कल्पना गौरव दोष भी आ जाता है, अतः स्वर्ग 'स्वाध्यायविधि' का फल नहीं हो सकता अर्थज्ञान ही इसका फल है। इस प्रकार सूत्र में प्रयुक्त "अतः" पद का अर्थ हुआ कि वेद राशि कण्ठस्थ कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसका अर्थ भी जानना आवश्यक है।

प्राभाकर मत के अनुसार 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' यह विधि मीमांसारूप विचारशास्त्र का प्रयोजक नहीं है। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर 'वेदमधीत्य स्नायात्' अर्थात् वेद का अध्ययन करके समावर्त्तन स्नान करें—यह विधि बाधित होती है। परन्तु कुमारिल भट्ट का मत इससे भिन्न है। उनके मत में वेदाध्ययन का फल अर्थज्ञानरूप दष्ट है। अतः यह विधि ही प्रयोजक है।

धर्मजिज्ञासा पद का लाक्षणिक अर्थ धर्मविचार है। 'ज्ञा' धातु का अर्थ ज्ञान और 'सन्' प्रत्यय का अर्थ इच्छा है इसलिये ज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु का अजहल्लक्षणा से अनुष्ठानोपयोगि ज्ञान अर्थ समझना चाहिये और इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय का जहल्लक्षणा से विचार अर्थ समझना चाहिये। इसलिए सूत्र का अर्थ हुआ कि इस धर्मविचारशास्त्र का आरम्भ करना चाहिये।

(२) अथ को धर्मः किं तस्य लक्षणमिति चेत्। उच्यते-यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। प्रयोजनेतिव्याप्तिवारणाय प्रयोजनवदिति। भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्य इति। अनर्थफलकत्वादनर्थभूते-श्येनादावतिव्याप्तिवारणायार्थ इति।

न च 'चोदनालक्षणोर्थो धर्म' (जै० सू० १।१।२) **इति सौत्रतल्लक्षणविरोधः, चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वादिति वाच्यम्। तत्रापि चोदना-शब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्।**

अर्थ—धर्म क्या है, उसका लक्षण क्या है, यदि ऐसा प्रश्न हो, तो उत्तर कहते हैं—याग आदि ही धर्म है। उसका लक्षण है—"वेद के प्रतिपादन का विषय, प्रयोजनयुक्त अर्थ धर्म है।" कहीं लोग धर्म को ही प्रयोजन न समझने लगें, अतः प्रयोजन में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये लक्षण में प्रयोजन पद का प्रयोग न करके 'प्रयोजनवत्' इस पद का ग्रहण है। भोजन आदि स्वभाव प्राप्त विषयों में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये लक्षण में वेदप्रतिपाद्यः' इस पद का सन्निवेश किया गया है। अनर्थ फलदायक होने से अनर्थस्वरूप श्येन आदि कर्मों में अतिव्याप्ति की निवत्ति हेतु 'अर्थ' पद का ग्रहण है।

चोदनापद के विधिरूप वेद के अङ्ग का वाचक होने से 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' इस सूत्र से लक्षित धर्म के लक्षण तथा (लोगाक्षिभास्कर द्वारा उक्त) धर्मलक्षण में विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ भी चोदना शब्द सम्पूर्ण वेद का वाचक है, न कि केवल विधिभाग का। वस्तुतः समस्त वेद भाग का तात्पर्य धर्म में होने से वह धर्म का ही प्रतिपादक माना जायेगा।

विशेष :- धर्मशास्त्र विचार का आरम्भ होते ही प्रथम प्रश्न हमारे मन में उठता है कि धर्म क्या है ? उसका स्वरूप अथवा लक्षण क्या है ? इसके समाधान हेतु ग्रन्थकार लौगाक्षिभास्कर धर्म का लक्षण लिखते हैं :—

'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इस लक्षण में प्रत्येक पद की सार्थकता है अन्यथा लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भवादि दोष से युक्त हो जायेगा। इस लक्षण में तीन पद हैं—वेदप्रतिपाद्यः, प्रयोजनवान् एवं अर्थः। स्वर्गकामः यजेत इत्यादि वाक्यों में यज्ञविधान स्वर्ग प्राप्ति हेतु किया गया है। 'याग' वेद से विहित है। अतः वेद प्रतिपाद्य है। स्वर्ग प्राप्ति का प्रयोजन इससे सिद्ध होता है अतः 'प्रयोजनवान्' भी है अभिलषित वस्तु होने के कारण यह 'अर्थ' भी है। इस प्रकार यागादि को धर्म मानने में कोई दोष नहीं है। धर्म का लक्षण करने के अनन्तर ग्रन्थकार लक्षण में प्रयुक्त पदों की सार्थकता का विचार करता है। प्रथमतः 'प्रयोजनवत्' पद पर विचार करने से ही स्पष्ट है कि इस लक्षण में प्रयोजनवत् पद नहीं देने से स्वर्गादि रूप (प्रयोजन) अर्थ में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि स्वर्ग वेदप्रतिपाद्य और अर्थ है। प्रयोजनवत् पद देने पर स्वर्गादि सुखादिरूप है इसलिए इसका प्रयोजनान्तर नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार वेदप्रतिपाद्य पद नहीं देने पर भोजनादि में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि भोजन तप्त्यादि रूप प्रयोजन वाला और अर्थ भी है। परन्तु इस पद के सन्निवेश से भोजन आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अर्थ पद भी साभिप्राय है। अर्थ पर नहीं प्रयुक्त करने पर अनर्थभूत श्येनादि में अतिव्याप्ति होगी। श्येनादि याग "श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादि वाक्य द्वारा वेदप्रतिपादित एवं शत्रुवध होने के कारण प्रयोजनवान् भी है। चतुर्थाध्याय में महर्षि जैमिनि ने इष्ट साधन के रूप में वेदबोधित श्येन कर्म को धर्म कहा है। अतः 'अर्थ' पद का व्यावर्त्य श्येन नहीं हो सकता। शत्रुवध नरकजनक होने के कारण श्येन कर्म भी अनर्थ है। केवल वेद्यमात्र के अभिप्राय से वेदबोधित श्येन कर्म को धर्म कहा है। वस्तुतः वह अनिष्ट जनक है, अतः उसके वारणार्थ 'अर्थ' पद का सन्निवेश आवश्यक है।

लौगाक्षिभास्कर के अनुसार 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थः धर्मः' यह धर्म का लक्षण है और जैमिनि महर्षि ने 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' यह लक्षण किया है। इस अवतरण में ग्रन्थकार ने दोनों लक्षणों में आपाततः प्रतीयमान विभिन्नता का परिहार किया है। वेद परम्परा के अनुसार पाँच भागों में विभक्त माना जाता है—यथा—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद। पूर्वपक्ष का आशय

यह है कि सूत्रकार जैमिनि के मत में केवल विधि को ही धर्म का प्रवर्त्तक स्वीकार किया गया है अर्थसंग्रहकार ने समग्र वेद अर्थात् विधि मन्त्र नामधेयादि) को धर्म का प्रतिपादक माना है। अतः इस असामजस्य का परिहार कैसे हो सकता है? इस शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है–'तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्–अर्थात् सूत्रकारीय धर्मलक्षण में चोदना पद का चोदना (विधि) तत्सम्बन्धी सभी वेदभागों का सूचक है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्रधान के उल्लिखित होने पर तदतिरिक्त अन्य का भी ग्रहण हो जाता है। अतः सूत्रकार के मत से भी वेद प्रतिपाद्य अर्थ ही धर्म का लक्षण है।

(३) स च यागादिः 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयते। तथा हि-यजेतेत्यत्रास्त्यंशद्वयं यजिधातुः, प्रत्ययश्च। प्रत्ययेप्यस्त्यंशद्वयमाख्यातत्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातत्वं दशलकारसाधारणं लिङ्त्वंपुनर्लिङ्मात्रे। उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते।

भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा च द्विधा-शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति।

अर्थ–और उस धर्म के रूप में स्वीकृत याग आदि का 'यजेत स्वर्गकामः'–स्वर्ग के इच्छुक व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिये–आदि वाक्य द्वारा स्वर्ग को लक्ष्य करके पुरुष के लिये विधान किया जाता है। जैसे कि–'यजेत' इस (धातु) के दो अंश हैं–यजि धातु तथा प्रत्यय। प्रत्यय में भी दो अंश हैं–आख्यातत्व और लिङ्त्व इनमें आख्यात दसों लकारों में होता है किन्तु लिङ्त्व केवल लिङ् में ही होता है। आख्यात तथा लिङ् इन दोनों अंशों से भावना का ही कथन होता है।

भावना उत्पन्न होने वाले फल या क्रिया की उत्पत्ति में सहायक उत्पादयिता उत्पादक का विशेष प्रकार का व्यापार है। वह भावना दो प्रकार की है–शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना।

विशेष :- धर्म के लक्षण में ग्रन्थकार पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्म साधन (प्रयोजनवान्) है। उसका साध्य उससे भिन्न स्वर्गादि है। "स च" आदि वाक्य से उसी भाव को स्पष्ट किया गया है।

ग्रन्थकार उसकी सिद्धि के लिये 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वैदिक वाक्यों के उद्धरण द्वारा प्रमाण उपस्थित कर रहा है। प्रस्तुत वाक्य में 'स्वर्गकाम' पद उद्देश्य एवं 'यजेत' पद विधेय हैं। अतः स्वर्ग को उद्देश्य करके याग का विधान करता है ऐसा स्पष्टार्थ है।

यजेत पद में धात्वंश एवं प्रत्ययांश दो धर्म हैं। धात्वर्थ याग वाचक है। प्रत्यय यद्यपि एक ही है तथापि उसके भीआख्यातत्व एवं लिङ्त्व दो धर्म हैं। तिङादि समस्त प्रत्ययों का व्यवहार 'आख्यात' पद से होता है। यह आख्यात 'या' लि ङ् धर्म लट्, लिट्, लुट्, लट्, लोट्, लङ्, लिङ् (विधि एवं आशीः) लङ् दशलकारों में विद्यमान रहता है। किन्तु लिङ् धर्म लिङ्त्व मात्र लिङ् लकार में ही रहता है। अतः यह सिद्धांत सर्वमान्य है कि आख्यात तथा लिङ्त्व इन दोनों से भावना का बोध होता है और इसी के कारण स्वर्गफल प्राप्ति हेतु पुरुष की यज्ञादि कर्मों में प्रवत्ति होती है।

भावना सामान्य का लक्षण 'भवितुर्भवानानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः' किया गया है। इस लक्षण में शाब्दी–भावना एवं आर्थीभावना दोनों का ही स्वरूप स्पष्ट है। इस लक्षण के दो भाग किये जा सकते हैं – (i) भवितुर्भावनानुकूलः (ii) भावयितुर्व्यापारविश्रेषः। इन दोनों भागों में अभिव्यक्त आशय को 'यजेत स्वर्गकामः' विधिवाक्य को दष्टांत मानकर निम्न प्रकार से हृदयङ्गम किया जा सकता है। इस वाक्य में भावयिता (=प्रयोजक) 'यजेत' पद का लिङ् अंश है कोई पुरुष विशेष नहीं है। इस वाक्य का श्रवण करके 'स्वर्गकामः' व्यक्ति यज्ञादि में प्रव् त्त होता है अतः यागविषयक प्रवत्ति को ही 'भविता' से कहते हैं। प्रकृत लक्षण में भवितुः का अर्थ हे उत्पन्न होने वाला या उत्पद्यमान। यहाँ यागानुष्ठान के प्रति उन्मुखता ही 'भविता' या उत्पन्न होना कहा गया है। ('भवन' से तात्पर्य है 'उत्पत्ति' अनुकूल=सहायक, या कारणभूत, भावयितुः,–भावयिता=उत्पादयिता) 'गामानय' इस लौकिक उदाहरण में यज्ञदत्त ने देवदत्त से कहा–गाय लाओ। देवदत्त यज्ञदत्त का 'गामानय' वाक्य सुनकर सोचता है कि यज्ञदत्त मुझ में गवानयन की प्रवत्ति उत्पन्न करना चाहता है जिससे प्रेरित होकर मै। गाय लाऊँ। तदनुसार 'गवानयनानुकूल व्यापार' में देवदत्त प्रवत्त हो जाता है। इस परिस्थिति के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि गवानयनविषयक देवदत्त की प्रवत्ति उत्पन्न होने में सहायकभूत यज्ञदत्त का अभिप्रायः विशेष=व्यापारविशेष भावना है।

इस उदाहरण से यज्ञदत्त का अभिप्राय और देवदत्त की गवानयनविषय प्रवृत्ति दोनों भावना हैं। इनमें प्रथम प्रवत्ति शाब्दी भावना है और दूसरी आर्थी भावना है।

(४) तत्र पुरुषप्रवत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङ्शेनोच्यते। लिङ्श्रवणेयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्। यथा गामानयेत्यस्मिन्वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्।

स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोभिप्रायविशेषः। वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव। अत एव शाब्दीभावनेति व्यवह्रियते। सा च भावना अंशत्रयमपेक्षते-साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत् केन भावयेत्, कथं भावयेदिति।

तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः।

साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति। तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्या शब्दे सत्त्वात्। किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा।

इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

अर्थ—उन शाब्दी तथा आर्थी भावनाओं में व्यक्ति की प्रवत्ति का जनक अथवा सहायक प्रयोजक का व्यापार विशेष शाब्दी भावना है। वह शाब्दीभावना प्रत्यय के लिङ् अंश से व्यक्त होती है, क्योंकि लिङ् का श्रवण होने पर निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि यह मुझे प्रवक्त कर रहा है अर्थात् यह मेरी प्रवत्ति के अनुकूल व्यापार करने वाला है। जो अर्थ जिस शब्द से नियमित होता है, वह अर्थ उस शब्द का वाच्य हो जाता है। जैसे 'गाम् आनय', इस वाक्य में गोशब्द का गोत्व अर्थ होता है। और वह व्यापारविशेष लौकिक वाक्य में पुरुष में स्थित अभिप्रायविशेष है किन्तु वैदिक वाक्य में पुरुष का अभाव होने से वह लिङ् आदि शब्दों में ही स्थित रहता है। इसीलिये उस शब्दनिष्ठ अभिप्रायविशेष को 'शाब्दी भावना' इस नाम से व्यवहृत करते हैं।

और वह शाब्दी भावना तीन अंशों साध्य, साधन तथा इतिकर्त्तव्यता की अपेक्षा करती है। इन तीनों अंशों का क्रमशः अभिप्राय यह है कि इस शाब्दी भावना से किस फल को सिद्ध किया जाये, किस साधन से निष्पन्न किया जाये, तथा किस प्रकार से सिद्ध किया जाये। इन (तीनों) में से साध्य के विषय में आकांक्षा होने पर आगे कही जाने वाली तीनों अंशों से युक्त आर्थी भावना साध्य के रूप में अन्वित होती है, क्योंकि एक ही (त) प्रत्यय से ज्ञात होने के कारण एक ही अभिधाान से शाब्दी भावना के साथ ही आर्थी भावना का भी ग्रहण हो जाता है। संख्या आदि का भी एक (त) प्रत्यय से ही ज्ञान होने पर भी अयोग्य होने से अर्थात् साध्य आदि के रूप में आकांक्षा की पूर्ति में अक्षम अथवा अविवक्षित होने से उनकी साध्य के रूप में संगति नहीं बैठती। साधन की आकांक्षा होने पर लिङ् आदि का ज्ञान साधकतम साधन के रूप में अन्वित होता है। उस लिङ् आदि के ज्ञान की करणता इसलिए नहीं है कि उससे भावना की उत्पत्ति होती है। उस लिङ्गादि ज्ञान की करणता इसलिए नहीं है कि उससे भावना की उत्पत्ति होती क्योंकि उस लिङ् आदि का ज्ञान होने से पहले भी भावना शब्द में रहती ही है। अपितु लिङ् आदि का ज्ञान भावना के ज्ञापक के रूप में अथवा शाब्दी भावना के साध्य के साधक के रूप में करण होता है। इति कर्त्तव्यता अर्थात् व्यापार को कैसे किया जाये को जानने की इच्छा होने पर अर्थवाद से ज्ञाप्य प्रशस्तता इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित होती है।

विशेष :- उभयविध भावनाओं में शाब्दी भावना का लक्षण इस प्रकार है :—

'पुरुषप्रवत्त्यनुकूलो भावयितर्व्यापारविशेषः' 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वैदिक वाक्यों में 'यजेत' पद को सुनकर पुरुष में स्वर्गादि प्राप्ति के लिये यज्ञादि कार्यों मे प्रवत्ति देखी जाती है। शङ्का होती है कि यह प्रवत्ति क्यों उत्पन्न हुई ? मीमांसक की दष्टि से इसका समाधान प्राकृत संदर्भ में दिया गया है—जो शाब्दी भावना के स्वरूप को भी स्पष्ट करता है। प्रयोज्य पुरुष की प्रवत्ति के अनुकूल प्रयोजक वेद वाक्य या आचार्य के वाक्य (भावयितुः) के व्यापार विशेष को शाब्दी भावना कहा गया है। शाब्दी भावना 'लिङ्त्व' के 'त' प्रत्ययांश से है। लौकिक व्यवहार में जब भी हम प्रयोक्ता द्वारा 'उपासीत, स्नायात् या यजेत' आदि का प्रयोग सुनते हैं तब हमारे मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि यह प्रयोक्ता हमें किसी कर्म में प्रवत्त कर रहा है। अर्थात् प्रयोज्य को यह बोध होने लगता है कि प्रयोजक पुरुष में भावना विद्यमान है जिससे मुझ में उपासना, स्नान या यज्ञादि कर्म करने की प्रवि्त्ति उत्पन्न हो। वस्तुतः यह अनु भव 'लिङ्' शब्द के सुनने से ही होता है। परन्तु ऐसा क्यों होता है ? इसका समाधान ग्रन्थकार ने 'यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्', अर्थात् जो जिस शब्द से नियमतः प्रतीत होता है वह उस शब्द का वाच्य (अर्थ) है, इन पंक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया है।

इस नियम को समझाने की दष्टि से जैमिनि के 'आकृतिस्तु श ब्दार्थः' सूत्र के आधार पर गो शब्द से 'गोत्व' (आकृति को) समझना चाहिये, यह भी प्रतिपादित किया है। इस प्रकार लिङादि विधायक वाक्यों का प्रवत्ति के अनुकूल व्यापार में शक्ति स्वीकार करनी चाहिये। प्रवत्यनुकूलव्यापार ही प्रवर्तना है और यह प्रवर्तना ही शाब्दी भावना है, ऐसा सिद्ध होता है।

प्रवत्ति के अनुकूल व्यापार क्या लोक एवं वेद में समान है अथवा भिन्न—भिन्न हैं ? इस संशय का समाधान प्रस्तुत

अवतरण में किया गया है। लौकिक 'गामानय' इत्यादि वचनों में राजपुरुष अथवा आचार्य भत्य या शिष्य को गवानयन में प्रवत्त कराता है। भत्य या शिष्य भी पद–पदार्थ का ज्ञान करके गवानयन में प्रवत्त होता है। स्पष्ट है कि प्रयोजक आचार्यादि अपने अभिप्राय को लोट्, लिङ्ादि का अर्थ समझा जाता है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि आज्ञादि रूप प्रवर्त्तनाएं चाहे ज्ञानरूप हो, चाहे इच्छारूप, परन्तु चेतन का ही धर्म है, अचेतन का नहीं। वेद में भी विधिवाक्यों से प्रवत्त होकर 'मैं यज्ञ करता हूँ' इत्यादि रूप व्यवहार होने से वैदिक लिङ्ादिशब्दों में उक्त आज्ञादि से भिन्न प्रवर्त्तनारूप धर्म सिद्ध होता है। वही 'चोदना, प्रवर्त्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश, शब्दभावना' आदि शब्दों से कहा जाता है। वह शाब्दी भावना ज्ञान–इच्छादि–रूप चेतन धर्मों से भिन्न है अतः भट्टपाद ने भावार्थाधिकरण में कहा है–

अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङ्ादयः।'

अर्थात् लिङ्ादि विधिरूप आख्यात का अर्थ अभिधा भावना है, यह लिङादिरूप आख्यात का ही अर्थ है। लिङ्ादि आर्थी भावना है, लिङ्ांश का अर्थ शाब्दी या अभिधा भावना है। वेद अपौरुषेय है अतः वहाँ प्रवर्त्तयिता कोई पुरुष नहीं है। वैदिक व्यवहार में वेद ही प्रवर्तक समझा जाता है। अतएव वैदिक विविध वाक्यों में आख्यातांश का अर्थ आर्थीभावना होता है तथा लिङ्ाश का अर्थ शाब्दीभावना होता है।

शाब्दी भावना के स्वरूप विवेचन के अनन्तर उसके अंशत्रय–साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता पर विशद विचार किया गया है। वस्तुतः प्रवत्यनुकूल व्यापारवती शाब्दीभावना का साध्य प्रयोज्य की प्रवत्ति है जो आर्थीभावना के द्वारा सम्पन्न होती है। अप्रवत्त को प्रवत्त कराना ही विधि का प्रयोजन है। आचार्य चैत्र को गवानयन में प्रवत्त कराना चाहता है। अतः चैत्र आदि की प्रवत्ति ही प्रवर्त्तना की सिद्धि है और यह प्रवत्ति आर्थीभावना है। एवच, किं भावयेत् ? का समाधान 'प्रवृ़त्तिं भावयेत्' होगा। इस सिद्धान्त को पुष्ट करने हेतु ग्रन्थकार ने लिखा है–'एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभि धानश्रुतेः – भाव यह है कि 'यजेत', 'आनयेत्' इत्यादि धातुओं के अनन्तर जो 'त' प्रत्यय है उसके दो धर्म हैं–आख्याततत्व एवं लिङ्त्व–परन्तु प्रत्यय एक ही है और ये दोनों धर्म दो अर्थ के प्रतिपादक हैं। अर्थात् लिङ्त्व से शाब्दीभावना का बोध होता है एवं आख्यात से आर्थीभावना का। शाब्दीभावना के साध्य की आकांक्षा होने पर आर्थीभावना का अन्वय साध्य रूप में इसलिये होता है क्योंकि दोनों का ही विधान एक ही प्रत्यय से किया गया है।

इस प्रसंग में यह संशय होता है कि शाब्दीभावना के साध्य रूप में आर्थीभावना का अन्वय इसलिये किया जाता है कि दोनों ही एक प्रत्ययगम्य हैं एवं समान श्रुति से प्राप्त हैं, परन्तु 'त' प्रत्यय से केवल आर्थीभावना का ही बोध नहीं होता अपितु उससे संख्या, काल, पुरुष का भी बोध होता है अतः इन्हें भी शाब्दीभावना का साध्य क्यों न माना जाये। इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है–

'अयोग्यत्वात्र साध्यत्वेनान्वयः' अर्थात् यद्यपि तिङ्वाच्य संख्या एवं काल भी एक 'त' प्रत्यय गम्य है तथापि ये दोनों शाब्दीभावना के साध्य नहीं हो सकते हैं क्योंकि इन दोनें में 'कृतिसाध्यत्व' अर्थात् पुरुषसाध्यत्व का अभाव है अतः साध्यत्व रूप में अव्यय नहीं हो सकता।

शाब्दीभावना की करणाकांक्षा होने पर लिङ्ादिज्ञान का करणरूप में अन्वय होता है। यहाँ 'लिङ्ादि' में आदि पद से लोट्, लेट्, तव्यादि प्रत्ययों का ग्रहण होता है। 'दण्डेन घटः' आदि वाक्यों में घट के उत्पादक रूप में दण्ड का करणत्व अभिप्रेत है उस प्रकार 'करण' यहाँ नहीं है इस शंका के निवारणार्थ कहा गया है कि लिङ्ादिज्ञान शाब्दीभावना का उत्पादक नहीं है क्योंकि लिङ्ादिज्ञान से पहले भी शब्द में शाब्दीभावना विद्यमान है। लिङ्त्वधर्म से अविच्छन्न प्रत्यय शाब्दीभावना का वाचक है। वाचक पद से पद–पदार्थ का सम्यग्ज्ञान करके ही पुरुष को 'अर्थ' का ज्ञान होता है। शब्द का वाच्य के साथ वाच्यवाचकभावरूपी सम्बन्ध नित्य हैं अतः पदपदार्थ के सम्बन्ध ज्ञान के पूर्व भी वाच्यवाचकसम्बन्ध की विद्यमानता के कारण लिङ्गादिज्ञाान को उत्पादकस्वरूप में करण नहीं माना जा सकता। भाव यह है कि 'गां नयति, 'गां निनाय' इत्यादि वाक्यों को सुनकर किसी भी व्यक्ति में प्रवत्यनुकूल व्यापाररूपी क्रिया नहीं होती अपितु 'नय आनय' आदि प्रयोगों से ही प्रवत्ति होती है। यह प्रवत्ति आर्थीभावना है जो कि शाब्दीभावना द्वारा साध्य है।

ऊपर लिखित विवेचन से यह शंका स्वाभाविक है कि जनसामान्य की प्रवत्ति लिङ्ादिज्ञान से यागादि में क्यों नहीं होती? इस शंका का समाधान 'इतिकर्त्तव्यता.....' आदि के द्वारा किया गया है। 'इतिकर्त्तव्यता' पद में इतिशब्द का प्रकार अर्थ है (इति अनेन प्रकारेण, कर्त्तव्यं साध्यम्, उतपादनीयम् इति इतिकर्त्तव्यम्, तस्य भावः इतिकर्त्तव्यता) अर्थात् यागादि करने की प्रक्रिया का बोध इतिकर्त्तव्यताज्ञान से होता है। प्रकृत सन्दर्भ में सामान्य से विशेष को अलग करने वाले पद को ही 'प्रकार' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। अतः लिङ्गादिज्ञानरूपकर्त्तव्य सामान्य माना जायेगा एवं उसका भेदक जो कर्मप्राशस्त्यरूप विशेष है उसका ग्रहण

'इतिकर्त्तव्यता' रूप में होगा। भाव यह है कि जिस पुरुष को यागादिरूपी कर्म में प्राशस्त्य का ज्ञान होगा उसी को ही 'लिङ्ादिश्रवण' से कर्म में प्रवत्ति होगी परन्तु जिसे प्राशस्त्यज्ञान नहीं होगा उसकी प्रवत्ति नहीं होगी। यह अन्यव्यतिरेक सिद्धांत से स्पष्ट है। वैदिक कर्म के प्राशस्त्य का ओध अर्थवाद वाक्यों से होता है। यथा—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' यह विधि वाक्य है। अर्थात् धन की इच्छा रखने वाले पुरुष को वायु देवता श्वेत गुण युत द्रव्य द्वारा याग करना चाहिए। इस वाक्य के सन्निकट 'वायुर्वे क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति, स एव एनं भूतिं गमयति' इत्यादि वाक्य आम्नात है। विधिवाक्य 'वायव्य' आदि में भूत आदि पदों से फल स्वरूप का बोध होता है। कर्मप्राशस्त्य का बोध तो 'वायुर्वे क्षेपिष्ठा—(वायुशीघ्रगामी देवता है। वह शीघ्र ही उसे ऐश्वर्य देती हैं, जो उसके भागधेय श्वेत पशु से उसका आराधन करते हैं) इस अर्थवाद से होता है। यद्यपि अर्थवादों का वाच्यार्थ प्रशंसा नहीं है तथापि लक्षणा से प्रशंसा अर्थ निकलता है।

(५) प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना, सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते, आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।

साप्यंशत्रयमपेक्षते-सांध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

अर्थ :- स्वर्ग आदि उद्देश्य की इच्छा से होने वाली याग आदि क्रिया से सम्बद्ध व्यापार आर्थी भावना है। यह प्रत्यय के आख्यात अंश से व्यक्त होती है क्योंकि सभी आख्यात व्यापार को ही प्रकट करते हैं। उस आर्थी भावना को भी तीन अंशो साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता अर्थात् किसकी भावना करे, किससे भावना करे और कैसे भावना करे—की अपेक्षा होती है। इनमें से साध्य की आकांक्षा होने पर स्वर्ग आदि फल साध्य के रूप में अन्वित होता है। साधन की आकांक्षा होने पर याग आदि करण के रूप में अन्वित होता है और इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाज आदि अङ्गसमूह इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित होता है।

विशेष :- इस प्रकरण में आर्थी भावना का स्वरूप निरूपित हुआ है।

'यजेत स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्य के श्रवण करने के अनन्तर श्रोता यजमान में स्वरूप फल प्राप्ति हेतु यागादि कर्मानुष्ठान की प्रवत्ति होती है। पुरुष की याग—विषयक मानसिक व्यापार को ही आर्थीभावना कहते हैं। इस व्यापार को कुछ लोग 'प्रयत्न' के नाम से अभिहित करते हैं। प्रयत्न पक्ष में 'रथो गच्छति' आदि प्रयोगों में 'गमनानुकूलव्यापार' चेतना का ही धर्म हो सकता है अतः वाहक अश्वादि में चेतन धर्म मान कर असंगति का निवारण है परन्तु द्वितीय पक्ष में 'रथो गच्छति' इत्यादि प्रयोग असाधु प्रतीत होते हैं तथापि इसका समाधान यह हो सकता है कि रथ के गमन करने से पूर्वदेश संयोग का नाश होकर, उत्तरदेश के साथ संयोग होने पर गन्तव्य ग्राम देश की प्राप्ति होती है अतः प्रयोग में दोष नहीं होगा। यह पक्षद्वय नवीन एवं प्राचीन मीमांसक के नाम से प्रचलित है। तात्पर्य यह है कि व्यापार रूप भावना प्रायः चेतन में ही रहती है, परन्तु चेतन में ही रहने का सर्वथा नियम नहीं है। अतएव 'रथो गच्छति' ('रथ जाता है') इत्यादि वाक्यों में चकभ्रमणरूप भावना अचेतन को दी है इसलिए 'रथो गच्छति' के 'ति' आख्यात का भी भावनारूप मुख्यार्थ है।

इससे पूर्व यह कहा गया है कि विधिवाक्यों में लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय अवश्य होते हैं। उनका भावना ही अर्थ होता है। वह भावना भी दो प्रकार की होती है—शाब्दीभावना एवं आर्थीभावना। यथा 'यजेत' में 'यज्' प्रकृति है और लिङ् प्रत्यय है। लिङ् में लिङ्त्व और आख्यातत्व ये दो धर्म हैं। आख्यातत्व दस लकारों में रहता है किन्तु लिङ्त्व धर्म लिङ् में ही रहता है। आख्यात का अर्थ है—आर्थी भावना एवं लिङ् का अर्थ है शाब्दी भावना। 'अर्थयते इति अर्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार फलकामनायुक्त पुरुष ही 'अर्थ' शब्द का वाच्य है। उसी की भावना आर्थीभावना कही जाती है। अतः भावयिता पुरुष में रहने वाला वह यत्नविशेष आर्थीभावना कही जाती है, जिससे 'फलभावना' उत्पन्न होती है।

उस आर्थीभावना के तीन अंश होते हैं—'कि भावयेत्', 'केन भावयेत्', 'कथं भावयेत्, अर्थात् साध्य, साधन एवं इतिकर्त्तव्यता (प्रक्रिया)। स्वर्ग आदि से साध्याकांक्षा पूरी होती है, याग से साधनविषयक एवं प्रयाज आदि रूप अंगों से ' इतिकर्त्तव्यता' की आकांक्षा पूरी होती है।

भाव यह है कि—आर्थीभावना से ही देवदत्तादि की प्रवत्ति यागादि में होती है इसके अनन्तर स्वर्गादिरूप फल की प्राप्ति होती है। वस्तुतः स्वर्ग की उत्पत्ति यागजन्य नहीं है क्योंकि स्वर्ग की विद्यमानता पहले से ही है अपितु याग सम्पादन द्वारा यज्ञकर्त्ता द्वारा अपने इष्ट स्वर्ग को प्राप्त करता है।

साध्य स्वर्ग का साधन यागानुष्ठान है यह पहले कहा गया है। 'यजेत स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्यों से विदित होता है

कि यागादि से स्वर्गप्राप्ति होती है अतः साध्य स्वर्ग का याग साधन माना गया है। मीमांसासिद्धान्त के अनुसार यागादि क्रिया के सम्पन्न हो जाने पर यजमान में 'अपूर्व' नामक गुण विशेष की उत्पत्ति होती है और मत्यु के बाद उसी अपूर्व के बल से उसे स्वर्ग प्राप्ति होती है।

साध्य एवं साधन सम्बन्धी चर्चा के अनन्तर आकांक्षा होती है कि साध्य की सिद्धि किस प्रकार करें। इसे ही 'इतिकर्त्तव्यताकांक्षा' कहा गया है। किस प्रकार करें ? कथं भावयेत ? – का समाधन है–'प्रयाजादि अंगसमुदाय द्वारा स्वर्ग प्राप्ति करे। यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, वहिर्यजति', स्वाहाकार' यजति; इत्यादि वाक्यों द्वारा विहित पच यागों को प्रयाज संज्ञा दी गई है। ये पाँचों याग दर्शपूर्णमास प्रकरण में पढ़े गये हैं परन्तु इनके अनुष्ठान से क्या फलप्राप्ति होगी ? यह नहीं बताया गया है। 'दर्शपूर्णामासाभ्यां यजेत स्वर्गकामो' इस विधिवाक्य से 'दर्श' और 'पूर्णमास' याग का विधान स्वर्गप्राप्ति हेतु है। यह अङ्गीयाग अर्थात् प्रधान याग माना जाता है एवं इसमें स्वर्गरूपी फल का भी स्पष्टतः उल्लेख है। 'प्रजायाः क र्त्तव्याः' इस वाक्य द्वारा प्रयाजादि का भी अनुष्ठान विहित है। और दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित होने के कारण ये प्रधानयाग के अङ्ग हैं। अङ्गसहित ही अङ्गी फलवान् माना जाता है अतः आर्थी भावना में इस बात की आकांक्षा होती है कि याग से फल किस प्रकार प्राप्त किया जाए ? इसी प्रकार प्रयाजानुयाजादि भी फल साकांक्ष होने पर दर्शपूर्णमास के द्वारा ही स्वर्गफल प्राप्ति में सहायक माने जाते हैं। अतः 'इतिकर्त्तव्यताकांक्षा' होने पर प्रयाजादि अङ्गसमूह द्वारा अनुष्ठान करने की बात कही गई है।

(६) अथ को वेद इति चेत्। उच्यते-अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवादभेदात् पचविधः।

अर्थ :- यदि प्रश्न हो कि वेद क्या है ? तो उत्तर है कि अपौरुषेय अर्थात् किसी भी पुरुष के द्वारा न रचे गये वाक्य वेद हैं। वह वेद विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद के भेद से पाँच प्रकार का है।

विशेष :- धर्म के स्वरूप कि प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–"वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः" अर्थात् वेद द्वारा प्रतिपादित प्रयोजनवान् अर्थ धर्म है। अब प्रश्न है कि वेद क्या है ? यहाँ वेद के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि अपौरुषेय वाक्य वेद है और वह वेद, विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद भेद से पाँच प्रकार का है।

वेद के सभी विभाग विधि मूलक हैं। विधि के आश्रय से ही मन्त्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद की सार्थकता है। आज्ञात अर्थ के ज्ञापक होने से ही उसे विधि कहा जाता है परन्तु अज्ञात ज्ञाापन मन्त्र मात्र से ही विधि पुरुष का यागादि कर्म में प्रवत्त करने में समर्थ नहीं होती, अपितु उस अज्ञात अर्थ को किसी प्रयोजन की भी सिद्धि करनी चाहिये। इस प्रकार वह विधिवाक्य स्वयं भी प्रयोजनवान् हो जाता है।

'अग्निहोत्रं जुहोति' इस उत्पत्तिविधि के अन्यत्र पठित होने से 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' को अधिकार विधि माना जाता है। होम कर्म का नामधेय 'अग्निहोत्र' है। इस विधि द्वारा स्वर्ग को उद्देश्य करके 'अग्निहोत्रसंशक' होम का विधान किया गया है।

विधि के लक्षण की संगति प्रकृत उदाहरण में स्पष्ट करते हुए कहा गया है–'मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते'–भाव यह है कि अग्निहोत्र होम करने से स्वर्ग लाभ होता है यह पहले अज्ञात अर्थ का ज्ञापक वि धि वाक्य हो गया। प्रसंग क्रम से यह भी स्पष्ट किया गया है कि विधि में कर्म का ही करण रूप से अन्वय करके 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्ग भावयेदिति' अर्थात् अग्निहोत्र होम से स्वर्ग का उत्पादन करे' यह अर्थ समझना चाहिये। 'जुहुयात्' इस पद में 'धात्वर्थ' होम है एवं आख्यातार्थ 'भावना' है। अतः करण में ततीया की विवक्षा से 'होमेन भावयेत्' यह वाक्यरूप होगा। एवं 'किं भावयेत्' ? का उत्तर 'स्वर्ग' होगा। अतएव इसे 'अपूर्वविधि' कहते हैं।

अपूर्वविधि के निरूपण के अनन्तर गुणविधि के स्वरूप को बोधगम्य बनाने के लिये 'दध्ना जुहोति' का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। कभी–कभी विधिवाक्यों में केवल उस द्रव्य का विधान रहता है जिससे यज्ञानुष्ठान करना है और 'कर्म' (धात्वर्थः–यज्ञकर्म) का विधान किसी अन्य वाक्य के द्वारा होता है। 'दध्ना जुहोति' इस विधि वाक्य में केवल 'दधि' मात्र का उल्लेख है जिससे यज्ञ करना है परन्तु मुख्य 'होम' 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य द्वारा विहित है। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि जो 'विधेय' होता है उसका (भावना में) करण रूप में एवं 'उद्देश्य' का कर्म रूप में अन्वय होता है। अतः 'दध्ना जुहोति' का वाक्यार्थ बोध 'दध्ना होमं भावयेत्' हुआ। यहाँ होम क्रिया का साधन 'दधि' है अतएव 'दधि' रूप गौण वस्तु विधायक वाक्य होने से 'दध्ना जुहोति' को गुणविधि माना जाता है।

'सोमेने यजेत' उदाहरण देकर विशिष्ट विधि की व्याख्या की गयी है।

'सोमेन यजेत' अन्यत्र विहित किसी भी यज्ञ कर्म में निर्दिष्ट नहीं है। अतः इसी वाक्य से (सोम) गुण एवं होम कर्म

दोनों का ही विधान मानना होगा, परन्तु यह सम्भव कैसे है ? सोमेन यजेत का वाक्यार्थबोध 'सोमवता=सोमविशिष्टेन यागेन इष्टं भावयेत् ?' मानने पर समस्या का समाधान सम्भव है। क्योंकि 'सोमेन यागेन इष्टं भावयेत्' से निर्दुष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। सोमेन का अर्थ 'सोमवता' स्वीकार करने के लिए 'लक्षणा' का आश्रय लेना होगा। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जब शब्द की अभिधा शक्ति से उपयुक्त अर्थ का ज्ञान नहीं होता तब लक्षण को स्वीकार करना पड़ता है। 'सोमेन यजेत' में सोमवता अर्थ के लिए 'मत्वर्थलक्षणा' माननी पड़ती है। शास्त्रीय शब्दावली में इसे 'उपादानलक्षणा या अजहल्लक्षणा' कहते हैं। अतः याग एवं सोम दोनों का विधान सम्भव है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'मत्वर्थलक्षणा' के बिना भी 'सोमेन यजेत' का अर्थ 'सोमेन योगेन इष्टं भावयेत्' किया जा सकता है, क्योंकि याग के साथ सोम का अन्वय हो जायेगा परन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस स्थिति में 'सोमेन इष्टं भावयेत्' एवं 'यागेन इष्टं भावयेत्' ये दो परस्पर निरपेक्ष वाक्य मानने पड़ेंगे और वाक्यभेद नामक दोष भी होगा। यद्यपि लक्षणा स्वीकार करने के सिद्धान्त पक्ष में भी दोष की उद्‌भावना की जा सकती है तथापि लक्षणा में पदद्दोष है और वाक्यभेद में वाक्यदोष, अतः कल्पनालाघव के कारण लक्षणा का आश्रय करना ही श्रेयस्कर है।

इससे पूर्व यह स्पष्ट हो चुका है कि 'सोमेन यजेत' इस विशिष्ट विधि द्वारा याग एवं द्रव्य दोनों का ही विधान होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इस वाक्य से दो भिन्न वाक्यों का आशय प्रकट हो रहा है– (i) सोमेन यागं भावयेत् एवं (ii) योगेन इष्टं भावयेत्–इस प्रकार वाक्यभेद की समस्या आ जायेगी। इस समस्या का समाधान यह है कि–वाक्यभेद नामक दोष वहाँ मानना चाहिये जहाँ एक ही वाक्य द्वारा दो तरह का विधान दिया जा रहा हो। 'सोमेन यजेत' उदाहरण में दो भिन्न वस्तुओं का विधान नहीं है क्योंकि स्पष्टतः विधान तो केवल सोम विशेषण युत याग का ही है। अतः दो विधायक वाक्य नहीं स्वीकार करने पडेंगे। 'श्वेतवस्त्रधारी पुरुष' को ले आओ इस लौकिक उदाहरण में कोई विवेकशील प्राणी श्वेत वस्त्र एवं पुरुष को अलग–अलग नहीं लाता। उसी प्रकार सोमविशिष्ट याग के विधान से सोम का भी विधान स्वतः सिद्ध है। अतः वाक्य–भेद दोष नहीं है।

'सोमेन यजेत' को गुणविधि क्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता, इस आशंका का समाधान ग्रन्थकार ने किया है।

पूर्वपक्ष का आशय यह है कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्य से सोमयाग रूप कर्म प्राप्त है इसलिये 'सोमेन यजेत' वाक्य द्वारा सोमरूप गुण को ही विहित मानना चाहिये। इस प्रकार मत्वर्थ में लक्षण स्वीकार करने से प्राप्त कल्पना गौरव का भी परिहार हो जायेगा एवं 'सोमेन यागं भावयेत् अर्थात् सोम द्वारा याग की भावना करे, ऐसा वाक्य बोध होगा। परन्तु सिद्धान्त पक्ष इसे स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उत्पत्तिविधि के कर्मस्वरूपमात्र का ही ज्ञान होता है और अधिकारविधि इससे विहित कर्म के फल विशेष के साथ सम्बन्धमात्र का बोध कराती है। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः' से यागानुष्ठान में प्रवत्त पुरुष को फलोपभोगविषयक योग्यता का ज्ञान होता है। अतः यह अधिकारविधि है। उत्पत्तिविधि नहीं है। अतएव सोमयागस्वरूप ज्ञान हेतु विशिष्ट विधान अपरिहार्य है।

यद्यपि 'उद्‌भिदा' यजेत पशुकामः' वाक्य द्वारा उद्‌भिद् नामक याग एवं 'पशुकामः' पद से फल सम्बन्ध का दोनों का बोध होने से इसे अधिकारविधि एवं उत्पत्तिविधि दोनों ही माना जाता है। इसी तरहय 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' को भी अधिकारविधि एवं उत्पत्तिविधि दोनों ही मानना ठीक होगा। इस प्रकार सोमेन यजेत को गुणविधि माना जा सकेगा, जिससे लक्षणा की आवश्यकता नहीं होगी। परन्तु सिद्धान्ती इस बात का अनुमोदन नहीं करता क्योंकि 'उद्‌भिदा यजेत पशुकाम' के लिए कोई दूसरा उत्पत्तिवाक्य उपलब्ध नहीं होता। यदि ज्योतिष्टोमेन से याग एवं उसका फल दोनों ही ग्रहण किया जायेगा तब वाक्यभेद नामक दोष होगा।

अतः एक ही विधिवाक्य से दो प्रकार के पथक् पथक् विधान होंगे–प्रथमतः यागस्वरूप निरूपण होगा, दूसरा अधिकार का। अतः यह कथन ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाये कि 'सोमेन यजेत' को विशिष्टविधि मानने पर वाक्यभेद (i) गुण–विधान (सोम) (ii) उत्पत्तिविधान याग) होगा, यह भी उचित नहीं है क्योंकि सोम को विशेषण, एवं याग को विशेष्य माना गया है अतः विशेषण–विशेष्यभाव के कारण वाक्यभेद की स्थिति नहीं होगी। 'सोमेन यजेत' में यद्यपि विशिष्ट विधान मानने पर 'मत्वर्थलक्षणा' दोष होता है तथापि वाक्यभेद दोष से लक्षणा दोष हीन है। क्योंकि वाक्यभेद वाक्यदोष है और ल्रक्षणादोष पददोष है। पदवाक्यदोष एवं पददोष में पददोष को ही लाघव के कारण स्वीकार करना उचित है। इसलिये 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' की उत्पत्ति एवं अधिकारविधि दोनों मानने से उत्पन्न होने वाले वाक्यभेद दोष की अपेक्षा या सोम पद में मत्वर्थलक्षणा स्वीकार कर 'सोमवता–सोम–विशिष्ट याग का विधान श्रेष्ठ है।

(७) तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। स च तादशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं

विधत्ते-यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इति विधिर्मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते, अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते-यथा 'दध्ना जुहोतीत्यत्र होमस्याग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्रविधानं, 'दध्ना होमं भावयेदि'ति। यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते-यथा 'सोमेन यजेतेत्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात् सोमविशिष्टयागविधानम्। सोमपदे मत्वर्थलक्षणया सोमवता यागेनेष्टं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

न चोभयविधाने वाक्यभेदः, प्रत्येकमुभयस्याविधानात्, किन्तु विशिष्टस्यैकस्यैव विधानात्।

न च 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'ति विधि प्राप्तय्यागोद्देशेन सोमरूपगुणविधानमेवास्तु, सोमेन यागं भावयेदिति किं मत्वर्थलक्षणयेति वाच्यम्। तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधित्वासंभवात्।

ननु 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्येव ज्योतिष्टोमेनेत्यस्याप्युत्पत्त्यधिकारविधित्वमस्त्विति चेत्, न। दष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वाश्रयणात्। किच ज्योतिष्टोमेनेत्यस्योभयविधित्वेनेनैव यागस्तस्य फलसंबन्धोपि, बोधनीय इति सुदढ़ो वाक्यभेदः। तद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविधानम्।

विधिश्चतुर्विधः-उत्पत्तिविधिः, विनियोगविधिः, अधिकारिविधिः, प्रयोगविधिश्चेति।

अर्थ :- वेद के इन पाँच विभागों में अज्ञात इष्ट का ज्ञान कराने वाला वेद का अंश विधि है। वह विधि उस प्रकार के प्रयोजनवान् अर्थ का विधान करने से सार्थक है जिस प्रकार का विषय उसके अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधि दूसरे प्रमाण से अबोधित स्वर्गरूपी प्रयोजन से युक्त होम का विधान करता है। 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना करे' विधि द्वारा यह अर्थ समझना चाहिये।

जहाँ कर्म दूसरे प्रमाण से सिद्ध होता है वहाँ उसी प्रमाणान्तर से प्रतिपादित कर्म को लक्ष्य करके केवल गुण–अप्रधान अथवा अङ्ग–का विधान विधिवाक्य करता है। जैसे–'दध्ना जुहोति।'–दधि से होम करता है–इस विधिवाक्य से निर्दिष्ट होम की 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से प्राप्ति होने के कारण होम को लक्ष्य करके अङ्भूत दधिमात्र का विधान होता है, और अर्थ होता है "दधि से होम की भावना करे"। जहाँ अङ्ग अङ्गी दोनों प्राप्त नहीं होते वहाँ विधिवाक्य से विशिष्ट का अर्थात् गुण से युक्त कर्म का, विधान होता है। यथा 'सोमेन यजेत' इस वाक्य से सोम एवं याग दोनों के प्रमाणान्तर से प्राप्त न होने के कारण सोम से युक्त याग का विधान होता है। सोमपद में मत्वर्थ लक्षणा से 'सोमयुक्त याग के द्वारा इष्ट की प्राप्ति करे' यह वाक्य का अर्थ ज्ञात होता है। दोनों का विधान करने पर वाक्यभेद नामक दोष नहीं होगा, क्योंकि यहाँ दोनों का अलग–अलग विधान नहीं किया जा रहा है, अपितु विशिष्ट एक का ही विधान है।

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिवाक्य से प्राप्त याग को लक्ष्य करके सोमरूप गुण का ही विधान मान्य हो, और 'सोमेन यजेत का अर्थ 'सोम से याग को सम्पन्न करे' लिया जाये, तो फिर मत्वर्थ लक्षणा से क्या लाभ?' यह तर्क मान्य नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्टोमेन सर्वकामों यजेत आदि के अधिकार आदि विधि होने से उसमें उत्पत्ति–विधि की संभावना नहीं की जा सकती।

(यदि शङ्का की जाये कि जिस प्रकार 'उद्भिदा यजेत पशुकामः'–"पशु की कामना वाला उद्भिद् याग करे"–में उत्पत्ति एवं अधिकार विधियाँ एक साथ मानी जाती है) उस 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' की भाँति 'ज्योतिष्टोमेन०' आदि में भी उत्पत्ति एवं अधिकार दोनों विधियाँ मान ली जायें, तो यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत उदाहरण के प्रसङ्ग में दूसरा उत्पत्ति वाक्य न होने से उसके अभाव में अर्थ की संगति न हो पाने के कारण उद्भिदा० आदि में वैसे ही भाव अर्थात् उत्पत्ति और अधिकार दोनों विधियों का अवलम्ब लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'ज्योतिष्टोमेन' आदि वाक्य में उत्पत्ति एवं अधिकार दोनों विधि स्वीकार कर लेने पर इसी से याग (रूप–साधन) और उसके फल से सम्बन्ध भी मानना पड़ेगा। ऐसे में घोर वाक्यभेद होगा। अतः सोमपद में मत्वर्थ–लक्षणा से विशिष्ट का विधान अधिक उचित है।

विधि चार प्रकार की है–(१) उत्पत्तिविधि, (२) विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि, (४) प्रयोगविधि।

विशेष :- यहाँ उत्पत्ति, विनियोग, अधिकार तथा प्रयोग के रूप में विधि का चतुर्विध विभाजन किया गया है। विधि का यह चतुर्विध विभाजन यज्ञ के सम्पादन में सहायता के आधार पर है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व भी ग्रन्थकार ने तीन प्रकार की विधियों का प्रसंगतः, निरूपण किया है।

(१) **विधि**–प्रधानविधि अथवा उत्पत्तिविधि, उदाहरण–अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।

(२) **गुणविधि**–इसे विनियोगविधि भी कहा जाता है। उदाहरण–दध्ना जुहोति।

(३) **गुणविशिष्ट**–उदाहरण–'सोमेन यजेत'।

इसके अलावा, मन्त्र स्वरूप विवेचन के प्रसंग में निम्नलिखित प्रभेदों का विवरण मिलता है।

(१) **अपूर्वविधि**–इसे उत्पत्तिविधि कहते हैं। उदाहरण–'यजेत स्वर्गकामः'।

(२) **नियमविधि**–इसको विनियोग विधि के रूप में समझा जा सकता है। उदाहरण–व्रीहीनवहन्ति।

(३) **परिसंख्याविधि**–पच पचनखाः मक्ष्याः।

(८) तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुपत्तिविधिः, यथा 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति। अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः, अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति।

ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च। तथा च रूपाश्रवणेग्निहोत्रं जुहोतीति कथमुत्पत्तिविधिः ? अग्निहोत्रशब्दस्य तु तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वादिति चेत्। न। रूपाश्रवणेप्यस्योत्पत्तिविधित्वात्। अन्यथा रूपश्रवणात् 'दध्ना जुहोती'त्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात्। तथा च 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति वाक्यमनर्थकं स्यात्।

अर्थ :- उन चारों प्रकार की विधियों में याग आदि कर्म के स्वरूप मात्र की बोधक विधि को उत्पत्तिविधि कहते हैं, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' में। इस विधि में अग्निहोत्र कर्म का करण के रूप में अन्वय होता है, अतः उक्त वाक्य का अर्थ होगा अग्निहोत्र नामक होम से इष्ट की भावना करनी चाहिये।

यदि शङ्का हो कि याग के तो दो अङ्ग होते हैं १. द्रव्य तथा २. देवता। इस वाक्य में उस प्रकार के अङ्गों का श्रवण न होने से 'अग्निहोत्रं जुहोति' में उत्पत्तिविधि कैसे होगी ? अतः अग्निहोत्र शब्द तत्प्रख्यन्याय से नामधेय नामक वेदाङ्ग होगा विधि नहीं। तो इसका उत्तर है नहीं अर्थात् तत्प्रख्यन्याय से अग्निहोत्र नामधेय नहीं होगा, अपितु विधि ही कहा जायेगा। क्योंकि उक्त रूपों का श्रवण न होने पर भी इसमें उत्पत्तिविधि है। नहीं तो (अर्थात् रूप का श्रवण होने पर ही विधि मानने पर तो) रूप का श्रवण होने से 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य भी उत्पत्तिविधि होने लगेगा। वैसा होने पर तो 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य व्यर्थ हो जायेगा।

विशेष :- "कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरूत्पत्तिविधिः" इस लक्षण में 'मात्र' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि उत्पत्ति विधि का कार्य कर्म के स्वरूपमात्र का बोध कराना है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से केवल यही पता चलता है कि अग्निहोत्र नामक याग का विधान करना है। यद्यपि 'दध्ना जुहोति' से भी कर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है तथापि 'दध्ना' पद से कर्म के साथ गुण के भी स्वरूप का बोध होने से इस वाक्य को कर्मस्वरूपमात्र का बोधक नहीं कहा जा सकता।

उत्पत्ति विधि में कर्म का करण के रूप में अर्थ लिया जाता है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' में 'अग्निहोत्र' पद द्वितीया विभक्ति में और जुहोति का कर्म है। किन्तु मीमांसकों को 'अग्निहोत्र' कर्म के रूप में नहीं अपितु करण अथवा साधन के रूप में अभीष्ट है। इसी को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :– "अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्"। यहाँ अग्निहोत्र ततीया विभक्ति में होने से करण रूप में मान्य है।

द्रव्य और देवता, याग के इन दो रूपों में जो दिया जाता है, वह द्रव्य तथा जिसके लिए दिया जाता है वह देवता होता है। याग में इन दोनों का ज्ञान आवश्यक होता है।

'अग्निहोत्रं जुहोति' में द्रव्य एवं देवता दोनों का ही उल्लेख नहीं है। अतः इसे उत्पत्ति, विधि मानना उचित नहीं है। सिद्धान्ती का समाधान यह है कि '–अग्निहोत्रं जुहोति' में यागरूप के श्रवण न होने पर भी इसको उत्पत्तिविधि रूप सामान्य की कल्पना करके माना जा सकता है। परन्तु वह रूप कौन सा है इस प्रकार की आकांक्षा होने पर 'दध्ना जुहोति' इस गुणविधि से दधिरूप द्रव्य एवं 'अग्निर्ज्योति' इत्यादि मन्त्र से अग्नि रूप देवता का ज्ञान होता है अतः उत्पत्तिविधि मानना अनुचित है।

किच, यह भी आवश्यक नहीं है कि जिस विधि में रूप का श्रवण हो उसे ही उ त्पत्तिविधि मानना चाहिए, अन्यथा 'दध्ना जुहोति' में दधिरूप द्रव्यात्मक गुण का उल्लेख होने से इसे भी उत्पत्तिविधि मानना होगा और इसी स्थिति में 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य व्यर्थ हो जायेगा।

ञ(६) **अङ्गप्रधानसंबन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा 'दध्ना जुहोती'ति। स हि ततीयया प्रतिपन्नाङ्भावस्य दध्नो होमसंबंधं विधत्ते दध्ना होमं भावयेदिति।**

गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः, क्वचिदाश्रयत्वेनापि यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दिति। अत्र दधिकरणत्वेनेन्दियं भावयेत्। तच्च किन्निष्ठमित्याकाङ्क्षायां संनिधिप्राप्तहोम आश्रयत्वेनान्वेति।

अर्थ :- द्रव्य, देवता आदि अङ्ग तथा प्रधान होम आदि के सम्बन्ध की ज्ञापक विधि को विनियोगविधि कहते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति'–दधि से होम करे–यह वाक्य ततीया विभक्ति से सूचित किये जा रहे अङ्गभाव वाले 'दधि' का होम से सम्बन्ध का विधान कर रहा है। अतः वाक्य का अर्थ होगा दधि से होम की भावना करे।

गुणविधि में धातु का अर्थ साध्य के रूप में अन्वित होता है। कहीं, कहीं धातु के अर्थ का आश्रय के भी रूप में ग्रहण होता है। जैसे–'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' आदि वाक्य में, जहाँ अर्थ होगा दधिरूप करण से इन्द्रिय की भावना करे। वह ततीया से उपस्थित दधिकरणता किसमें स्थित है, यह आकांक्षा होने पर समीप में विद्यमान होम रूप धात्वर्थ आश्रय के रूप में अन्वित होता है।

विशेष :– उत्पत्तिविधि का स्वरूप निरूपण समाप्त करके विनियोगविधि के सम्बन्ध में चर्चा की जा रही है। अंगों का प्रधान (अङ्गी) के साथ सम्बन्धबोधकविधि को विनियोगविधि कहते हैं। द्रव्य देवता क्रियादि रूप अंगों का तत् तत् वाक्यों द्वारा विधान होता है। जहाँ कर्मों में एक की प्रधानता है उसका विधायक वाक्य भी एक ही होता है और जहाँ विविध कर्मों का प्राधान्य है वहाँ उनके विधायक वाक्य भी कई होते हैं। अतः अङ्ग एवं अङ्गी या शेषशेषिभाव का सम्बन्ध प्रतिपादन ही विनियोगविधि संज्ञा से अभिहित होता है। यथा, 'दध्ना जुहोति' में 'दध्ना' ततीया विभक्ति से 'अंगत्व' का प्रतिपादन हो रहा है। इस अङ्ग का (अङ्गी) होम के साथ सम्बन्ध ही विनियोग विधि के द्वारा जाना जाता है।

'अङ्ग' का लक्षण करते हुए सूत्रकार जैमिनि ने कहा है–'शेषः परार्थत्वात्' इति। 'पर एव अर्थः प्रयोजनं यस्य स परार्थः' अर्थात् दूसरे की स्वरूपसिद्धि ही जिसका प्रयोजन हो उसे ही 'शेष' कहेंगे। 'दध्ना जुहोति' वाक्य में 'जुहोति' द्वारा प्रतिपादित होम है, उद्दिष्ट देश में द्रव्य की प्रक्षेपरूपा क्रिया है, और उसका साधक दधि रूप द्रव्य है। इस प्रकार –दधि' परार्थ होने से होम का अङ्ग हुआ एवं होम अङ्गी हुआ। इसी प्रकार 'व्रीहिभिर्यजेत' अर्थात् यागोद्देश से यवों का विधान होने से 'यव' या व्रीहि का यागाङ्गत्व सिद्ध है 'यजेत स्वर्गकामः' में भी स्वर्गोद्देश से याग का विधान होने से याग का स्वर्गांगत्व सिद्ध है। अतः सूत्रकार द्वारा बताया गया 'अङ्गत्व लक्षण' पारार्थ्य है।

विनियोगविधि का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने धात्वर्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि 'गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः। कश्चिदाश्रयत्वेनाति। अर्थात् गुणविधि में क्रिया का साध्यरूप में और कहीं–कहीं धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप में होता है। वस्तुतः जिस विनियोगविधि वाक्य में 'फल' उद्दिष्ट न हो और अधिकारविधि के द्वारा लक्षणाश्रय करके भी फल श्रुत न हो वहाँ धात्वर्थ का अन्वय साध्य रूप में होगा। यथा–दध्ना जुहोति। परन्तु धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप में तब होगा जब साक्षात् या अधिकारी के विशेषण रूप में फल का विधान किया गया हो। यथा–'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' में इन्द्रिय रूप फल का श्रवण होता है अतः यहाँ धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप में हुआ है। इस विधि वाक्य का अर्थ है–दधिकरणत्व से इन्द्रिय रूपी फल की कामना करे। यहाँ आशय यह है कि–कर्त्ता के व्यापार विना कारण विद्यमान नहीं होता है और होम का विधान वाक्यान्तर से हुआ है अतः सिद्धान्तरूप में होम और दधि गुण दोनों का विधान नहीं हो सकता। होम के साथ दधि का अन्वय करने पर 'इन्द्रिय रूप' फल व्यर्थ होगा। न्यायतः, फल एवं गुण दोनों के सम्बन्ध का विधान करना सम्भव नहीं।

ञ(१०) एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट्प्रमाणनि-श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-पंकरण-स्थान-समाख्यारूपाणि। एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते।

अर्थ :- इन विनियोग विधि के सहायक छः प्रमाण १. श्रुति २. लिङ्ग ३. वाक्य ४. प्रकरण स्थान ६. समाख्या रूप में है। इन छः प्रमाणों की सहायता से इस विनियोगविधि के अङ्गत्व का ज्ञान होता है जिस अङ्त्व का रूप 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट स्वर्गादि फल अथवा पर अर्थात् मुख्य दर्शपूर्णमास आदि यागरूपी साधन, अथवा अपने से भिन्न उक्त किसी के भी उद्धेश्य से कार्य में प्रवत्त हुए पुरुष की कृति–व्यापार से सिद्ध होने वाला। यह अङ्त्व पारार्थ्य अर्थात् 'पर' के लिए होने का दूसरा नाम है।

विशेष :- अङ्त्व का ज्ञापन करना विनियोग–विधि का वास्तविक कार्य है। कोई वाक्य अङ्ग कैसे है, यह जानने के लिए विनियोग विधि को सहायता की अपेक्षा होती है। द्रव्य, गुण आदि होम के सहायकों का उल्लेख होने से उनकी अङ्गता तो स्वतः सिद्ध है किन्तु वे किस याग से सम्बद्ध हैं और कर्म, करण, अधिकरण आदि किस रूप में सम्बद्ध है इत्यादि के प्रामाणिक ज्ञान के लिए विनियोग के सहकारी रूप में श्रुति, लिङ्, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये छह प्रमाण होते हैं।

(११) तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा-विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री च। तत्राद्या लिङ्गाद्यात्मिका। द्वितीया ब्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव संबन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री।

अर्थ :- उन छः प्रकार के प्रमाणों में शेषत्व अथवा अङ्गत्व का बोध कराने के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता से रहित शब्द श्रुति है। वह तीन प्रकार की होती हैं—१. विधात्री २. अभिधात्री और ३. विनियोक्त्री। इनमें से पहली लिङ् आदि रूप वाली है। दूसरी ब्रीहि आदि श्रुति है। और जिस शब्द के सुनने से ही सम्बन्ध प्रतीत होता है वह विनियोक्त्रीश्रुति है।

विशेष :- विनियोगविधि के सहकारिभूत षट् प्रमाणों में 'श्रुति' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने प्रमाणान्तर निरपेक्ष रव को श्रुति माना है।

श्रुति—लक्षण में 'रव' पद का अर्थ शब्द है। प्रमाणान्तर की अपेक्षा किये बिना जो शब्द पदार्थ के विनियोग में समर्थ होता है उस शब्द को 'श्रुति' पद से कहा गया है। तात्पर्य यह है कि लिङ्गादि पचप्रमाण अपने—अपने पूर्ववर्त्ती प्रमाण की सहायता से ही विनियोग करते हैं अतः उनकें अतिव्याप्ति के निवारणार्थ श्रुति लक्षण में 'निरपेक्ष' पद का समावेश किया गया है। श्रुति में तीन प्रकार के शब्दों की अपेक्षा रहती है—विधिबोधक शब्द, विनियोगबोधक शब्द तथा विनियोग सम्बन्धबोधक शब्द। विधत्ते इति विधात्री इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से जिससे विधि का विधान विहित हो उसे विधात्री कहते हैं। 'दध्ना जुहोति', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' आदि उदाहरणों में 'जुहोति एवं यजेत' आदि पद विधात्री श्रुति है क्योंकि 'लट्' एवं विधिलिङ् लकारों द्वारा अग्निहोत्र एवं ज्योतिष्टोमादि यागों का विधान कर रहे हैं।

अभिधात्री श्रुति में विधान या विनियोग अभिप्रेत नहीं हुआ करता, अपितु पदार्थ का उच्चारण (=अभिधान) द्वारा ही अपेक्षित वस्तु का ज्ञान होता है। यथा—'व्रीहीन्, अवहन्ति, व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि उदाहरणों में 'व्रीहि' का अभिधान किया गया है।

विनियोक्त्री (यस्य च शब्दस्य श्रवणात् सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री; सा=सः (शब्दः), स शब्दो विनियोक्त्री (श्रुतिरित्यर्थः)। श्रुति के लक्षण में श्रुति का निरपेक्षत्व 'श्रवणादेव' पद से द्योतित हो रहा है तथा 'अङ्गाङ्गिभाव बोधन' 'सम्बन्धः प्रतीयते' पद से ज्ञापित हो रहा है।

(१२) सापि त्रिविधा-विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति। तत्र विभक्तिश्रुत्या अङ्गत्वं यथा 'व्रीहिभिर्यजेते'ति ब्रीहीणां यागाङ्गत्वम्। तदपि पुरोडाशप्रकृतितया। यथा पशोर्हृदयादिरूपहविः प्रकृतितया यागाङ्गत्वम्।

'अरुणयापिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाती' त्यस्मिन् वाक्ये आरुण्यस्यापि ततीयाश्रुत्या क्रयाङ्गत्वम्। तदपि गोरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा न तु साक्षात्, अमूर्तत्वात्।

'व्रीहिन्प्रोक्षती'ति प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः, किन्त्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेपूर्वानुपपत्तेः। एवं सर्वेष्वङ्गेष्वपूर्वप्रयुक्तमङ्गत्वं बोध्यम्।

एवम् 'इमामगभ्णन्रशनामतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त' इत्यत्र द्वितीयाश्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्।

'यदाहवनीये जुहोतीत्याहवनीयस्य होमाङ्गत्वं सप्तमीश्रुत्या। एवमन्योपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः।

अर्थ :- इनमें विभक्तिश्रुति से अङ्गत्व का उदाहरण 'व्रीहिभिर्यजेत'—धान से याग करें—सदश वाक्यों में मिलता है। व्रीहि में प्रयुक्त ततीया विभक्ति से व्रीहि की याग की अङ्गता ज्ञात होती है। वह भी अर्थात् व्रीहि की यागाङ्ता भी पुरोडाश की प्रकृति होने से ही सिद्ध होती है जैसे कि हृदय आदि रूपी हव्य की प्रकृति होने से ही पशु की यागाङ्ता स्वीकार की जाती है।

'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति'—रक्तवर्ण, एकवर्षीया गौ से सोम खरीदता है—इस वाक्य में रक्तवर्ण की क्रय की अङ्गता ततीयाश्रुति से प्राप्त होती है। वह अङ्गता भी गौरूपी द्रव्य के विशेषण के रूप से सिद्ध होती है, न कि साक्षात्, क्योंकि अरुणता स्चयं में अमूर्त है।

'व्रीहीन् प्रोक्षति'—धानों का प्रोक्षण करता है—में प्रोक्षण की व्रीहि की अङ्गता द्वितीया श्रुति के कारण है। और वह प्रोक्षण भी व्रीहि की स्वरूप की सिद्धि के लिए नहीं है, क्योंकि उसकी धान के स्वरूप की उस प्रोक्षण के अभाव में भी निष्पत्ति होती है, अपितु प्रोक्षण का प्रयोग अपूर्व के साधन के लिए होता है, क्योंकि धान का प्रोक्षण किये बिना याग का अनुष्ठान करने से अपूर्व की निष्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार सभी अङ्गों में अपूर्व की निष्पत्ति के लिए ही अङ्गता समझनी चाहिये।

इसी भाँति 'इमाम् अगभ्णन् रशनाम् ऋतस्य' इति अश्वाभिधानीमादन्ते'—फल से सम्बन्धित सत्य की इस रज्जु को पकड़ा, इस मन्त्र से घोड़े की रस्सी को पकड़ता है – इस वाक्य में द्वितीया श्रुति से मन्त्र की अश्वाभिधानी की अङ्गता सिद्ध होती है।

'यदाहवनीये जुहोति'—जो कि आहवनीय अग्नि में होम करता है—इसमें आहवनीय होम का अङ्ग सप्तमी श्रुति से सिद्ध होता है। इसी प्रकार विभक्ति—श्रुति के द्वारा और भी विनियोग समझे जाने चाहिये।

विशेष :- विनियोग विधि के सहकारिभूत षट् प्रमाणों में प्रथम प्रमाण 'श्रुति' के तीन प्रकार होते हैं—विधात्री, अभिधात्री और विनियोक्त्री श्रुति। पुनः विनियोक्त्री श्रुति के विभक्तिरूपा, एकामिधानरूपा तथा एकपदरूपा भेद तीन प्रकारों की चर्चा प्रस्तुत प्रकरण में की गई है।

विभक्ति रूपा श्रुति विभक्ति से सम्बद्ध है। षष्ठी को मिलाकर सात कारक माने गये हैं जिनमें एकत्व द्वित्व एवं बहुत्व के बोधक सुबादि प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति को स्पष्ट करने के लिए प्रधानता की बोधक प्रथमा विभक्ति को छोड़कर शेष विभक्ति में से कुछ के गौणता बोधक उदाहरण दिये हैं तथा अन्यों को उसी भाँति समझ लेने का संकेत किया है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'व्रीहिभिर्यजते' इस वाक्य में व्रीहि पदोत्तर सुनी जाने वाली ततीया विभक्ति करणत्व का बोध करा रही है जो कि व्रीहि में विद्यमान है और विधेय का परिचायक है।

विधेयत्व ही सामानाधिकरण्य से 'अङ्गत्व' रूप में जाना जाता है। इस प्रकार यागगत प्राधान्य से निरूपित अङ्गत्व 'व्रीहि' में विद्यमान होने से व्रीहि का यागांग होना ततीया श्रुति से सिद्ध है। परन्तु व्रीहि का याग का अंग होना साक्षात् सिद्ध नहीं है अतः ग्रन्थकार ने कहा है—'तदपि पुरोडाशप्रकृतितया।' आशय यह है कि 'यदाग्नेयोष्टाकपालोमावस्यायां पौर्णमास्याचाच्युतों भवति' इस उत्पत्ति वाक्य में अष्टफल द्वारा संस्कृत पुरोडाश को याग का अंग माना गया है। परन्तु 'पुरोडाश' का निर्माण भी किसी द्रव्य के पेषण से होता है वही प्रकृति द्रव्य 'व्रीहिभिर्यजेत' से विहित है। अतः पुरोडाश की प्रकृति होने से व्रीहि याग के अंग हुये। इस सन्दर्भ को अधिक स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने आगे लिखा है—'यथा पशोर्हृदयादिरूपहविः प्रकृतितया यागांगत्वम्।'

'पशुना यजेत' इस वाक्य से पशु का याग का अंग माना गया है। परन्तु पशु का याग के साथ सम्बन्ध परम्परया है साक्षात् नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण पशु याग के लिये नहीं होता अपितु उसके कतिपय शरीराङ्ग ही यज्ञ में विनियुक्त होते हैं। 'हृदयस्य अग्रेवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसोवद्यति, दोष्णोरवद्यति, पार्श्वयोरवद्यति।' इत्यादि वाक्यों से हृदयादि अवयवों का ही विधान किया गया है। अतः साक्षात्पशु को ही अग्नि में नहीं डाल देना चाहिये अपितु देवता के लिये शास्त्रोक्त विधि से तत् तत् अवयवों का खण्ड अग्नि में प्रक्षेप करना चाहिये। अतः जिस प्रकार पशु प्रकृतिभूत होने के कारण याग का अंग है उसी प्रकार व्रीहि भी याग का अंग है यह सिद्ध होता है।

आकृत्याधिकरण न्याय से अरुणाशब्द 'अरुणिम गुण' का वाचक है। यह वाक्य ज्योतिष्टोम याग में सोमलता के क्रय का विधान करता है। अन्यथा क्रय के अप्राप्त होने से उसका विधायक होने से भावना में धात्वर्थ क्रयण का 'करणत्व' रूप से अन्वय होगा। 'क्रयणेन सोमं भावयेदिति'। आशय यह है कि—कारक का क्रिया में ही अन्वय होता है। इस प्रकार आरुण्य में ततीया विभक्ति का श्रवण होने से प्रथमतः क्रयण क्रिया में ही साक्षात् अन्वय होगा। परन्तु आरुण्य गुण से तो क्रय किया जाना सम्भव नहीं है अतः अपने आश्रय मूल गो रूप द्रव्य द्वारा परम्परा से ही उसका अन्वय होगा।

ततीयाविभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति का प्रतिपादन करके ग्रन्थकार ने सम्प्रति द्वितीया विभक्तिरूपा श्रुति पर विचार किया है।

यहाँ शंका हो सकती है कि ग्रन्थकार को सर्वप्रथम द्वितीया श्रुति का उदाहरण देना चाहिए, उसने ततीया श्रुति का प्रथमतः उदाहरण क्यों दिया ? इसका समाधान यह है कि अंगत्वबोधक प्रमाणों में श्रुति का स्थान सर्वप्रथम है। जहाँ उत्तर में ततीया श्रुति का श्रवण होता है वहाँ वह उसके अंग का बोध कराते हुए साक्षात् 'अंगत्व' का ग्रहण कराती है। परन्तु द्वितीया श्रुति जिसके उत्तर में रहती है वहाँ वह सामानाधिकरण्य से उसके प्रधान का बोध कराते हुए उससे भिन्न अंग का ग्रहण कराती है। जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस वाक्य में 'व्रीहि' पदोत्तर श्रूयमाण द्वितीया विभक्ति व्रीहियों का उद्देश्य बोध कराते हुए व्रीहि निरूपित अङ्ग 'प्रोक्षण' का भी ज्ञान कराती है। तात्पर्य है कि व्रीहि के उद्देश्य से विधीयमान् प्रोक्षण से उद्देशभूत व्रीहि का प्राधान्य समझा जाता है एवं विधेयभूत प्रोक्षण का अंगत्व बोध द्वितीया श्रुति से होता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह है कि व्रीहि को प्रोक्षण का अंग क्यों न माना जाये जैसा कि 'व्रीहिभिजेयत' वाक्य में पहले स्वीकार किया गया है ? समाधान यह है कि 'व्रीहिभिः' में ततीयान्त श्रुति से स्पष्ट है कि यह साधन होने के कारण किसी का अंगभूत है। परन्तु द्वितीया विभक्ति में यह सिद्धान्त उपादेय नहीं है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में व्रीहि में द्वितीया विभक्ति के कारण 'साध्यत्व' की प्रतीति होती है अतः साधनरूप में प्रोक्षण को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार व्रीहि अंगी है एवं प्रोक्षण अंग।

अब इस प्रसंग में एक चर्चा और है–प्रोक्षण का प्रयोजन क्या है ? कहीं ऐसा तो नहीं, कि प्रोक्षण से व्रीहि अपने स्वरूप की सिद्धि करने में समर्थ होता है। परन्तु यह समाधान भी उचित नहीं है क्योंकि प्रोक्षण के विना भी व्रीहि के स्वरूप की हानि नहीं होती, अतः प्रत्यक्षतः प्रोक्षण क्रिया का प्रयोजन दष्टिगत नहीं होता। इस शंका का समाधान है–'अपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्'। भाव यह है कि व्रीहि का प्रोक्षण न करने पर अपूर्व की उत्पत्ति न हो सकेगी। सिद्धान्ततः अपूर्व विना याग से फलप्राप्ति असम्भव है। जैसे अनुपनीत ब्राह्मण बालक के द्वारा सम्पन्न वेदाध्ययन से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती उसी तरह व्रीहि के प्रोक्षण के विना यागानुष्ठान से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है। इसी तरह का समाधान अन्य अपूर्व प्रयोजक अंगों के सम्बन्ध में जानना चाहिये। 'आज्यमवेक्षते' आदि उदाहरणों में 'आज्य अवेक्षण' घतदर्शन यद्यपि दष्टार्थ के जनक नहीं है तथापि इनके स्वरूप को देखते हुए अपूर्व प्रयोजन इन्हें भी मानना पड़ता है।

सप्तमी श्रुति का उदाहरण 'यदाहवनीये जुहोति' दिया गया है। यहाँ होम के उद्देश्य से आहवनीय का अधिकरण रूप में विधान किया गया है। आधान संस्कार द्वारा संस्कृत अग्नि को आहवनीय कहते हैं। यहाँ आधार आह्वनीय अंग है एवं आधेय 'होम' अङ्गी। अभी तक ततीया, द्वितीया एवं सप्तमी विभक्तियों के ही उदाहरण ग्रन्थकार ने दिये हैं। चतुर्थी, पचमी, षष्ठी, विभक्तियाँ भी विनियोग विधि के प्रसंग में जहाँ प्रयुक्त होती है वहाँ अंगत्व बोध की सहायिका होती हैं। यथा चतुर्थी विभक्तिरूपा विनियोक्त्रीश्रुति के उदाहरण 'मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति' में मैत्रावरुण संज्ञक ऋत्विज 'दण्डप्रदान' क्रिया का अंग है। 'अग्नेः तणान्यपचिनोति' में पचम्यन्त प्रयुक्त अग्नि तणपचयन' क्रिया का अंग है। 'यजमानस्य याज्या' में यजमान याज्या का अंग है।

(१३) 'पशुनायजेते'त्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव एकपदश्रुत्वा च यागाङ्गत्वम्।

न चामूर्तायास्तस्याः कथं भावनाङ्गत्वमिति वाच्यम्, कर्तपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः। कर्ता चाक्षेपलभ्यः। आख्यातेन हि भावनोच्यते। सा च कर्तारं विनानुपपन्नेति तमाक्षिपति।

अर्थ :- वह विनियोत्री श्रुति भी तीन प्रकार की हैं–१. विभक्तिरूपा २. एकाभिधानरूपा और ३. एकपदरूपा।

'पशुना यजेत' इस वाक्य में एकत्व संख्या तथा पुल्लिङ्गता दोनों की कारक की अङ्गता समानाभिधानश्रुति से होती है। 'यजेत' में आख्यात से द्योतित संख्या समानाभिधान श्रुति से ही शाब्दी भावना का अङ्ग होती है और एकपदश्रुति से वह धात्वर्थ याग का अङ्ग होती है।

'अमूर्त' संख्या भावना का अङ्ग कैसे हो सकती है, यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि संख्या की अङ्गता की संगति कर्त्ता के सम्बन्ध से हो जाती है। उक्त न होने से कर्त्ता की प्राप्ति आक्षेप से होती है।

आख्यात से आर्थी भावना का कथन होता है। वह (भावना) कर्त्ता के अभाव में संभव नहीं होती, अतः उस का आक्षेप कर लेती है।

विशेष :– एकाभिधान तथा समानाभिधान दोनों ही समानार्थक हैं और परस्पर पर्यायवाची हैं। जिससे किसी वस्तु को अभिहित किया जाये वह 'अमिधान' है। 'एक' शब्द अकेले का वाचक है जबकि 'समान' अनेक में सादश्य का किन्तु ग्रन्थकार की दष्टि में दोनों एक हैं। अतः पूर्व में 'एकाभिधान' शब्द का प्रयोग करके यहाँ एकाभिधान की जगह समानाभिधान का प्रयोग किया है।

'पशुना यजेत' इस उदाहरण में एक ही 'टा' प्रत्यय द्वारा करण कारक, संख्या एकत्व एवं लिङ्ग पुंस्त्व का बोध हो रहा है, अतः इस प्रत्यय को एकाभिधान या समानाभिधान कहा गया है। संख्या आदि प्रातिपदिकार्थ से साक्षात् सम्बद्ध होते हैं। करण एवं संख्या एक प्रत्यय से जाने जाते हैं। सामान्य रूप में भी संख्या लिङ्ग आदि का अन्वय कारक से होता है।

'यजेत' यह तिडन्त पद एकरूपता विनियोक्त्रीश्रुति का दष्टान्त है। इसके द्वारा धात्वर्थ याग एवं संख्यादि की प्रतीति होती है। यहाँ याग प्रधान या अंगी है और 'यजेत' पद पर दष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि 'यजेत' से याग '(यज् धात्वर्थ) संख्या, एवं आख्यातादि सभी का बोध हो रहा है अतः इन्हें 'एकपदाभिहित' और प्रकारान्तर से इसे 'एकपदरूपाश्रुतिः' कहा जा सकता है। याग एवं संख्या में याग अंगी है क्योंकि स्वर्गरूपी फलप्राप्ति का साधन है और संख्या 'एकपदश्रुति' होने से याग का अंग है।

इससे पूर्व यह प्रतिपादित किया गया है कि 'समानाभिधानश्रुति' से संख्या भावना का अंग है एवं 'एकपदश्रुति' से याग का अंग है। परन्तु शंका यह है कि संख्या गुण होने से अमूर्त है अतः यह भावना एवं याग का अंग कैसे हो सकती है। इस तरह की शंका का उत्तर 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या' आदि दष्टान्त के निरूपण के समय दिया जा चुका है। अतः प्रकृत सन्दर्भ में भी 'कर्तपरिच्छेदः द्वारा यह निर्णीत हो जाता है कि संख्या भावना एवं याग का अङ्ग है।

कर्त्ता की अनुपलब्धि में उसकी प्राप्ति कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर है "कर्त्ता च...अक्षिपति। भाव यह है कि–आक्षेपलभ्यः का अर्थ है 'आक्षेपः अनुमानमर्थापत्तिर्वा। तादशानुमानेन लभ्योनुमेयः कल्प्यो वा'। आख्यात पद आर्थीभावना को द्योतित करता है। भावना एक व्यापार है और कोई भी व्यापार कर्त्ता के बिना सम्भव नहीं है। अतः कर्त्ता का अनुमान किया जाता है।

(१४) सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोस्ति किन्तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकशब्द कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्वशक्तेर्व्याहतत्वात्। अत एवैन्द्रया लिङ्गान्नेन्द्रोपास्थानार्थत्वम्। किन्तु 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्।

अर्थ :- यह श्रुति प्रमाण लिङ्ग आदि प्रमाणों से प्रबल है। क्योंकि लिङ्ग आदि में विनियोग कराने वाला–अङ्गता का ज्ञापक कोई शब्द साक्षात् उपस्थित नहीं होता, अपितु उस निवियोजक शब्द की कल्पना करनी पड़ती है। अतः जब तक उन लिङ्गादि के द्वारा गौणतारोधक शब्द की कल्पना की जाती है, तब तक प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा विनियोग सम्पन्न होने से उन लिङ्गादि की आक्षेप शक्ति समाप्त हो जाती है। इसी से ऐन्द्री ऋचा लिङ्गप्रमाण के द्वारा इन्द्रोस्थाप के लिए नहीं उपस्थित हो पाती अपितु 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'–ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य को सम्पन्न करता है–इस वाक्य में 'गार्हपत्यम्' में विद्यमान द्वितीयाश्रुति के द्वारा गार्यपत्य के निष्पादन के लिए उसका प्रयोग होता है।

विशेष :- विनियोगविधि के सहकारितभूत श्रुति आदि षट् प्रमाणो में कौन सा प्रमाण सबल तथा कौन सा दुर्बल है, इसका विचार इस प्रकरण में किया गया है :–

एक ही विषय मे श्रुति, लिङ्ग आदि किन्हीं दो के मध्य विनियोग सम्बन्धित विरोध उपस्थित होने पर 'पर' की अपेक्षा 'पूर्व' के प्रबल होने पर 'पर' का बाध हो जाता है। अतः श्रुति के साथ लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या के विरोध में श्रुति प्रबल होती है। इस प्रकार लिङ्ग के साथ वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के विरोध में लिङ्ग ही प्रबल होता है और लिङ्ग के अनुसार अङ्ग का निरूपण होता है। इसी तरह वाक्य के साथ प्रकरण आदि के विरोध में वाक्य, प्रकरण के साथ स्थान आदि के विरोध में प्रकरण, स्थान और समाख्या के विरोध में स्थान प्रबल होते हैं। महर्षि जैमिनि ने "श्रुतिलिङ्ग–वाक्य–प्रकरण–स्थान–समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' ३.३.१४ सूत्र में इस मान्यता का विशद निरूपण किया है। यद्यपि सूत्र में 'पारदौर्बल्यम्' ऐसा कहा गया है तथापि इससे पूर्व का प्रबल होना ही विवक्षित है। इसमें हेतु 'अर्थ विप्रकर्षात्' है। क्योंकि श्रुत्यर्थ से लिङ्ग आदि विप्रकृष्ट है। वस्तुतः विधायकता शक्ति, एकमात्र श्रुति से वह दुर्बल होता है और श्रुति प्रबल है। संक्षेपतः श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, स्थान आदि में से श्रुति सदैव बाधिका है और समाख्या सदैव बाधित है। इस तरह लिङ्ग, वाक्य आदि कभी बाध्य और कभी बाधक होते हैं।

लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति का प्राबल्य निरूपण करने के लिए 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। ऋचा में 'इन्द्र' पद के प्रयोग से इसका नाम 'ऐन्द्री' है। परन्तु इस मन्त्र का विनियोग कहाँ किया जाये, यह ज्ञात नहीं है। मन्त्रगत सामर्थ्य से चूंकि वह मन्त्र इन्द्र का प्रकाशन करता है अतः इन्द्र देवता सम्बन्धित कुछ कर्त्तव्य होगा, ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। वस्तुतः उक्त मन्त्र के अनुसार ऐसा बोध होता है कि जिस कर्म का साधन अर्थात् अंग है इन्द्र उसमें प्रधान है। इसे ही लिङ्ग विनियोग कहा जाता है। इसके अनन्तर उक्त मन्त्र के लिङ्ग के अनुसार वह इन्द्र देवता की उपस्थान रूपी क्रिया का अङ्ग होता है।

'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस श्रुतिवाक्य में द्वितीयान्त 'गार्हपत्यं' यह शब्द गार्हपत्य के प्राधान्य को सूचित करता है। प्रधान होने से उसकी क्रिया अवश्य होती है। क्योंकि गुण (अप्रधान) न रहने से कोई प्रधान नहीं हो सकता अतः उससे किसी क्रिया के प्रति गार्हपत्य के प्राधान्य का बोध होता है। अतः 'ऐन्द्रया उपतिष्ठते' इस अंश से ऐन्द्र मन्त्र द्वारा गार्हपत्य की उपस्थान रूपी क्रिया करे–ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकार श्रुति एवं लिङ्ग के विनियोग में श्रुति और लिङ्ग दोनों ही प्रमाण हैं। अतः दोनों का ही विनियोग श्रुति के अनुसार इन्द्र का अंग है। विकल्प से यह भी माना जा सकता है कि श्रुति एवं लिङ्ग का समुच्चय ही अङ्ग है क्योंकि इन्द्र और गार्हपत्य दोनों ही प्रधान हैं। पूर्व पक्ष का यह भी कहना है कि यहाँ लिङ् से श्रुति ही बाधित है क्योंकि जिस विषय में जिसका सामर्थ्य नहीं है उस विषय में उसका विनियोग नहीं किया जाता है। अन्यथा 'वह्निना सिचेत्, 'वारिणा दहेत्' इत्यादि विनियोग भी होने लगेगे। कहा भी गया है–

'वस्तुशक्त्यनुसारी हि सर्वः शब्दः प्रवर्त्तते।'

अर्थात् वस्तुशक्ति के अनुसार शब्द की प्रवत्ति होती है। विनियोग की जाने वाली वस्तु के अनुसार श्रुति उसे नियुक्त करती है। यहाँ श्रुति लिङ्ग पर आश्रित है। अतः श्रुति और लिङ्ग के बीच विरोध में उपजीवक श्रुति दुर्बल पड़ जाती है और उपजीव्य लिङ्ग प्रबल हो जाता है। यह पूर्वपक्ष का आशय है।

सिद्धान्त पक्ष के अनुसार श्रुति और लिङ्ग के विरोध में लिङ्ग का ही बाध होता है क्योंकि 'अर्थ विपकर्षात्' के अनुसार श्रुति साक्षात् विनियोजिका होती है अतः शीघ्र प्रवत्त होती है। लिङ्ग कल्पना के द्वारा विनियोग करता है इसलिये विलम्ब से प्रवत्त होता है। अतः लिङ्ग के द्वारा विनियोग किये जाने से पहले प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा विनियोग किये जाने से लिङ्ग कल्पित श्रुति निर्विषय होकर बाधित हो जाती है।

अतः ऐन्द्र मन्त्र में मुख्य इन्द्र के सदश ही गार्हपत्य प्रकाशन सामर्थ्य है इसलिए सामर्थ्याभावरूप प्रतिबन्धक नहीं रहने से द्वितीया श्रुति से शीघ्र ही गार्हपत्य का विनियोग होगा अर्थात् ऐन्द्र मन्त्र गार्हपत्य अग्नि के उपस्थापन का ही अंग है इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग तो विलम्ब से विनियोग करेगा। अतः लिङ्ग से श्रुति प्रबल है।

(१५) शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यथाहुः-'सामर्थ्य सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभीधीयते' इति। सामर्थ्यं रूढिरेव। तेन समाख्यातोस्या भेदः। यौगिकशब्दसमाख्यातो रूढ्यात्मकलिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात्। तेन 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वम्। तस्यबर्हिर्दामीति लिङ्गात्तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्। एवमन्यत्रापि लिङ्गाद्विनियोगो द्रष्टव्यः।

अर्थ :- शब्द की अभिधान शक्ति लिङ्ग है। जैसा कहा भी गया है–सभी शब्दों की शक्ति लिङ्ग कही जाती है। शक्ति रूढ़ि ही होती है। इसलिये समाख्या से इसमें भिन्नता है, क्योंकि यौगिक शब्दरूपी समाख्या से रूढ़िरूपी लिङ्ग की भिन्नता है। इसी से 'बर्हिः देवसदनं दामि' (देवों के सदन बर्हि को काटता हूँ') यह मन्त्र कुश के काटने का अङ्ग है न कि उलप आदि के काटने का, क्योंकि 'बर्हिः दामि' इस लिङ्ग से उसकी कटाई को व्यक्त करने में समर्थ है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी लिङ्ग से विनियोग समझना चाहिये।

विशेष :- श्रुति एवं उसके प्राबल्य का निरूपण करके ग्रन्थकार ने लिङ्ग नामक द्वितीय प्रमाण का प्रतिपादन यहाँ किया है। शब्द सामर्थ्य को लिङ्ग कहा गया है। सामर्थ्य से यहाँ 'अर्थाभिधानशक्ति' का बोध होता है। अतः भाष्यकार ने भी कहा है–'यच्छब्दस्यार्थमभिधातुं सामर्थ्यं तल्लिङ्गमिति'। वार्त्तिकार कुमारिल भट्ट का मत है कि–"यच्छब्दस्योक्तिसामर्थ्यं तल्लिङ्गम्'। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है। शब्दगत एवं अर्थगत। अर्थगत सामर्थ्य का निरूपण प्रथमाध्याय के अन्त में 'सामर्थ्याधिरण' नामक अधिकरण में 'स्रुवेणावद्यति' 'स्वधितिनावद्यति' आदि उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। इससे पूर्व कि हम प्रकृत सन्दर्भ की मीमांसक सरणि का अवलम्बन कर विषयबोध–प्रक्रिया में प्रवत्त हों, यह जान लेना आवश्यक है कि शब्द के सम्बन्ध में मान्य सिद्धान्त क्या है ? वस्तुतः शब्द चार प्रकार के माने गये हैं–रूढ, लक्षक, योगरूढ, यौगिक। कुछ लोग रूढ़यौगिक शब्द भी मानते हैं। इस प्रकार शब्द के पाँच प्रकार स्थिर होते हैं।

समाख्या यौगिक शब्द है और लिङ्ग 'रूढ' शब्द है। अतः दोनों में भेद है। इस प्रकार के भेद के स्पष्टीकरण हेतु 'बहिर्देवसदनं दामि' यह दष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। ज्ञातव्य यह है कि इस मन्त्र का विनियोग क्या है ? इस सम्बन्ध में पूर्वप्रतिपादित 'स्वाभिधेय प्रतिपादनादि चारों व्यापारों का बोध होना आवश्यक है। प्रथमतः 'स्वाभिधेय प्रतिपादन' रूपी व्यापार से इस मन्त्र का पद–पदार्थ ज्ञान आवश्यक है। द्वितीय सामर्थ्य निरूपण के बल से यह ज्ञात होता है कि प्रकृत मन्त्र में प्रयुक्त 'दामि' पद का अर्थ 'लवन' अर्थात् छेदन है। परन्तु पद सामर्थ्य ही लिङ्ग कहा गया है अतः 'बहिष्' पद द्वारा कृश का ग्रहण एवं उलप आदि अन्य तणों की व्यावृत्ति हो जाती है। श्रुति कल्पना द्वारा 'अनेन मन्त्रेण कुशलवनं कार्यम्' यह बोध होगा। अन्ततः विनियोग बोध 'अस्य मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वम्' इस प्रकार होगा। अत एव 'बहिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र कुशलवन (छेदन) का अंग होता है। समाख्या के बल से कुश सदश उलपादि तण विशेष के 'लवन' का अंग नहीं होता है क्योंकि बहिंष् पद की रूढ़ि कुश में ही है अतः 'बहिर्दामि' इस लिङ्ग से कुशलवन प्रकाशन सामर्थ्य विद्यमान है।

यहाँ पर भी ध्यातव्य है कि मीमांसकों ने लिङ्ग के दो भेद माने हैं–(1) सामान्यसम्बन्धबोधक प्रमाणान्तर निरपेक्ष एवं (2) सामान्यसम्बन्धबोधक प्रमाणान्तर सापेक्ष। उनमें जिसके बिना जो असम्भव हो वह सामान्यसम्बन्धबोधक प्रमाणान्तर की अपेक्षा रहित केवल लिङ्ग से उसका अंग होता है। यथा अर्थज्ञान के बिना कर्मानुष्ठान असम्भव है अतः अर्थज्ञान कर्मानुष्ठान का अंग केवल लिङ्ग से होता है। जिसके बिना भी जो सम्भव हो वह सामान्यसम्बन्धबोधक प्रमाणान्तरसापेक्ष लिङ्ग से उसका अङ्ग होता है। 'बहिंर्देवसदनं दामि' इस मन्त्र में प्रमाणान्तर की अपेक्षा के कारण मन्त्र में पठित बहिं एवं लवन का अङ्गाङ्गिभाव स्पष्ट है। दर्शपूर्णमास प्रकरण में इस मन्त्र का पाठ है। प्रकरण से ज्ञात होता है कि यह मन्त्र दर्शपूर्णमास का उपकारक है। यह जान लेने पर इसी सामर्थ्य से बहिंर्लवनं 'अनेन बहिंर्लवनं कर्त्तव्यम्' रूप विशेषार्थ का बोध होता है। यहाँ पर यदि यह शंका की जाये कि मन्त्रोच्चारण बिना ही 'बहिंष्' का छेदन हो जाये तब मन्त्रगत सामर्थ्य मन्त्र के विनियोग हेतु सामान्यसम्बन्ध बोधक प्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है। यह प्रमाण 'प्रकरण' नाम से जाना जाता है। अतः सामान्यसम्बन्धबोधक प्रकरणादि 'प्रकरण'

नाम से जाना जाता है। अतः सामान्यसम्बन्धबोधक प्रकरणादि प्रमाण को अवश्य स्वीकार करना होगा अन्यथा मन्त्र का प्रकरण पाठ व्यर्थ हो जायेगा।

(१६) तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं सदनं कृणोमीति लिङ्गात् न तु वाक्यात्।

अर्थ :- यह लिङ्ग वाक्य आदि से बलवान है। इसीलिये 'स्योनं ते सदनं कृणोमि'–तुम्हारे लिये सुखद सदन बनाता हूँ–यह मन्त्र पुरोडाश–सदनकरण का अङ्ग 'सदनं कृणोमि' इस लिङ्ग से है न कि वाक्य से।

विशेष :– स्योनं ते सदनं कृणोमि घतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि।
तस्मिन् सीदामत प्रतिष्ठित व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।।

इस मन्त्र में 'स्योनम्' से लेकर कल्पयामि तक का अंश सदन (स्थान करण) अर्थ का प्रकाशन करता है और तस्मिन् सीद इत्यादि अंश सादन (स्थापन) अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस मन्त्र का विनियोग पुरोडाश स्थापन में है। इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष का मन्तव्य है कि सम्पूर्ण मन्त्र को सदन एवं सादन दोनों कर्मों के लिये विनियुक्त किया जा सकता है क्योंकि लिङ्ग की अपेक्षा वाक्य बलवान् होता है। लिङ्ग जब श्रुति से बाधित होता तब वह वाक्य से भी बाधित हो सकता है। इस मन्त्र में 'तस्मिन्' पद शेष अंश के साथ साकाङ्क्ष है अतः पूर्व अंश से उसे पथक् करना उचित नहीं है क्योंकि परस्पर साकांक्ष होने से एकवाक्यता बन जाती है अतः वाक्यभेद समुचित नहीं है। इस प्रकार यह मन्त्र सदन और सादन दोनों अर्थों का प्रकाशक है। सदन और सादन में समुदित रूप से मन्त्र का विनियोग होना चाहिये। अथवा, वाक्य और लिङ्ग दोनों श्रुतिसापेक्ष होने से तुल्यबलसम्पन्न है अतः प्राबल्य दौर्बल्य भाव का प्रश्न ही नहीं है।

सिद्धान्त पक्ष का समाधान यह है कि–ठीक है, लिङ्ग और वाक्य दोनों ही श्रुति की कल्पना कर विनियोग का विधान करते हैं तथापि 'पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' अर्थात् वाक्य लिङ्ग की अपेक्षा दुर्बल होता है क्योंकि पहले वाक्य में लिङ्ग की कल्पना करके फिर श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है अतः वाक्य का विनियोग विलम्बित हो जाता है जबकि लिङ्ग से श्रुति साक्षात् कल्पित होने से लिङ्ग की प्रवत्ति विनियोग में वाक्य की अपेक्षा शीघ्र होती है। अत एव 'सादन अर्थ के प्रकाशक होने से' मन्त्र के उत्तरार्थ की सदन के अर्थ में सामर्थ्य की कल्पना के बिना उसका 'सदन' में विनियोग नहीं किया जा सकता। ठीक उसी प्रकार मन्त्र के पूर्वार्धञसादन के अर्थ में सामर्थ्य कल्पित न होने से 'सादन' में विनियुक्त नहीं हो सकता। अतः वाक्य एवं लिङ्ग दोनों से श्रुति की कल्पना की जाने पर भी वे परस्पर तुल्यबल नहीं हैं क्योंकि लिङ्ग से अव्यवहित रूप और वाक्य से व्यवहित रूप से श्रुति कल्पित होती है। अतः वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग प्रबल होने से दोनों का वैकल्पिक प्रयोग नहीं हो सकता। अत एव लिङ्ग द्वारा पूर्वार्द्ध से सदन करण का एवं उत्तरार्द्ध से पुरोडाश स्थापन (सादन) के विनियोग में कोई प्रतिबन्धक नहीं है।

ञ(१७) समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावेपि, वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम्। यथा 'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं श्रणोति'। अत्र पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारादेव पर्णताया जुह्वङ्गत्वम्।

अर्थ :- समभिव्याहार वाक्य है। साध्यत्व आदि के वाचक द्वितीया आदि के न रहने पर भी वस्तुतः अङ्ग एवं अङ्गी के वाचक पदों का एक साथ उच्चारण समभिव्याहार है। जैसे–जिसकी जुहू पलाश की होती है वह अपयश नहीं सुनता है। यहाँ पर्णता तथा जुहू दोनों का एक साथ उच्चारण होने से ही पर्णता जूहू का अङ्ग है।

विशेष :- इस अनुभाग में वाक्य प्रमाण का निरूपण किया गया है। शेषशेषि या अङ्गाङ्गिवाचक पदों का सहोच्चारण वाक्य कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि साध्यत्वादिवाचक द्वितीयादि विभक्ति का प्रयोग हो; क्योंकि उनके अभाव में भी सहोच्चारण या सनभिव्याहार रहता है। अभिव्याहार का तात्पर्य है कथन या उच्चारण। वस्तुतः शब्दों के परस्पर सम्बद्ध उच्चारण से ही मीमांसक सम्मत वाक्य का लक्षण हो जाता है। परन्तु यह सहोच्चारण अङ्ग एवं अङ्गी वाचक पदों का ही होना चाहिये अन्यथा यथार्थ वाक्यार्थ का बोध नहीं होगा। 'यस्य पर्णमयी जहुर्भवति' न स पापं श्लोकं श्णोति' इस मन्त्र में पर्णमयी एवं जुहू पद साथ–साथ उच्चरित है एवं अङ्ग तथा अङ्गी का बोध कराते हैं। 'पर्णता' जुहू का अङ्ग है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है पणनिर्मित जुहू द्वारा ही शास्त्रोक्त फलसाधन भूत अपूर्व की उत्पत्ति सम्भव है–अन्यथा नहीं।

(१८) न चानर्थक्यम्, अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वादिति वाच्यम्। जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात्।

तथा च वाक्यार्थः पर्णतयावत्ताहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्व भावयेदिति। एवं च पर्णतया यदि जूहूः क्रियते तदैव

तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यम्। अवत्तहविर्धारणद्वारेति। चावश्यं वक्तव्यम्। अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः। सेयं पर्णता अनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु। तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसंभवात्पौनरुक्त्यापत्तेः।

अर्थ :- यहाँ यह नहीं कहना चाहिये कि पर्णता का उच्चारण व्यर्थ है, क्योंकि अन्यथा भी जूहू को बनाया जा सकता है। वस्तुतः यहाँ 'जुहू' शब्द का लक्षणा से अर्थ है, जुहू के द्वारा साध्य अपूर्व। इस वाक्य का अर्थ हुआ–विभक्त की गयी हवि के धारण द्वारा पलाश से जुहू के अपूर्व की भावना करे। इस तरह यदि पलाश से ही जुहू का निर्माण होता है तभी उससे साध्य अपूर्व बनेगा, नहीं तो नहीं, यह ज्ञात होता है, अतः पर्णता की व्यर्थता नहीं सिद्ध होती। 'विभक्त अवत्त की गयी हवि के धारण द्वारा' यह शब्द अवश्य कहना चाहिये, नहीं तो स्रुवा आदि में भी पर्णता की व्याप्ति होने लगेगी। यह चर्चित पर्णता सामान्यतः विहित होने पर भी प्रकृतियागों में ही अन्वित होती है, विकृतियागों में नहीं क्योंकि वहाँ विकृति में अतिदेश वाक्यों से भी उसकी प्राप्ति संभव है। यदि विकृतियों में भी पूर्णता आदि की अन्विति मान ली गयी तो पुनरुक्ति की उपस्थिति होगी।

विशेष :- 'जुहू' यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला एक पात्र विशेष है जिसका आकार अर्धचन्द्र की भाँति होता है। इसमें दूसरे पात्र से घी काट काट कर रखा जाता है। नियमानुसार इस काटे गये (अवत्त) घत का पात्र पलाश का ही बना होना चाहिये। यद्यपि वह पात्र किसी अन्य काष्ठ का भी बनाया जा सकता है, किन्तु उस काष्ठ से निर्मित पात्र में आवत्तघत रहने से अपूर्व सम्पन्न नहीं हो सकता। अपेक्षित अपूर्व तभी बनेगा जब 'जुहू' पलाशकाष्ठ की होगी। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरे काष्ठ से भी निर्माण हो सकने से पलाशकाष्ठ व्यर्थ होगा। ऐसी दशा में 'जुहू' शब्द पात्र विशेष का ही वाचक नहीं अपितु उससे सिद्ध होने वाले अपूर्व का वाचक भी है। स्मरण रहे कि 'जुहू' का अर्थ करते समय 'अवन्त हविर्धारणद्वारा' इस पद का ग्रहण आवश्यक है अन्यथा पर्णता की अतिव्याप्ति स्रुवा आदि पात्रों में भी होने लगेगी। जुहू और स्रुवा दोनों यज्ञपात्र भिन्न भिन्न हैं। दोनों का निर्माण भिन्न काष्ठो से होता है और दोनों के कार्य भी भिन्न हैं। जुहू पलाश से स्रुवा खरिदकाष्ठ से बनती है। बड़े पात्र से खण्ड खण्ड करके निकाला हुआ घत जिसमें रखा जाता है वह 'जूहू' है। 'जुहू' में से लेकर घत को अग्नि में आहुत करने वाला पात्र स्रुवा है।

अतिदेश वाक्य से विकृतियाग में 'पर्णता' की प्राप्ति होने पर भी यदि प्रकृति की भाँति उसमें भी पर्णता की स्वतन्त्र प्राप्ति स्वीकार की गयी तो दो दो बार प्राप्त होने से पुनरुक्ति दोष होगा। अतः पुनरुक्ति दोष से बचने के लिये यह आवश्यक है कि 'पर्णता' की अन्विति प्रकृति याग में स्वीकार की जाये तथा विकृति यागों में उसकी प्राप्ति अतिदेश वाक्य से मानी जाये।

(१६) **यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, यथा दर्शपूर्णमासादिः। तत्प्रकरणे सर्वाङ्गपाठात्। यत्र न सर्वाङ्गोपदेशः सा विकृतिः। यथा सौर्यादिः। तत्र कतिपयाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तत्वात्। अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः।**

अर्थ :- जहाँ समस्त अङ्गों का कथन होता है वह प्रकृतियाग है, जैसे दर्शपूर्णमास आदि, क्योंकि उसके प्रकरण में समग्र अङ्गों का पाठ होता है। जहाँ समग्र अङ्गों का उपदेश नहीं होता है वह विकृति है, जैसे सौर्य आदि, क्योंकि वहाँ कुछ अङ्गों की प्राप्ति अतिदेश से भी होती है। अनारभ्यविधि सामान्यविधि है।

विशेष :- याग दो प्रकार के हैं–प्रकृति याग एवं विकृति याग। प्रकृति याग वह है जिनमें अंगों को पूरा–पूरा विधान है। विकृति याग वह है जिनमें किसी विशेष अंग का विधान किया गया है। शेष अंगों को बताया नहीं है परन्तु वे अंग वही होंगे जो प्रकृति याग के हैं। हर प्रकृति याग के विकृति याग होते हैं।

'यस्य पर्णमयी' इत्यादि वाक्य दर्शपूर्णमासादि प्रकरण में पठित नहीं है अतः इस प्रकार 'अनधीत' वाक्यों का सन्निवेश कहाँ किया जाये ? प्रकृति एवं विकृति रूप में यज्ञ का विभाजन किया गया है अतः इस प्रकार के वाक्यों का सन्निवेश प्रकृति में होना चाहिये। यह सम्भव कैसे होगा ? इस प्रश्न का समाधान है–'तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसंभावात् पौनरुक्त्यापत्तेः'।

भाव यह है–चोदक पद का अर्थ है–'चोदकं वाक्यं चोदको ग्रन्थो वा'।

इस तरह के वाक्यों द्वारा 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' सदश साधारण नियम का विधान मिलता है। 'चोदक' को अतिदेश' भी कहते हैं। प्रकृति याग के प्रकरण से धर्मों की विकृति के प्रकरण में ले आना। इसे ही 'अतिदेश' या चोदक वाक्य कहते हैं। नियम भी है कि प्रकृति के धर्मों का विकृति में अतिदेश होता है।

(२०) **तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत्। अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं न तु प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्।**

अर्थ :- यह चर्चित वाक्य प्रकरण आदि से प्रबल है। इसीलिये 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि की एकवाक्यता के कारण दर्श की अङ्गता है, न कि प्रकरण के कारण इसमें दर्शपूर्णमास की अङ्गता।

विशेष :- प्रस्तुत सन्दर्भ में वाक्य प्रमाण के प्राबल्य का निरूपण किया गया है। 'इन्द्राग्नी इदं हविः'

इस मन्त्र का दर्शपूर्णमास में सूक्तवाक निगद जप में पाठ किया जाता है। 'अग्नीषोमाविदं....ज्यायोक्राताम्' यह अंश एक स्वतन्त्र वाक्य है और इसका पाठ पूर्णमास याग में करना चाहिये। एवं 'इन्द्राग्नी इदं.....' स्वतन्त्र वाक्य होने से दर्शयाग में पठित होना चाहिये क्योंकि मीमांसक सम्प्रदाय के अनुसार अग्नि एवं सोम पूर्णमास याग के देवता हैं और इन्द्र एवं अग्नि दर्शयाग के अतः प्रकरणानुरोध से अग्निषोमौ इतना अंश छोड़कर शेष अंश का पाठ दर्शयाग में और 'इन्द्राग्नी' इस पद को छोड़कर शेष अंश का पाठ 'पूर्णमास याग' में करना चाहिये। इस प्रकार के विनियोग से प्रकरण की मर्यादा रक्षित होती है अथवा वाक्य और प्रकरण के तुल्यबल होने से उनका वैकल्पिक विनियोग होगा। ये दोनों विनियोग का सामर्थ्य केवल श्रुति में है। अतः श्रुति के आश्रित होने से वाक्य एवं प्रकरण दोनों तुल्यबल हैं। पर सिद्धान्ती इस समाधान पर सहमत नहीं हैं। उसका विचार है कि 'पारदीर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' अर्थात् यहाँ भी पूर्ववत् वाक्य की अपेक्षा प्रकरण 'पर' होने से दुर्बल होता है। प्रकरण से श्रुति तक व्यवधान है। भाव यह है कि–'अग्निषोमौ इदं हविः' इत्यादि मन्त्र में अग्निषोमपद रहित 'इदं हविः' इत्यादि पदों का इन्द्राग्नि पदों के साथ अन्वय श्रवण नहीं है अतः' प्रकरण प्रमाण से प्रथमतः दोनों के अन्वयरूप वाक्य की कल्पना करनी होगी उस वाक्य से 'इन्द्राग्नी' प्रकाशन रूप सामर्थ्य की कल्पना भी आवश्यक है। पुनश्च उस 'लिङ्ग' द्वारा 'इन्द्राग्नि' अर्थात् देवताओं से सम्बन्धित कोई (श्रुति की कल्पना 'अनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविषया काचित्क्रियानुष्ठेया) क्रिया करनी चाहिये। तदनन्तर विनियोग होगा। इस तरह प्रकरण प्रमाण एवं विनियोग के मध्य वाक्य, लिंग एवं श्रुति का व्यवधान है परन्तु वाक्य एवं विनियोग के मध्य लिंग एवं श्रुति दो का ही व्यवधान है। अतः प्रकरण से वाक्य बलवान् है अतः 'अग्नीषोमाविदं हविः' यह मन्त्र पूर्णमास का अङ्ग होता है और 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि मन्त्र दर्श का अंग होता है।

(२१) उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्, यथा प्रयाजादिषु 'समिधो यजती'त्यादिनाक्ये फलविशेषस्यानिर्देशात्समिद्यागेन भावयेदिति बोधानन्तरं किमित्युपकार्याकाङ्क्षा। दर्शपूर्णमासवाक्येपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावये'दिति बोधानन्तरं कथमित्युपकारकाकाङ्क्षा। इत्थं चोभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्त्वम्।

तच्च प्रकरणं द्विविधम्। महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति।

अर्थ :- उपकारक एवं उपकार्य दोनों की परस्पर अपेक्षा 'प्रकरण' है। जैसे प्रयाजादि में 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों में फलविशेष का उल्लेख न होने से 'समिध् नामक याग से भावना करे' इस अर्थ का बोध होने के पश्चात् 'किसको' (भावित करें) इस प्रकार की उपकार्य की आकांक्षा होती है। इसी प्रकार दर्शपूर्णमास के प्रसंग में पठित वाक्य में भी दर्श एवं पूर्णमास से स्वयं की भावना करे, बीच होने के पश्चात् 'केसे' करें। इस प्रकार के उपकारक की आकांक्षा होती है। इस प्रकार से दोनों ओर की सापेक्षता के कारण प्रयाज आदि दर्शपूर्णमास के अङ्ग सिद्ध होते हैं।

वह प्रकरण दो प्रकार का है–१. महाप्रकरण तथा २. अवान्तरप्रकरण।

विशेष :- प्रकरण प्रमाण के इस प्रसंग में 'उभय' का अर्थ 'अङ्ग' और 'अङ्गी' है। इससे यह स्पष्ट है कि अङ्ग और अङ्गी की परस्पर आकांक्षा होने पर ही 'प्रकरण' होगा।

प्रकरण का लक्षण है–'उभयाकाङ्क्षा प्रकरण्'। इसके अन्य भी लक्षण यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं यथा–''अङ्गप्रधानोभयवाक्यता आकाङ्क्षा प्रकरणम्' 'वाक्यैव–वाक्यता प्रकरणम्, 'अङ्गवाक्यतासापेक्षं प्रधानवाक्यं प्रकरणम्' 'कर्त्तव्यस्य इति कर्त्तव्याकाङ्क्षस्य वचनं प्रकरणम्।' संक्षेपतः दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहा जा सकता है। किसी वाक्य कें क्रिया के सम्पादन का विधान मिलता है और तद्भिन्न वाक्य में फल का विधान प्राप्त होता है। पहले प्रकार के वाक्यों में 'किं भावयेत्? की आकांक्षा है और दूसरे प्रकार के वाक्यों में 'कर्म भावयेत् ?' की। इस प्रक्रिया को दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं। 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्यादि प्रयाजादि वाक्य केवल क्रिया का विधान करते हैं। इनमें फल का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। अतः फलाकांक्षा होने पर 'किं भावयेत् ? किसका सम्पादन करे ? यह प्रश्न उठता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' यह दूसरा वाक्य है जिसका अर्थ है 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग भावयेत्' अर्थात् 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों से स्वर्ग की भावना करें। परन्तु स्वर्गादिरूप फल विधान होने पर भी क्रिया का विधान नहीं है अतः आकांक्षा होती है–कथं स्वर्ग भावयेत् ? इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष हैं। अतः परस्पराकांक्षा रूप प्रकरण प्रमाण से प्रयाजादि अङ्ग है और स्वर्गादिरूप उत्कृष्ट फल का विधायक होने के कारण दर्शपूर्णमास अङ्गी है। अङ्गाङ्गिभाव एक दूसरे के बिना सम्भव नहीं है अतः प्रकरण का लक्षण इसमें सर्वथा घटित होता है।

प्रकरण में दो प्रकारों का उल्लेख लौगाक्षिभास्कर ने किया है। वे प्रकार हैं – महाप्रकरण और अवान्तरप्रकरण। इनका स्वरूप आगे कहा गया है।

(२२) तत्र मुख्यभावनासंबन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्। तेन च प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। एतच्च प्रकृतावेव उभयकाङ्क्षायाः संभावान्न नतु विकृतौ। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्ये त्यतिदेशेन कथंभावाकाङ्क्षाया उपशमेनापूर्वाङ्गाना-मप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासंभवात्। तस्मादपूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थमिति।

अर्थ :- इन दोनों में मुख्य भावना से सम्बन्धित प्रकरण महाप्रकरण है। इसी से प्रयाज आदि की दर्शपूर्णमास की अङ्गता सिद्ध होती है। यह महाप्रकरण प्रकृतियागों में ही होता है क्योंकि उभयकांक्षा वहीं संभव है न कि विकृतियागों में। वहाँ तो 'प्रकृति के सदश ही विकृति भी करनी चाहिये' इस अतिदेश से ही कथंभावाकांक्षा की शान्ति हो जाने से अपूर्व प्रकृति में अप्राप्त अङ्गों–का भी उभयाकांक्षा से विनियोग नहीं हो सकता। अतः प्रकरण का अभाव होने से अपूर्वाङ्गों की–प्रकृति में अप्राप्त अङ्गों की–स्थान–प्रमाण से ही विकृति के लिये उपयोगिता सिद्ध होती है।

विशेष :- प्रकरण के दोनों प्रकारों का उल्लेख पीछे करने के बाद यहाँ 'महाप्रकरण' का स्वरूप बताया गया है। महाप्रकरण की संभावना प्रकृतियागों में ही होती है, क्योंकि वही फलभावना का निर्देश होता है।

मीमांसक के मत में स्वर्ग रूप फल ही मुख्य होता है अतः 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' में स्वर्ग को मुख्यभावना या फल भावना से अभिहित किया जाता है। महाप्रकरण का सम्बन्ध मुख्य भावना से होता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामों यजेत' (दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्) एवं 'समिधो यजति' समिद्यागेन भावयेत्, दोनों ही वाक्यों से भावना का बोध होता है परन्तु 'स्वर्गं भावयेत्' में स्वर्गादि की उत्कृष्टता से इसे मुख्य भावना का प्रतिपादक माना जाता है। 'समिधो यजति' आदि से अंग भावना का बोध होता है क्योंकि प्रयाजादि अंगों का विधान इनके द्वारा होता है अतः अङ्गाभिङ्भाव या मुख्य प्रधान भाव का निर्णय महाप्रकरण द्वारा होता है।

वाक्य का अर्थ है–जहाँ अङ्ग और अङ्गी दोनों का साक्षात् कथन होता है वहीं उभयाकांक्षा भी सम्भव है। यदि एक में भी आकांक्षा का अभाव हुआ तो प्रकरण सम्भव नहीं होगा। विकृतियागों में अङ्गों का साक्षात् कथन नहीं होता अपितु 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से ही उसकी प्राप्ति हो जाती है।

(२३) अङ्भावनासंबन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम्। तेन चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वम्। तच्च संदेशेनैव ज्ञयते। तदभावे चाविशेषात्सर्वेषां फलभावनाकथभावेन ग्रहणप्रसङ्गेन प्रधानाङ्त्वापत्तेः।

अर्थ :- अङ्भावना से सम्बद्ध प्रकरण अवान्तर–प्रकरण है। इसी अवान्तर प्रकरण से ही अभिक्रमण आदि की प्रयाज आदि की अङ्गता का ज्ञान होता है। यह अङ्गता सन्दंश से ही ज्ञात होती है। उसके रहने पर तो प्रकरण के भेदों में कोई अन्तर न रहने से प्रयाज आदि महाप्रकरण तथा अभिक्रमण आदि अवान्तरप्रकरण सभी का फलभावना की इतिकर्त्तव्यता के रूप में ग्रहण होने लगेगा। और उसमें समान रूप से प्रधान की अङ्गता सिद्ध होने लगेगी।

विशेष :- अङ्भावना से सम्बन्धित प्रकरण को अवान्तरप्रकरण कहा गया है। 'प्रयाजाः कर्त्तव्याः' वाक्य से 'समिधो यजति' आदि पाँच प्रकार के याग का विधान है ये सभी याग प्रधानभूतदर्शपूर्णमास के अङ्ग हैं क्योंकि अङ्गभावन में 'कथंभावाकांक्षा' निहित है–प्रयाजैः कर्म भावयेत् ? इस सन्दर्भ में अभिक्रमणादि क्रिया का भी विधान मिलता है। 'अभिक्रमेण किं भावयेत्' आदि वाक्य 'फलाकाङ्क्षा' से युक्त है। अतः दोनों वाक्य परस्पर साकाङ्क्ष हुए। प्रकरण के माध्यम से ही अभिक्रमणादि प्रयाजादि के अङ्ग सिद्ध होते हैं अतएव 'अभिक्रमणोपकृतैः प्रयाजैभार्वयेत् वाक्यार्थ बोध होने से अभिक्रमणादि की 'कथंभावाकांक्षा' पूरी होती है। फलाकांक्षा की पूर्ति 'अभिक्रमेण प्रयाजीपकारं भावयेत्' इस तरह के वाक्या बोध से होगी। प्रस्तुत प्रसंग में अंगभावना के रूप में अभिक्रमणादि का प्रयाजादि से सम्बन्धित बताया गया है अतः यह 'अवान्तर प्रकरण' के अन्तर्गत परिगणित होगा।

अब शंका यह होती है कि अभिक्रमणादि का प्रयाजाङ्गत्व कैसे जाना जाता है ? इसका समाधान ग्रन्थकार ने दिया है–तच्च सैदंशेनैव ज्ञायते।

इससे पूर्व यह निश्चय किया गया कि अवान्तर प्रकरण का सम्बन्ध अंगभावना से है परन्तु अभिक्रमण को संदंश पठित (दो के मध्य पठित) समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि अभिक्रमण का पाठ प्रजायादि यागों में विदित अन्य क्रियाओं अर्थात् घतानयन एवं मिथुनवेदन के मध्य किया गया है। अतः ये क्रियाएं भी प्रयाजादि का अङ्भूत हैं। इस प्रकार अभिक्रमण का अंगत्व संदश से ही विदित होता है। भाव यह है कि –जैसे अवान्तर प्रकरण की विनियोजन न मानने पर दर्शपूर्णमास याग

की फल भावना को 'कथंभावाकांक्षा' होने पर प्रयाजादि का सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार प्रयाज के मध्य गठित अभिक्रमणादि का सम्बन्ध स्वतन्त्र रूप से प्रधान याग से होगा और तब अभिक्रमणादि प्रयाज के अंग नहीं होंगे।

(२४) एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वै संदंशः। यथाभिक्रमणे। तद्वि 'समानयते जुह्वाम् उपभतस्तेजो वा' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किंचिदङ्गं विधाय विधीयते-'यस्यैवंविदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातव्यान्तुदत`भिक्राभं जुहोत्यभिजित्यै' इति, तदनन्तरं 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं तदङ्गम्। प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेदिति ज्ञाते कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यमिति कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात्। सा च संदंशपठितैरभिक्रमणादिभिः शाम्यति।

न चाङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाभावः, भावनासामान्येन तत्रापि तत्संभावत्।

अर्थ :- किसी भी एक अङ्ग का अनुवाद करते समय उससे सम्बद्ध दो अङ्गविधियों के बीच में किये जा रहे विधान को संदंश कहते हैं। जैसा कि अभिक्रमण में है । उस अभिक्रमण का प्रसंग इस प्रकार है। 'जुहू' में 'उपभत्' से घत लाता है' इत्यादि वाक्य से प्रयाज का अनुवाद करके उसके किसी अङ्ग का विधान किया जाता है। इसके बाद 'जिस विद्वान् के इस प्रकार से प्रयाजों का यजन होता है वह इन लोकों से शत्रुओं को नष्ट करता है। विजय के लिये अभिक्रमण का अनुष्ठान करता है। इसका विधान होता है। इसके भी बाद में 'जो प्रयाजो के मिथुन को जानता है' इत्यादि मन्त्र से किसी अङ्ग का विधान होता है। इसलिये प्रयाज के दोनों अङ्गों के बीच में पठित अभिक्रमण उस प्रयाज का अङ्ग है। 'प्रयाजों से अपूर्व उत्पन्न करके याग का उपकार करना चाहिये' इतना ज्ञात होने पर इन प्रयाजों से अपूर्व कैसे उत्पन्न करना चाहिये' इस प्रकार की कथंभावाकांक्षा उपस्थित होती है। यह कथंभावाकांक्षा सन्दंश में पठित अभिक्रमण आदि से शान्त होती है। यह बात नहीं है कि अङ्गभावना को कथंभावकांक्षा का अभाव है, क्योंकि भावनासामान्य में कथंभावाकांक्षा होने से वहाँ भी उसकी संभावना है।

विशेष :- अवान्तर प्रकरण के निरूपण के समय ग्रन्थाकर ने 'संदश' का संकेत मात्र किया है उसके स्वरूप पर वहा विचार प्रसंग प्राप्त न होने से प्रस्तुत अवतरण में सोदाहरण प्रतिपादन किया जा रहा है। संदंश का लक्षण–'एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोः अङ्गयोः अन्तराले विहितत्वम्' अर्थात् एक अङ्ग का अनुवाद करते समय दो अङ्गविधियों के बीच में किये जा रहे विधान को संदंश कहते हैं।

'प्रजाया' कर्त्तव्याः' इस विधायक वाक्य से 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं वजति' पच प्रयाज माने जाते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार जुहू नामक पात्र विशेष से समिद्याग, तनूनपाद्याग एवं इड् याग में घत की आहुतियां दी जाती हैं। बर्हिर्याग एवं स्वाहाकार याग में उपभत् नामक पात्र विशेष से 'जुहू' में घतानयन होता है। हमें इसका विधान 'समानयते (आज्यम् जुह्वामुपभतः'–इत्यादि वाक्य से मिलता है। इस विधान के अनन्तर 'यस्यैवं विदुषः...अभिजित्यै' वाक्य द्वारा अभिक्रमण संशक क्रिया विहित है। अभिक्रमण क्रिया के विधान के पश्चात् 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' इस वाक्य से 'मिथुनवेदन' का प्रसंग निरूपित है। इस प्रकार याज्ञिकी क्रिया की दष्टि से क्रमशः (१) घतानयन, (२) अभिक्रमण एवं (३) मिथुनवेदन का विधान है। इससे पूर्व यह कहा गया है कि घतानयन बर्हिर्याग एवं स्वाहाकार याग नामक प्रयाज के निमित्त है अतः यह 'प्रयाजाङ्ग' असन्दिग्ध रूप से है। 'मिथुनवेदन' का स्वरूप अर्थवाद की तरह प्रतीत होता है तथापि वह प्रयाजाङ्ग ही है। 'अभिक्रमण' इन दोनों के मध्य पठित है अतः संदंश न्याय की आवश्यकता है। संदश न्याय की सहायता से ही अभिक्रमण' को प्रयाज का अंग माना जाता है।

यहाँ एक शंका यह है कि–अङ्ग भावना में कथंभावाकाक्षा का उदय नहीं हो सकता ? तात्पर्य यह है कि अङ्ग भावना चूंकि अपनी प्रधान भावना की कथंभावाकांक्षा की पूर्ति करता है, अतः स्वयं आकांक्षाशून्य होगी। परन्तु यह तर्क उचित नहीं है क्योंकि सामान्य सिद्धान्त के अनुसार भावना कथंभावाकांक्षायुक्त रहती है अतः अंगभावना या प्रधानभावना का पार्थक्य प्रदर्शित करना समीचीन नहीं है। इस प्रकार प्रयाजादि में कथंभावाकांक्षा की स्वीकृति ठीक है।

(२५) तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकं द्रव्यगुणयोस्तु तद् द्वारा। तथाहि-'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्र फलभावनायां कथंभावाकाङ्क्षायां संनिधिपठिताश्रूयमाणफलकं क्रियाजातमुपकार्याकाङ्क्षयेतिकर्तव्यतात्वेनन्वेति। क्रियाया एव लोके कथंभावाकाङ्क्षायामन्वयदर्शनात्। न हि हस्तेन कुठारेण छिन्द्यादित्यत्र कथंभावाकाङ्क्षायामुच्चार्यमाणोपि हस्तोन्वेति किंतु हस्तेनोद्यम्य निपात्येति उद्यमननिपातने एव, हस्तश्च तद्द्वारैवान्वेतीति सर्वजनीनमेतत्।

अर्थ :- वह प्रकरण क्रिया की ही साक्षात् रूप से अङ्गता का ज्ञापक होता है, द्रव्य एवं गुण की अङ्गता का ज्ञापक उस क्रिया के माध्यम से ही होता है। जैसे–'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य में स्वर्गरूप फल की भावना में कथंभावाकांक्षा होने पर पास में ही पठित और न सुने जा रहे फल वाला क्रियासमूह उपकार्य–प्रधान–की आकांक्षा से इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित

हो जाता है। क्योंकि लोक में देखा जाता है कि कथंभावाकांक्षा होने पर क्रिया का ही अन्वय होता है। 'कुठार से काटना चाहिये' इस वाक्य में कथंभावाकांक्षा होने पर भी हस्त का अन्वय नहीं होता है, अपितु 'हाथ से उठाकर गिराकर' इस प्रकार उठाना और गिराना ही अन्वित होता है। हाथ तो उस उद्यमन आदि क्रिया के माध्यम से ही छेदन रूप क्रिया से अन्वित होता है, यह सभी लोगों को ज्ञात है।

विशेष :- महाप्रकरण एवं अवान्तरप्रकरण से अङ्गाङ्गिभाव या शेषशेषिभाव का ज्ञान होता है, यह इससे पूर्व कहा जा चुका है। किन्तु प्रकरण प्रमाण का श्रुतिलिङ्ग आदि प्रमाणों से कुछ मौलिक भेद हैं। इस भेद को स्पष्ट करने हेतु ग्रन्थकार ने कहा है–'प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकम्'।

श्रुति प्रमाण द्वारा व्रीहिरूप द्रव्य का आरुण्य रूप गुण का, प्रोक्षणरूप क्रिया का 'इमामगभ्णन्' आदि मंत्र का एवं एकत्व, पुस्त्वं आदि का विनियोग होता है। लिङ्गप्रमाण द्वारा केवल मन्त्रों का विनियोग जाना जा सकता है यथा–'बर्हिर्देवसदनं दामि या 'स्योनं ते सदनं कृणोमि'। वाक्य द्वारा जातिरूप अङ्ग का विनियोग मिलता है। यथा–'यस्य पर्णमपी जुहूर्भवति' में पर्णता का विधान है। इन तीनों प्रमाण से भिन्न प्रकरण प्रमाण केवल क्रिया का विनियोजक होता है। वस्तुतः यह क्रिया का विनियोनक साक्षात् रूप से होता है द्रव्यगुणादि का परम्परया। आशय यह है कि 'यजेत स्वर्गकामः' इस महाप्रकरणगत वाक्य में कथंभावाकांक्षा है जिससे मुखभावना या फलभावना तक पहुंचा जा सके। इस वाक्य के समीप में प्रयाजादि यागों का समुद्र भी पठित है जिनमें केवल क्रिया समूह (क्रियाजातम्) का ही विधान है, फल की कोई चर्चा नहीं है अतः इन्हें (प्रयाजादि) को 'अश्रूयमाणफलक' कहा गया है अतः इनमें कथंभावाकांक्षा का अभाव होते हुये भी फलाकांक्षा है।

"हस्तेन कुठारेण छिन्द्यात्' इस लौकिक उदाहरण से भी यही स्पष्ट होता है कि इतिकर्तव्यता के रूप में क्रिया का ही विनियोग होता है द्रव्य का नहीं। क्योंकि हाथ स्वयं कुठार से काष्ठ काटने में समर्थ नहीं होता अपितु वह कुठार को उठाने और गिराने की क्रिया द्वारा ही छेदन करने में समर्थ हो पाता है अतः वहां उद्यमन और निपातन क्रियायें ही प्रमुख हैं जिनका कटाई से सम्बन्ध है। हाथ तो इन क्रियाओं द्वारा उसका सहयोगी मात्र होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकरण प्रमाण से क्रिया का ही साक्षात विनियोजन होता है।

(२६) इदं च स्थानादिभ्यो बलवत्। अत एवाक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनातीति देवनादयो धर्मा अभिषेचनीयसंनिधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गं, किंतु प्रकरणाद्राजसूयाङ्गमिति।

अर्थ :- यह प्रकरण स्थानादि प्रमाणों से प्रबल है। इसीलिये 'अक्षैर्दीव्यति'–पांसों से जुआ खेलता है–, 'राजन्यं जिनाति'–'क्षत्रिय को जीतता है–, ये द्यूत आदि धर्म अभिषेचनीय के समीप में पठित होने पर भी स्थानप्रमाण से उसके–अभिषेचनीय के–अङ्ग नहीं हो सके अपितु प्रकरणप्रमाण के कारण राजसूय के अङ्ग हुये।

विशेष :- एकत्र पठित होना स्थान प्रमाण तथा उभयाकांक्षा प्रकरण प्रमाण है। इन दोनों में प्रबलता किसकी है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए इस प्रसंग में वैदिक उदाहरण द्वारा 'प्रकरण' को स्थानादि से प्रबल सिद्ध किया है।

'राजा राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत' इस विधिवाक्य से 'राजसूययाग' का विधान है। इस याग में 'पशुयाग', 'इष्टियाग' एवं 'सोमयागादि विविध प्रधान कर्मों का उल्लेख मिलता है। इनमें एक 'अभषेचनीय' याग है जिसकी सन्निधि में 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यं जिनाति' आदि अङ्गकर्मों का उपदेश है। संशय यह होता है कि क्या ये अक्षक्रीड़ा (=देवन) आदि कर्म स्थान सन्निधि) के अनुसार अभिषेचनीय याग के अंग हैं अथवा प्रकरण के अनुसार याग के अंग हैं ? पूर्वपक्ष का मन्तव्य है कि वे कर्म अभिपेचनीय याग के समीप में पठित हैं अतः उस याग के ही अंग हैं, राजसूय के नहीं। यदि कहा जाये कि सन्निधिमात्र ही अन्वय में हेतु नहीं होती अतः यह कहना ठीक नहीं है कि सन्निधि के कारण उक्त कर्म अभिषेचनीय याग के अंग है तो यह भी सत्य नहीं है। यदि मान लिया जाये कि प्रकरण की आकांक्षा होने से उक्त कर्म प्रकरणवश राजसूय याग के भी अंग माने जा सकते हैं तब आकांक्षा एवं सन्निधि का कोई विनिगमक न होने से दोनों ही समान रूप से अपेक्षित हैं। अतः तुल्यबल होने से उक्त कर्म प्रकरण के अनुसार राजसूयबाग के अंग हैं और सन्निविवश अभिषेचनीय याग के भी। परन्तु सिद्धान्ती इन तर्कों को संगत नहीं मानता। सिद्धान्त पक्ष का मत है कि स्थान अब श्रुति की कल्पना करता है तो उसे प्रकरण, वाक्य, लिंग की कल्पना करके ही श्रुति को कल्पना करनी पड़ती है इसलिए स्थान विलम्ब से उपस्थित होकर विषय के अंगस्व का बोध कराता है परन्तु प्रकरण श्रुति के समीप होने के कारण शीघ्र उपस्थित होकर विषय के अंगत्व का बोध कराता है। अतः स्थान की अपेक्षा प्रकरण प्रबल है।

(२७) देशसामान्यं स्थानम्। तद्द्विविधम्-पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति। स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्। पाठसादेश्यमपि द्विविधम्-यथासङ्ख्यपाठः संनिधिपाठश्चेति।

अर्थ :- समानदेशता स्थानप्रमाण है। वह स्थान दो प्रकार का है—पाठसादेश्य और अनुष्ठानसादेश्य। स्थान और क्रम भिन्न अर्थ नहीं हैं अर्थात् स्थान और क्रम दोनों का एक ही अर्थ है। पाठसादेश्य भी दो प्रकार का है—यथासंख्यपाठ और संनिधिपाठ।

विशेष :- श्रुति, लिंग, वाक्य एवं प्रकरण नामक प्रमाणों का विवेचन करके ग्रन्थकार 'स्थान प्रमाण का' का प्रतिपादन कर रहे हैं। स्थान की समानता की 'स्थान' प्रमाण कहा गया है। स्थान का अर्थ 'क्रम' भी स्वीकार किया गया है अतः जो विनियोग क्रमानुसारी होगा उसे स्थानप्रमाणगम्य मानना चाहिये। वह स्थान पाठसादेश्य और अनुष्ठानसादेश्य भेद से दो प्रकार का होता है पुनः यथासंख्य पाठ और संनिधिपाठ के रूप में पाठसादेश्य के भी दो भेद होते हैं।

(२८) **तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्'। वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेति'त्येवं क्रमविहितेषु 'इन्द्राग्नी रोचना दिव' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवंरूपो विनियोगो यथासंख्यपाठात्। प्रथमपठितमन्त्रस्य हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रथमतो विहितं कर्मैव प्रथमुपतिष्ठते समानदेशत्वात्। एवं द्वितीयमन्त्रस्यापि। वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानां संदंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं संनिधिपाठात् यथा आमनहोमानाम्। तेषां हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलं विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते, उपस्थितत्वात्, स्वतन्त्रफलकत्वे विकृतिसंनिधिपाठानर्थक्यापत्तेः।**

अर्थ :- उन पाठसादेश्य के दोनों भेदों में 'ऐन्द्राग्नम् एकादशकपालं निर्वपेत्'—इन्द्र और अग्नि के लिये ग्यारह कपालों में निर्वपन करे—'वैश्वानरं' द्वादशकपालं निर्वपेत्'—वैश्वानर के लिये बारह कपालों में निर्वपन करे—इस प्रकार के क्रम से अभीष्ट कर्मों में 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्यादि याज्यानुवाक्या मन्त्रों का जो संख्या के अनुसार प्रथम का प्रथम के साथ और द्वितीय का द्वितीय के साथ इस प्रकार का विनियोग है वह यथासंख्यपाठ से है। प्रथम पठित मन्त्र के साध्य—कैमर्थ्य—की आकांक्षा होने पर प्रथमतः निर्दिष्ट कर्म ही सर्वप्रथम उपस्थित होता है, क्योंकि उनमें सादेश्य होता है। इसी प्रकार से द्वितीय मन्त्र का भी प्रकृतियागों के अङ्गों के अनुवाद के रूप में कथित और विकृतियागों के सन्दंशपतित अङ्ग संनिधिपाठ से विकृति के अङ्ग होते हैं, जैसे कि आमनहोम। उन वैकृताङ्गों के साध्य की आकांक्षा होने पर फलरूप में विकृति का अपूर्व ही भाव्य रूप से सम्बद्ध होता है, क्योंकि वही निकट में उपस्थित होता है, संदंशपतित अङ्गों का विकृतयाग से अलग साध्य मानने पर उनका विकृतियाग की सन्निधि में पाठ व्यर्थ सिद्ध होने लगेगा।

विशेष :- इस प्रकरण में पाठसादेश्य के दोनों भेदों यथासंख्यपाठ तथा संनिधिपाठ का सोदाहरण निरूपण हुआ है। यथासंख्यपाठ—"ऐन्द्रानम् एकादश कपालं निर्वपेत्" तथा "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्" ये दोनों मन्त्र मैत्रायणी संहिता के हैं और अनुक्रम में पठित हैं। जिस प्रकार ये मन्त्र पठित हैं उसी प्रकार मैत्रायणी संहिता में ही क्रमशः 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' तथा 'वैश्वानरोजीजनत्' इन यज्यानुवाक्या मन्त्रों के जोड़े हैं अतः दोनों स्थानों पर पाठसादेश्य हैं। जब 'इन्द्रानीरोचना दिवः' तथा 'वैश्वानरोजीजनत्' मन्त्रों के साध्य का प्रश्न होगा तब प्रथम को प्रथम तथा द्वितीय तो द्वितीय इस यथासंख्य पाठ के बल से क्रमशः 'एन्द्राग्न०:' तथा 'वैश्वानरं०' मन्त्र उपस्थित होंगे।

उपरि निर्दिष्ट उदाहरण में यथासंख्या पाठ से यह ज्ञात होता है कि प्रथम मन्त्र प्रथम विधि बोध्य क्रिया का अंग है एवं द्वितीय मन्त्र द्वितीय विधि बोध्य क्रिया का अंग है।

सन्निधि पाठ—'वैश्वदेवीं सांग्रहर्णीं निर्वपेद् ग्रामकामः' विधिवाक्य 'संग्रहणी नामक विकृतियाग का विधान करता है। इसका प्रकृतियाग 'दर्शपूर्णमास' है। सांग्रहणीयाग' के सन्निकट ही 'आमनम् अस्य आमनस्य देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोति' यह वाक्य पठित है जिसके द्वारा तीन आमन होमों का विधान है। इन आमन होमों से कोई फल विशेष निर्दिष्ट नहीं है अतः स्वभावतः इनमें 'फलाकांक्षा' है। इस प्रकार सन्निधि पाठ के बल पर 'आमन होम' सांग्रहणी याग का अंग हो जाती है। सांग्रहणीयाग 'अतिदेश वाक्य' प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' से समस्त प्राकृताङ्ग को प्राप्त करती है। अतः सन्निधि पाठ से आमन होम विकृति सांग्रहणी के अंग माने गये।

(२६) **पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात्। औपवसथ्येह्नि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते। अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामानुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पश्वपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते।**

अर्थ :- पशुधर्मो की अग्नीषोमीय की अङ्गता अनुष्ठाानसादेश्य के कारण है। औपवसथ्य के दिन अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है और उसी दिन वे धर्म भी पढ़े जाते हैं। अतः उन पशुधर्मों की फलाकांक्षा होने पर अनुष्ठेय रूप में उपस्थित पशु का अपूर्व ही साध्य के रूप में सम्बद्ध हो जाता है।

विशेष :- इस प्रकरण में अनुष्ठानसादेश्य का स्वरूप निरूपित हुआ है। अनुष्ठान—सादेश्य का अभिप्राय यह है कि

ज्योतिष्टोमादि याग में एक दिन में अनुष्ठित किये जाने वाले कर्मों से सम्बद्ध जितने भी सहायक कर्म हैं वे भी उसी दिन प्राप्त होते हैं। इस रूप में उनकी यह अङ्गता पाठ के कारण नहीं अनुष्ठान के कारण होती है।

ज्योतिष्टोम तीन दिनों में सम्पन्न होने वाला एक सोमयाग है। इन तीन दिनों को क्रमशः औपवसथ्य, सौत्य और अवभथ कहते हैं। औपवसथ्य दिन उपस्थित यज्ञीय पशु को अग्निषोमीय, सौत्य वाले को सवनीय तथ्यय अवभथ दिन वाले को अनुबन्ध्य कहा जाता है। प्रथम दिन उपस्थित होने वाले अग्निषोमीय पशु के उपाकरण, पर्यग्निकरण तथा यूप–नियोजन जैसे पशुधर्मों की सम्पन्नता भी अनुष्ठान सादेश्य से उसी दिन होती है।

(३०) तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अत एव शुन्धनमन्त्रः सांनाय्यपात्राङ्गं पाठसादेश्यात्, न तु पौरोडाशिकमिति समाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गम्।

अर्थ :- वह स्थान प्रमाण समाख्या से प्रबल है। इसीलिए पाठसादेश्य के कारण शुन्धनमन्त्र सांनाय्यपात्र का अङ्ग है, न कि 'पौरोडाशिक' इस समाख्या से पुरोडाशपात्रों का अङ्ग।

विशेष :- अगले प्रकरण में 'समाख्या' का निरूपण हुआ है। यहाँ तो 'समाख्या' से स्थान प्रमाण की प्रबलता बताई गई है। उदाहरणार्थ पौरोडाशिक प्रकरण का उल्लेख हुआ है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत एक पौरोडाशिक काण्ड है जहाँ पुरोडाश के उपकारक कुछ विषयों का निर्देश है। वहाँ पर 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै' मन्त्र सान्नाय पात्र के शुन्धन मन्त्र रूप में पठित है यहाँ संशय यह है कि उक्त मन्त्र का पौरोडाशिक समाख्या के अनुसार उलूखल, मुसल, जुहू, आदि द्रव्यों के संस्कार में विनियोग अथवा स्थान के अनुसार सान्नाय पात्र के शोधन में प्रयुक्त होगा ? पूर्वपक्ष का मत है कि उक्त मन्त्र पौरोडाशिक समाख्या के अनुसार उलूखल आदि द्रव्यों का संस्कारक है।

सिद्धान्त पक्ष का समाधान यह है कि–'पौरोडाशिक' पद में पुरोडाशस्येदं, इस विग्रह से प्रकृति का पुरोडाश एवं (ठक्) प्रत्यय का काण्ड अर्थ होता है किन्तु इस प्रकार से पुरोडाश पात्र की सन्निधि प्रत्यक्ष न होने से अर्थापत्ति द्वारा उसकी कल्पना की जायेगी। समस्या यह है कि पुरोडाश पात्र की सन्निधि प्रत्यक्षता न होने पर शुन्धन विषयक मन्त्र की 'पौरोडाशिक' समाख्या नहीं होगी। इस प्रकार समाख्या में सन्निधि कल्पित होगी, परन्तु प्रकरण बिना परिकल्पित काण्ड सन्निधि भी अनुपपन्न है। अतः परस्पर आकांक्षारूप सम्पूर्ण पुरोडाश पात्रप्रकरण की कल्पना करनी पड़ेगी। तदनन्तर लिङ्ग एवं श्रुति से विनियोग होगा इस प्रकार समाख्या विनियोग से अत्यन्त व्यवहित हो जाता है। परन्तु सान्नाय पात्रों का शुन्धन मन्त्र से सन्निधि प्रत्यक्ष सिद्ध है क्योंकि मन्त्र द्वारा 'कथं भावाकांक्षा' होने पर निकटस्थ सान्नायपात्र का भाग्य अपूर्व हो साध्यत्वेन अन्वित हो जाता है अतः 'समाख्या' विनियोग में विप्रकृष्ट है एवं स्थान सन्निकृष्ट।

(३१) समाख्या यौगिकः शब्दः। सा च द्विविधा-वैदिकी लौकिकी च। तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्, होतचमस इति वैदिक्या समाख्यया। अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्, लौकिक्या आध्वर्यवमिति समाख्ययेति संक्षेपः। तदेवं निरूपितानि संक्षेपतः श्रुत्यादीनि षट् प्रमाणानि।

अर्थ :- यौगिक शब्द समाख्या है। वह समाख्या दो प्रकार की है–वैदिकी और लौकिकी। इन दोनों में होता की चमसभक्षव की अंगता 'होतचमस' का इस वैदिकसमाख्या से सिद्ध होती है। अध्वर्यु की तत्तत्पदार्थों की अङ्गता 'आध्वर्यवम्' इस लौकिक समाख्या से होती है। यही समाख्या का संक्षेप है। इस प्रकार से श्रुति आदि छः प्रमाण संक्षेप में निरूपित हुए।

विशेष :- ग्रन्थकार लौगाक्षिभास्कर प्रसंग प्राप्त 'समाख्या' का निरूपण कर रहे हैं। प्रदत्त लक्षण के अनुसार यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। (समाख्या यौगिकः शब्दः)।

इनके दो भेद माने गये हैं–(१) वैदिकी (२) लौकिकी। वेद में पठित यौगिक शब्दों को वैदिकी समाख्या कहा जाता है। 'प्रतु होतुश्चमस', प्र ब्राह्मणः प्र उद्गातणाम्' इस प्रकार वैदिक वाक्य है। इसके अनुसार होता ब्रह्मा एवं उद्गाता के साथ 'चमस' नामक पात्र में सोमरस का पान करता है। 'होतुश्चमसः' से दो बातों का संकेत मिलता है –

(१) चमसभक्षणम्–चमसस्थितसोमपान।

(२) होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम् अर्थात् सोमरस पान क्रिया होने के कारण 'प्रधान या अङ्गी' है एवं 'होता' उसका अङ्ग। 'भक्षणस्य क्रियात्मकत्वेन प्राधान्यात् तत्कर्तुः होतुः भवति तदङ्गत्वम्:')।

'चमसः' का अर्थ चम्–चमति, चम्नोति, चम्यते पीयते सोमः अत्र स्थितः इति चमसः। इस प्रकार 'होतुश्चमसः' वैदिकी समाख्या है क्योंकि इसका पाठ वेद में मिलता है। 'आध्वर्यवम्' लौकिकी समाख्या है। इसका अर्थ, 'अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म। अध्वर्यु

नामक ऋत्विक् का सम्बन्ध यजुर्वेद से है अतः 'आध्वर्यवम्' समाख्या से यह ज्ञान होता है कि 'अध्वर्यु' यजुर्वेद की सभी क्रियाओं का अङ्ग है।

(३२) एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना समिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्येवंरूपेण यानि विनियोज्यन्ते तान्यङ्गानि द्विविधानि सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति। तत्र सिद्धानि जातिद्रव्यसंख्यादीनि। यानि च दृष्टार्थान्येव। क्रियारूपाणि व द्विविधानि-गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि च। एतान्येव संनिपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणीति चोच्यन्ते।

अर्थ :- इनसे सहायता प्राप्त विनियोगविधि के द्वारा समित् आदि से उपकृत होकर 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इस प्रकार के मन्त्रों से जिनका विनियोग होता है वे अङ्ग दो प्रकार के होते हैं–सिद्धरूप तथा क्रियारूप। इनमें सिद्धरूप है जाति, द्रव्य, संख्या आदि और ये दृष्टप्रयोजन वाले हैं। क्रियारूप दो प्रकार के हैं–गुणकर्म तथा प्रधानकर्म, यही संनिपत्योपकारक तथा आरादुपकारक भी कहे जाते हैं।

विशेष :- दर्शपौर्णमास आदि प्रधान याग हैं। समिद् आदि इनके सहायक याग कहलाते हैं। इन सहायक यागों की प्राप्ति 'समिधो यजति' इत्यादि मन्त्रों से प्राप्त होती है। इनकी प्रधानता और गौणता विनियोग विधि द्वारा जानी जाती है।

विनियोगविधि द्वारा विनियोजित अंगों के दो भेद माने गये हैं–(१) सिद्धरूप एवं (२) क्रियारूप। प्रथम रूप अर्थात् सिद्ध रूप क्रिया की तरह उत्पाद्य या साध्य नहीं होता अतः इसके अंग रूप में जाति, द्रव्य एवं संख्या आदि भेद परिगणित हैं। इनका प्रयोजन भी प्रत्यक्ष (=दृष्ट) है क्योंकि इनसे साध्य क्रियाओं का अनुष्ठान होता है।

क्रियारूप के दो भेद हैं–(१) गुणकर्म एवं (प्रधानकर्म)। गुणकर्म साक्षात् नहीं अपितु परम्परया प्रधान क्रिया का अंग होता है परन्तु प्रधानकर्म साक्षात् अंग होता है। गुणकर्म को ही 'सन्निपत्योपकारक' कहा जाता है क्योंकि ये किसी अङ्ग के माध्यम से मुख्य याग दर्शपूर्णमासादि के उपकारक होते हैं। परन्तु प्रधान कर्म या 'आरादुपकारक' साक्षात् रूप में प्रधान क्रिया दर्शपूर्णमासादि के उपकारक होते हैं।

(३३) कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म संनिपत्योपकारकम्। यथावघातप्रोक्षणादि। तच्च दृष्टार्थम् अदृष्टार्थम् दृष्टादृष्टार्थं चेति। तत्र दृष्टार्थमवघातादि, अदृष्टार्थ प्रोक्षणादि, दृष्टादृष्टार्थं पशुपुरोडाशादि। तद्धि द्रव्यत्यागांशेनैव अदृष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति।

अर्थ :- होमकर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि को लक्ष्य करके सम्पन्न किये जाने वाले कर्म संनिपत्योपकारक हैं। जैसे अवघात्, प्रोक्षण आदि। यह कर्म दृष्टार्थ, अदृष्टा र्थ और दृष्टादृष्टार्थ है। इनमें अवघात आदि दृष्टार्थ है, प्रोक्षण आदि अदृष्टार्थ और पशु–पुरोडाश आदि दृष्टादृष्टार्थ है। यह पशुपुरोडाश आदि द्रव्यत्याग अंश में ही अदृष्ट अर्थ करता है, देवता को लक्ष्य करने से देवतास्मरण रूप दृष्ट प्रयोजन को सम्पन्न करता है।

विशेष :- होमकर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि गुणकर्म कहलाते हैं। गुणकर्म को ही संनिपत्योपकारक कहा जाता है। संनिपत्योपकारक इस समस्त पद में 'संनिपत्य' का अर्थ है–द्रव्य आदि के माध्यम से याग के स्वरूप का घटक होना। उपकारक का अर्थ है यागजन्य अपूर्व की उत्पत्ति में सहायक होना। इस प्रकार साक्षात् रूप में नहीं अपितु द्रव्य आदि के माध्यम से मुख्य याग के स्वरूप का घटक बनने वाले तथा उसके अपूर्व की निष्पत्ति में सहायक कर्म सन्निपत्योपकारक कर्म कहे जाते हैं।

सन्निपत्योपकारक कर्म के तीन भेद माने गये है (दृष्टार्थक (२) अदृष्टार्थक (३) एवं दृष्टादृष्टार्थक।

दर्शपूर्णमासयागरूपी कर्म का द्रव्यरूपी व्रीहि अंग है। इस व्रीहि के लिये अवघातादि क्रिया का विधान 'व्रीहीनवहन्ति' आदि वाक्यों से किया गया है। प्रोक्षणादि क्रियायें भी विहित हैं। अतः अवघात प्रोक्षणादि कर्म को 'कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन' विधीयमान' कहा जा सकता है। अतः निष्कर्ष रूप में यह गुणकर्म या सन्निपत्योपकारककर्म है। अवघात प्रोक्षादि गुणों का व्रीहि द्रव्य के आश्रित रहने से गुणकर्म कहना उचित ही है और ये सभी प्रधान याग 'दर्शपूर्णमास' के उपकारक हैं अतः इन्हें सन्निपत्योपकारक कहा गया है।

'व्रीहीन् अवहन्ति' वाक्य द्वारा अवघात का विधान है जो परम्परया प्रधान कर्म का उपकारक है चूँकि इससे 'तुषविमोकादि' प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला कार्य सिद्ध होता है अतः इसे 'दृष्टार्थक' कहा जाता है।

'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य से 'प्रोक्षण' क्रिया विहित है। प्रोक्षण यद्यपि इष्टरूप में व्रीहि पर कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न करता तथापि अदृष्टार्थ की कल्पना करना उचित है।

'पशुपुरोडाशादि याग' को दृष्टादृ ष्टार्थक का दृष्टान्त माना गया है। जब देवता को उद्देश्य करके पशु या पुरोडाश का

त्याग किया जाता है तब 'इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय। इदं न मम।' रूप से मन्त्र पढ़ा जाता है। यहाँ 'द्रव्यत्यागांश' अदष्टा र्थक है। लेकिन यह क्रिया 'देवतोद्देश' से की गई है। अतः इस अंग को 'दष्टार्थक' माना जाता है। इस प्रकार सन्निपत्योपकारक के सन्दर्भ में 'दष टार्थक अदष्टार्थक' एवं 'दष्टादष्टार्थक' का विवेक हो सकता है।

(३४) द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्। यथा प्रयाजादि। आरादुपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते। संनिपत्योपकारक तु द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागस्वरूपेप्युपयुज्यते। इदमेव चाश्रयि कर्मेत्युच्यते। तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।

अर्थ :- द्रव्य आदि को लक्ष्य न करके केवल सम्पाद्यमान कर्म आरादुपकारक है, जैसे प्रयाज आदि। आरादुपकारक परम अपूर्व–फलापूर्व–की उत्पत्ति में ही प्रयुक्त होता है, जब कि संनिपत्योपकारक तो द्रव्य, देवता और संस्कार के द्वारा याग के स्वरूप में भी प्रयुक्त होता है यह संनिपत्योपकारक ही आश्रयकर्म भी कहा जाता है। तो इस प्रकार संक्षेप में विनियोगविधि का निरूपण हुआ।

विशेष :- यागसम्बन्धी द्रव्य या देवता का उद्देश्य न कर यों ही कर्म का जहाँ विधान हो उस कर्म की आरादुपकारक संज्ञा है। अर्थात् उत्पत्ति वाक्य में जिन द्रव्य व देवता को स्पर्श नहीं करते हुए केवल विधीयमान अंग आरादुपकारक है। 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' 'आज्यभागौ यजति' 'अनूयाजैर्यजते' आदि वाक्यों में समिद्याग से यागोपकार करना चाहिए, तनूनापाद्याग से यागोपकार करना चाहिए, ये ही श्रुत हैं यहाँ यागसंबन्धी द्रव्य या देवता का उल्लेख नहीं है, जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'व्रीहीनवहन्ति' 'तण्डुलान् पिनष्टि' में है। अतः सन्निपत्योपकारक एवं आरादुपकारक का भेद सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, सन्निपत्योपकारक अंगों के अनुष्ठान से परमापूर्व या फलापूर्व की उत्पत्ति होती है। अर्थात् उत्पत्त्यपूर्व के उपकारक संनिपत्योपकारक अंग हैं, परमापूर्व के उपकारक आरादुपकारक हैं।

(३५) प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव। स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते। न च तदविलम्बेपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। विलम्बे हि अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यतावगततत्साहित्यानुपपत्तिः। विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोरिदमनेन सह कृतमिति साहित्यव्यवहाराभावात्। स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति। अन्यथा हि किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः। अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थ नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणातया विधत्ते। अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्।

तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा।

अर्थ :- प्रयोग अर्थात् कर्मसम्पादन में शीघ्रता के भाव की ज्ञापकविधि प्रयोगविधि है। वह अङ्ग वाक्यों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त प्रधानविधि ही है। वह अङ्गसहित प्रधान का सम्पादन कराते हुए विलम्ब में प्रमाण का अभाव होने से 'अविलम्ब' इस दूसरे नाम वाले 'प्रयोगप्राशुभाव' का विधान करता है। यह नहीं कह सकते कि प्रयोग के अविलम्ब में भी प्रमाण का अभाव है, क्योंकि प्रयोग में विलम्ब मानने पर प्रयाज आदि अङ्ग और दर्श आदि प्रधान सें सम्बद्ध विधियों में एकवाक्यता का बोध होने से उनका एक साथ होना साहित्य संमत नहीं हो सकेगा। विलम्ब से किये जाने वाले दो पदार्थों में–'यह इसके साथ किया गया है' इस प्रकार का एक साथ होने का कथन नहीं किया जा सकता। और वह 'अविलम्ब' एक निश्चित क्रम का आश्रय लेने पर ही हो सकता है। नहीं तो 'इसको इसके बाद करना चाहिये अथवा उसके बाद में, इस प्रकार का विक्षेप अनुष्ठान में होने लगेगा। इसलिये प्रयोग विधि ही अपने अनुष्ठेयकर्मों में शीघ्रता के भाव की सिद्धि के लिये कर्म के विशेषण के रूप में निश्चित क्रम का भी विधान करती है। इसलिये 'अङ्गों के क्रम का बोध कराने वाली विधि प्रयोगविधि है, यह भी इसका लक्षण है।

वहाँ अर्थात् प्रयोगविधि के क्रमबोधक द्वितीय लक्षण में प्रयुक्त क्रम का अर्थ है–विस्तारवेशेष अथवा आगे–पीछे होना।

विशेष :- ग्रन्थकार लौगाक्षिभास्कर ने विधि का वर्गीकरण करते हुए क्रमशः उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि तथा प्रयोगविधि का उल्लेख किया है। विनियोग विधि के विवेचन के पश्चात् क्रम प्राप्त अधिकारविधि का विवेचन होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न करके ग्रन्थकार क्रमभंग करते हुए विनियोग विधि का विवेचन किया हैं यह क्रमभंगता विचारणीय है। इस प्रसंग में डा० कामेश्वरनाथ मिश्र लिखते हैं "प्रतीत होता है विनियोग विधि के निरूपण से अंग और प्रधान वाक्यों का ज्ञान हो जाने से तत्काल प्रयोग में सुकरता रहती है, यही प्रदर्शित करना ग्रन्थकार का उद्देश्य है।

ग्रन्थकार ने प्रयोगविधि के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत करने के लिये प्रथमतः उसका लक्षण किया है–'प्रयोग

प्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। अर्थात् अनुष्ठान की शीघ्रता बोधक विधि को प्रयोगविधि कहते हैं। वस्तुतः उत्पत्तिविधि के लिये जिस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहोति' या विनियोगविधि स्वरूप बोधक 'दघ्ना जुहोति' आदि वाक्य उपलब्ध होते हैं उस प्रकार 'प्रयोगविधि' बोधक वाक्य नहीं है अतः उसका निरूपण प्रकारान्तर से ग्रन्थकार करता है। प्रयाजादि याग अंग है और 'दर्शपूर्णमास' प्रधान याग है। अब अंग वाक्यों का प्रधान वाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' से एकवाक्यता होने पर 'प्रयाजानुयाजादिभिरूपकृतवद्भ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस प्रकार का कल्पित वाक्य ही 'प्रयोगविधि' का परिचायक होता है। यदि अंगों का प्रधान के साथ 'साहित्य' का अभाव अर्थात् साथ–साथ अनुष्ठान का अभाव हो तो प्रधान द्वारा फलोत्पत्ति सम्भव नहीं होगी। यद्यपि विलम्ब से अनुष्ठान निषेधक वाक्य नहीं मिलता तथापि प्रयोगविधि द्वारा निर्दिष्ट साथ–साथ अनुष्ठान की प्रक्रिया ही विलम्ब से अनुष्ठान में बाधिका है। अविलम्ब से अनुष्ठान की सम्पन्नता में नियामक तत्व यह भी है कि 'प्रयाजादि अंग' एवं 'दर्शपूर्णमासादि प्रधान' को एकवाक्यता से ही दोनों की साथ–साथ अनुष्ठेयता का ज्ञान होता है। यह पहले कहा जा चुका है। यदि प्रयोग में विलम्ब होगा तो 'साहित्य' की उत्पत्ति नहीं होगी। इसके अलावा, 'साहित्य' अंग एवं प्रधान का अविलम्ब क्रम नियत रहने पर ही होता है। यथा पहले 'आग्नेय हविष्' का अभिघारण करना चाहिए तत्पश्चात् 'ऐन्द्रदधि हविष्' का अभिघारण करना चाहिये। इस प्रकार यदि क्रम नियत न हो तो प्रयोग के समय सन्देह उत्पन्न होगा। अतः प्रयोगविधि ही अनुष्ठानों की अविलम्ब सिद्धि के लिये नियत क्रम का विधान करती है अन्यथा अनुष्ठानों में विक्षेप उत्पन्न होता है। अतएव अर्थलोक में कहा गया है–'प्रयोगप्राशुभावं विदधत्प्रयोगविधिरेव नियतं क्रममपि विधत्त इति प्रमाणाभावो नाशङ्कनीय इत्यर्थः।'

इस प्रसंग में यह संशय हो सकता है–प्रयोगविधि द्वारा अनुष्ठान की शीघ्रता भी विहित होती है और क्रम भी नियत होता है अतः वाक्यभेद नामक दोष होगा। परन्तु यह शंका उचित नहीं है क्योंकि स्वतन्त्रस्वरूप से यदि प्रयोगविधि द्वारा दोनों का विधान होता तब वाक्यभेद की स्थिति उत्पन्न होती। विशेष्यविशेषणरूप विभाग से वाक्यभेद नहीं होता अर्थात् क्रम की पदार्थ (क्रिया) का विशेषण मान लेने पर कोई दोष नहीं है। इस प्रकार प्रयोगविधि से क्रमविशिष्ट के विधान होने से 'अङ्गों के क्रमबोधक विधि को प्रयोगविधि कहते हैं' ऐसा लक्षणान्तर भी दिया जा सकता है। वह क्रम क्या है ? वितति अर्थात् विस्तारविशेष ही क्रम है।

यागादि अनुष्ठान के समय कई प्रकार के कार्य यजमान को करने पड़ते हैं उस समय अनुष्ठीयमान प्रत्येक कार्य का क्रमज्ञान होना आवश्यक है अन्यथा विक्षेप होगा। अत एव क्रम की एक विशेष प्रकार विस्तार या वितति कहा गया है। क्रम से अनुष्ठित कई प्रकार की क्रियाएं विस्तार विशेष को प्राप्त करती है। क्रम ज्ञान से क्रियाओं का अनुष्ठान अव्यवहित रूप में होता है। ग्रन्थकार क्रम का लक्षणान्तर भी प्रस्तुत करता है इससे प्रतीत होता है प्रथम लक्षण में उसकी अनास्था है। पौर्वापर्य को क्रम का दूसरा व्रक्षण माना है। अर्थात् कौन पूर्व में है और कौन बाद में इसी को क्रम कहते हैं।

(३६) **तत्र षट् प्रमाणानि-श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवत्याख्यानि।**

अर्थ :- क्रम–निर्धारण में श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवत्ति नामक छः प्रमाण होते हैं।

विशेष :- पिछले प्रकरण में क्रम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके दो लक्षण लिखे गये हैं 'वितति' (विस्तारविशेष) और 'पौर्वापर्य'। पौर्वापर्य को निर्धारित करने में –'श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य तथा प्रवत्ति नाम के छः प्रमाण होते हैं। इनका स्वरूप अगले प्रकरणों में स्पष्ट किया गया है।

(३७) **तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः। तच्च द्विविधिम्-केवलक्रमपरं तद्विशिष्टपदार्थपरं चेति। तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति केवलक्रमपरं, वेदिकरणादेर्वचनान्तरप्राप्तत्वात्। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इति तु क्रमविशिष्टपदार्थपरम्। एकप्रसरता भङ्गभयेन भक्षानुवादेन क्रममात्रस्य विधातुमशक्यत्वात्।**

अर्थ :- इन छः प्रमाणों में क्रमबोधक शब्द को श्रुति कहते हैं। श्रुतिप्रमाण दो प्रकार का होता है–१. केवल क्रमबोधक और २. क्रमविशिष्ट पदार्थ–बोधक। इन दोनों भेदों में से 'कुशमुष्टि (वेद) को करके गड्ढाविशेष (वेदि) को करते हैं, यह केवल क्रमबोधक है, क्योंकि वेदि के निर्माण आदि से सम्बद्ध अन्य वाक्य अन्यत्र उक्त हैं। 'वषट् करने वाले का भक्षण प्रथम हो' यह क्रमविशिष्ट पदार्थ का बोधक है। एकवाक्यता का भङ्ग होने के डर से 'भक्ष' का अनुवाद करके क्रममात्र का विधान असम्भव है।

विशेष :- क्रम के निर्धारक छः प्रमाणों में श्रुति प्रमाण प्रथम है। क्रम बोधक शब्द को श्रुति कहते हैं। इसमें क्रम का वाचक शब्द स्वयं उपस्थित होता है जिसकी श्रुति से ज्ञात हो जाता है कि किसके बाद क्या करना है।

श्रुति के दो भेद माने गये हैं (१) केवल क्रममात्र बोधक, (२) एवं क्रमविशिष्टपदार्थबोधक। प्रथम भेद को समझाने के

लिये 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इस दष्टांत का आश्रय लिया जाता है। इस वाक्य में 'वेद एवं वेदी' के निर्माण का विधान नहीं किया गया है अपितु 'क्त्वा' प्रत्यय से वेदकरण एवं वेदिकरण का पौवापर्यरूपी क्रम का बोध कराया गया है। क्योंकि दर्शपूर्णमास प्रकरण में इन दोनों का विधान पूर्वतः प्राप्त है।

'वषट्त्तुःप्रथममक्षः' द्वारा क्रमविशिष्टपदार्थबोधक श्रुति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। याज्ञिकी मान्यता के अनुसार होता को 'वषट्' का उच्चारण करने से वषट्कर्त्ता' कहते हैं। प्रक्रिया यह है कि देवतोद्देश्य से द्रव्यादि का त्याग करते हुए अध्वर्यु 'अग्नये अनुब्रूहि' कहकर 'प्रैष्' अर्थात् आज्ञा प्रदान करता है तदनन्तर 'होता' पुरोनुवाक्य का पाठ आहुति देने से पहले करता है। इसके बाद अध्वर्यु 'अग्निं यज' रूप में दूसरा 'प्रैष' करता है और तब 'होता' देवता के लिए याज्या मन्त्रों का पाठ करता है–'याज्यया अधि वषट् करोति'–देवता के नाम के साथ वषट् शब्द का प्रयोग अन्त में किया जाता है। इसलिये 'होता' की 'वषट् कर्तु' संज्ञा है।

'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इस दष्टान्त में 'होता के प्रथम भक्षण' का निर्देश है। यहाँ 'प्रथम' शब्द भक्षण क्रिया के विशेष रूप में व्यवहृत है। 'प्राथम्य' पद क्रम का भी बोधक है। अतः यह श्रुति वस्तुतः प्राथम्यरूप 'क्रम' से विशष्ट भक्षणरूप पदार्थ का निर्देश कर रही है इस प्रकार इसे 'क्रमविशिष्ट पदार्थ बोधक' कहा गया है।

इस प्रसंग में संशय यह है कि 'वषट्कर्त्तु प्रथमभक्षः' इस विधिवाक्य को 'केवलक्रमपरक' क्यों न माना जाय? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने कहा है–एकप्रसरताभङ्गभयेन क्रममान्नस्य विधातुमशक्यत्वात्।'

प्रस्तुत संदर्भ में प्रथमतया 'एकप्रसरता' पद पर विचार करना आवश्यक है। 'प्रसरः' का अर्थ यदि वाक्य माने तो 'एकप्रसरता' का अर्थ 'एक वाक्यता' होगा और 'एकप्रसरताभङ्गः' का अर्थ 'वाक्यभेद' होगा। आशय यह है कि यदि इस वाक्य को केवल क्रमपरक ही माना जायेगा तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इसके द्वारा वषट्कार के लक्षण भी विधान हैं तब वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः एक ही वाक्य से वषट्कारी भक्षयति, एवं वषट्कारी प्रथमं भक्षयति च' दो वाक्यों की कल्पना करनी होगी, इस तरह वाक्य भेद होगा। अतः इससे 'क्रमविशिष्टभक्षण का बोध करना ही उचित है।

(३८) **सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती। तेषां वचनकल्पनद्वारा क्रमप्रमाणत्वात्। अत एवाश्विनग्रहस्य पाठक्रमात्ततीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तौ 'आश्विनो दशमो गह्यत' इति वचनाद्दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम्।**

यह चर्चित श्रुति अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल है क्योंकि अन्यों में क्रमबोधक शब्द की कल्पना करके ही क्रम में प्रमाणता होती है। इसीलिये पाठ–क्रम से आश्विनग्रहण ततीय स्थान पर प्राप्त था, किन्तु 'आश्विनो दशमो गह्यते'–आश्विन दशम स्थान पर गहीत होता है–इस शब्द के कारण दशम स्थान पर उसका ग्रहण हो, ऐसा मीमांस सूत्र के पचम अध्याय के चतुर्थपाद के प्रथम अधिकरण में कहा गया है।

विशेष :- इस श्रुति को अर्थादि प्रमाणों की अपेक्षा बलवान् माना है। क्योंकि क्रमबोध को श्रुति शीघ्रतया कराने में समर्थ है। यथा–'ऐन्द्रवायवं गह्णाति, मैत्रावरुणं गह्णाति, आश्विनं गह्णाति' मन्त्र में 'आश्विनग्रहण' का पाठ क्रम के आधार पर ततीय स्थान है परन्तु 'आश्विनी दशमी गह्यते' इस श्रुति वचन से 'आश्विनग्रहण' का 'दशम स्- थान' पहले से निर्दिष्ट है अर्थात् क्रमबोधक वचन प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः पाठ से श्रुति प्रबल है।

(३९) **यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोथक्रमः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'यवागूं पचती' त्यग्निहोत्रयवागूपाकयोः। अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते।**

जहाँ उद्देश्यविशेष के कारण क्रम का अवधरण हो वह अर्थक्रम है। जैसे–'अग्निहोत्रं जुहोति'–अग्निहोत्र करता है, 'यवागूं पचति'–लपसी पकाता है–अग्निहोत्र और यवागूपाक इन दोनों में, क्योंकि यहाँ यवागू लपसी होम के लिये उपकारक होने से, उसका पाक उद्देश्यविशेष के कारण अग्निहोत्र से पहले सम्पन्न किया जाता है।

विशेष :- क्रम निर्धारण में दूसरा प्रमाण 'अर्थक्रम' है अर्थात् अर्थ या प्रयोजन को दष्टिगत करके जहाँ क्रम का निर्धारण होता है। अग्निहोत्र प्रकरण में क्रमशः 'अग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'यवागूं पचति' पाठ मिलता है। वहाँ इन दोनों के क्रम के सम्बन्ध में संशय होता है। परन्तु दोनों वाक्यों पर विचार करने पर 'यवाग्वाः होमार्थत्वम्' अर्थात् यवागू पाक अग्निहोत्र होम के लिये, यह बोध होता है। यह निर्णय वस्तुतः अर्थक्रम के अनुसार है पाठक्रम के आधार पर नहीं है।

(४०) **स चायं पाठक्रमाद् बलवान्। यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लप्तप्रयोजनबाधोदष्टार्थत्वं च स्यात्। न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किचिद् दष्टं प्रयोजनमस्ति।**

यह अर्थक्रम पाठक्रम से प्रबल है। पाठ के अनुसार अनुष्ठान करने पर निर्धारित प्रयोजन का बाध होने लगेगा और पाक की अदष्टार्थता भी होगी, क्योंकि होम के पश्चात् सम्पादित किये जाने वाले पाक का कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं रहेगा।

विशेष :- पाठक्रम के अर्थक्रम को बलवान् माना गया है क्योंकि पाठक्रम के अनुसार पहले 'अग्निहोत्रहोम' के तत्पश्चात्! 'यवागूपाक'। यदि हम इस क्रम को स्वीकार करेंगे तो 'कलप्तबाध' होगा। क्लप्तबाध का अर्थ है—'क्लप्तं दष्टं यत् प्रयोजनं यावाग्वाः होमार्थत्वं तस्य बाधः।' अर्थात् यवागू पाक का दष्ट प्रयोजन अग्निहोत्रहोम की सिद्धि है, अतः पाठक्रम मानने पर उसका 'बाध' होगा क्योंकि अग्निहोत्रहोम के बाद 'यवागू पाक' का कोई दष्ट प्रयोजन नहीं रहता। अतः अदष्ट प्रयोजन की कल्पना करनी होगी जो कि 'लभ्यामाने फले दष्टे नादष्टपरिकल्पना' नामक न्याय के विरुद्ध है।

(४१) पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः। तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते। येन हि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधीतान्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति। यथाप्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानम्। स च पाठो द्विविधः-मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति।

कर्म के बोधक वाक्यों का जो क्रम है वही पाठक्रम प्रमाण है। उससे कर्मों का क्रम निश्चित होता है क्योंकि जिस क्रम से वाक्य पठित होते हैं उसी क्रम से वाचित होने पर अर्थ का ज्ञान कराते हैं। ज्ञान के क्रम से ही क्रियाओं का सम्पादन होता है। यह पाठ भी दो प्रकार का होता है—मन्त्रपाठ और ब्राह्मणपाठ।

विशेष :- कर्म के बोधक वाक्यों का जो क्रम है, वही पाठक्रम के नाम का प्रमाण है। यह पाठक्रम मन्त्रपाठ और ब्राह्मणपाठ भेद से दो प्रकार का होता है। मन्त्रपाठ का अर्थ है क्रमशः पढ़े गये संहिता मन्त्र और ब्राह्मण पाठ का अर्थ है क्रमशः ब्राह्मणग्रन्थों में अलिखित वाक्य।

(४२) तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्याज्यानुवाक्यानां पाठाद्यः क्रम आश्रीयते स मंत्रपाठात्।

स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद् बलीयान्, अनुष्ठाने ब्राह्मणवाक्यापेक्षया मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वात्। ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद् बहिरेवेदं कर्तव्यमिति अवबोध्य कृतार्थम्। मन्त्राः पुनः प्रयोगकाले व्याप्रियन्ते, अनुष्ठानक्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात्। तत्क्रमस्य च मन्त्रक्रमाधीनत्वाद् अन्तरङ्गोयं मन्त्रपाठ इति। प्रयाजानां 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्येवंविधपाठक्रमाद्यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थ विधाय कृतार्थानि तथापि प्रयाजादीनां क्रमस्मारकान्तरस्याभावात्तान्येव क्रमस्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते।

उनमें आग्नेय और अग्नीषोमीय यागों उन—उन के याज्या और आनुवाक्या के पाठ से जो क्रम लिया जाता है वह मन्त्रपाठ से समझना चाहिये।

यह मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा प्रबल होता है, क्योंकि अनुष्ठान में ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा मन्त्र पाठ अन्तरङ्ग होता है। ब्राह्मणवाक्य अनुष्ठान से बाहर ही 'यह करना चाहिये' इतना बतला कर विरत हो जाता है, जब कि मन्त्र अनुष्ठान के समय व्यवहृत होते हैं, क्योंकि अनुष्ठान का क्रम स्मरण के क्रम पर आश्रित होता है और स्मरण का क्रम मन्त्र के क्रम के अधीन होता है, अतः यह मन्त्रपाठ अन्तरङ्ग होता है। 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति' इस प्रकार के पाठ के क्रम से प्रयत्न आदि का जो क्रम होता है वह ब्राह्मण—पाठक्रम से होता है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्य अर्थों का विधान करके कृतकृत्य हो जाते हैं, तथापि प्रयाज आदि में कोई दूसरा क्रम स्मारक न होने से वे ब्राह्मणवाक्य ही क्रमस्मारक के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

विशेष :- यह मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बलवान् होता है क्योंकि अनुष्ठान में मन्त्रपाठ ब्राह्मण पाठ की अपेक्षा अन्तरंग होता है। कारण यह है कि ब्राह्मण वाक्य क्रियानुष्ठान से पथक् रहकर 'इदं कर्त्तव्यम्'—ऐसा करना चाहिए इस प्रकार ज्ञापन करके चरितार्थ हो जाता है परन्तु मन्त्र अनुष्ठानकाल में व्यवहृत होता है। क्रियानुष्ठान का क्रम स्मरणक्रम के अधीन होता है और उस स्मरणक्रम का आधार मन्त्र पाठक्रम है अतः मन्त्रपाठ अन्तरंग माना जाता है।

'समिधो यजति, सनूनपातं यजति' इस प्रकार प्रयाजयागों का जो क्रम है वह ब्राह्मण पाठ के क्रमानुसार है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्य अर्थावबोध कराके चरितार्थ हो जाते हैं तथापि प्रयाजादि यागों का अन्य दूसरा कोई स्मारक न होने से ब्राह्मण वाक्य ही क्रम का स्मारक होता है।

(४३) स्थानं नामोपस्थितिः। यस्य हि देशे योनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम्। अत एव साद्यस्क्रे अग्नीषोमीय-सवनीया-नुबन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चात्। तस्मिन्देशे आश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितिः।

स्थान का अर्थ है उपस्थित होना। जिसके स्थान पर जिसका सम्पादन किया जाता है उससे पूर्ववर्ती कर्म को सम्पन्न

करने पर वही पहले उपस्थित होता है इसलिये उसी का पहले सम्पादन उचित है। इसी से साद्यस्क्र याग में अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य का सवनीय के अवसर पर एक साथ अनुष्ठान करणीय होने पर सर्वप्रथम सवनीय पशु का अनुष्ठान होगा, अन्य दोनों का बाद में। क्योंकि उस स्थान पर आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय की ही प्रथम प्राप्ति होती है।

विशेष :- 'पाठक्रम के प्रतिपादन के अनन्तर क्रम प्राप्त 'स्थानक्रम' का निरूपण इस अनुभाग में किया गया है। स्थान का लक्षण संक्षेपतः 'स्थानं नाम उपस्थितिः' करके विशदार्थ प्रकट करने के लिए ग्रन्थकार ने लिखा है :

'यस्य ही देशे यो अनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवति।' अर्थात् जिसके स्थान पर जिसका सम्पादन किया जाता है उससे पूर्ववर्ती कर्म को सम्पन्न करने पर स्थान क्रम द्वारा पहले वही उपस्थित होता है।

स्थान का सामान्य स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है। एक स्थान पद यदि कई अनुष्ठेय कर्मों का साहित्य हो जाय तो यह शंका होना स्वाभाविक है कि इन सब में प्रथमतया अनुष्ठेय कौन है ? इसका समाधान यह किया गया है कि जिसके देश में जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसके अव्यवहित पूर्व में विद्यमान क्रिया के अनुष्ठान होने पर वही प्रथमतया उपस्थित होता है। अतः उसका सबसे प्रथम अनुष्ठान करना समीचीन है।

(४४) तथा हि ज्योतिष्टोमे त्रयः पशुयागाः - अग्नीषोमोयः सवनीय आनुबन्ध्यश्चेति। ते च भिन्नदेशाः - अग्नीषोमीय औपवसथ्येह्नि, सवनीयः सुत्याकाले, आनुबन्ध्यस्त्वन्ते। साद्यस्क्रो नाम यागविशेषः। स चाव्यक्तत्वाज्ज्योतिष्टोम-विकारः। अतस्ते त्रयोपि पशुयागाः साद्यस्क्रे चोदकप्राप्ताः। तेषां च तत्र साहित्यं श्रुतं 'सह पशूनालभेत' इति। तच्च साहित्यं सवनीयदेशे, तस्य प्रधानप्रत्यासत्तेः, स्थानातिक्रमसाम्याच्च।

सवनीयदेशे ह्यनुष्ठानेग्नीषोमीनुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रमो भवति। अग्नीषोमीयदेशेनुबन्ध्यदेशे वा अनुष्ठाने त्रयाणामपि स्वस्वस्थानातिक्रमः। तथा च-

प्रकृतौ-"आश्विनग्रहं कृत्वा त्रिवता यूपं परिवीय आग्नेय सवनीयपशुमुपाकरोती" त्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रेप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति। अतो युक्तं तस्य स्थानात्प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादियुक्तम्।

जैसे कि 'ज्योतिष्टोम' में तीन पशुयाग किये जाते हैं—१. अग्नीषोमीय २. सवनीय और ३. आनुबन्ध्य। और ये तीनों पथक्—पथक् अवसरों पर किये जाते हैं—आग्नीषोमीय औपवसथ्य दिन में सवनीय सुत्याकाल और अनुबन्ध्य तो अन्तिम दिन। साद्यस्क्र एक विशेष याग है, जो देवता, द्रव्य आदि के अव्यक्त—अनिर्दिष्ट—होने के कारण ज्योतिष्टोम का विकार है। इसलिये ये तीनों ही पशुयाग साद्यस्क्र याग में अतिदेश से प्राप्त होते हैं। 'पशुओं का एक साथ आलम्भन करे'—'सह पशूनालभेत'—इस मन्त्र से उन पशुओं का एक साथ सम्पादन—साहित्य—निर्दिष्ट है। वह साहित्य सवनीय देश में ही अनुष्ठान से संभव होता है, क्योंकि ऐसा करने पर ही वह साहित्य प्रधान कर्म के अतीव समीप हो पाता है और स्थान के अतिक्रमण में भी समानता होती है। सवनीयदेश में अनुष्ठान करने पर अग्नीषोमीय और अनुबन्ध्य दोनों का अपने—अपने ही स्थानों का अतिक्रमण—उल्लंघन होता है, किन्तु अग्नीषोमीय के स्थान पर अथवा अनुबन्ध्य देश पर अनुष्ठान करने से तीनों का ही अपने—अपने स्थान का अतिक्रमण होता है। जैसे कि—प्रकृति—याग में—'आश्विनग्रहं गहीत्वा०'—आश्विन का ग्रहण करके तीन आवरणों से यूप को आवत करके अग्निदेवताक सवनीयपशु को उपस्थित करे' इस मन्त्र के अनुसार आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय का ही विधान है। अतः साद्यस्क्र में भी आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय ही विहित है, इसलिये साद्यस्क में भी आश्विनग्रहण करने पर सवनीय ही उपस्थित होता है। इससे स्थानप्रमाण के आधार पर इस सवनीय का ही पहले सम्पदन उचित है, अन्य दोनों का बाद में, ऐसा मीमांसासूत्र।

विशेष :- ज्योतिष्टोम नामक प्रकृति याग में अग्नीषोमीय, सवनीय एवं आनुबन्ध्य संज्ञक पशुओं का क्रमशः 'औपवसथ्य', 'सुस्याकाल' सवं 'अवभथ' संज्ञक दिनों में आलमन का विधान किया गया है।

साद्यस्क्र नामक सोमयागविशेष को ज्योतिष्टोम की विकृति माना गया है, क्योंकि इसमें देवता का नाम एवं सभी अंगों का विधान नहीं मिलता। अतः ज्योतिष्टोम के अनुरूप ही यहाँ अनुष्ठान होता है। परन्तु 'साद्यस्क्र का अपना वैशिष्ट्य यह है कि उपरिलिखित तीनों पशुओं के आलमन का विधान एक ही दिन में किया गया है जो कि 'सह पशून् आलमते' इस विधिवाक्य से विहित है। यहाँ शंका यह है कि 'आलमन' का दिन कौन सा होगा ? एवं तीन पशुओं में से सर्वप्रथम किस संज्ञक पशु का आलमन होगा ? इन शंकाओं का उत्तर ही स्थानक्रम में मिलता है। इनमें से प्रथम शंका का समाधान दो तर्कों के आश्रय से हुआ है—(१) प्रधान—प्रत्यासत्ति एवं (२) स्थानातिक्रमसाम्य। 'प्रधान प्रत्यासत्ति' का तात्पर्य है मुख्य क्रिया से समीपता। आशय

यह है कि–साद्यस्क्र सोमयाग की प्रधान क्रिया द्वितीय दिन में अनुष्ठेय 'सोमसवन' है। प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में 'सवन' का काल यही है। अतः 'सुत्याकाल' के दिन ही तीनों पशुओं का आलमन 'प्रधानप्रत्यासत्ति' को चरितार्थ करेगा।

सवनीय दिन ही पशआलमनविधान में दूसरा तर्क 'स्थानातिक्रम्य' है। 'स्थानातिक्रम्य' का बोधगम्य अर्थ है–'स्थानों के उलङ्गन या अतिक्रमण की समानता। ज्योतिष्टोम में पशुओं के आलमन में निम्न क्रम है :–

औपवसथ्य दिन में अग्निषोमीय पशु सुत्याकाल में सवनीय और अवमथ में आनुबन्ध्य।

परन्तु साद्यस्क्र सोमयाग के सुत्याकाल क्या सवनीय देश में तीनों पशुओं का आलमन हो, तो अग्नीषोमीय एवं आनुबन्ध्य स्व–स्व स्थानों का परित्याग करके 'सवनीय देश' को प्राप्त करते हैं इस तरह केवल एक एक स्थानातिक्रमण हुआ। परन्तु अग्नीषोमीय देश में अनुष्ठान करने पर सवनीय पशु का एक स्थानातिक्रमण एवं आनुबन्ध्य के दो स्थानातिक्रमण होंगे। इसी प्रकार यदि आनुबन्ध्य देश में अनुष्ठान का निश्चय हो तो अम्नीषोमीय पशु द्वारा दो स्थानातिक्रमण होगा और सवनीय पशु द्वारा एक। अतः अन्तिम दो विकल्पों में स्थानातिक्रमण की विषमता होने के कारण सवनीय देश में अनुष्ठान करना न्यायसंगत है।

इस प्रसंग में दुसरी शंका यह है कि तीनों पशुओं में से किसका सबसे पहले आलमन होगा। इस शंका का सामान्यतः समाधान यह किया जा सकता है कि प्रकृति याग ज्योतिष्टोम में जिस क्रम को स्वीकार किया गया, वही क्रम यहाँ भी मानना चाहिये। परन्तु 'स्थानक्रम प्रमाण' से ऐसा मानना उचित नहीं है। भाव यह है कि–

प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में आश्विनग्रहण के अनन्तर सवनीय पशु का अनुष्ठान विहित है। अतः विकृति याग में भी आश्विनग्रहण के बाद सवनीय की उपस्थिति ही प्राप्त है। ग्रन्थकार ने इस उपस्थिति को ही स्थान प्रमाण कहकर 'स्थानं नाम उपस्थितिः' रूप में उसका लक्षण किया है। अतः सवनीय पशु के अनन्तर क्रमशः अग्नीषोमीय एवं आनुबन्ध्य पशु का अनुष्ठान दिया जाता है। यही क्रम प्राप्त उपस्थिति है जिसके निर्धारण के लिए स्थान प्रमाण की आवश्यकता है।

(४५) प्रधानक्रमेण योङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः। येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते तेनैव क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते चेत् तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति। व्युत्क्रमेणानुष्ठाने केषांचिदङ्गानां स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानं केषांचिदत्यन्तं व्यवधानं स्यात्, तच्चायुक्तं, प्रयोगविध्यवगतसाहित्यबाधापत्तेः। अतः प्रधानक्रमोप्यङ्गक्रमे हेतुः। अत एव प्रयाजशेषणा दावाग्नेयहविषोभिघारणं पश्चादैन्द्रस्य दध्नः, आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात्। एवं च द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानं, व्युत्क्रमेणाधारे त्वाग्नेयहविरभि-घारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानं तच्चायुक्तमित्युक्तमेव।

स च मुख्यक्रमः पाठक्रमाद् दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बितप्रतिपत्तिकः। पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्याय-पाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्। स चायं मुख्यक्रमः प्रवत्तिक्रमाद् बलवान्। प्रवत्तिक्रमे हि बहूनामङ्गानां प्रधनविप्रकर्षात्, मुख्यक्रमे तु संनिकर्षात्।

प्रधानयाग के क्रम से जो अङ्गों का क्रम होता है वह मुख्य क्रम है। जिस क्रम से प्रधान कर्म किये जाते हैं उसी क्रम से यदि उनके अङ्गों का अनुष्ठान किया जाये तो सभी अङ्गों की अपने–अपने प्रधानों से समान दूरी होगी। विपरीत क्रम से अनुष्ठान करने पर कुछ अङ्गों का अपने प्रधानों से बहुत अधिक सामीप्य हो जायेगा और कुछ का बहुत अधिक व्यवधान। यह उचित नहीं है क्योंकि प्रयोगविधि से जिस सामीप्य का ज्ञान होना चाहिये उसी का बाध होने लगेगा। इसलिये प्रधानक्रम भी अङ्गक्रम में निमित्त होता है। इसी से प्रयाज के अन्त में पहले अग्निविषयक हवि का अभिघारण होता है और बाद में इन्द्रविषयक दधि का, क्योंकि आग्नेय और ऐन्द्र इन दोनों यागों में पौर्वापर्य है। ऐसा करने से दोनों अभिघारणों का अपने–अपने प्रधान से बराबर का एक–एक का ही बीच में अन्तर पड़ता है, जब कि विपरीत क्रम से अभिधारण करने पर आग्नेय हवि और आग्नेय याग में अत्यन्त निकटता हो जायेगा, ओर ऐन्द्रदधि के अभिधारण तथा ऐन्द्रयाग के बीच से दो के अन्तर की दूरी पड़ती है। इस प्रकार का असमान अन्तर अनुचित है, यह स्थानक्रम के प्रसङ्ग में कहा ही गया है।

यह मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल है। क्योंकि मुख्यक्रम को दूसरे प्रमाण पर आश्रित प्रधान क्रम के ज्ञान की आवश्यकता पड़ने से क्रम का ज्ञान विलम्ब से होता है। पाठक्रम तो प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाले स्वाध्याय पाठक्रम पर आश्रित रहने के कारण वैसा नहीं होता है, अतः प्रबल होता है। यह मुख्यक्रम प्रवत्तिक्रम से प्रबल है क्योंकि प्रवत्तिक्रम में बहुत से अङ्ग प्रधान से दूर पड़ते हैं, जब कि मुख्यक्रम में निकट।

विशेष :- स्थान क्रम के निरूपण के पश्चात् मुख्यक्रम पर विचार किया गया है।

मुख्यक्रम के स्वरूप पर विचार करते हुए ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम उसका लक्षण किया है–'प्रधानक्रमेण योङगानां क्रमः

स मुख्यक्रमः'। भाव यह है कि जिस क्रम का अवलम्बन करके प्रयासों का अनुष्ठान होता है उसी क्रम का अवलम्बन उसके अंगों के लिए भी होता है इस प्रकार क्रमानुसार अनुष्ठान में प्रधान एवं अंगों में तुल्य व्यवधान रहता है। 'तुल्य व्यवधान' से प्रयोजन विशेष की सिद्धि होती है। 'प्रयोगविधि के निरूपणप्रसङ्ग में यह बताया जा चुका है कि यह विधि अनुष्ठान को शीघ्रता से सम्पन्न कराने का बोध कराती है। यह बात तभी सम्भव है जब प्रधान एवं उनके अंगों का अनुष्ठान साथ–साथ हो अर्थात् उनमें अनुष्ठान काल में अधिक अन्तर न हो। यद्यपि कई प्रधान कर्मों का अनुष्ठान यदि उनके अंगों सहित करना पड़ता है तब यह नितान्त असम्भव है कि सबका अनुष्ठान एक साथ अर्थात् एककालावच्छेदेन है। अतः कुछ व्यवधान होना स्वाभाविक है। परन्तु आवश्यक यह है कि प्रत्येक प्रधान एवं उसके अंग के अनुष्ठान के व्यवधान का काल समान हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जब अंगों के अनुष्ठान का क्रम प्रधान के अनुष्ठान क्रम से हो। यदि इस प्रक्रिया का परिपालन नहीं किया जाता, तब कुछ प्रधान एवं उनके अंगों में अत्यन्त निकटता एवं कुछ में अत्यन्त दूरी अपरिहार्य होगी और इस प्रकार सहानुष्ठान (साहित्य) की प्रक्रिया में बाधा होगी। अतः मुख्यक्रम से अंगक्रम का निर्णय किया जाता है। इस निर्णीत सिद्धान्त को दष्टान्त से इस प्रकार समझा जा सकता है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'आग्नेय याग' एवं 'ऐन्द्र याग' संज्ञक दो प्रधान कर्म विहित हैं। आग्नेय याग का हविष् पुरोडाश एवं ऐन्द्र योग का दधि विहित है। आग्नेय एवं ऐन्द्र यागों के क्रम का निर्णय क्रमशः उनकी याज्या एवं पुरोनुवाक्या द्वारा हुआ है। इनका अनुष्ठान प्रयाज्ञ होम के अनन्तर किया जाता है। 'प्रयाजशेषेण हविधि अभिचारयति' वाक्य द्वारा प्रयाजानुष्ठान से अवशिष्ट घत का हविष् का अभिधारण निर्दिष्ट है। दर्शयाग में (१) आग्नेय पुरोडाश (२) ऐन्द्र दधि तथा (३) ऐन्द्र पयस्)–पुरोडाश, दधि एवं पयस् ये तीन द्रव्य हैं। शंका यह है कि तीनों द्रव्यों पर अभिधारण का क्रम क्या है ? समाधान हेतु मुख्यक्रम का आश्रय लेना पड़ता है। इस सिद्धान्त द्वारा आग्नेय याग के हवि पुरोडाश का अभिधारण पहले होगा, तदनन्तर ऐन्द्रयाग के हवि दधि का अभिधारण होगा। इस क्रम को मानने पर प्रधान एवं उसके अङ्ग के अनुष्ठान में तुल्यव्यवधान है। परन्तु व्युत्क्रम (=विरुद्धः क्रमः) स्वीकार करने पर आग्नेयहविरभिधारण एवं आग्नेय याग अत्यन्त समीप हो जाते हैं और ऐन्द्रदध्यभिधारण तथा ऐन्द्रयाग एक दूसरे से दूर हो जाते हैं।

यह मुख्य क्रम प्रमाण पाठक्रम से दुर्बल है। मुख्य़क्रम से तात्पर्य है–अंगों के अनुष्ठान का क्रम जो उनके प्रधान के कर्मों में निर्णीत है। अतः मुख्यक्रमञका आधार प्रधान क्रम का ज्ञान है। प्रधानक्रम पाठक्रम पर आधत है। अतः प्रधानक्रम प्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार मुख्यक्रम का ज्ञान, पाठक्रम एवं प्रधानक्रम पर निर्भर रहने के कारण, विलम्ब से होता है। परन्तु पाठक्रम अपेक्षाकृत शीघ्रता से जाना जाता है। क्योंकि वह निरपेक्ष वेद के पाठक्रम ही अपेक्षा रहता है।

याज्ञिक प्रक्रिया में निर्दिष्ट दष्टान्त द्वारा इसे अधिक स्पष्टतः समझा जा सकता है। दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत पूर्णमास में उपांशु एवं अग्नीषोमीय संज्ञक दो याग विहित हैं। इनमें से प्रथम याग का 'आज्य' द्रव्य है, 'उत्पवन' एवं 'चतुर्गहीतत्व' आदि आज्य के धर्म हैं। द्वितीय याग का 'पुरोडाश' द्रव्य है, 'पुरोडाश' के निर्वाप' एवं 'अवघात्' आदि धर्म है। अब संशय यह है कि आज्य धर्मों का प्रथमतया अनुष्ठान होगा अथवा पुरोडाश का ? मुख्यक्रम प्रमाण के अनुसार आज्य धर्मों का प्रथमतया अनुष्ठान होगा। तदनन्तर पुरोडाश का; क्योंकि इनके प्रधान क्रमशः उपांशु एवं अग्नीषोमीय याग है अतः प्रधान के अनुष्ठान क्रम से अंगों का भी अनुष्ठान संगत है परन्तु यह समाधान उचित नहीं है क्योंकि स्वाध्याय पाठक्रम में निरूपित क्रम इससे भिन्न हैं अर्थात् वेद में पुरोडाश की 'निर्वाप' एवं अवघात आदि अंगक्रियायें प्रथमतया पठित हैं तथा आज्य की 'उत्पवन एवं चतुर्गहीतत्व' आदि क्रियाओं का पाठ वाद में है। अतः पाठक्रम की प्रबलता को स्वीकार करते हुए पुरोडाश धर्मों का अनुष्ठान पहिले एवं आज्य धर्मों का अनुष्ठान बाद में करना उपयुक्त है।

यह मुख्यक्रम प्रवत्ति क्रम से प्रबल होता है क्योंकि प्रवत्ति क्रम के अनुसार अनुष्ठान करने पर कई अंग अपने अपने प्रधान से व्यवहित हो जायेंगे। परन्तु मुख्य क्रमानुसार प्रधान के सन्निहित रहेंगे। प्रवत्तिक्रम के स्वरूप पर विशद विचार आगे किया जायेगा। सम्प्रति दर्शपूर्णमास याग से उदाहरण द्वारा इस प्राबल्य एवं दौर्बल्य भाव को समझा जा सकता है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण के दर्शयाग के अन्तर्गत आग्नेय एवं उपांशुसंज्ञक यागों का विधान है उपांशुयाग का सान्नाय याग भी संज्ञा है क्योंकि इसमें दूध एवं दधि का प्रयोग किया जाता है। आग्नेय याग के अवदान अभिधारण एवं हविरासादन आदि धर्म है एवं शाखाहरण, वत्सापकरण एवं दोहन के साथ–साथ अवदान आभिधारण एवं हविरासादन सान्नाय के धर्म माने गये हैं अतः सान्नाय्य धर्म के वस्तुतः दो भाग हो गये–

(१) शाखाहरण, सत्सापकरण एवं दोहन।

(२) अवदान, अभिधारण एवं हविरासादन। इन दोनों में से शाखाहरण, वत्सापकरण एवं दोहनादि कृष्णचतुर्दशी के दिन

इसलिये समाप्य हैं क्योंकि जब तक शाखाहरण करके (पलाश से) बछड़े को गाय से अलग (वत्सापकरण) नहीं किया जायेगा तब दोहन करके दर्श याग के लिये 'दधि' नहीं तैयार हो सकेगा। अवदान अभिधारण एवं हविरासादन का अनुष्ठान 'दर्श' के दिन होता है प्रवत्तिक्रम के अनुसार प्रधान के स भी अंगों का अनुष्ठान एक साथ हो जाना चाहिए। इस तरह 'सान्नाय याग' के धर्मों का अनुष्ठान साथ–साथ हो जाने पर क्रम का स्वरूप निम्न प्रकार होगा–

सर्वप्रथम–सान्नायधर्म, द्वितीय–आग्नेयधर्म, ततीय–आग्नेययाग, चतुर्थ–सान्नाययाग परन्तु इस क्रम में यह स्पष्ट है कि मुख्य सान्नाययाग अंगभूत धर्म उससे अत्यन्त व्यवहित है।

परन्तु मुख्य क्रम को प्रमाण मानने पर स्थिति भिन्न होगी। सान्नाययाग के धर्मों के अनुष्ठान के अनन्तर मुख्य क्रम प्रमाण के आधार पर अंगों का अनुष्ठान प्रधान के अनुष्ठान क्रमानुसार होगा।

प्रधान आग्नेय एवं सांन्नाय यागों का क्रम पूर्वनिर्णीत है अतः क्रम निम्न प्रकार होगा :–

(१) शाखाहरणादि तीन सांन्नाय धर्म (२) आग्नेय धर्म (३) सान्नाय याग के अवशिष्ट अवदानादि तीन धर्म, (४) आग्नेय याग, (५) सांन्नाय याग।

अतः स्पष्ट है कि पूर्व निर्दिष्टक्रम से इस क्रम में प्रधान एवं तदङ्गों में 'तुल्य व्यवधान' है। इस प्रकार अपने अपने अंगों तथा प्रधान तुल्य व्यवधान के कारण कर्म सम्पादन में अविलम्ब हो। इस अविलम्बता के कारण मुख्यक्रम प्रवत्ति क्रम से प्रबल सिद्ध होता है।

(४६) सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु संनिपातिनामङ्गानामावत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवत्तिक्रमः। यथा प्राजापत्यपशवङ्गेषु। प्राजापात्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ती'ति वाक्येन ततीयानिर्देशात् सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिताः, अतस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरणनियोजनप्रभतीनां साहित्यं संपाद्यम्। तच्च प्राजापत्यपशूनां संप्रतिपन्नदेवताकत्वेन युगपदनुष्ठानादुपपद्यते। तदङ्गानां चोपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानमशक्यम्। अतस्तेषां साहित्यमव्यवहितानुष्ठानात् संपाद्यम्। ततश्चैकस्योपाकरणं विधायापरस्योपाकरणं विधेयम्। एवं नियोजनादिकमपि। तथा च प्राजापत्येषु कस्माच्चित्पशोरारभ्य एकं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयादिपदार्थस्तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः स प्रवत्तिक्रमः।

सोयं श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलः। तदेवं संक्षेपतो निरूपितः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिः।

साथ–साथ प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर 'सन्निपत्योपकारक अङ्गों' के अनुष्ठान की आवत्ति से अपेक्षा होने पर प्रथमतः सम्पादित क्रियाओं के क्रम से द्वितीय आदि क्रियाओं का जो क्रम होता है उसे प्रवत्तिक्रम कहते हैं, जैसे 'प्राजापत्य' नाम के पशुयागों के अङ्गों में होता है। 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति'–वैश्वदेवीयाग करके प्राजापत्य पशुओं से सम्बद्ध क्रियाओं के द्वारा अनुष्ठान करे–इस वाक्य से ततीया के निर्देश द्वारा प्राजापत्य पशुयागों का इतिकर्त्तव्यता के साथ एक काल में विधान किया गया है। इसलिये उन पशुयागों का तथा उनके अङ्ग उपाकरण, नियोजन आदि का साहित्य सम्पन्न करना अपेक्षित है। इस अनुष्ठान का साथ–साथ होना–साहित्य–समानदेवता वाले प्राजापत्यपशु से सम्बद्ध क्रियाओं को एक साथ सम्पन्न करने से संभव होता है। पशुयाग के उपाकरण आदि अङ्गों का एक साथ सम्पादन संभव नहीं। इसलिये उनके साहित्य का सम्पादन अव्यवहित अनुष्ठानों से करना चाहिये। वह व्यवस्थित अनुष्ठान तब होगा जब एक पशु का उपाकरण करके दूसरे का भी उपाकरण किया जाये। इसी प्रकार नियोजन आदि भी। इसका अभिप्राय यह है कि प्राजापत्य पशुओं में किसी भी पशु से आरम्भ करके एक कर्म को सबके साथ करके फिर द्वितीय आदि कर्मों को भी उसी क्रम से करना चाहिये। वही प्रवत्तिक्रम है।

वह यह प्रवत्तिक्रम श्रुति आदि प्रमाणों से दुर्बल है। इस प्रकार षड्विध क्रम के निरूपण से प्रयोगविधि का संक्षेप में निरूपण सम्पन्न हुआ।

विशेष :- याज्ञिकी प्रक्रिया में कभी–कभी एक कई प्रधान कार्यों का अनुष्ठान एक साथ करना पड़ता है। इन प्रधान कर्मों के साथ अनुष्ठेय अंग भी विविध होते हैं जिन्हें भी साथ–साथ ही करना पड़ता है। परन्तु व्यवहारतः यह संभव नहीं है। ऐसे परिस्थिति में 'प्रवत्तिक्रम' से यह निर्णय प्राप्त होता है कि अंगों का अनुष्ठान किस क्रम में किया जाये।

स्पष्ट है कि 'प्रवत्तिक्रम' पद में प्रवत्ति शब्द इस बात का द्योतक है कि प्रथम अंग को अनुष्ठान हेतु चुनने के लिये हम स्वतन्त्र हैं परन्तु तत्पश्चात् दूसरे अंगों का उसी क्रम में अनुष्ठान करना होगा। इस निर्णीत मन्तव्य को दष्टान्त द्वारा भिन्न प्रकार से समझा जा सकता है–

'वाजपेय याग' में सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभेत' यह वाक्य उपलब्ध होता है इसके अनुसार प्रजापति देवता वाले १७ पशुओं का आलंभन होता है। यह मुख्य याग 'प्राजापत्य' है इसमें उपाकरण, विनियोजनादि पशुधर्म 'सन्निपत्त्योपकारक' अंग

है। नियमतः इन दोनों का अनुष्ठान साथ होना चाहिए। यह बात 'वैश्वदेवी' कृत्वा प्राज्ञापत्यैचरन्ति' इस विधायक वाक्य से मिलती है। समस्या यह है कि जितने भी पशु धर्म हैं उनका अनुष्ठान एक काल में हो नहीं सकता क्योंकि पशुओं की संख्या एवं अनुष्ठेय क्रियायें अधिक हैं। अतः प्रवत्तिक्रम का आश्रय लेकर इस समस्या का समाधान किया जा सकता है अर्थात् एक पशु का उपाकरण करके दूसरे पशु का उपाकरण करने से अव्यवधानेन साहित्य हो सकता है। इसी प्रकार एक पशु का नियोजन करके दूसरे का नियोजन करना चाहिये। इस तरह एक पशु से आरम्भ कर सभी पशुओं (१७) में क्रमशः उपाकरण कर उसी क्रम से नियोजनादि करना चाहिये। इसी क्रम को प्रवत्तिक्रम कहते हैं। यह प्रवत्तिक्रम श्रुत्यादि क्रम से निर्बल होता है।

(४७) **कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तत्वम्। स च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपः। स्वर्गमुद्दिश्ययागं विदधतानेन स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तत्वं प्रतिपाद्यते। 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गहान्दहेत्सोग्नये क्षामवतेष्टाकपालं निर्वपेदि'त्यादिनाग्निदाहादौ निमित्तं कर्म विदधता निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते। एवं 'अहरहः सन्ध्यामुपासीते' त्यादिना शुचिविहितकालजीविनः संध्योपासनजन्य-प्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं बोध्यते।**

'यागादि कर्म से उत्पन्न होने वाले स्वर्गादि फल के स्वामित्व का ज्ञान कराने वाली विधि अधिकारविधि है। कर्म से उत्पाद्य फल के स्वामित्व का अर्थ है कर्म से उत्पाद्य फल का भोक्ता होना। ओर उस अधिकारविधि का रूप है—स्वर्गकामो यजेत—आदि। स्वर्ग को लक्ष्य करके याग का विधान करने वाले इस वाक्य के द्वारा स्वर्ग की कामना करने वाले पुरुष के यागजन्य फल का भोक्तत्व का प्रतिपादन होता है। 'जिस अग्न्याधान करने वाले पुरुष पर अग्नि जला दे, वह पुरुष क्षीण हो गये अग्नि को आठ कपालों में पकाया गया पुरोडाश समर्पित करे। आदि मन्त्रों के द्वारा अग्निदाह आदि निमित्त उपस्थित होने पर कर्म का विधान करते हुए निमित्तवान् पुरुष के अष्टाकपालनिर्वपनरूप कर्मजन्य पापक्षयरूप फल का स्वामित्व प्रतिपादित किया जाता है। इसी प्रकार 'प्रतिदिन सन्ध्योपासना करे' इत्यादि वाक्यों के द्वारा पवित्र एवं शास्त्रानुमोदित्तरीति से जीवनयापन करने वाले पुरुष के सन्ध्योपासन से जन्य पापनिवारणरूप फल के स्वामित्व का ज्ञान कराया जा रहा है।

विशेष :- कर्मफल के स्वामित्व का बोध कराने वाली विधि अधिकार विधि होती है।

अनुष्ठान कर्मों के क्रमादि की निरूपण विवेचना के बाद यह स्वाभाविकी जिज्ञासा होती है कि इन कर्मों के अनुष्ठान का अधिकारी कौन है ? इसका समाधान महर्षि जैमिनि ने मीमांसादर्शन के षष्ठाध्याय में अधिकारविधि की आलोचना करके दिया है। कुछ विचारकों ने प्रयोगविधि निरूपण के पूर्व ही अधिकारविधि सम्बन्धी चर्चा की है। यह संगत नहीं है। क्योंकि क्रमविशिष्ट अनुष्ठेय पदार्थ के ज्ञान के अनन्तर ही अधिकारी की जिज्ञासा होती है।

अतः अधिकारविधि द्वारा विशेषतया 'अधिकार' का बोध होता है। यहाँ अधिकार से तात्पर्य 'फल' का है। अतः फलसम्बन्धी विधि ही अधिकार विधि होती है। फल का भोक्ता यजमान अर्थात् याग अनुष्ठान कर्त्ता ही होता है। प्रत्येक याग के अनुष्ठान की क्षमता सबमें नहीं होती है। अनुष्ठान में प्रवत्ति सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। अतः शास्त्रकारों ने यह स्पष्टतः निरुपित किया है कि याग विशेष का अनुष्ठान उपयुक्त विशेषणों से युक्त पुरुष ही कर सकता है यागजन्य फल का भोक्ता अधिकारी ही हो सकता है। 'यजेत स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य से 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' यह बोध होता है। यहाँ स्वर्ग रूपी फल के श्रवणमात्र से पुरुष का अधिकार सिद्ध होता है। परन्तु जहाँ 'फल' का श्रवण नहीं है, तथा फल की कल्पना भी नहीं की जा सकती ऐसे नित्य, नैमित्तिक कर्मों में पुरुष का अधिकार कैसे होगा ? इस शंका का समाधान "यस्याहिताग्नेरग्निर्गहान् दहेत् सोग्नये क्षामवते....प्रतिपाद्यते' इत्यादि वाक्य से किया है। भाव यह है कि—इस विधिवाक्य द्वारा निर्वाप का अधिकार उस आहिताग्नि (व्यक्ति) को है जिसका गह अग्नि ने जला दिया हो। यहाँ 'गहदाह निमित्त कारण है एवं 'आहिताग्नित्व' अधिकारी का विशेषण है। गहदाह वस्तुतः पाप का सूचक है जो पुरोडाश निर्वाप (याग) द्वारा नष्ट हो जाता है अतः यजनकर्त्ता 'निर्वापजन्यपापक्षयरूप फल' का अधिकारी हो जाता है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' नित्यकर्म में अधिकर विधि का उदाहरण है। सन्ध्योपासनादि नित्य कर्मों के अनुष्ठान से प्रत्यवाय होता है परन्तु शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए शुचितापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति अनुष्ठान का फल अवश्य पाता है अतः नित्य नैमित्तिक कर्मों में फलश्रवण नहीं है यह शंका निर्मूल है।

(४८) **तच्च फलस्वाभ्यं तस्यैव योधिकारविशिष्टः, अधिकारश्च स एव यद्विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते। यथा काम्ये कर्मणि फलकामना, नैमित्तिके कर्मणि निमित्तनिश्चयः, नित्ये संध्योपासनादौ शुचिविहितकालजीवित्वम्। अत एव 'राजराजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते'त्यनेन विधिवाक्येन स्वाराज्यमुद्दिश्य विदधतापि न स्वाराज्यमात्रकामस्य तत्फलभोक्तत्वं प्रतिपाद्यते, किंतु राज्ञः सतः स्वराज्यकामस्यैव, राजत्वस्याप्यधिकारिविशेषणत्वेन श्रवणात्।**

और वह फल का भोक्त्त्व उसी का होता है जो अधिकार से विशिष्ट होता है, और अधिकार वही है जो विधिवाक्यों में पुरुष के विशेषण के रूप में उक्त होता है। जैसे काम्यकर्म में फलकामना, नैमित्तिक कर्म में निमित्त का निश्चय, और नित्य कर्म कर्म संध्योपासन आदि में पवित्र एवं शास्त्रानुमोदित समय–यापन करना। इसीलिये 'स्वाराज्य की कामना वाला राजा राजसूय याग सम्पन्न करे' यह विधिवाक्य स्वाराज्य को लक्ष्य करके याग का विधान करता हुआ भी केवल स्वाराज्य के इच्छुक व्यक्ति के लिये उसके फल का भोक्तत्व प्रतिपादन नहीं करता है, अपितु 'राजा होते हुए स्वराज्य की कामना करने वाले के लिये ही, क्योंकि (यहाँ) राजा होना भी अधिकारी के विशेषण के रूप में उक्त है।

विशेष :- फलविधि के द्वारा बोधित फल का भोक्ता कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता।

ग्रन्थकार ने कहा है कि जो व्यक्ति अधिकार विशिष्ट होता है वही कर्मानुष्ठानजन्य फल का भोक्ता होता है। अधिकारी पुरुष के विशेषण को ही अधिकार कहते हैं। 'यजेत स्वर्गकामः' में स्वर्गरूपी फल की कामना करने वाला पुरुष ही अधिकारी है और स्वर्गकामना अधिकार है। कर्मानुष्ठानजन्य जितनी भी विशेषताओं की अपेक्षा होती है यजनकर्त्ता पुरुष में उन सबका होना आवश्यक है। अतएव 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इस वाक्य में विशेषण रूप से दो पद 'राजा' एवं 'स्वराज्यकामः' प्रयुक्त है। राजसूययाग करने का अधिकारी वही हो सकता है जो स्वराज्यकामी होने के साथ साथ उसे पहले से राजा भी हुआ हो।

(४६) क्वचितु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्। यथाध्ययनविधिसिद्धा विद्या, क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेनाध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवत्तेः एवमग्निसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता। अग्निसाध्यकर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवत्तेः।

एवं सामर्थ्यमपि। 'आख्यातानामर्थ ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'ति न्यायात् समर्थं प्रत्येव विधिप्रवत्तेः। तदेवं निरूपितो विधिः।

कहीं–कहीं पुरुष के विशेषण के रूप में उक्त न होने वाला भी अधिकारी का विशेषण होता है, जैसे ('स्वाध्यायोध्येतव्यः इस) अध्ययन की विधि से सिद्ध विद्या, क्योंकि यज्ञ सम्बन्धी विधियों की अर्थज्ञान की अपेक्षा होने से अध्ययनविधि से प्राप्त अर्थ का ज्ञान रखने वाले के प्रति ही प्रवत्ति होती हैं। इसी प्रकार अग्नि से सिद्ध होने वाले कर्मों में आधान से सिद्ध अग्निमत्ता अपेक्षित होती है, क्योंकि अग्नि से सम्पाद्य कर्मों को अग्नि की अपेक्षा होने से उनके विधायक वाक्यों की प्रवत्ति आधान से सिद्ध अग्नि वाले के लिये ही होती है।

इसी प्रकार सामर्थ्य भी जो कि विधिवाक्यों में उक्त नहीं होता है, अधिकारी के विशेषण के रूप में अपेक्षित होता है। 'अर्थ को कहने वाले वाले आख्यातों की शक्ति–सामर्थ्य–सहायिका होती है।' इस नियम से समर्थ के प्रति ही विधि की प्रवत्ति होती है। इस प्रकार विधि का निरूपण हुआ।

विशेष :- जिस विधि वाक्य में फल के स्वामी का विशेषण श्रुत न हो तो वहाँ निश्चय कैसे हो ? इस विषय में ग्रन्थकार का मत है कि वहाँ विशेषण का आक्षेप कर लिया जाता है। जैसे क्रतुविधायक विधियों में 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि द्वारा विहित विद्या को अधिकारी पुरुष का विशेषण माना जाता है यद्यपि यह 'श्रुत' नहीं है। क्रतु का अधिकार उसी को है जिसने अर्थज्ञानपूर्वक वेदाध्ययन किया हो। अतः क्रतुविधियों की प्रवत्ति भी स्वभावतः ऐसे पुरुष के प्रति होती है जिसने विधिवत् वेदाध्ययन किया हो। वेदाध्ययन के पूर्व त्रैवर्णिकों के उपनयन का विधान 'अष्टवर्ण ब्राह्मणमुपनयीत। एकादशवर्ष राजन्यम्। द्वादशवर्ष वैश्यम्।' तथा 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यम् शरदि वैश्यम्' आदि वाक्यों से किया गया है। अतः सम्प्रदाय की मान्यतानुसार उपनयन एवं वेदाध्ययन एवं यज्ञ का अधिकार केवल त्रैवर्णिको अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों को है।

इस प्रसंग में यह भी स्पष्टतया कहा गया है कि अग्न्याधान से जिसने अग्नि का लाभ किया है वह व्यक्ति ही अग्निसाध्य कर्म में अधिकारी हो सकता है अन्य व्यक्ति नहीं। अत एव ग्रन्थकार ने कहा है–'एवमग्रिसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमात्ता। निष्कर्ष यह है कि अग्निसाध्य कर्मों की प्रवृत्ति ऐसे व्यक्ति के प्रति होगी जो शास्त्रोक्त विधि से आहिताग्नि बना हो।

उपरलिखित विशेषणों के अतिरिक्त यज्ञ कर्म का अनुष्ठान करने के सामर्थ्य को भी विशेषण माना जाता है। जिस व्यक्ति में इन्द्रियादि अपाटव होगा वह यज्ञ का अधिकारी नहीं हो सकता।

यह सिद्धान्त 'आख्यातानामर्थे ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' इस न्याय पर आधारित है जिसमें समर्थ अधिकारी को उद्देश्य करके विधि की प्रवृत्ति मानी गई है।

(५०) प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। तेषां च तादशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम्। नतु तदुच्चारणमदष्टार्थम्,

संभवति दष्टफलकत्वेदष्टफलकल्पनामा अन्याप्यत्वात्, न च दष्टस्यार्थस्मरणीय प्रकारान्तरेणापि संभवान्मन्त्राम्नानं व्यर्थमिति वाच्यम्। मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्।

कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ द्रव्य, देवता आदि का स्मरण कराने वाला वेद भाग मन्त्र है। उस प्रकार के अर्थ के स्मारक के रूप में ही उन मन्त्रों की सार्थकता है। उन मन्त्रों का उच्चारण अदष्ट प्रयोजन के लिये नहीं है, क्योंकि दष्टफल की संभावना रहते अदष्ट फल की कल्पना अनुचित है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि दष्ट प्रयोजन का स्मरण दूसरे साधनों से हो सकता है इसलिये मन्त्र का उच्चारण निरर्थक है, क्योंकि 'मन्त्रों से ही द्रव्य, देवता आदि का स्मरण करना चाहिये' यहाँ नियमविधि का आश्रम लिया गया है।

विशेष :- साङ्गोपङ्ग विधि भाग की प्रयोजनीयता विधायक रूप में प्रतिपादित करके 'विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवाद' रूप में पचधा विभक्त वेद के द्वितीय भाग मन्त्र की मीमांसा करने में ग्रन्थकार प्रवत्त हुआ है। मन्त्र का लक्षण है–'प्रयोगसमवेत्तार्थ– स्मारकाः मन्त्राः' तत्तत् कर्मानुष्ठान काल में अनुष्ठेय क्रिया एवं तदङ्गभूत द्रव्य देवतादि का प्रकाशन मन्त्र द्वारा ही होता है अतः मन्त्र का प्रयोजन स्वतः सिद्ध है। 'स्मत्वा कर्माणि कुर्वीत' इस विधायक वाक्य द्वारा भिन्न–भिन्न कर्मो के अनुष्ठानकाल में 'स्मरण' विहित है। यह स्मरण यद्यपि उपायान्तर से भी हो सकता है तथापि उपायान्तर के अवलम्बन से तत्तत् प्रकरणों में पठित मन्त्र व्यर्थ हो जायेंगे अतः 'मन्त्रैरेव स्मत्वा कर्माणि कुर्यादिति (मन्त्रों से ही स्मरण करके कर्म करना चाहिये) यह नियमविधि द्वारा स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार विधि का प्रयोजन जिस तरह विधायकत्व में है उस तरह मन्त्र का प्रयोजन 'स्मारकत्व' में है।

यहाँ शंका यह होती है–यद्यपि मन्त्र मुख्यतः प्रयोगस्मारकत्व प्रयोजन की सिद्धि करते हैं तथापि कहीं–कहीं 'प्रयोग समवेतत्व' नहीं मिलता। यथा–'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्र में 'कर्म समवेत' अग्नि देवता की प्रकाशकता रहते हुए भी 'सविता' एवं 'पूषन्' के लिये प्रयोगसमवेत नहीं है जब कि 'प्रकाशकत्व' इनमें भी है। अतः इनका प्रयोजन अदष्टार्थक ही मानना चाहिये क्योंकि मन्त्र के एकांश से दष्ट प्रयोजन और तद्भिन्नांश से अदष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो, यह विरूपता ठीक नहीं है। अतः सभी मन्त्रों को अदष्टार्थक ही मानना चाहिये। परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि दष्टफल के साक्षात् उपलब्ध होने पर अदष्टफल की कल्पना उचित नहीं है। यहाँ मन्त्रोच्चारण का दष्टफल 'स्मरणात्मक' रूप है। अतः पुण्योत्पत्तिरूप अदष्टफल मानना तर्कसंगत नहीं है।

पूर्वपक्ष द्वारा यह संशय किया जा सकता है कि मन्त्र का प्रयोजन 'प्रयोग स्मारकत्व' ही है तो स्मरणरूप व्यापार अन्य प्रकार से भी अर्थात् ब्राह्मणवाक्यों द्वारा भी किया जा सकता है। मन्त्र को अदष्टार्थक ही रहने दिया जाये। परन्तु यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि 'मन्त्रैरव स्मर्त्तव्यम्' नियमविधि द्वारा मन्त्रों से ही प्रयोग स्मरण उचित है।

(५१) नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथाहुः 'विधिरत्यन्तमप्राप्ता। नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयत' इति। अस्यार्थः -प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिपूर्वविधि, यथा 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिः। स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणप्राप्तस्यानेन विधानात्।

पक्षेप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः, य था 'व्रीहीनवहन्ती'त्यादिः। कथमस्य पक्षेप्राप्तप्रापकत्वमिति चेदित्यम्। अनेन ह्यवघातस्य वैतुष्यार्थत्वं न प्रतिपाद्यतेन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, किंतु नियमः। स चाप्राप्तांशपूर्णम्। वेतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद्यदावघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदावघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेप्राप्तावघतस्य विघानमिति यावत्।

अनेक उपायों से सम्पाद्य क्रिया में एक साधन प्राप्त होने पर दूसरे अप्राप्त साधन को प्राप्त कराने वाला विधायक वाक्य नियमविधि है। जैसा कहा गया है–अत्यन्त अप्राप्त अर्थात् दूसरे प्रमाणसे जिसका ज्ञात नहीं होता है उसका विधान करने वाली विधि को अपूर्व विधि कहते हैं, पक्ष में अप्राप्त की प्रापक को नियमविधि तथा वहाँ और अन्यत्र भी परिसंख्या का विधान है। इसका अर्थ है कि दूसरे से अप्राप्त अर्थ की प्रापक विधि अपूर्वविधि है। जैसे–'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादि। दूसरे प्रमाण से अप्राप्त स्वर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले याग का विधान इस विधि से होता है।

पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि नियमविधि है। जैसे 'ब्रीहिन् अवहन्ति' इत्यादि। 'पक्ष में अप्राप्त की प्रापकता इसकी कैसे है ?' यदि यह प्रश्न हो तो इस प्रकार का उत्तर है। इस विधि के द्वारा अवघात की वैतुष्यार्थकता–भूसी को अलग करना रूप उद्देश्य–नहीं प्रतिपादित की जा रही है, क्योंकि (वैतुष्यकर्म) अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध हो ही जाता है, अपितु यहाँ नियम प्रतिपादित है। नियम कहते हैं अप्राप्त अंश की पूर्ति को। तुषविमोचन अनेक साधनों से संभव होने से यह अवघात को छोड़कर कोई दूसरे उपाय को ग्रहण करने लगता है, तब अवघात के अप्राप्त होने से उसके विधान नामक अप्राप्त अंश

की पूर्ति ही इस विधि के द्वारा की जाती है। इसलिये नियमविधि में अप्राप्त अंश का पूर्तिरूप नियम ही वाक्य का अर्थ होता है, क्योंकि इससे पक्ष में अप्राप्त अवघात का विधान किया जाता है।

उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः। यथा-'पच पचनखा भक्ष्या' इति। इदं हि वाक्यं न पचनख भक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरं, पचनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षेप्राप्त्यभावात्। अत इदमपचनखभक्षणनिवत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः।

दोनों विधानों के एक साथ प्राप्त होने पर एक की निवारकविधि को परिसंख्याविधि कहते हैं। जैसे—'पच०'—पाँच नाखूनों वाले पाँ ही प्राणी भक्ष्य हैं।' यह वाक्य पचनख के भक्षण का विधायक नहीं है, क्योंकि भक्षण की प्राप्ति स्वभाव से ही होती है। और न तो नियमपरक—अप्राप्त अंश का पूरक—ही हैं, क्योंकि पाँच पाँचनखों वाले प्राणियों की एक साथ प्राप्ति होने से पक्ष में एक की अप्राप्ति नहीं है। इसलिये यह वाक्य पाँच नख न रखने वाले प्राणियों के भक्षण की निवत्ति करता है, अतः परिसंख्या विधि है।

सा च द्विविधा-श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र 'अत्र ह्येवावपन्ती' ति श्रौती परिसंख्या। एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्याव त्तेरभिधानात्। 'पच पचनखा भक्ष्या' इति तु लाक्षणिकी। इतरनिवत्तिवाचकपदाभावात्। अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता।

वह परिसंख्या दो प्रकार की है—श्रौती और लाक्षणिकी। इन दोनों में 'अत्र ह्येवावपन्ति'—यहाँ पर ही आवाप करते हैं' इस में श्रौती परिसंख्या है। 'एव' के द्वारा पवमान से अतिरिक्त स्तोत्र की निवत्ति का अभिधा से कथन है। 'पच पचनखा भक्ष्याः, यह तो लाक्षणिकी है, क्योंकि इसमें अनपेक्षित क्रिया की व्यावत्ति का वाचक पद नहीं है। इसी से यह तीन दोषों से युक्त होती है।

विशेष :- विधिभाग के निरूपणावसर पर प्रसंग के अभाव में नियमविधि का उल्लेख नहीं दिया गया है। सम्प्रति प्रसंग प्राप्त होने पर 'नियमविधि' का प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। लौगाक्षिभास्कर ने विषयावबोध की दष्टि से कुमारलिभट्ट कृत तन्त्रवार्त्तिक से एक कारिका उद्धत की है जिसमें अपूर्वविधि, नियमविधि एवं परिसंख्याविधि का लक्षण उल्लिखित है। 'प्रमाणान्तर' से अत्यन्त अप्राप्त अर्थ को जो प्राप्त करा देती है उसे अपूर्वविधि कहते हैं। इसी को भट्ट पाद ने 'अत्यन्तमप्राप्ते विधिः' कहा है एवं अर्थसंग्रहकार ने विशदार्थ करके 'प्रमाणान्तरेण अप्राप्तस्य प्रापको विधिः' लिखा है। जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यों में अत्यन्तमप्राप्त याग का विधान स्वर्गप्राप्ति हेतु किया गया है। 'अप्राप्त' से 'अज्ञात' एवं 'प्रापक' से 'ज्ञापक' का अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

उद्धत कारिका में 'नियमः पाक्षिके सति' अंश 'नियमविधि' के लक्षण एवं स्वरूप पर विचार करता है। इसकी व्याख्या लौगाक्षिभास्कर ने 'पक्षे अप्राप्तस्य प्रापको विधिः नियमविधिः की है। 'नियमस्य पक्षे अप्राप्तप्रापकत्वम्। को 'व्रीहीनवहन्ति' द्वारा समझा जा सकता है। व्रीहि से तुषविमोक, नखविदलन अश्मकुट्टन एवं अवहनन से किया जा सकता है। अतः तुषविमोक रूपी साध्य क्रिया के कई साधन उपलब्ध हैं। अब यदि नख विदलन या अश्मकुट्टन द्वारा तुषविमोक किया जाने लगे तो 'अवहनन' अप्राप्त हो जाता है। इस प्रकार 'व्रीहीनवहन्ति' यह नियमविधि अप्राप्त साधन अवघात का विधान करती है।

जहाँ पर कोई क्रिया रागतः तथा शास्त्रतः दोनों ओर से एक साथ प्राप्त होती है वहाँ उस क्रिया से भिन्न क्रिया का निवर्तन कराने वाला वाक्य परिसंख्या है। उदाहरणार्थ, 'पच पच नखाः भक्ष्याः'। मांसभक्षी लोग पचनख और अपचनख दोनों ही प्रकार के जीवों का भक्षण करते हैं। दूसरी ओर 'पच पचनखाः भक्ष्याः' शास्त्र से प्राप्त है। इस प्रकार पचनख भक्षण क्रिया रागतः और शास्त्रतः दोनों ओर से प्राप्त है। इस स्थिति में पचनख भक्षण की प्रवत्ति से भिन्न अपचनखभक्षण से निवत्ति का प्रतिपादन करना परिसंख्या है।

वह परिसंख्या श्रौती और लाक्षणिकी भेद से दो प्रकार की होती है जिसमें व्यावर्तक पद पाठतः उपस्थित होता है उसको श्रौती कहते हैं। जैसे—"अत्र ह्येव आवपत्ति" में एव पद श्रुत है, वाक्य में पठित है। यहाँ पठित 'एव' पद पवमान स्तोत्र से अन्यत्र आवाप का व्यावर्तक है। जहाँ वाचक पद का शब्दतः कथन नहीं होता वहाँ निवत्ति का बोधन लक्षणाशक्ति से कराया जाता है। अतः इसका नाम लाक्षणिकी है। "पच पच नखा भक्ष्याः' इसका उदाहरण है। इसके श्रुतहानि, अश्रुत कल्पना एवं प्राप्तबाध में तीन दोष होते हैं।

(५२) दोषत्रयं च श्रुतिहानि-रश्रुतकल्पना प्राप्तबाधश्चेति। तदुक्तम्-'श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थस्य कल्पनम्। प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा' इति। श्रुतस्य पचनखभक्षणस्य हानात्, अश्रुतापचनखभक्षणनिवत्तेः कल्पनात्, प्राप्तस्य चापचपचनखभक्षणस्य बाधनादिति। अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्। प्राप्तबाधस्त्वर्थनिष्ठ इति दिक्।

येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न संभवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्यादष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति।

तीनों दोष हैं–धत हानि, अश्रुतकल्पना और प्राप्तबाध। यह कहा गया है–'श्रुत अर्थ का परित्याग करने से अश्रुत अर्थ की कल्पना करने से और राग या प्रमाणान्तर से प्राप्त अर्थ का वाध होने से परिसंख्या तीन दोषों से युक्त होती है।' श्रुत पचनखभक्षण के परित्याग से, अश्रुत पचनखभक्षण की निवत्ति की कल्पना से, और प्राप्त अपचनखभक्षण अर्थात् अनुमोदित पाँच पचनखों के अतिरिक्त अन्य पचनखों के भक्षण के बाधन से यह है। इन तीन दोषों में से दो दोष शब्दनिष्ठ हैं। प्राप्तबाध तो अर्थनिष्ठ है। यह प्रतिपादन का अभिप्राय है।

जिनके अनुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ की स्मारकता सिद्ध नहीं होती है, उनके उच्चारण की, और कोई गति न होने से, अदष्टार्थकता कल्पित की जाती है, इसलिये उनकी व्यर्थता नहीं है।

विशेष :- परिसंख्या के द्वितीय प्रभेद लाक्षणिकी के तीन दोषों की गणना–श्रुतहानि, अश्रुत कल्पना एवं प्राप्तबाध रूप में की गई है। इन तीनों का स्वरूप 'पचपचनखाभक्ष्याः' इस एक दष्टान्त से ही स्पष्ट हो जाता है। प्रथमतः इस वाक्य में 'पचपचनखभक्षण' का विधान प्रतीत होता है परन्तु इसका स्वीकृत अर्थ 'पचातिरिक्तपचनखभक्षण निवृत्ति' रूप है अतः 'श्रुत' अर्थ का यहाँ परित्याग किया गया है। द्वितीयतः पचातिरिक्तपचनखभक्षणनिवत्तिपरक' कोई भी पद इस वाक्य में नहीं है तथापि तादश अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है अतः 'अश्रुतार्थप्रकल्पनम्' नामक दोष भी आ गया है। ततीयतः 'पचपचनखा भक्ष्याः' इस परिसंख्यापरक दटान्त में पचपचनख भक्षण एवं तदितर भक्षण दोनों ही रागतः प्राप्त होने पर एक की निवत्ति कर दी जाती है। अतः प्राप्तबाध दोष भी आ जाता है।

इन तीनों दोषों में श्रुतहानि एवं अश्रुत कल्पना को शब्दनिष्ठ कहा जाता है क्योंकि इनमें शब्द अपने अभिधेयार्थ का परित्याग कर देता है। प्राप्त बाध का सम्बन्ध शब्द से न होकर 'अर्थ' से है अतः इस दोष को अर्थनिष्ठ कहा गया है।

प्रसंगतः प्राप्त अपूर्व विधि, नियमविधि एवं परिसंख्याविधि का निरूपण करके ग्रन्थकार ने उपसंहार करने की दष्टि से "येषां तु................" इत्यादि पंक्तियों में 'मन्त्रमीमांसा' प्रकरण की चर्चा की है। इससे पूर्व यह कहा गया है कि मन्त्र का प्रयोजन अनुष्ठान के प्रयोगों का स्मरण कराना है। परन्तु कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें यह सामर्थ्य नहीं होता, यथा 'कवचाय हुम्, नेत्रत्रयाय वौषट्' 'अस्त्राय फट्' आदि। अतः क्या इन मन्त्रों को अनर्थक मान लिया जाय ? मीमांसक की दष्टि से इन्हें अनर्थक नहीं माना जाता क्योंकि इनसे 'अदष्टार्थ' प्रयोजन सिद्ध होता है। भाव यह है कि 'स्वाध्यायोध्येतव्य' इस विधिवाक्य से समस्त वेद का ग्रहण हो जाता है सिद्धान्ततः वेद का कोई भी अंश निष्प्रयोजन या तत्त्वार्थशून्य नहीं होता है। अतः इन मन्त्रों के उच्चारण से यद्यपि 'प्रयोग समवेत स्मारकत्व' रूपी बात सिद्ध नहीं होती तथापि इनमें 'अदष्टार्थकता' विद्यमान है।

(५३) नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। तथा हि-'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्रेद्भिच्छब्दो यागनामधेयं, तेन च विधेयार्थपरिच्छेदः क्रियते। तथा हि-अनेन वाक्येनाप्राप्तत्वात्फलोद्देशेन यागो विधीयते। यागसामान्यस्याविधेयत्वात् यागविशेष एव विधीयते। तत्र कासौ यागविशेष इत्यपेक्षायामुद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते। 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेदि'त्यत्र सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात्।

सम्पाद्य कर्म का अन्यों से व्यावर्तक होने से नामधेय सार्थक है। जैसे कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इसमें उद्भिद् शब्द याग का नाम है, जिसके द्वारा विवेक कर्म का अन्यों से व्यावर्तन कराया जाता है। अर्थात् दूसरे प्रमाणों से प्राप्त न होने के कारण इस वाक्य के द्वारा पशुरूप फल को लक्ष्य करके याग का विधान किया जाता है। यागसामान्य का विधान संभव न होने से यागविशेष का ही विधान किया जाता है। 'वह याग–विशेष क्या है ? इसकी अपेक्षा होने से उद्भिद् शब्द से उद्भिरूप याग ज्ञात होता है। 'उद्भिद् याग से पशु की भावना करे' इसमें सामानाधिकरण्य से नामधेय का अन्वय होता है।

नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात्। मत्वर्थलक्षणाभयाद्वाक्यभेदभयासत्प्रख्यशास्त्रात्तद्व्यपदेशाच्चेति।

इससे पूर्व विधिनिरूपण एवं मन्त्र मीमांसा की जा चुकी है। सम्प्रति क्रमप्राप्त नामधेय के प्रयोजन पर विचार किया जा रहा है। नामधेय वस्तुतः विधि, मन्त्र, निषेध एवं अर्थवाद से स्वरूपतः भिन्न हैं। विध्यादि में वेद वाक्य को लेकर जहाँ चर्चा उपलब्ध होती है, नामधेय में कतिपय नामों से जुड़े हुए विशेष भागों की आलोचना दष्टिगोचर होती है। समग्र नामधेय प्रकरण का सार भूत तत्त्व 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' 'चित्रया यझेत पशुकामः, 'अग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'श्येनेनाग्निचरन् यजेत्' इन चार वाक्यों में निहित है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इस जैमिनि सूत्रानुसार समसत वेदवाक्यों को प्रयोजनीयता याग में निहित है। अतः उद्भिद् एवं चित्रा आदि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को प्रयोजन व विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि ये नाम यज्ञ विशेष में प्रयुक्त होने वाली क्रिया से उसके सजातीय एवं विजातीय पदार्थों का पार्थक्य अवगत कराते हैं इसी

को 'विधेयार्थ परिच्छेद' पद से निर्दिष्ट किया है। यथा उद्मिदा यजेत पशुकामः पशुरूपकफल के उद्देश्य से याग का विधान किया गया है। इस याग का ज्ञान किसी अन्य वाक्य से नहीं हो सकता। अतः यह याग वस्तुतः अप्राप्त है और इस वाक्य द्वारा विहित किया जा रहा है। यदि इस वाक्य से उद्भिद शब्द हटाकर केवल 'यजेत पशुकामः' रहने दें तो 'यागेन पशुं भावयेत्' यह वाक्यार्थ होगा परन्तु इससे यागसामान्य का विधान हो रहा है जो कि वस्तुतः 'अविधेय' है क्योंकि याग विशेष का नाम अभिहित किये बिना अनुष्ठान सम्भव नहीं है 'उद्भिदा' पद द्वारा इसी आकांक्षा की पूत्ति होती है। अतः 'उद्भिद्' याग का नामधेय हुआ और यागविशेष का निर्देशक होने से विषेयार्थ परिच्छेद भी हुआ। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्' इस वाक्य में उद्भिद एवं याग का सामानाधिकरण्य भी है क्योंकि दोनों पदों के वचन, विभक्ति एवं लिंग समान हैं।

यह नामधेयत्व चार निमित्तों से हुआ करता है—मत्वर्थलक्षणा के भय से, वाक्यभेद के भय से, तत्प्रख्याशास्त्र से और तद्व्यपदेश से।

(५४) तत्र 'उद्भिदा पजेत पशुकाम' इत्यत्रोद्भिच्छब्दस्य यागनामनाधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। तथा हि न तावदनेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानम्, तं प्रति च गुणविधानं युज्यते, वाक्यभेदापत्तेः। उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे च यागस्याप्यप्राप्तत्वात् गुणविशिष्टकर्मविधानं वाच्यम्। 'उद्भिदता यागेन पशुं भावयेदि'ति विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणेत्युक्तमेव।

चार कारणों से नामधेयत्व होता है— (१) मत्वर्थलक्षणा के भय से, (२) वाक्यभेद के भय से, (३) तत्प्रख्यशास्त्र से, (४) और तद्व्यपदेश से। इनमें से 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में उद्भिद् शब्द का नामधेयत्व मत्वर्थलक्षणा के भय से है, क्योंकि इस वाक्य—उद्भिदा यजेत पशुकामः —से न तो एक ओर पशुरूप फल के लिये याग का विधान मानना संगत है ओर न दूसरी ओर याग के प्रति गुण का विधान ही, क्योंकि एक ही वाक्य से फल और साधन दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद नाम का दोष आ पड़ेगा। उद्भिद्—शब्द को गुण का वाचक मानने पर विधेय याग के भी प्रमाणान्तर से प्राप्त न होने के कारण कर्मनिष्पत्ति हेतु गुण से विशिष्ट कर्म का विधान उसका अर्थ मानना पड़ेगा। अतः 'उद्भिद् वाले याग से पशु की भावना करे' ऐसी विशिष्टविधि—गुण और कर्म दोनों का एक साथ विधान करने वाली विधि—मानने पर मत्वर्थलक्षणा होगी ही, यह बात कही जा चुकी है।

विशेष :- मत्वर्थ लक्षणा के भय से प्राप्त नामधेयत्व का निवेचन इस प्रकरण में हुआ है।

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस विधिवाक्य में पशुरूप फल को उद्देश्य करके याग का विधान किया गया है। और उस याग को उद्देश्य करके खनित्र (=उद्भिद्) रूपी गुण का विधान है। इस प्रकार एक ही 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' दो वाक्यों का—(१) 'उद्भिदा=खनित्रेण यागं भावयेत्' (२) 'यागेन पशुं भावयेत्' का बोधक होता है अतः इस प्रकार की व्याख्या मानने पर वाक्यभेद रूप दोष अपरिहार्थ होगा। इस दोष से मुक्त होने के लिये 'सोमेन यजेत' की तरह प्रकृत वाक्य को भी विशिष्ट विधि का उदाहरण मान लेना चाहिये। तब उद्भिदा यजेत पशुकामः वाक्य से 'गुण विशिष्ट कर्म का विधान्' होगा और वाक्य का बोध मत्वर्थलक्षणा का आश्रय करके 'पशुकामः' उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्' इस प्रकार होगा। परन्तु मत्वर्थलक्षणा भी 'पददोष' में परिगणित है। अन्ततः सिद्धान्ती 'मत्वर्थलक्षणा के भय से 'उद्भिद् को यागनामधेय मानकर 'उद्मिन्नामकेन यागेन पशुं भावयेत्' यह अर्थ निश्चित करता है। यहाँ याग एवं उद्भिद में सामानाधिकरण्य भी है।

(५५) 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यत्र चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं वाक्य-भेदभात्। तथा हि न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं संभवति। 'दधि मधु पयो धतं धाना उदकं तण्डुलस्तत्संसष्टं प्राजापत्यमि' त्यनेन गुणस्य विहितत्वात्तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः। यागस्य फलसंबन्धे गुणसंबन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः। तस्माच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयम्। तथा च 'चित्रायागेन पशुं भावयेदि'ति सामानाधिकरण्येनान्वयात्र वाक्यभेदः।

प्रकृतेष्टेरनेकद्रव्यत्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः।

'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में चित्र शब्द याग का नाम वाक्यभेद के भय से है अर्थात् वाक्यभेद नामक दोष कहीं न हो जाये इसलिये उसके निवारणार्थ चित्राशब्द को याग का नाम माना गया है। जैसे कि यहाँ पर गुणविशिष्ट याग का विधान संभव नहीं है, क्योंकि 'दधि मधु०'—दही, शहद, दुग्ध, धत, भुने यव या लाई, जल और चावल, इनसे युक्त प्रजापति देवताक याग का विधान करे, इस वाक्य से गुण का विधान हो जाने के कारण उस गुण से विशिष्ट याग का विधान संगत नहीं है। याग का फल तथा गुण दोनों से सम्बन्ध मानने पर वाक्यभेद नामक दोष होता है। इसलिये चित्राशब्द कर्म का नामधेय है। इस प्रकार 'चित्रा नामक याग से पशु की भावना करे'। इस अर्थ में सामानाधिकरण्य से अन्वय होने के कारण वाक्यभेद नहीं होगा। प्रकृतियाग में अनेक द्रव्य अपेक्षित होने से चित्राशब्द का नाम उत्पन्न होता है।

विशेष :- वाक्यभेद जन्य दोष के परिहार के लिये 'चित्रया यजेत पशुकामः' को भी नामधेय मानने का विवेचन प्रस्तुत सन्दर्भ में उपन्यस्त किया गया है।

पूर्ववक्षी का कथन है कि 'सोमेन यज्ञेत' 'उद्भिदा यजेत पशुकामः''चित्रया यजेत पशुकामः' सामान्यतः एक जैसे हैं। 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में 'मत्वर्थलक्षणा' का आश्रयण 'वाक्य दोष' से बचने के लिये, इससे पूर्व विवेचित किया है। इसे गुणविशिष्ट विधि मानकर 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत् इस प्रकार का अर्थ मीमांसक सम्मत है यह भी निरूपित हुआ है। अतः वाक्य भेदजन्यदोष के परिहार हेतु 'चित्रया यजेत पशुकामः' में चित्रापद को नामधेय न मानकर 'गुण विशिष्ट कर्म विधि' ही मानना ठीक होगा।

सिद्धान्ती इस समाधान से सहमत नहीं है। क्योंकि उसके मत में यहाँ गुणविशिष्ट विधि नहीं हो सकती। (न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं सम्भवति)। गुणविशिष्ट विधि होने के लिए यह आवश्यक है कि याग एवं द्रव्य दोनों ही 'अप्राप्त' हो। परन्तु 'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य में चित्र वर्ण रूप गुण विशिष्ट' याग का विधान इसलिये सम्भव नहीं है क्योंकि 'दधि मधु पयो..... प्राजापत्यम्' इत्यादि विधान से गुण एवं प्रजापति देवता विहित है अत गुणविशिष्ट याग का विधान यहाँ नहीं है।

यदि यह माना जाये कि 'चित्रया यजेत पशुकामः' से 'याग' एवं 'गुण' दोनों का विधान है तो वाक्यभेद होगा। क्योंकि दो विधायक वाक्य होंगे–'यागेन पशुं भावयेत्' तथा 'चित्रया दध्यादि चित्ररूपेण गुणेन यागं भावयेत्' अतः 'चित्रा' पद याग का 'नाम' ही मानना ठीक है। इससे 'चित्रा' एवं याग में सामानाधिकरण्य भी बना रहेगा।

'प्रकृतेष्टे–वाच्यत्वोपपत्तिः' वाक्य द्वारा ग्रन्थकार ने 'चित्रा' शब्द के वाच्यार्थ पर विचार किया है। 'चित्रा' का तात्पर्य 'अनेक द्रव्यों' से है। इस याग में 'दध्यादि' अनेक द्रव्यों का विधान है अतः यह याग 'अन्वर्थनामा' है।

तत्प्रख्याशास्त्रन्नामधेयत्वम्

(५६) 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुण प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्, अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्।

नन्वयं गुणविधिरेव कुतो नेति चेन्न। यद्यग्नौ होत्रमस्मिन्निति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधयस्तदा 'यदाहवनीये जुहोती'त्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात्तद्विधानानर्थक्यम्। अग्नये होत्रमिति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोनेन विधीयत इति चेन्न। तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्।

'अग्नि होत्रं जुहोति' इस वाक्य में अग्निहोत्र शब्द की कर्मनामधेयता तत्प्रख्यशास्त्र के कारण है। तत्प्रख्यशास्त्र पद का विग्रह है–तस्य प्रख्यापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्–जिसमें 'तस्य' का अर्थ है गुण का, 'प्रख्यापकस्य' का अर्थ है प्रापक, शास्त्र विद्यमान है अतः –अग्निहोत्रशब्द कर्म का नामधेय है।

यहाँ शङ्का होती है कि यह वाक्य गुणविधि ही क्यों न माना जाये, तो उत्तर है कि नहीं। क्योंकि यदि अग्निहोत्र शब्द का 'अग्नौ होत्रम् अस्मिन्'–जिस अग्नि में होम किया जाता है–इस प्रकार के सप्तमी समास का आश्रय लेकर होम के आधार के रूप में अग्निरूपी गुण का विधान किया जाता है तो 'यदाहवनीये जुहोति'–जब आहवनीय नामक अग्नि में हवन करता है–इस वाक्य से ही अग्नि की प्राप्ति हो जाने से दूसरे वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि के द्वारा भी उसी का पुनः विधान व्यर्थ होगा। 'अग्नये होत्रम्'–अग्निदेव के लिये होम है–इस प्रकार से चतुर्थी समास का आश्रय लेकर अग्निदेवतारूप गुण का विधान यदि इस वाक्य से माना जाये तो भी ठीक नहीं होगा क्योंकि उस देवता की प्राप्ति दूसरे शास्त्रवाक्य से हो जाती है।

विशेष :- 'तत्प्रख्यशास्त्र' नामधेय मानने में तीसरा हेतु है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य को दष्टान्त मानकर 'तत्प्रख्य शास्त्र' का स्वरूप समझाया गया है। लौगाक्षि भास्कर ने 'तत्प्रख्यशास्त्र' का तात्पर्यार्थ समझाते हुये लिखा है–'तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य=प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्'। इस कथन का अभिप्राय यह है कि यदि गुण का विधान किसी अन्य शास्त्रीय वाक्य से किया गया हो तो, उस स्थिति में जिस विधि वाक्य पर विचार किया जा रहा हो उसमें गुणबोधक शब्द को कर्म का 'नामधेय' मान लिया जाना मीमांसासिद्धान्त 'तत्प्रख्यशास्त्र' से संगत है।

'अग्निहोत्रं जुहोति' में पूर्वपक्ष की दष्टि से 'अग्निहोत्रम् का अर्थ 'अग्निरूप' है जिसका आधार इस पद की दो प्रकार से विग्रह की सम्भावना है। विग्रह का रूप यह है–

(१) 'अग्नौ होत्रम् अस्मिन्' – होमाधार रूप में अग्नि को गुण मानना।

(२) 'अग्नये होत्रम्' –देवतारूप में अग्नि को गुण मानना।

परन्तु सिद्धान्ती उपरिलिखित समाधान से इसलिये सहमत नहीं है क्योंकि 'अग्नि' का होमाधाररूप में विधान 'यदाहवनीये जुहोति' से तथा देवतारूप में विधान 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस वाक्य से पूर्वतः प्राप्त है। विहित का विधान भी शास्त्रसम्मत नहीं है। अतः 'अग्निहोत्र' नामधेय है।

(५७) किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत्। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'ति केचित्। अपरे तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहे'ति मन्त्रवर्ण एवाग्निरूपदेवताप्रापकः।

नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिदेवतया बाधः स्यात्। मन्त्रवर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्। यथाहुः -'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परमि'ति चेन्न। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'त्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्, किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतेः। एवं च न बाधः, केवलप्रजापतिविधानाभावात्। न चात्र समुच्चितोभयविधानमेव कथं नेति वाच्यम्। समुच्चितोभयविधानापेक्षयान्यतः प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवात्।

एवं प्रयाजेषु समिदादिदेवतानां 'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्त्वि'त्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः प्राप्तत्वात्, 'समिधो यजती'त्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्यशास्त्रात् कर्मनामधेयम्।

देवताचक वह दूसरा शास्त्रवाक्य कौन–सा है, ऐसी शंका होने पर कुछ के अनुसार वह मन्त्र–यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति–यह है, और दूसरों के अनुसार–अग्निर्ज्योतिरग्निः स्वाहा–यह मन्त्रवर्ण ही अग्निरूपदेवता का बोधक है।

यदि शङ्का हो कि अग्नि मन्त्रवर्ण से ज्ञात होता है अतः उसका प्रजापति देवता से बाध होना चाहिये, क्योंकि मन्त्रवर्ण चतुर्थी से दुर्बल होता है, जैसा कहा गया है कि–तद्धित, चतुर्थी अथवा मन्त्रवर्ण से देवता का विधान होता है। इनमें उत्तरोत्तर क्रमशः दुर्बल होता है।' तो उत्तर है कि नहीं। 'यदग्नये च०' आदि मन्त्र में केवल प्रजापति का ही विधान नहीं है अपितु मन्त्र वर्ण से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उसके सहित प्रजापति का विधान है। इस प्रकार बाध नहीं हुआ क्योंकि केवल प्रजापति के ही विधान का अभाव है। "इसमें एक साथ वाले दोनों का ही विधान क्यों न हो," यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्मिलित दोनों के विधान की अपेक्षा दूसरे प्रापक वाक्य से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उससे युक्त प्रजापति का ही विधान करने में गौरव नहीं होगा।

इसी प्रकार प्रयाजों में भी 'समिधः समिधो०' आदि मन्त्रवर्णों से ही समिद् आदि देवताओं के प्राप्त होने से 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों में समिद् आदि शब्द तत्प्रख्यशास्त्र से कर्म के नामधेय होते हैं।

विशेष :- 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य की चर्चा के प्रसंग में यह निर्णय किया गया है 'अग्निहोत्र' नामधेय है क्योंकि इसे 'होम का आधार' या 'देवता रूप में अग्निरूप गुण' का बोधक नहीं माना जा सकता। इस मान्यता की पुष्टि में पिछले सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और यह निर्णीत किया गया है कि देवतारूप अग्नि का प्रापक शास्त्रान्तर उपलब्ध है। अतः उस 'शास्त्रान्तर' के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। प्रसंगक्रम से लौगाक्षिभास्कर ने न्यायसुधाकार भट्टसोमेश्वर एवं शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र का मत 'केचित्' एवं 'अपरे' पद संकेत द्वारा उद्धत किया है। इन दोनों के मत का परिशीलन करना आवश्यक है। प्रथम मतानुसार अग्निदेवता का प्रापक वाक्य 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' है एवं दूसरे पक्ष का 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' माना जाता है। 'अग्निर्ज्योति....' को मन्त्रवर्ण एवं 'यदग्नये च जुहोति....' में 'प्रजापतये' के कारण चतुर्थ्यन्त पद माना गया है। कुमारिलभट्ट ने–

'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परमिति।।

इस कारिका द्वारा यह उपपादित किया है। मन्त्रवर्ण से प्राप्त देवता चतुर्थी से प्राप्त देवता द्वारा बाधित हो जाता है। चतुर्थी विभक्ति से तद्धित प्रबल इसलिये होता है क्योंकि तद्धितान्त में देवता का विधान साक्षात् किया जाता है, चतुर्थ्यन्त में देवता का परम्परा से। परन्तु यह समाधाना सिद्धान्ती के द्वारा अनुमोदित नहीं होता है क्योकि 'यदग्नये प्रजापतये....जुहोति' से केवल प्रजापति का ही विधान मानना ठीक नहीं है अपितु मन्त्रवर्ण से प्राप्त अग्नि का भी अनुवाद मानना चाहिये। आशय यह है कि प्रथमतः 'अग्निर्ज्योति....' इत्यादि मन्त्रवर्ण से अग्नि देवता का विधान होकर तदनन्तर अग्निदेवतायुक्त 'प्रजापति' का विधान 'यदग्नये च प्रजापतये' आदि वाक्य द्वारा सम्पन्न होता है केवल 'यदग्नये च प्रजापतये' द्वारा अग्नि एवं प्रजापति दोनों देवताओं का विधान मानना समुचित नहीं है। क्योंकि इससे एक ही वाक्य द्वारा दो के कार्य का निर्वाह आ जाने पर 'गौरव' होगा तथा 'अग्निर्ज्योति....' इत्यादि मन्त्रवर्ण भी निष्प्रयोजन हो जायेगा जो कि शास्त्रसम्मत इसलिये नहीं है क्योंकि कोई भी मन्त्र निरर्थक नहीं है। अतः लाघव की दष्टि से अग्नि का अनुवाद करके अग्निदेवता युक्त प्रजापति का विधान समुचित है।

पूर्व में प्रयाजादि यागों का विधान 'प्रयाजाः कर्त्तव्याः' इस वाक्य द्वारा है और ये 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति' रूप में आम्नात है। संशय यह है कि इन वाक्यों में समिधः तनूनपातादि पदों से याग के देवताओं का निर्देश है अथवा ये स्वयं याग विशेष के नाम है। इस संशय का समाधान यह है कि इन यागों के देवतादि का निर्देश 'समिधः समिधोग्न आज्यस्य व्यन्तु' इत्यादि मन्त्रवर्ण से पूर्वतः ही प्राप्त है अतः इसको कर्मनामधेय ही मानना चाहिये।

(५८) 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'त्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्यपदेशात्। तेन व्यपदेशादुपमानात्तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्। तथा हि यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति। यद्यत्र श्येनो विधेयः स्यात्, तदार्थवादैस्तस्यैव स्तुतिः कार्या। अत्र 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातव्यं निपत्यादत्त' इत्यनेनार्थ श्येनः स्तोतुं न शक्यः, श्येनोपमानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात्।

न च श्येनोपमानत्वेन स एव स्तोतुं शक्यते, उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्। यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दः कर्मनामधेयं तद्व्यपदेशादिति।

'श्येनेन अभिचरन् यजेत्' इस वाक्य में श्येनशब्द की कर्मनामधेयता 'तद्व्यपदेश' के कारण है। उसके साथ व्यपदेश अर्थात् उपमान होने से, ऐसा न मानने पर अर्थसंगति नहीं हो सकेगी। जैसे कि जिसका विधान अपेक्षित होता है, उसकी स्तुति होती है। यदि यहाँ श्येन विधेय होगा तो अर्थवादों से उसी की स्तुति की जायेगी। यहाँ "जिस प्रकार वाजपक्षी अपने लक्ष्य को झपट कर ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार यह याग भी अपकारी शत्रु को झपट कर मार देता है" इस अर्थवाद वाक्य से श्येनपक्षी की स्तुति संभव नहीं, क्योंकि यहाँ श्येन की उपमा होने से दूसरे ही पदार्थ की स्तुति की जा रही है।

श्येन की उपमा से उसी श्येन की ही स्तुति नहीं की जा सकती क्योंकि उपमान और उपमेय से ज्ञात पदार्थ पथक् पथक् होते हैं। जब श्येन नामक याग का विधान किया जाता है तब अर्थवाद वाक्य द्वारा श्येन की उपमा देकर उसकी स्तुति की जा सकती है, इस प्रकार श्येन शब्द 'तद्व्यपदेश' से कर्म का नामधेय है।

विशेष :- 'तत्प्रख्यशास्त्र' द्वारा 'अग्निहोत्रं जुहोति' में कर्मनामधेयत्व की स्थापना करके अर्थसंग्रहकार क्रमप्राप्त 'तद्व्यपदेश' द्वारा नामधेय का निर्णय करने में प्रवत्त हो रहे हैं। 'तद्व्यपदेशात्' का पदार्थ विवेचन करते हुये ग्रन्थकार ने लिखा है–

'तेन व्यपदेशादुपमानात्.....।

'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस दष्टान्त में 'श्चेन' शब्द का लौकिक व्यवहार में 'बाज पक्षी' अर्थ है परन्तु शास्त्रीय दष्टि से 'श्वेन' याग विश्येष का नाम है। यहाँ प्रश्न यह है कि श्येन का अर्थ 'बाज पक्षी' मानने में हानि क्या है ? इसका उत्तर है 'न च श्येनोपमानेन स एव स्तोतुं शक्यते, उपमानोपमेवभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्।' अर्थात् श्येन की उपमा देकर उसी श्वेन की अर्थवाद द्वारा स्तुति नहीं हा सकती क्योंकि उपमान एवं उपमेय भाव दो भिन्न पदार्थों में रहती है–एकनिष्ठ नहीं हो सकता। इस पंक्ति का आशय यह है–

अर्थभाव वाक्य में प्रयुक्त 'श्येन' शब्द की तरह यदि विधिवाक्य में प्रयुक्त श्वेन शब्द का भी अर्थ बाज पक्षी स्वीकार किया जायेगा तो उस स्थिति में श्येन से 'श्येन की स्तुति' रूप वाक्यार्थ होगा। परन्तु सैद्धान्तिक दष्टि से उपमान एवं उपमेय भिन्न–भिन्न होते हैं–अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि अर्थवाद वाक्य 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषर्न्त भ्रातव्यं निपत्यादत्ते' में श्वेन शब्द गुणवाचक नहीं है। इस तरह दोनों में उपमान उपमेय भाव की सिद्धि भी हो जाती है। अर्थात् अर्थवादवाक्य में व्यवहृत 'श्येन' शब्द रूपी उपमान से श्येन नामक याग रूपी उपमेय की प्रशंसा की जा सकती है। अतः 'तद्व्यपदेश' न्याय से श्येन शब्द का नामधेय है।

(५६) उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पचमं नामधेयनिमित्तमिति केचित्। यथा 'वैश्वदेवेन यजेते'त्यादौ। अत्रौत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वाद्वैश्वदेवशब्दस्य विश्वदेवदेवताभिधायकत्वं न संभवतीति कर्मनामधेयत्वम्।

वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवास्य कर्मनामधेयत्वं प्रकृतयागे विश्वदेवरूपगुणसंप्रतिपन्नशास्त्रस्यार्थवादरूपस्यैव सत्त्वात्। 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेव्य वैश्वदेवत्वम्' इति।

उत्पत्ति विधि से बोधित गुण की प्रबलता भी नाम धेय का पचम निमित्त है, ऐसा कुछ लोगों का मत है, जैसे–वैश्वदेवेन यजेत–आदि वाक्यों में। इस वाक्य में उत्पत्तिविधि के द्वारा बोधित अग्नि आदि देवताओं की प्रबलता के कारण वैश्वदेवशब्द विश्वदेव नामक देवता का वाचक नहीं हो सकता, अतः कर्मविशेष का नाम कहा जाता है।

किन्तु सत्य स्थिति यह है कि 'तत्प्रख्यशास्त्र' से ही इसकी कर्मनामधेयता सिद्ध हो जाती है क्योंकि वर्तमान याग में

विश्वदेव रूप का बोधक वाक्य अर्थवाद वाक्य के रूप में विद्यमान् है। वह अर्थवाद वाक्य है 'यद् विश्वदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्।'

विशेष :- इससे पूर्व नामधेयत्व स्वीकार करने में चार कारणों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। कुछ लोगों के विचार में पाँचवां 'उत्पत्तिशिष्टगुणक्लीयस्त्व' संज्ञक कारण 'नामधेय' में माना जा सकता है। इसी का विवेचन ग्रन्थकार यहाँ पूर्वपक्ष निरूपण पुरस्सर प्रस्तुत कर रहा है। पूर्वपक्षी का पचम निमित्त के सम्बन्ध में वक्तव्य इतना ही है कि 'उत्पत्तिविध में उपदिष्ट देवता बलवान् होता है। अर्थात् उत्पत्तिविधि द्वारा जिस गुण का विधान किया जायेगा वह किसी दूसरे वाक्य से विहित द्रव्य देवतादि अंग (=गुण) से प्रबल होगा। इसका कारण यह है कि उत्पत्तिविधि स्वतः गुण का विधान करती है अन्य वाक्यों में श्रूयमाण वस्तुतः यागविशेष के 'नामधेय' होते हैं। याज्ञिकी प्रक्रिया के अनुसार विषयावबोध इस प्रकार किया जा सकता है। चातुर्मास्य भाग में चार पर्वो का उल्लेख है—(१) वैश्वदेव (२) वरुणप्रघास (३) साकमेध एवं (४) सुनासीरीय। वैश्वदेव पर्व में आठ यागों का विधान है—'आग्नेयमष्टाकपालम् निर्वपति, सौम्यं चरुम्, सावित्रं द्वादशकपालम्, भारस्वतं चरुम्, पौष्णं चरुं मारुतम् सप्त कपालम् वैश्वदेवीमामिक्षाम्, द्यावापथिव्यमेककपालम्।' इन आठों यागों के समीप में 'वैश्वदेवेन यजेत' यह वाक्य पठित है। पूर्व पक्ष का कहना है कि आठों यागों का 'यजेत' पद से अनुवाद करके 'विश्वदेव' देवता रूप गुण का विधान किया जा सकता है। यद्यपि 'वैश्वदेवी आमिक्षा वाक्य में 'विश्वदेव' देवता विहित है तथापि 'आग्नेय से लेकर मारुतम्, एवं द्यावापथिव्यमेककपालम्' इन सातों योगों में 'विश्वदेव' की विद्यमानता नहीं है अतः उसका (विश्वदेव का) विधान आग्नेयादि देवताओं के रहते हुए भी 'विकल्प' से किया जा सकता हैं कारण यह है कि जब हम 'वैश्वदेव' को केवल याग का नाम मान लेंगे तब द्रव्य एवं देवता का श्रवण नहीं होगा एवं ('द्रव्य' और 'देवता' स्वरूप) याग का स्वरूप नहीं बनेगा। अतः 'वैश्वदेवेन यजेत' को निरर्थक मानना होगा, यह समीचीन नहीं है इसलिये 'गुण' का ही विधान मंगल है अर्थात् इसे 'गुणविधि' मान लेना ठीक है। पूर्वपक्ष के इन युक्तियों का उत्तर सिद्धान्ती इस प्रकार देता है—'उत्पत्ति विधि' से विहित आग्नेयादि यागों का 'यजेत' पद से अनुसाद कर उन आठों के संहति (=समुदाय) का नाम 'वैश्वदेव' रखा जाता है। यद्यपि द्रव्य देवतादि के अभाव में हम इसे विधायक शास्त्र नहीं कह सकते, तथापि 'प्राचीन प्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादि में एक ही 'वैश्वदेव' शब्द से आठों यागों का व्यवहार सम्भव है। अतः 'वैश्वदेव' शास्त्र निरर्थक नहीं होगा। 'वैश्वदेव' नामकरण में दो हेतु हैं—पहला 'छत्रि न्याय' से समझा जा सकता है। लौकिकि व्यवहार में जनसमुदाय में यदि थोड़े से ही लोग छत्र लेकर चल रहे हों तब भी 'छत्रिणो यान्ति' समस्त जनसमूह के लिये हो जाता है उसी प्रकार आमिक्षायाग में भी समस्त विश्वदेवों का याग होने के कारण आठों में 'वैश्वदेवत्व' का व्यवहार होता है। अथवा, यह भी समाधान हो सकता है कि आठों यागों का कर्त्ता 'विश्वदेव' है अतः आठों यागों में विश्वदेवत्व रहेगा। इसकी पुष्टि ब्राह्मण भाग के प्रमाण से भी होती है यथा—यद्विश्वे देवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम् पूर्वपक्ष ने 'अग्न्यादि एवं विश्वदेव' देवताओं में पारस्परिक विकल्प की जो बात कही है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि विकल्प का प्रसक्ति 'तुल्यबल' में होती है। प्रकृत संदर्भ में अग्न्यादि 'उत्पत्तिशिष्ट' होने से प्रबल है और विश्वदेव 'उत्पन्नशिष्ट' होने से दुर्बल है। क्योंकि 'अग्न्यादि देवता' श्रुति प्राप्त है एवं 'विश्वेदेवाः' प्रकरण प्राप्त है। अतः अग्न्यादि ही देव है और वैश्वदेव इन आठों का नाम है।

सिद्धान्ती अपने पक्ष का उपसंहार 'वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवस्य.....' इत्यादि पंक्तियों से करता है। भाव यह है कि—'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में प्रयुक्त 'वैश्वदेव' पद को याग का नामधेय इसलिये स्वीकार करना चाये क्योंकि इसमें 'विश्वदेव देवताः'' रूप गुण का प्रकाशन करने वाला वाक्य अर्थवाद है। अतः 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करने का प्रयोजन नहीं है।

(६०) पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः, निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवत्तिजनकत्वेनेवार्थवत्त्वात्। तथा हि यथा विधिः प्रवर्तनां प्रतिपादयन् स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थ विधेयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमाक्षिवन् पुरुषं तत्र प्रवर्तयति, तथा 'न कलजं भक्षये'दित्यादिनिषेधोपि निर्वतनां प्रतिपादयन् स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलजभक्षणस्य परानिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं ततो निवतंयति।

विशेष :- नामधेय रूप वेदभाग का निरूपण करके निषेध रूप वेदभाग का प्रतिवादन किया जा रहा है। शास्त्र में नरकादि को अनर्थ माना है। इस नरक प्राप्ति का हेतु 'कलज भक्षणादि होता है। अतः पुरुष को ऐसे कार्यों से 'निषेधवाक्य' निवर्तित करते हैं। अन्यथा कलजादि भक्षण करता हुआ व्यक्ति पतित हो जाता है और यागादि में अनधिकारी होकर पुरुषार्थ प्राप्ति से वंचित हो जाता है। विधिवाक्य अपनी 'प्रवर्तकत्व' या 'प्रेरणाप्रदात त्व' शक्तिरूप सामर्थ्य द्वारा पुरुष का यागादि अनुष्ठान में लगाते हैं और यागजन्य फल का भी बोध कराते हैं क्योंकि प्रयोजन ज्ञान के अभाव में केवल विधिज्ञान से ही प्रवत्ति होना कल्पनामात्र है। इसी प्रकार निषेधवाक्यों में निहित जो निवर्त्तना शक्ति है उसका चरितार्थ इस बात में है कि वे पुरुष को अनर्थ हेतु का बोधन कराके निषिद्ध कर्मों से उसे अलग करते हैं।

(६१) ननु निषेधवाक्यस्य कथं निवर्तनाप्रतिपादकत्वमिति चेदुच्यते। न तावदत्र धात्वर्थस्य नार्थेनान्वयः, अव्यवधाानेपि तस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः। न ह्यन्योपसर्जनत्वेनोपस्थिमन्यत्रान्वेति, अन्यथा राजपुरुषामानयेत्यादावपि राज्ञः क्रियान्वयापत्तेः। अतः प्रत्ययार्थस्यैव नभर्थेनान्वयः। तत्रापि नाख्यातत्वांशवाच्यार्थभावनायास्तस्या लिङंशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः, किन्तु लिङ्शवाच्यशब्दभावनायाः, तस्या सर्वापेक्षया प्रधानत्वात्।

नचश्चैव स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृतपदा र्थविरोधिबोधकत्वम्। यथा 'घटो नास्ती'त्यादौ अस्तीतिशब्दसमभिव्याहृता ना् घटसत्त्वविरोधि घटासत्त्वं गमयति, तदिह लिङ्समभिव्याहृतो ना् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयति। विधिवाक्येश्रवणेयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतिः। तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः।

यदा तु प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये बाधकं तदा धात्वर्थस्यैव तत्रान्वयः।

पुरुष के कर्मविशेष से मना करने वाला वाक्य निषेध है। निषेध–वाक्यों की सार्थकता इसी में है कि वे अनिष्ट की कारणभूत क्रियाओं से पुरुष को हटाते हैं। जिस प्रकार से विधि–वाक्य प्रवत्ति को प्रतिपादित करते हुये अपनी प्रवर्तकता के निर्वाह के लिये सम्पादनीय याग आदि में इष्टभूत स्वर्गादि की साधनता का आक्षेप करते हुए पुरुष की उसमें–यागादि में–प्रवत्त करता है, उसी प्रकार 'कलज नहीं खाना चाहिये' इत्यादि निषेध भी निवत्ति का प्रतिपादन करते हुए अपनी निवारकता के निर्वाह के लिये निषेध के विषय कलजभक्षण में घोर नरकादि अनिष्ट की साधनता का आक्षेप करते हुए पुरुष को उससे हटाता है।

निषेधवाक्य की निवर्तना–प्रतिपादकता कैसे सिद्ध होती है यह शंका हो तो उत्तर है–कि यहाँ धात्वर्थ का ना् के अर्थ से अन्वय नहीं होता है। क्योंकि व्यवधान न रहने पर भी उस धात्वर्थ की उपस्थिति प्रत्यय की अर्थभूता भावना में विशेषण रूप में होती है। दूसरे के विशेषण के रूप में उपस्थित वस्तु उससे भिन्न से नहीं जुड़ती। अन्यथा तो 'राजपुरुष को लाओ' आदि वाक्यों में भी राजा का सम्बन्ध क्रिया से होने लगेगा। इसलिये प्रत्ययार्थ का ही नार्थ से अन्वय होता है। वहाँ भी–अर्थात् प्रत्ययार्थ में भी–नार्थ से आख्याततत्व अंश से वाच्य आर्थीभावना का सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि वह तो लिङ्ग–अंश से वाच्य प्रवर्तना के विशेषण के रूप में उपस्थित होती है, अपितु लिङ्ग अंश से वाच्य शाब्दी–भावना से उसका अन्वय होता है, क्योंकि वही शाब्दीभावना ही सबकी अपेक्षा प्रधान होती है।

ना् का यह स्वरूप है कि वह अपने साथ अन्वित पद के अर्थ के विरोधी का बोध कराता है। जैसे–'घटो नास्ति' आदि में 'अस्ति' इस पद के साथ में पठित ना् घट की सत्ता की विरोधिनी घट की असत्ता का ज्ञान कराता है। इसी प्रकार यहाँ न कलजं भक्षयेत् में लिङ् के साथ अन्वित ना् लिङ् की अर्थभूता प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना का ही बोध कराता है। 'यजेत स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्य का श्रवण होने पर 'यह विधि मुझे यागादि में प्रवत्त करती है' इस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः निषेध वाक्यों के स्थानों में निवर्तना ही वाक्यार्थ होती है।

जब प्रत्ययार्थ का उस नञर्थ से अन्वय में बाध होता है, तब धात्वर्थ का ही नञर्थ से अन्वय होता है।

विशेष :- निषेधवाक्य के स्वरूप की विवेचना प्रसंग में यह निरूपित किया गया है कि क्रिया के प्रति पुरुष में निवर्तकत्व रूप व्यापार का उत्पादक 'अनर्थक' रूप हेतु का स्पष्ट निर्देश ही होता है। जिस प्रकार प्रवर्त्तक वाक्य के अभाव में सामान्यतः व्यक्ति की प्रवत्ति नहीं होती ठीक उसी तरह निवर्त्तकत्व के लिये निषेधबोधक शब्दों की आवश्यकता होती है। यहाँ संशय यह होता है कि 'निषेध' का निवर्त्तनारूप अर्थ कैसे सम्भव है ? 'न कलजं भक्षयेत्' 'ब्राह्मणो न इन्त्व्यः' इत्यादि वाक्यों में निषेधवाक्य 'न' शब्द अव्यवहित रूप से 'भक्षयेत्' एवं 'इन्तव्यः' आदि क्रिया पदों के साथ प्रयुक्त है अतः स्वाभाविक है कि इस 'नार्थ' का अन्वय 'धात्वर्थ' के साथ हो। इस परिस्थिति में निष्कर्ष यह होगा कि 'भक्षयेत् एवं हन्तव्यः' का अर्थ क्रमशः 'भक्षणाभावः' एवं 'हननाभावः' है क्योंकि 'नञ्' 'अभाव' अर्थ का ही बोधक होता है।

यदि 'भक्षयेत्' एवं 'हन्तव्यः' आदि आख्यातों की संरचना पर विचार किया जाये तो स्पष्ट होता है कि इनसे प्रवर्त्तना का बोध 'लिङ्गत्व' के कारण हो रहा है अतः इनसे बोधित अर्थ का रूप 'भक्षणाभावः कर्त्तव्यः', हननाभावः कर्त्तव्यः आदि होगा। इस प्रकार घात्वर्थ 'भक्षणाभावः' हननाभावः' आदि होगा और निषेध से निवर्त्तना का बोध नहीं होगा। परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है क्योंकि प्रकृत संदर्भ में पूर्वपक्ष द्वारा 'ना्' का जो 'अभाव' अर्थ किया गया है वह उचित नहीं है। प्रथमतः धातु के अर्थ के साथ 'नञ्' के अर्थ का अन्वय नहीं होगा। क्योंकि 'भक्ष्' धातु का अर्थ 'त' प्रत्यय के आख्याततत्वांश द्वारा बोधित आर्थीभावना का साधन है इसलिये 'आर्थीभावना' के प्रति 'उपसर्जनभूत' भी है। नियमतः किसी के प्रति उपसर्जनभूत पदार्थ अन्य के साथ सम्बन्धित नहीं होता है। 'राजपुरुषमानय' इस लौकिक दष्टान्त में 'आनय' क्रिया पद का सम्बन्ध राजा के साथ नहीं होता क्योंकि

उसका सम्बन्ध उपसर्जन रूप में 'पुरुष' से पूर्वतः प्राप्त है। अतः 'आनयन' पुरुष का होता है 'राजा' का नहीं। इस प्रकार यह सिद्धान्त निर्णीत हुआ कि 'धात्वर्थ' के साथ 'नञर्थ' का समन्वय ठीक नहीं है।

द्वितीयतः—'नञ्' का अर्थ 'अभाव' नहीं है। इसका विशद विवेचन अग्रिम सन्दर्भ में किया जायेगा।

'शाब्दभावना' एवं 'आर्थीभावना' के प्रकरण में बताया गया है कि प्रत्यय के एक अंश आख्यातत्व से अर्थभावना, एवं लिङ्श से 'शब्दभावना' का बोध होता है। संशय यह होता है कि इन दोनों में से 'नञ्' के साथ किसका अन्वय होगा इसका समाधान करने के लिये हमें, 'उपसर्जन' की बात ध्यान में रखनी होगी। यह असंदिग्ध सत्य है कि अर्थभावना शब्दभावना या प्रवर्त्तना के प्रति 'उपसर्जनभूत' है। इस शब्दभावना का बोध 'लिङ्ग' अंश से होता है, यह हम देख चुके हैं। अतः इस बात को मूलग्रन्थ से लिङ्गशब्दवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितिः' कहा है। साध्य होने के कारण आर्थीभावना के साथ 'नञ्' का अन्वय हो नहीं सकता अतः शब्दभावना के ही साथ अन्वय समीचीन है। इस प्रकार विदित हुआ कि 'न भक्षयेत्' आदि वाक्यों में 'नञ्' का अन्वय धात्वर्थ के साथ नहीं अपितु 'लिङ्गर्थ' के साथ किया जाना चाहिये।

मीमांसक की दष्टि में 'नञ्' का अर्थ केवल 'अभाव' ही नहीं होता अपितु 'विरोध' भी उसका अर्थ है। मूलग्रन्थ में 'घटो नास्ति' इस दष्टान्त से यह प्रतिपादित किया गया है कि 'नास्ति' पद में नञर्थ का द्योतक 'न' वस्तुतः 'अस्ति' का विरोधी है अतः 'घटाभावः' अर्थ का बोध कराता है। 'न कलजं भक्षयेत्' इस दष्टान्त में लिङ के साथ 'नञ्' का अन्वय करने पर निवर्तना का बोध होता है यह प्रवर्तना का ही विरुद्धबोधक अर्थ है अतएव 'निवत्त्यनुकूलव्यापाररूप' ही निवर्तना का स्वरूप है।

(६२) **तच्च बाधकं द्विविधम्-तस्य व्रतमित्युपक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्च।**

तत्राद्यं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यादौ 'तस्य व्रत' मित्युपक्रम्यैतद्वाक्यपाठात्। तथा चात्र पर्युदासाश्रयणम्।

तथा हि-व्रतशब्दस्य कर्तव्यार्थे रूढत्वात्तस्य व्रतमित्यत्र स्नातकस्य व्रतानां कर्तव्यत्वेनोपक्रमात्। किं तत्कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां 'नेक्षेतोद्यन्तमि'त्यादिना कर्तव्यार्थ एव प्रतिपादनीयः, अन्यथा पूर्वोत्तरवाक्योरेकवाक्यत्वं न स्यात्।

तथा च नार्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः कर्तव्यार्थानवब्रोधात्। विध्यर्थप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाया एव तादशनाा बोधनात् तस्याश्च कर्तव्यार्थत्वाभावात्। तस्मान्नेक्षेतेत्यत्रं नञ धात्वर्थरिरोध्यनीक्षणसंकल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते तस्य कर्तव्यत्वसंभवात्।

आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेदिति वाक्यार्थः। तत्र भाव्याकाङ्क्षायाम् 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवती'ति वाक्यशेषावगतः पापक्षयौ भाव्यतयान्वेति। एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव। न चात्र धात्वर्थः विरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि संभवात्कथमनीक्षणसंकल्पस्यैव भावनान्वय इति वाच्यम्। तस्य कर्तव्यताभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात्।

और वह वाचक दो प्रकार का है—'तस्य व्रतम्' यह प्रकरण तथा विकल्प—प्रसक्ति। उनमें प्रथम—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' —निकल रहे तथा डूब रहे सूर्य को कभी न देखे—आदि में है, क्योंकि वहाँ 'तस्य व्रतम्'—ये ब्रह्मचारी के अनुष्ठेय कर्म हैं—ऐसा प्रकरण प्रारम्भ करके तब इस वाक्य का पाठ किया गया है। इसलिये वहाँ पर्युदास का अवलम्बन लिया जाता है।

जैसे कि व्रतशब्द के कर्त्तव्य—अर्थ में रूढ़ होने से 'तस्य व्रतम्' इस वाक्य में स्नातक के व्रतों का कर्त्तव्य के रूप में उपक्रम होने के कारण—वह कर्त्तव्य क्या है' यह आकांक्षा होने पर 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादि वाक्य के द्वारा कर्त्तव्यरूप अर्थ का ही प्रतिपादन होना चाहिये, नहीं तो पहले एवं बाद के वाक्यों में—'तस्य व्रतम्' और 'नेक्षेत०' में एकवाक्यता नहीं होगी।

ऐसी स्थिति में नञर्थ के साथ प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होगा क्योंकि ऐसा होने पर 'कर्त्तव्यरूप अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा। विधि की अर्थभूता प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना ही उस प्रकार के ना् से बोधित होगी, और इस निवर्तना में कर्त्तव्यरूप अर्थ का अभाव होगा। अतः 'नेक्षेत्र०' इस वाक्य में नञ् से ईक्षणरूप धातु के अर्थ का विरोधी अनीक्षणसङ्कल्प ही लक्षणा से प्रतिपादित किया जाता है, क्योंकि उसकी कर्त्तव्यता संभव है।

अतः नेक्षेत०' आदि वाक्य का अर्थ हुआ—'आदित्यविषयक अनीक्षण के सङ्कल्प से भावना करे।' इस अर्थ में 'भाव्य' की आकांक्षा होने पर 'एतावता हेनसा वियुक्तो भवति'—इससे वह निश्चित ही पाप से मुक्त हो जाता है—वाक्य के इस शेषांश से ज्ञात पापक्षय भाव्य के रूप में अन्वित होता है। इस प्रकार पहले तथा बाद के वाक्यों में एकवाक्यता का भी निर्वाह हो जाता है। ईक्षण धातु के अर्थ के विरोधी दूसरे पदार्थ की भी संभावना हो सकने से अनीक्षणसङ्कल्प का ही भावना से अन्वय कैसे हो गया, यह यहाँ नहीं कहना चाहिये क्योंकि उस पदार्थान्तर की करणीय कर्म के रूप में प्राप्ति न होने से प्रस्तुत प्रसङ्ग में यह भावना के साथ अन्वय के योग्य नहीं है।

विशेष :- नञर्थ का प्रत्ययार्थ भावना में अन्वित होने में कहीं कहीं अपवाद भी दष्टिगोचर होता है इस तथ्य का विवेचन

प्रस्तुत अवतरण में किया जा रहा है। नञर्थ के अन्वित न हो सकने में दो बाधक माने गये हैं–(१) 'तस्य व्रतम्' का उपक्रम एवं (२) विकल्पप्रसक्तिः।

प्रथम प्रकार के बाध का दष्टान्त है–नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'। इस वाक्य का पाठ 'तस्य व्रतम्' इस उपक्रम मे उपलब्ध होता है। अर्थात् स्नातकों द्वारा लिये जाने वाले संकल्पों का निर्देश 'तस्य व्रतम्' से प्रारम्भ होता है। इस प्रकरण में परिगणित विभिन्न व्रतों में 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम् भी है। अतः सन्दर्भ विशेष में पठित होने के कारण यह विदित होता है कि इस वाक्य द्वारा भी 'कर्त्तव्यार्थ' का ही निर्देश है। क्योंकि इस वाक्य से कर्त्तव्यार्थ का बोध न हो करके, मात्र 'ईक्षण रूपी' क्रिया के निषेध का बोध हो रहा हो तो इस वाक्य का पूर्व वाक्य 'तस्य व्रतम्' आदि से किये गये उपक्रम से भी विरोध होता अतः 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' से 'कर्त्तव्यार्थ' का ज्ञान होना ही चाहिये। अब यदि निषेधवाक्यों में माने जानी वाली सामान्य विधि का हम आश्रय ले तब 'ईक्षेत्' के लिङंश का अन्वय 'न' के साथ करना होगा। इसी को मूल ग्रन्थ में 'प्रत्ययार्थान्वयः अर्थात् प्रत्ययैकदेशलिङ्र्थान्वयः' कहा गया है। परन्तु ऐसा निर्णय लेने पर इस वाक्य से 'कर्त्तव्यार्थ' का बोध नहीं होगा। क्योंकि 'लिङंश' के साथ 'न' का अन्वय होने पर यह 'प्रवर्त्तना के विरोधी 'निवर्तना' का बोधक होगा। परन्तु निवर्तना का 'कर्त्तव्यार्थ' में अन्वय नहीं हो सकता। अतः धात्वर्थ (=ईक्षण) के साथ ही 'न' का अन्वय ठीक है इस तरह धात्वर्थ के साथ अन्वित होने पर 'ईक्षणाभावः' (=अनीक्षण) अर्थ का बोधक होगा। परन्तु प्रकृत सन्दर्भ यह अर्थ थी अभीष्ट सम्पादन नहीं करता क्योंकि 'अनीक्षण; अभावमात्र का बोधक होने से 'कर्त्तव्यार्थ' का ज्ञापक नहीं होगा। इस विषम परिस्थिति से मुक्त होने का उपाय निर्देश करते हुये ग्रन्थकार ने कहा है–

'तस्मात् नेक्षेत' इत्यत्र नञ धात्वर्थविरोध्यनीयक्षणसंकल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते, तस्य कर्त्तव्यत्वसंभवात्।

अर्थात् 'नेक्षेत' यहाँ पर 'नञ्' से धात्वर्थ विरोधी अनीक्षण संकल्प का ही 'लक्षणा' द्वारा प्रतिपादन होता है एवं अनीक्षण संकल्प का तब कर्त्तव्य अर्थ सम्भव है।

आशय यह है कि–'लक्षणा' का आश्रय 'मुख्यार्थबाध' होने पर ही लिया जाता है। यहाँ 'नेक्षेत' का वाक्यार्थ या मुख्यार्थ धात्वर्थ (ईक्ष्+न) है जिससे ईक्षणाभाव या अनीक्षण द्योतित होता है परन्तु 'कर्त्तव्यार्थ' का बोध इससे नहीं हो सकता। अतः मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। लक्षणा के द्वारा 'अनीक्षण संकल्प' अर्थ धात्वर्थ विरोधी भी होगा और 'क र्त्तव्यार्थ' का भी बोध करायेगा। इस प्रकार मीमांसक की दष्टि से 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' का अर्थ 'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेत्' होगा। यहाँ 'भावयेत्' पद से 'किं भावयेत्' ? की आकांक्षा होना सहज है अर्थात् आदित्यविषयक अनीक्षण के संकल्प से क्या भाव्य है ? यह प्रश्न उपस्थित होगा। इसका उत्तर इसी प्रकरण में पठित 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' वाक्य द्वारा मिलता है। इस वाक्य में 'पापक्षय रूप' फल उन स्नातकों के लिये विहित जो व्रतों का पालन करते हैं। अतः आदित्यानीक्षण संकल्परूप भावना से स्नातक पापमुक्त हो जाता है अन्यथा 'आदित्येक्षण' से उसे पाप लगता है। इस प्रकार 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' एवं 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इन वाक्यों की परस्पर आकांक्षा पूर्ति होती है और एकवाक्यता की भी सिद्धि हो जाती है।

इस प्रसंग में एक संशय यह किया जा सकता है कि ईक्ष् धात्वर्थ विरोधी दर्शनाभाव विषयक संकल्प ही नहीं है अपितु कपड़ा इत्यादि ने 'नयन पिधान' भी धात्वर्य विरोधी एवं कर्त्तव्यार्थ है अतः 'अनीक्षण' संकल्प का ही अन्वय भावना में क्यों करना चाहिये ? इसका समाधान 'तस्य कर्त्तव्यताभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात्' द्वारा ग्रन्थकार ने दिया है। सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि–यद्यपि 'पटादिना चक्षुषः पिधानम्' 'धात्वर्थ विरोधी' एवं कर्त्तव्यार्थ है परन्तु इस व्याख्या को हम इसलिये नहीं स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि उपक्रम प्रकरण में पठित 'तस्य व्रतम्' में 'व्रत' पद को 'मानस संकल्प' रूप में जाना जाता है। केवल पट से पिधानादि रूप शारीरिक क्रियामात्र इस सन्दर्भ में अभिप्रेतार्थ नहीं है। अतः यह 'कर्त्तव्य रूप में नहीं निर्दिष्ट हो सकता। क्योंकि कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्ट पदार्थ में ही भावना से अन्वित होने की योग्यता मानी जाती है। अतः नयनपिधान में योग्यता नहीं है यह स्पष्ट हो गया।

इस प्रकार सम्पूर्ण संदर्भ का तत्त्व यह है जहाँ नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय में बाधा उपस्थित होती है ऐसे स्थलों पर 'पर्युदास' के द्वारा अन्वय होता है। पर्युदास का सामान्य लक्षण यह है कि जब नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से न होकर 'सुबन्त पद' अथवा धात्वर्थ से है तो उसे 'पर्युदास' कहते हैं।

(६३) द्वितीयं 'यजतिषु ये यजामंह करोति नानुयाजेष्वि'त्यादौ। अत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणात्।

तथा हि-यद्यत्र वाक्यं नार्थे प्रत्ययार्थान्वयः स्यात्तदा अनुयाजेषु 'ये यजामहं' इति मन्त्रस्य प्रतिषेधः स्यात्, अनुयाजेषु ये यजामहं न कुर्यादिति। स च प्राप्तिपूर्वक एव, प्राप्तस्यैव प्रतिषेधात् प्राप्तिश्च 'यजतिषु ये यजामहं करोती'ति शास्त्रादेव वाच्या। शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, न तु बाधः। प्राप्तिमूलरागस्येव तन्मूलशास्त्रस्य बाधायोगात्।

न च 'पदे जुहोती'तिविशेषशास्त्रेण 'आहवनीये जुहोती'ति शास्त्रस्येव 'नानुयाजेष्वि'त्यनेन 'यजतिषु येयजामहं करोती'त्यस्य बाधः स्यादिति वाच्यम्। परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावात्। पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रानपेक्षणान्निरपेक्षत्वम्। प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्रसक्त्यर्थ 'यजतिषु येयजामह'मित्यस्यापेक्षणान्न निरपेक्षत्वम्।

विशेष :- इससे पूर्व के परिच्छेद में 'तस्य व्रतमित्युपक्रमः' के दष्टान्त द्वारा ग्रन्थकार ने यह प्रतिपादित किया कि 'नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय में क्या बाधक है ? अब 'विकल्प प्रसक्ति' रूप द्वितीय बाधक के स्वरूपपर विचार प्रकृत सन्दर्भ में किया जा रहा है।

यहाँ 'विकल्प प्रसक्ति' के कारण 'पर्युदास' का आश्रयण क्यों करना होगा इसका 'यजतिषु ये यजाददं करोति नानुयाजेषु' इस दष्टान्त के द्वारा विवेचन है।

यहाँ 'यजतिषु' से अभिप्राय है–अध्वर्युप्रैषानन्तरं क्रियमाणेषु यागेषु' एवं 'ये यजामहं करोति' का तात्पर्य है–'ये यजामहे' इति मन्त्रमुच्चारयति। अतः इस समग्र वाक्य का अर्थावबोध (१) यजतिषु ये यजामहं करोति' एवं (२) 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति'– इस रूप में करना अभीष्ट है। इस सन्दर्भ में पहला वाक्य 'यजतिषु ये यजामहं करोति' उत्सर्ग विधि रूप है और दूसरा 'अनुमान' इत्यादि अपवादरूप। यहाँ अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' पर सामान्यतः विचार करने पर 'निषेध वाक्य' का ही दष्टान्त प्रतीत होता है, जिससे 'अनुयाजेषु ये यजामहं न कुर्यात्' में नञर्थ का निवर्तना या निषेध बोध होगा। परन्तु यह भाव यहाँ नहीं है अर्थात् प्राकृत दष्टान्त में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जा सकेगा क्योंकि इस परिस्थिति में निवर्तनारूप अर्थ के चरितार्थ्य के लिये अनुयाजसंज्ञकयोगों में 'ये यजामह' मन्त्र का पाठ नहीं करना चाहिये यह स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रक्रिया में 'ये यजामह' मन्त्र का निषेध होगा। परन्तु निर्णीत सिद्धान्त यह है कि जिस पदार्थ की प्राप्ति किसी कारण से हुई रहती है उसी का निषेध होता है। यथा–'कलजभक्षण' रागतः प्राप्त होने से ही 'न कलजं भक्षयेद्' द्वारा निषिद्ध हुआ। शास्त्र प्राप्त वाक्य 'राग' से बलवत्त होता है। परन्तु 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' वाक्य में 'ये यजामहं की प्राप्ति यजतिषु ये यजामहं करोति' वाक्य द्वारा हुई है। अतः दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष है। सापेक्ष होने से वाच्य बाधक सम्बन्ध नहीं हो सकता अपितु निरपेक्ष होने पर यह स्थिति हो सकती थी अत एव कहा है–'शास्त्रयोर्हि –बाध्यबाधकभावो यत्र परस्पर निरपेक्षता' नियमतः शास्त्रप्राप्त वाक्य शास्त्रान्तर से निषेध नहीं होता अतः प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'यजतिक्षु यक यजामहं करोति' इस शास्त्र का 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' यह शास्त्रान्तर यदि निषेध नहीं करता तो इन दोनों में किस प्रकार का सम्बन्ध मानना उचित है ? इसका उत्तर शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, न तु बाधः' इत्यादि पंक्ति द्वारा दिया गया है। समाधानकर्त्ता का आशय यह है कि–जब शास्त्र द्वारा विहित पदार्थ का अन्य शास्त्र से निषेध किया जा रहा हो तो उस स्थिति में 'विकल्प' मान्य होता है निषेध की प्रसक्ति नहीं होती। विकल्प की प्राप्ति होने पर पर्युदास का आश्रय लिया जाता है जिसके द्वारा 'नञर्थ' से 'धात्वर्थ' का अन्वय नहीं होता। अतः यह कहा गया है कि विकल्प की प्रसक्ति 'नञर्थ' से 'धात्वर्थ' का अन्वय नहीं होता । अतः यह कहा गया है कि विकल्प की प्रसक्ति 'न ञर्थ' से 'प्रत्ययार्थ' के अनव्य होने में बाधक है।

सिद्धान्तों के उपरिलिखित विवेचन पर पूर्वपक्षी एक दष्टांत के माध्यम से यह सिद्ध करना चाहता है कि शास्त्र प्राप्त का शास्त्रान्तर से बाध होता है विकल्प नहीं। अतः 'यजतिषु ये यजामहं....' इत्यादि के लिये भी इस नियम का उपयोग करना ठीक है। गन्थकार ने पूर्वपक्ष के ही आशय का अनुभाग करके उसका खण्डन करने हुए लिखा है 'न च 'पदे जुहोतीति.....बाधः स्यादिति वाच्यम्।'

पूर्व पक्ष के कथन का अभिप्राय यह है कि –ज्योतिष्टोम याग में सोमक्रय गाय देकर किया जाता है। शास्त्रोक्त विधि यह है कि जब यजनकर्त्ता सोमक्रय के लिये गाय लेकर निकलता है तब वह गाय के पीछे–पीछे उसके पदों पर पद रखता हुआ चलता है गाय के सातवें 'पद' पर यज्ञकर्त्ता के लिये होम करने का विधान 'सप्तमे पदे जुहोति' वाक्य द्वारा विहित है इसे ही 'पदशास्त्र' कहा जाता है। परन्तु होम को सामान्य विधि 'यदाहवनीये जुहोति', जिसे 'आहवनीयशात्र' कहते हैं, से विहित है। जैमिनीय सूत्र के 'आहवनीय बाधाधिकरण' में यह निर्णीत है कि सामान्यशास्त्र 'आहवनीये जुहोति' विशेष शास्त्र 'सप्तमे पदे जुहोति' द्वारा बाधित होता है। अतः पूर्व पक्ष के मन्तव्यानुसार 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' यह विशेषशास्त्र, 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस सामान्य शास्त्र का बाधक है। इस मन्तव्य का खण्डन परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्य–बाधक–भावात्' द्वारा किया गया है। आशय यह है कि –'परस्पर निरपेक्ष शास्त्रों में बाध्यबाधक भाव होता है' अर्थात् 'सप्तमे पदे जुहोति' इस शास्त्र की स्वार्थाभिधान के लिये विशेष 'आहवनीय शास्त्र' की अपेक्षा नहीं है अतः यह शास्त्र आहवनीये जुहोति द्वारा दी गई व्यवस्था का बाधक हो सकता है। परन्तु 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' रूपो निषेधशास्त्र, 'यजतिषु ये यजामहं करोति' पर

अपने निषेधप्रसक्ति रूपी अर्थ की प्राप्ति के लिए आश्रित है अतः यह निषेधशास्त्र निरपेक्ष नहीं है। इस प्रकार इन दोनों में बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(६४) तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। स च न युक्तः। विकल्पे शास्त्रस्य पाक्षिकाप्रामाण्यापातात्। न ह्यनुयाजेषु येयजामहमित्यस्यानुष्ठाने नानुयाजेष्वित्यस्य प्रामाण्यं संभवति, व्रीहियागानुष्ठाने यवशास्त्रस्येव। द्विरदष्टकल्पना च स्यात्, विधिप्रतिषेधयोरपि पुरुषार्थत्वात्, अतो नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्, किंतु नञेनुयाजसंबन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैव।

नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय का द्वितीय बाध 'यजतिषु 'ये यजामहं' करोति नानुयाजेषु' इत्यादि वाक्यों में दर्शनीय है। यहाँ विकल्प–प्रसक्ति होने पर, पर्युदास का आश्रय लेने से ही प्रकट होता है।

जैसे कि–यदि इस वाक्य (यजुतिषु० आदि) में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय किया जायेगा तो अनुयाजों में 'ये यजामह' मन्त्र का बाध होने लगेगा–जिसका अर्थ होगा–'अनुयाजों में 'ये यहामह' मन्त्र का उच्चारण न करना चाहिये। यह निषेध प्राप्तिपूर्वक ही है, क्योंकि बाध प्राप्त का ही होता है। यह प्राप्ति 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्रवाक्य से ही कहनी चाहिये। शास्त्रवाक्य से प्राप्त विषय का प्रतिषेध होने पर विकल्प ही माना जाता है न कि बाध। प्राप्ति के आश्रयभूत शास्त्र का दूसरे शास्त्रवचन से उस प्रकार का बाध नहीं होता है जैसा कि प्राप्ति के आश्रयभूत राग का शास्त्रवाक्य से हो जाता है।

'पदे जुहोति इस विशेष शास्त्रवाक्य से 'आहवनीये जुहोति' इस शास्त्र का जिस प्रकार बाध हो जाता है, उसी प्रकार 'नानायाजेषु' इस शास्त्रवाक्य से 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस वाक्य का बाध हो जायेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्हीं दो शास्त्र–वाक्यों में बाध्यबाधकभाव होता है जो परस्पर सापेक्ष नहीं होते। पदशास्त्र की अपेक्षा न होने से, उसमें निरपेक्षता है, किन्तु वर्तमान प्रसङ्ग में–निषेधवाक्य–नानुयाजेषु को निषेध्य–ये यजामहं'–की प्राप्ति के लिये 'यजतिषु ये यजमाइं करोति' इस वाक्य की अपेक्षा है, अतः निषेधशास्त्र निरपेक्ष नहीं है।

अतः शास्त्र से विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्रवाक्य से बाध होने पर विकल्प ही ग्राह्य होता है। यह विकल्प संगत नहीं है, क्योंकि विकल्प ग्रहण करने पर शास्त्र के एक पक्ष–अर्थात् एकशास्त्रवाक्य–में अप्रामाण्य आ जायेगा, क्योंकि 'अनुयाजेषु ये यजामंह' इसका अनुष्ठान करने पर 'नानुयाजेषु' इस वाक्य का प्रामाण्य नहीं हो सकता, जैसा कि व्रीहि से याग का सम्पादन करने पर यव के विधायक शास्त्र का होता है। विकल्प मानने पर दो अदष्टों की भी कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि विधि और प्रतिषेध दोनों ही पुरुष के लिये इष्ट हैं। अतः यहाँ प्रतिषेध का नहीं, अपितु नञ् का अनुयाज से सम्बन्ध लेकर पर्युदास का ही आश्रय अपेक्षित है।

इत्थं चानुयाजव्यतिरिक्तेषु 'यजतिषु येयजामह' इति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थबोधः, नञोनुयाजव्यतिरिक्ते लाक्षणिकत्वात्। एवं च न विकल्पः। अत्र च वाक्ये येयजामह इति न विधीयते, यजतिषु येयजामहमित्यनेनैव प्राप्तत्वात्। किंतु सामान्यशास्त्रप्राप्त-येयजामह इत्यनुवादेन तस्यानुयाजव्यतिरिक्त-विषयकत्वं विधीयते। यद्यजतिषु येयजामहं करोति तदनुयाजव्यतिरिक्तेष्विति।

नन्वेवं सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेष संकोचनरूपादुपसंहारात्पर्युदासस्य भेदो न स्यादिति चेन्न। उपसंहारो हि तन्मात्रसंकोचार्थः। यथा 'पुरोडाशं चतुर्धा करोतीति' सामान्यप्राप्तचतुर्धाकरणम् 'आग्नेयं चतुर्धा करोतीति'। विशेषादाग्नेयपुरोडाशमात्रे संकोच्यते। पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसंकोचार्थ इति ततो भेदः।

इस प्रकार 'अनुयाजों से भिन्न यागों में, 'ये यजामहे' इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये' इस वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, नञ् का अनुयाज से भिन्न अर्थ लक्षणा से होता है। इस प्रकार विकल्प नहीं होता है। इस वाक्य में 'ये यजामहे' इस मन्त्र का विधान नहीं होता, क्योंकि इसकी प्राप्ति 'यजतिषु ये 'यजामहं' करोति इस मन्त्र से होती है। अपितु सामान्य शास्त्रवाक्य से प्राप्त 'ये यजामहे' इस मन्त्र के अनुवाद द्वारा उसका विषय अनुयाज व्यतिरिक्त विहित होता है–कि –जो यागों में 'ये यजामहे' इस मन्त्र का पाठ होना चाहिये, वह अनुयाज से भिन्नों में हो।

यह बात नहीं है कि सामान्यविधायक वाक्य से प्राप्त अर्थ का विशेष में सङ्कोचरूप वाले उपसंहार से पर्युदास का भेद ही नहीं होगा। वस्तुतः विशेषमात्र में सङ्कोच करने वाला उपसंहार है–जैसे 'पुरोडाश को चार भागों में बाँटता है' यह समान्यशास्त्र से प्राप्त चार भागों में विभाजन, 'आग्नेयं चतुर्धा करोति'–अग्निदेवता से सम्बद्ध पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करता है' इस विशेष शास्त्रवाकय के कारण आग्नेय पुरोडाशमात्र में सङ्कुचित कर दिया जाता है। और पर्युदास तो उससे भिन्न में ही सङ्कोच के लिये होता है, यह उससे इसका भेद है।

कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणम्। यथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'त्यादौ। अत्र हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'त शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्य निषेधाद्विकल्पप्रसक्तावपि न पर्युदासाश्रयणम्, असंभावात्।

तथा हि-यद्यत्र षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वयस्तदातिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, स च न संभवति, अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति प्रत्यक्षविधिविरोधात्। यदि चातिरात्रेण पदार्थेनान्वयस्तदातिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, सोपि न संभवति, तद्विधिविरोधात्। अतोत्रानन्यगत्या शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्यैव निषेधः। न च विकल्पप्रसक्तिस्त-स्याप्यपेक्षणीयत्वात्।

कहीं–कहीं विकल्पप्रसक्ति होने पर भी कोई अन्य उपाय न होने से प्रतिपेध का आश्रयण किया ही जाता है। जैसे–'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति–'अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण नहीं करता'–आदि में। यहाँ 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस शास्त्र से प्राप्त षोडशिग्रहण के निषेध से विकल्पप्रसक्ति होने पर भी पर्युदास का आश्रय नहीं लिया जाता, क्योंकि वह असंभव है।

जैसे कि यदि यहाँ षोडशी पदार्थ के साथ नञर्थ का अन्वय किया जाये तो वाक्यार्थ होगा–अतिरात्र में षोडशी से भिन्न पदार्थ का ग्रहण करता है', और यह अर्थ संभव ही नहीं है, क्योंकि 'अतिरात्रे षोडशिनं गहणाति' इस प्रत्यक्षविधिवाक्य से उसका विरोध है। और यदि अतिरात्र पद के अर्थ के साथ नञर्थ का अन्वय हो तो भी अतिरात्र से भिन्न में षोडशी का ग्रहण करता है, यह वाक्य के अर्थ का बोध होगा। यह अर्थ भी संभव नहीं है, क्योंकि इसका भी पहले की साक्षात् विधि–'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'–से विरोध है। इसलिये यहाँ इस प्रसंग में और कोई उपाय न होने से शास्त्रप्राप्त षोडशी के ग्रहण का ही निषेध अभीष्ट है। यह नहीं कहना चाहिये कि यहाँ विकल्पप्रसक्ति होने से दोष है, क्योंकि उसकी भी यहाँ अपेक्षा है।

इयांस्तु विशेषो यद्विकल्पादेकप्रतिषेधेपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम् विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्। यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागत एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम्, यथा 'न कलजं भक्षये' दित्यादौ कलजभक्षणादेः, तत्र भक्षणनिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वात्।

न च 'दीक्षितो न ददाति न जुहोती'त्यादौ शास्त्रप्राप्तदानहोमादीनां निषेधाद्विकल्पापत्तिरिति वाच्यम्। स्वतःपुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वात्, यथा क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः, तन्निषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन तस्य क्रतुवैगुण्यसंपादकत्वात्।

यहाँ–वर्तमान वैकल्पिक स्थिति में–इतनी विशेषता है, कि विकल्प के कारण एक का प्रतिषेध होने पर भी निषेध्य अनर्थ का कारण नहीं बनता, क्योंकि विधि और निषेध दोनों यथार्थ ही होते हैं। जहाँ विकल्प नहीं है, प्राप्ति भी राग से ही होती है और प्रतिषेध ही पुरुषार्थ होता है, वहाँ निषेध्य अनर्थ का हेतु होता है–जैसे 'न कलंज भक्षयेत्' आदि में कलंजभक्षण आदि, क्योंकि वहाँ भक्षण का निषेध ही पुरुषार्थ है।

यह नहीं कहना चाहिये कि 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि वाक्यों में शास्त्रविहित दान, होम आदि के निषेध से विकल्प की प्राप्ति हो जायेगी, क्योंकि अपने आप में पुरुषार्थभूत दान, होम आदि के निषेध में पुरुषार्थता का अभाव होने पर भी निषेध्य की अनर्थ में कारणता है, जैसे यज्ञ में अपनी पत्नी से सहवास आदि की, किन्तु उस के निषेध की क्रत्वर्थता होने से और उसकी यज्ञ में वैगुण्य की सम्पादकता से अनर्थ का कारण बनता है।

विशेष :- अब तक की आलोचना से यह निष्कर्ष निकाला था कि 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' में 'न' का अन्वय धात्वर्य से करने पर यह निषेधवाक्य हो जाता है अतः इसमें तथा 'यजतिषु ये यजामहं करोति' में विकल्प की प्रसक्ति अपरिहार्य है, क्योंकि परस्परसाकांक्ष रहने से इनमें बाध्यबाधकभाव भी नहीं होगा। परन्तु प्रस्तुत अवतरण ग्रन्थकार विकल्प पक्ष का भी खण्डन करने में दत्तावधान है। इस खण्डन में दो हेतु हैं– (१) पाक्षिकाप्रामाण्य एवं (२) द्विरदष्ट कल्पना। पाक्षिकाप्रामाण्य को सुबोध बनाने की दष्टि से ग्रन्थकार ने विकल्प का प्रसिद्ध दष्टान्त 'ब्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' दिया है। जैसे 'व्रीहि' से याग करने पर 'यव' का अप्रामाण्य होता है एवं 'यव' से याग करने पर व्रीहि का। इस प्रकार दोनों ही वाक्य वैकल्पिक रूप से अप्रमाण हो जाते हैं उसी प्रकार प्रकृत दष्टांत में भी विकल्प मान लेने पर 'ये यजामहे' जब प्रामाणिक होगा तब 'न अनुयाजेषु......करोति अप्रामाणिक होगा ओर 'नानुयाजेषु.......' को प्रामाणिक स्वीकार करने पर 'ये' यजामहे' अप्रामाणिक। इस तरह 'विकल्प' में पाक्षिक अप्रामाण्य रूप दोष सदैव रहेगा। अतः यह ग्राह्य नहीं है। द्विरदष्टकल्पना :– विकल्प मानने से 'यजतिषु ये यजामहें' इस शास्त्र में भी यह ज्ञान होगा कि अनुयाज में ये यजामह' मन्त्र के अनुष्ठान से कोई अदष्ट होता है, इस प्रकार दो अदष्टों की कल्पना करनी पड़ती है। अतएव यहाँ पर प्रतिषेध का आश्रय न करके नञर्थ के साथ अनुयाज का सम्बन्ध स्वीकार करके पर्युदास का ही आश्रयण है।

इससे पूर्व 'पर्युदास' के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार किया गया है। 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' का तात्त्विक अर्थ यह माना गया था कि यह निषेध वाक्य पर्युदास के आश्रय से 'ये यजामहं....' इस वाक्य द्वारा विहित सामान्य शास्त्र के विधान का वस्तुतः 'संकोचन' एक विशेष स्थल में करने के लिए प्रवत्त हुआ है। परन्तु संशय यह होता है कि ठीक इसी प्रकार का संकोच 'उपसंहार' द्वारा भी किया जाता है क्योंकि उपसंहार का ग्रन्थ प्रदत्त लक्षण ही है–'सामान्यशास्त्रस्य विशेषे संकोचनम् अतः सामान्य दष्टि से पर्युदास एवं उपसंहार में भेद नहीं प्रतीत होता। परन्तु ग्रन्थकार ने इस अभिप्राय का खण्डन करके प्रकृत सन्दर्भ में 'पर्युदास' एवं 'उपसंहार' के भेदक तत्त्व पर विचार किया है।

'उपसंहार' को समझाते हुए ग्रन्थकार ने 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' एवं 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' को क्रमशः सामान्य शास्त्र एवं विशेष शास्त्र के दष्टान्त रूप उपन्यस्त किया है। दर्शपूर्ण मास में अग्नि एवं सोम तथा 'इन्द्र एवं अग्नि' देवताओं के लिए क्रमशः आग्नेय, अग्नीषोमीय, एवं ऐन्द्राग्न संज्ञक पुरोडाशों का विधान है। इस प्रसंग में 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' का पाठ है–यही सामान्य शास्त्र है परन्तु 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' यह विशेष शास्त्र 'पुरोडाश के चतुर्धाकरण रूप' विधेय का संकोच आग्नेय पुरोडाशमात्र में कर देता है इसी श्रुतार्थ के संकोच को मूलग्रन्थ में 'तन्मात्रसंकोचार्थः' कहा है। परन्तु पर्युदास इससे भिन्न है। 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' पर्युदास का दष्टान्त है। ये यजामहं का विधान 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस वाक्य द्वारा समस्त यागों के लिए किया गया है। लेकिन 'अनुयाजेषु...' आदि वाक्य 'ये यजामह' विधान को अनुयाज के अतिरिक्त यागों के लिए विहित करता है। इसको 'तदन्यमात्रसंकोच' कहा है। अतः यह पर्युदास का दष्टान्त माना गया है।

पर्युदास एवं उपसंहार के भेदनिरूपण के अनन्तर ग्रन्थकार ने एक अन्य महत्त्वपमर्ण विषय की चर्चा प्रस्तुत की है। ऐसा माना जाता है कि कहीं–कहीं पर्युदास भी संभावना न होने पर 'विकल्प' होता है ओर इस तरह 'नञर्थ' से प्रत्ययार्थ का अन्वय भी किया जाता है ऐसी विशेष स्थिति में विकल्प प्रसक्ति को नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वित होने में बाधक भी नहीं माना जाता है। इस निर्णीत तथ्य को 'नातिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' एवं 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' द्वारा समझा जा सकता है। विकल्प का स्वरूप–'शास्त्र विहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव।' प्रसंगतः यह भी स्पष्ट जान लेना चाहिये कि नञर्थ के दो भेद हैं–(१) निषेध एवं (२) पर्युदास। जहाँ प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय रहेगा वहाँ निषेध अर्थ होता है एवं उत्तर पदार्थ के साथ अन्वय रहने पर 'पर्युदास' होता है। 'नातिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' में पर्युदास की संभावना नहीं है क्योंकि 'नातिरात्रे' इस दष्टान्त में नञर्थ का अन्वय 'षोडशि पदार्थ' के साथ करने से 'अतिरात्र में षोडशिभिन्न पदार्थ का ग्रहण करे' ऐसा वाक्यार्थ होगा परन्तु इस विधान का 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णति' इस विधिवाक्य से साक्षात् विरोध होगा। इसी प्रकार नञर्थ का अन्वय 'अतिरात्र' से करने पर 'अतिरात्रभिन्न में षोडशिग्रहण करे' यह वाक्य बोध होगा। परन्तु यह भी संभव नहीं है क्योंकि इसका भी विरोध प्रत्यक्षश्रुत वाक्य 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' से हो जाएगा। अतः प्रकृत स्थल में पर्युदास का आश्रयण असंभव है। इसलिए सामान्य शास्त्र से विहित षोडशी ग्रहण का पाक्षिक निषेध होना है। अतः विकल्प प्रसक्ति को दोष न मानकर उसे स्वीकार कर लेने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। इस प्रसंग में याज्ञिक प्रक्रिया सम्बन्धित विशद विवेचन 'अर्थालोक टीका' में देखना चाहिये।

'नातिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' एवं 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' ये दोनों ही वाक्य शास्त्र प्राप्त हैं ऐसा हम पहले दे चुके हैं। नियम यह है कि शास्त्र द्वारा विहित पदार्थ का यदि शास्त्रान्तर से प्रतिषेध हो तो विकल्प की प्रसक्ति होती है। अतः इसके अनुसार 'षोडशिग्रहण' में भी विधि एवं निषेध वैकल्पिक है। पूर्वपक्ष ने इसी विधान के सम्बन्ध में संशय किया है कि यदि 'षोडशी ग्रहण' में विधि एवं निषेध दोनों विहित होने से 'विकल्प' संभव है तो शास्त्र द्वारा दान एवं होम करने की विधि में, एवं 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' वाक्य से प्राप्त दान एवं होम के निषेध में भी विकल्प मानना चाहिये। परन्तु यह मन्तव्य ठीक नहीं है क्योंकि षोडशिग्रहण के उदाहरण में और पूर्वपक्ष प्राप्त उदाहरण में अन्तर है। 'षोडशि ग्रहण' में विधायकता एवं अग्रहण रूप निषेध्यता दोनों की याग के उपकारक हैं ओर यज्ञ में वैगुण्य नहीं उत्पन्न करते हैं। भाव यह है कि प्रत्येक पक्ष परस्पर विरोध न करता हुआ 'क्रत्वर्थ' होता है। अतः कहा है–'विधिनिषेधोमयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्' परन्तु कलजादि भक्षण रागतः प्राप्त है शास्त्र प्राप्त नहीं है। शास्त्र ने तो कलजादि भक्षण को अनर्थ का हेतु बतलाते हुये उसका निषेध किया है। इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि 'कलजभक्षण' की भाँति 'अतिरात्र में षोडशी ग्रहण' अनर्थकारी नहीं है।

इसी तरह दान होमादि के शास्त्र विहित होने पर भी मीमांसक सम्प्रदायानुसार दीक्षित के लिए उसका निषेध विहित है। प्रश्न यह है कि इन दोनों में 'विकल्प प्रसक्ति' क्यों नहीं है ? इसका समाधान करते हुये लिखा है–

'स्वतः पुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषर्थत्वाभावेपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुरत्वात्।'

आशय यह है कि 'षोडशि' ग्रहण की विधि एवं प्रतिषेध दोनों ही क्रत्वर्थ हैं अतः विकल्प संभव है परन्तु दान होमादि

पुरुषार्थ है। परन्तु इनका निषेध दीक्षित के लिये इस कारण विहित है क्योंकि दीक्षित द्वारा इनके अनुष्ठान से यज्ञ वैगुण्य उपस्थित होगा। इस प्रकार इनका निषेध क्रत्वर्थ माना जाता है अतः विकल्प नहीं होगा। इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने हेतु एक और दष्टांत 'न स्त्रियमुपेयात्' इस दर्शपूर्णमास प्रकरण पठित वाक्य द्वारा दिया गया है। आशय यह है कि स्वस्त्रीगमन पुरुषार्थ है जो कि शास्त्र एवं राग दोनों से ही प्राप्त है परन्तु क्रतु में स्वस्त्रीगमन अनर्थ का हेतु माना है लेकिन इससे विकल्प की प्रसक्ति नहीं सिद्ध होती। अतः यह मानना चाहिये कि निषेध वाक्य अनर्थ हेतु क्रिया की निवत्ति द्वारा ही पुरुषार्थ साधक होते हैं।

(६५) प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। तस्य च लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानम्। तथा हि-अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषेध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति, स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। आम्नायस्य हि क्रियार्थत्वात्। न चेष्टापत्तिः। 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिना सकलवेदाध्ययनं कर्तव्यमिति बोधयता सर्ववेदस्य प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं सूचयतोपात्तार्थत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः।

प्रशंसा और निन्दा में से एक का प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद है। उसका–अर्थवाद का–प्रयोजनवान् अर्थ में पर्यवसान लक्षणा से होता है। जैसे कि–अपने मुख्य अर्थ के प्रतिपादन में प्रयोजन का अभाव होने से अर्थवाद वाक्य विधेय एवं निषेध्य पदार्थों की उत्कृष्टता और अपकृष्टता का प्रतिपादन लक्षणा से कराता है। यदि अपने मुख्य अर्थमात्र का ज्ञापक होगा तो उसमें अनर्थकता की आपत्ति होगी, क्योंकि वेदों की सार्थकता क्रिया के प्रतिपादन में है। (वेदवाक्यों की अनर्थकता) अभीष्ट नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस अध्ययन के विधायक वाक्य द्वारा 'सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करना चाहिये' यह बोध कराते हुये सम्पूर्ण वेदों का प्रयोजनवत् अर्थ–धर्म–में पर्यवसान सूचित किया जाता है, यही वेद का अर्थ मान्य होने से आनर्थक्य की उपपत्ति नहीं होती।

स द्विविधः - विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादेर्विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयार्थवत्त्वम्। 'बर्हिषि रजतं न देय'मित्यादिनिषेधशेषस्य, 'सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमि'त्यादेर्निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्। न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थवादस्यार्थवत्त्वमिति वाच्यम, आलस्यादिवशादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्।

वह अर्थवाद दो प्रकार का है–विधिशेष और निषेधशेष। इनमें 'वायव्यं श्वेत०' वैभव का इच्छुक श्वेत पशु का आलम्भन वायु देवता के लिये करे–इत्यादि विधि के शेष अंश के रूप से विद्यमान "वायुर्वै०" वायु तीव्र गति वाला देवता है–आदि की सार्थकता विधेय कर्म के प्राशस्त्य का ज्ञापन कराने में है। 'बर्हिषि रजतं'–यज्ञ में रजत नहीं देना चाहिये–इत्यादि निषेध का शेष 'सोरोदीत्०'–वह रोया, जो रोया वही रुद्र की रुद्रता है–आदि वाक्यों की सार्थकता निषेध्य रजत आदि की निन्दितता के बोधन में है। यह नहीं कहना चाहिये कि प्राशस्त्य आदि बोध निरर्थक होता है, अतः अर्थवाद की भी व्यर्थता ही है' क्योंकि आलस्य आदि के कारण कर्म में प्रवत्त न हो रहे पुरुष में प्रवत्ति आदि उत्पन्न करने के कारण उसके ज्ञान की उपयोगिता है।

विशेष :- ग्रन्थ के अन्तिम भाग 'अर्थवाद' का निरूपण किया जा रहा है। अर्थवाद विधेय अर्थ की प्रशंसा करता है एवं निषिद्ध अर्थ की निन्दा। परन्तु यह मुख्यार्थ या अभिधेयार्थ द्वारा अपने तात्पर्यार्थ की अभिव्यक्ति नहीं करता अपितु शब्द की लक्षण शक्ति का आश्रय ग्रहण करता है। समस्त वेद को मीमांसक क्रियापरक मानता है क्योंकि उसके मत में यागादि क्रिया द्वारा ही इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट का परिहार किया जा सकता है। वेद के अध्ययन का विधान 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस विधिवाक्य से हुआ है। अर्थवाद भी वेद में ही अन्तर्भूत है अतः अर्थवाद को भी क्रियापरक मानना उचित है। लेकिन अर्थवाद का स्वरूप विधेय की प्रशंसा एवं निषिद्ध की निन्दा में प्रकट होता है। विधान एवं निषेध क्रिया ही होता है। अतः अर्थवाद वाक्य परम्परया क्रियापरक अर्थात् धर्मपरक होते हैं अतः अर्थवाद वाक्यों को निरर्थक नहीं मानना चाहिये। ये दो भेद होते हैं–(१) विधिशेष एवं (२) निषेध शेष।

अर्थवाद के पहले भेद की 'विधि शेष' संज्ञा है क्योंकि यह विधेय अर्थ की प्रशंसा द्वारा विधिवाक्य का पूरक माना जाता है। महर्षि जैमिनि ने लिखा है–'विधिना स्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यधेन विधीनां स्यु' अर्थात् विधि एवं अर्थवाद (=विधिशेष) की एक वाक्यता मानी जाती है क्योंकि दोनों मिलकर एक समग्रवाक्य की रचना करते हैं। अतः 'अर्थवाद' को विधि शेष कहना उचित है। इसी पद्धति से निषेध वाक्य की पूर्णता हेतु निन्दापरक अर्थवारों की उपयोगिता भी असंदिग्ध है।

विधि शेष का उदाहरण है 'वायुर्वक्षेपिष्ठा देवता'। इसकी 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' विधिवाक्य से एकवाक्यता होती है। यहाँ 'वायुर्वै.....' इत्यादि अर्थवाद से प्रशंसा की गई है जिससे यह लक्षणा द्वारा विदित होता है कि वायुर्देवता शीघ्रगामी है अतः वह ऐश्वर्य भी शीघ्र ही प्रदान करता है। इसको सुनकर अधिकारी व्यक्ति की प्रवत्ति होना स्वाभाविक है।

निषेध वाक्य का दष्टान्त 'वर्हिषि रजतं न देयम्' है। रजतदान की निन्दा 'सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रूद्रत्वम्' इस निन्दापरक अर्थवाद से हुई है। आशय यह है कि रजतदान करने से व्यक्ति को दुःख प्राप्ति होती है उसी का लाक्षणिक प्रयोग 'रुदन क्रिया' द्वारा ज्ञात हो रहा है। अतः निषिध्यमान रजत दानादि निन्दा का ज्ञान हो जाने पर बुद्धिमान व्यक्ति इस प्रकार के दान से निवत्त हो जाता है अतः रोदनादि रूप अभीष्ट प्रसंग से भी उसकी मुक्ति हो जाती है।

अर्थवादस्य भेदत्रयम्

(६६) स पुनस्त्रेधा। तदुक्तम्-'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' इति। अस्यार्थः- प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः, यथा 'आदित्यो यूप' इत्यादिः। यूप आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते। प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोर्थवादोनुवाद, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजमि'ति, अत्र हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात्। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थ-बोधकोर्थवादो भूतार्थवादः, 'यथा इन्द्रो वत्राय वज्रमुदयच्छ'दित्यादिः।

वह अर्थवाद प्रकारान्तर से तीन प्रकार का होता है—वह कहा गया है—कथित विषय का प्रमाणान्तर से विरोध होने पर 'गुणवाद' होता है, प्रमाणान्तर से विषय के ज्ञात होने पर 'अनुवाद' और विरोध तथा समर्थन दोनों न होने पर भूतार्थवाद होता है। इस प्रकार अर्थवाद तीन प्रकार का माना गया है। इसका अर्थ यह है कि—दूसरे प्रमाण से विरोध होने पर गुणवाद नाम का अर्थवाद होता है। जैसे—'आदित्यो यूपः'—यज्ञस्तम्भ सूर्य है—आदि में। यूप में आदित्य का अभेद प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने के कारण इस वाक्य से लक्षणा द्वारा उसका आदित्य के सदश उज्ज्लत्व गुण प्रतिपादित किया जा रहा है। दूसरे प्रमाण से ज्ञात पदार्थ का ज्ञापक अर्थवाद 'अनुवाद' है—जैसे—'अग्निर्हिमस्य०' आदि—अग्नि ठंडक की दवा है—वाक्य। यहाँ प्रतिपादित हिमविरोधित्व का ज्ञान अग्नि में प्रत्यक्षप्रमाण से ही अवगत हो जाता है। दूसरे प्रमाण से होने वाले बाध और बोध दोनों से रहित विषय का ज्ञापक अर्थवाद 'भूतार्थवाद' है। जैसे "इन्द्रो०"—'इन्द्र ने वत्र को मारने के लिये वज्र उठाया' आदि।

विशेष :- अर्थवाद का प्रथम विभाजन विधि और निषेध के आधार पर हुआ। यहाँ अन्य प्रमाणों से प्रतिपादकता के आधार पर उसको तीन प्रकार का बताया गया है। वे तीन प्रकार हैं :—

(१) गुणवाद, (२) अनुवाद एवं (३) भूतार्थवाद।

(१) 'गुणवाद' संज्ञक अर्थवाद में प्रणिपाद्य अर्थ का किसी अन्य प्रमाण से विरोध होता है। यथा 'आदित्यो यूपः' ञमें यूप का आदित्य के साथ अभेद प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु यूप आदित्य नहीं है, यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है। इस प्रकार मुख्यार्थ भी बाधित हो रहा है। अतः अर्थावबोध के लिए लक्षणा का आश्रय लेकर यूप का, "उज्ज्वलत्वादिगुणयोगेनादित्यात्मकत्वं" अर्थात् आदित्य की तरह यूप भी उज्ज्वलत्वादि गुण सम्पन्न है, अर्थ करना पड़ता है।

(२) 'अनुवाद' नामक अर्थवाद में किसी अन्य प्रमाण से अर्थ का बोध होता है। प्रतिपाद्य विषय में केवल उसका 'अनुवाद' मात्र रहता है। इसका दष्टान्त है अग्निर्हितस्य भैषजम्' यहाँ प्रत्यक्षतः पहले से ही सिद्ध है कि अग्नि शैत्य की औषधि है। इसी पूर्वज्ञात विषय का प्रकाशन इस उदाहरण में किया गया है अतः 'अनुवाद' कहा जाता है।

(३) 'भूतार्थवाद' संज्ञक अर्थवाद में 'भूतार्थ' शब्द से पहले घटित किसी यथार्थ वस्तु के ज्ञापन से है। इस प्रकार प्रतिपादित अर्थ से 'गुणवाद अर्थवाद' की भाँति किसी प्रमाणान्तर से विरोध नहीं होता अतः ग्रन्थकार ने इसका लक्षण करते हुए कहा है—

'प्रमाणान्तरविरोधत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोर्थवादो भूतार्थवादः।'

यहाँ एक बात और ध्यातव्य है। अर्थवाद के तीन भेदों का निरूपण करने वाली कारिका में भूतार्थवाद के लक्षण प्रतिपादनप्रसंग में 'तद्धानात्' का प्रयोग है। इसका अर्थ 'विरोध—अवधारित—हानात्' अर्थात् प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकः है। 'इन्द्रो वत्राय वज्रमुदयच्छत्' भूतार्थवाद का उदाहरण है। कहीं भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे इस कथन का विरोध हो। अतः प्रमाणान्तर अविरोध है। एवं ऐसा भी प्रमाण नहीं है जिससे समर्थन हो सके। अतः 'प्रमाणान्तर व धारण' भी नहीं हो सकता। इसलिये इन दोनों के अभाव में उद्धत वाक्य को भूतार्थवाद का दष्टान्त माना गया है।

(६७) एवं च 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिनिखिलवेदस्य साक्षात्परम्परया वा यागादिधर्मप्रतिपादकत्वं सिद्धम्। सोयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः, 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणमि'ति भगवद्गीतास्मतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनादिति शिवम्।।

बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।

रचितोयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः।।

इति श्रीमहामहोपाध्यापलौगाक्षिभास्करविरचितपूर्वमीमांसार्थसंग्रहनामकं प्रकरणं समाप्तिमगात्।

इस प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि समस्त वेद की साक्षात् अथवा परम्परया यागादि धर्म की प्रतिपादकता सिद्ध होती है। वही यह धर्म जिसको लक्ष्य करके विहित होता है, उसी के लिये किया जाता हुआ उसका हेतु बनता है। ईश्वर को अर्पित करने की भावना से सम्पन्न किया जाता हुआ याग मोक्ष का साधन होता है। उसकी अर्पण करने की भावना से अनुष्ठान–सम्पादन को सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की कमी नहीं है। क्योंकि भगवद्गीतारूपी स्मति में ही–जो करते हो, जो खाते हो, जो होम करते और जो दान देते हो, और जो तपस्या करोगे, उसे, हे अर्जुन ! तुम मुझे अर्पित कर दो। आदि वाक्य प्रमाण है। मीमांसासूत्र के स्मतिपाद (१।३) में स्मति की प्रामाणिकता श्रुतिमूलक होने से व्यवस्थित है। जैमिनि–प्रतिपादित विषयों का संकलन अर्थसंग्रह संक्षेप में बालकों के बोध के लिये बुद्धिमान भास्कर ने किया।

विशेष :- विधि, मन्त्र, नामधेय निषेध एवं अर्थवाद रूप में वेद पाँच भागों में विभक्त है। इनका क्रमशः निरूपण पिछले विभागों में किया गया है। लौगाक्षिभास्कर ने इन पंक्तियों में अपने ग्रन्थ का उपसंहार किया है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने लायक बात है कि मीमांसा दर्शन के प्रथम सूत्र 'अथातो धर्म जिज्ञासा' के अनन्तर ही 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' इस द्वितीय सत्र द्वारा महर्षि जैमिनी ने धर्म के स्वरूप का निरूपण किया है। इस सूत्र को ही आधार मानकर अर्थसंग्रहकार ने 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवान् अर्थः यागादिः: धर्म लिखा है। पुनः वेद का प्रतिपाद्य विषय की दष्टि से उपरिलिखित पाँच भागों में विभाजन किया गया। आशय यह है कि इनके द्वारा भी प्रतिपादित यागादि धर्म होगा। इनमें से कुछ साक्षात् और कुछ परम्परा से वेदविहित यागादि रूप धर्म के प्रतिपादक हैं।

धर्मानुष्ठान से फलप्राप्ति आवश्यक रूप से होती है। जिसकी प्राप्ति के लिये यागादि किया जायेगा वह भी अवश्य फल मिलेगा। यदि अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है तो इसे श्रेष्ठ मानकर इससे मोक्ष प्राप्तिरूपी फल बताया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में भगवद्गीता का वचन उद्धत किया गया है। श्रीमद् भगवद्गीता की गणना स्मतियों में है और स्मत्यधिकरण में जैमिनि प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार वेदमूलक होने से इनका भी प्रमाण माना गया है।

वेदान्तसार

भूमिका

'वेदान्त' का अर्थ :–'वेदान्त' का शाब्दिक अर्थ है 'वेदों का अन्त'। आरम्भ में उपनिषदों के लिए 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग हुआ किन्तु बाद में उपनिषदों के सिद्धान्तों को आधार मानकर जिन विचारों का विकास हुआ, उनके लिए भी 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग होने लगा। उपनिषदों के लिए वेदान्त' शब्द के प्रयोग के प्रायः तीन कारण दिये जाते हैं :–

(१) उपनिषद् 'वेद' के अन्त में आते हैं। 'वेद' के अन्दर प्रथमतः वैदिक संहिताएँ–ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व आती हैं और इनके उपरान्त ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आते हैं। इस साहित्य के अन्त में होने के कारण उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं।

(२) वैदिक अध्ययन की दष्टि से भी उपनिषदों के अध्ययन की बारी अन्त में आती थी। सबसे पहले संहिताओं का अध्ययन होता था। तदुपरान्त गहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर यज्ञादि गहस्थोचित कर्म करने के लिए ब्राह्मण–ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ती थी। वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर आरण्यकों की आवश्यकता होती थी, वन में रहते हुए लोग जीवन तथा जगत् की पहेली को सुलझाने का प्रयत्न करते थे। यही 'उपनिषद् के अध्ययन तथा मनन की अवस्था थी।

ञ(३) उपनिषदों में वेदों का 'अन्त' अर्थात् वेदों के विचारों का परिपक्व रूप है। यह माना जाता था कि वेद–वेदांग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी बिना उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त किये हुए मनुष्य का ज्ञान पूर्ण नहीं होता था।

आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार 'वेदान्त' पद का तात्पर्य है–वेदादि में विधिपूर्वक अध्ययन, मनन तथा उपासना आदि के अन्त में जो तत्त्व जाना जाये उस तत्त्व का विशेष रूप से यहाँ निरूपण किया गया हो, उस शास्त्र को 'वेदान्त' कहा जाता है।

वेदान्त का साहित्य :– जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'वेदान्त' शब्द मूलतः उपनिषदों के लिए प्रयुक्त होता था। अलग–अलग संहिताओं तथा उनकी शाखाओं से सम्बद्ध अनेक उपनिषद् हमें प्राप्त हैं। जिनमें प्रमुख तथा प्राचीन हैं – ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बहदारण्यक। इन उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों में काफी कुछ समानता है किन्तु अनेक स्थानों पर विरोध भी प्रतीत होता है। कालान्तर में यह आवश्यकता अनुभव की गई कि विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों में समन्वय स्थापित कर सर्वसम्मत उपदेशों का संकलन किया जाये। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना की जिसे वेदान्त सूत्र, शारीरकसूत्र, शारीरकमीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है। इसमें उपनिषदों के सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षेप में, सूत्र रूप में संकलित किया गया है। अत्यधिक संक्षेप होने के कारण सूत्रों में अपने आप में अस्पष्टता है और उन्हें बिना भाष्य या टीका के समझना सम्भव नहीं है। इसीलिए अनेक भाष्यकारों ने अपने–अपने भाष्यों द्वारा इनके अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया किन्तु इस स्पष्टीकरण में उनका अपना–अपना दष्टिकोण था और इसीलिये उनमें पर्याप्त मतभेद है। प्रत्येक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि उसका भाष्य ही ब्रह्मसूत्रों क वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण करता है। फलतः सभी भाष्यकार एक–एक वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक बन गये। इनमें प्रमुख है शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्व का द्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद तथा वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद। इन भाष्यों के अनन्तर इन भाष्यों पर टीकाएँ तथा टीकाओं पर टीकाओं का क्रम चला। अपने–अपने सम्प्रदाय के मत को पुष्ट करने के लिए अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना हुई, जिनसे वेदान्त का साहित्य अत्यन्त विशाल हो गया।

वेदान्त की परम्परा का अन्तिम अध्याय सदानन्द योगी ने वेदान्त दर्शन में वेदान्तसार के रूप में जोड़ा। १६वीं शताब्दी में रचित 'वेदान्तसार' वेदान्त के सिद्धान्तों में सरलता से प्रवेश करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस दष्टि से यह सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है।

२. लेखक तथा ग्रन्थ-परिचय :– वेदान्तसार के लेखक : सदानन्द योगीन्द्र सरस्वती हैं। इनके शिष्य कृष्णानन्द सरस्वती थे जिनके शिष्य नसिंहसरस्वती ने वेदान्तसार के ऊपर सुबोधिनी नामक टीका लिखी थी। सुबोधिनी के लिखे जाने का समय शक सम्वत् १५१० अर्थात् १५८८ ई० है। अतः सदानन्द अवश्य ही इस तिथि के पूर्व हुए होंगे। सदानन्द ने १३८६ ई० के बाद तथा १५८८ ई० के पूर्व हुए। सम्भवतः उनका समय पन्द्रहवीं श० ई० का उत्तरार्ध या सोलहवीं श० ई० का आरम्भ था।

सदानन्द के गुरु, जैसा कि उनके मंगलाचरण से प्रकट होता है, अद्वयानन्द सरस्वती थे। सदानन्द स्वयं भी 'सरस्वती' उपाधि से विभूषित थे। यह उपाधि शांकर–वेदान्त के संन्यासियों की दस उपाधियों में से एक सम्मानित उपाधि है। इस उपाधि से विभूषित संन्यासियों में अद्वैतसिद्धि के लेखक मधुसूदनसरस्वती तथा ब्रह्मानन्दीयम् के लेखक ब्रह्मानन्दसरस्वती जैसे विद्वान् हुए थे। सदानन्द स्वयं भी अत्यन्त विद्वान् थे। उनके वेदान्तसार द्वारा हमें अद्वैत–वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों, उदाहरणतः गौडपाद, शंकर, पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वराचार्य, वाचस्पतिमिश्र, श्रीहर्ष तथा विद्यारण्य के सिद्धान्तों में प्रवेश प्राप्त होता है। इन सभी के सन्दर्भ हमें वेदान्तसार में प्राप्त होते हैं। अतः यह निश्चित है कि सदानन्द ने इन सभी आचार्यों की कृतियों का अध्ययन किया होगा। इससे अधिक कुछ वेदान्तकार के रचयिता के विषय में ज्ञात नहीं होता।

वेदान्तसार के मूल-स्त्रोत :– वेदान्तसार के रचयिता ने अपने ग्रन्थ के लेखन में प्रायः सभी पूर्ववर्ती प्रमुख अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों का आश्रय लिया है। इनके आश्रित ग्रन्थों में सर्वप्रमुख हैं शंकराचार्य का शारीरकभाष्य जिनके सिद्धान्तों के आधार पर इसका मूल ढांचा खड़ा है। उपनिषदों को भी विशेष रूप में, माण्डूक्योपनिषद् को आश्रय बनाया गया है जहाँ से श्रुति–प्रमाण के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वेदान्त मनीषियों के उद्धरण भी बहुलता से दिये हैं।

वेदान्तसार का महत्व :– अद्वैत–वेदान्त अपने आप में एक गूढ़ विषय है। अद्वैत–वेदान्त के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है जिन्होंने वेदान्त के सिद्धान्तों का विकास कर उसको एक समद्ध दर्शन का रूप दिया है। इन आचार्यों के सिद्धान्तों में प्रवेश करना कोई सरल कार्य नहीं है। वेदान्तसार के रचयिता ने इस कठिन कार्य को सुगम कर दिखाया है। अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्तों का एक समन्वित, संक्षित तथा सरल रूप हमें वेदान्तसार में प्राप्त होता है।

शैली की दष्टि से भी वेदान्तसार एक सरल तथा सम्पुष्ट ग्रन्थ है। वेदान्त के अनेक आचार्यों की कृतियों को पढ़ने पर पाठक उनके वाग्जाल में खोकर रह जाता है। वेदान्तसार में ऐसा कुछ नहीं है। लेखक ने अत्यन्त सरल शैली में केवल सम्बद्ध विषय की बात कही है। विषय तथा शैली दोनों दष्टियों से सुगम होने के कारण वेदान्तसार अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्तों को ग्रहण करने के लिए प्रवेशद्वार का कार्य करता है। बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, "वेदान्तसार को सरल विवेचन के कारण वेदान्त को पढ़ने का प्रारम्भिक क्रम कह सकते हैं।" यही इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का रहस्य है। प्रायः देशी तथा विदेशी अधिकांश विद्यालयों में अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्तों में प्रवेश पाने के लिए वेदान्तसार का उपयोग किया जाता है।

वेदान्तसार : एक प्रकरण ग्रन्थ :– वेदान्तसार को लेखक ने स्वयं एक प्रकरण–ग्रन्थ बतलाया है–'अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैरेवानुबन्धैस्त्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पथगालोचनीयाः।' प्रकरण की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है :–

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।

अर्थात् 'शास्त्र के अंश से सम्बद्ध तथा शास्त्र के (विशिष्ट) विषय के अन्दर स्थित (ग्रन्थ) को विद्वान् लोग प्रकरण नामक ग्रन्थ का भेद कहते हैं।' इस परिभाषा के अनुसार 'प्रकरण' सम्पूर्ण शास्त्र के विषय से सम्बद्ध न होकर उसके किसी विशिष्ट विषय से सम्बद्ध होना चाहिए। 'प्रकरण' शब्द जब ग्रन्थ के अंग के अर्थ में आता है तब तो सदैव ऐसा ही होता है किन्तु जब यह स्वतन्त्र ग्रन्थ के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो हम सदैव उसमें शास्त्र के एक ही विषय का विवेचन प्राप्त नहीं करते। कुछ प्रकरण तो अवश्य ऐसे पाये जाते हैं जहाँ शास्त्र के एक ही विषय का निरूपण है, जैसे शंकराचार्यकृत 'पचीकरणप्रक्रिया', किन्तु अधिकांश प्रकरण–गन्थ ऐसे हैं जिनमें शास्त्र के सम्पूर्ण विषयों का संक्षेप में विवेचन है। न्याय–वैशेषिक के सप्तपदार्थी, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा आदि ग्रन्थ ऐसे ही हैं। वेदान्त के भी वेदान्तपरिभाषा वेदान्तसार आदि ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं। वेदान्तसार में अद्वैत–वेदान्त के सभी विषयों का संक्षिप्त निरूपण हमें प्राप्त होता है, इसी अर्थ में इसे प्रकरण–ग्रन्थ कहा जा सकता है।

प्रमुख विवेचनीय विषय

१. **अनुबंध-चतुष्टय**
२. **आत्मा विवेचन**
३. **अज्ञान विवेचन**
४. **ईश्वर**
५. **जीव विवेचन**
६. **जीवन और ईश्वर का सम्बन्ध**
७. **अध्यारोप तथा सष्टि प्रक्रिया**
८. **महावाक्य विवेचन**

९. समाधि विवेचन

१०. बन्धन तथा मोक्ष

१. अनुबंध-चतुष्टय

वेदांतसार के रचयिता ने मंगलाचरण के तुरंत बाद 'अनुबंध–चतुष्टय' अर्थात् चार अनुबंधों को बतलाया है। 'अनुबंध' का शब्दार्थ होता है 'साथ बँधा हुआ' या 'निरंतर साथ रहने वाला' अथवा 'निमित्त'। किसी शास्त्रीय ग्रंथ के अध्ययन के पूर्व चारों अनुबंधों का ज्ञान आवश्यक होता है, अतः इनको ग्रंथ के निरंतर साथ रहने वाला या निमित्त माना जा सकता है। किसी ग्रन्थ के अध्ययन के पूर्व प्रायः हमें यह जिज्ञासा होती है कि इस ग्रंथ को पढ़ने का 'अधिकारी' कौन है, इस ग्रंथ का 'विषय' क्या है, ग्रंथ तथा विषय में क्या 'संबंध' है, तथा ग्रंथ के अध्ययन का 'प्रयोजन' क्या है। ये चारों – अधिकारी विषय, संबंध तथा प्रयोजन ही अनुबंध–चतुष्टय कहलाते हैं।

अधिकारी – वेदांत दर्शन के अधिकारी होने के लिए बतलायी गयी आवश्यकताओं को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :–

(१) पहली आवश्यकता यह है कि वह 'प्रमाता' हो। 'प्रमाता' का शाब्दिक अर्थ होता है 'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' से युक्त। मनुष्यों में प्रत्येक मनुष्य इसका अधिकारी नहीं होगा, वही मनुष्य होगा जिसमें नीचे दी जाने वाली अन्य विषेशताएँ पायी जाती हों, और उस स्थिति में वह 'प्रमाता' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान वाला' हो जायेगा।

(२) जिसने वेद तथा वेदांगों का विधिपूर्वक, अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि का पालन करते हुए गुरु के द्वारा, अध्ययन करके उनके अर्थ को सामान्यतः ग्रहण कर लिया है। किंतु यहाँ शंका हो सकती है कि वेद में उपनिषद् भी आ जाते हैं जिनके अध्ययन और अर्थ के ग्रहण से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जायेगी और फिर उसके लिए वेदांतसार आदि ग्रंथ पढ़ने का कुछ प्रयोजन नहीं होगा। इस शंका का उत्तर यह है कि वेद और वेदांगों के अध्ययन से जीव को जो ज्ञान होगा वह 'सामान्य' ही होगा। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का किताबी ज्ञान सदैव 'परोक्ष' होता है, जबकि मोक्ष की प्राप्ति 'साक्षात् अनुभूति' द्वारा होती है। वेद–वेदांगों के अध्ययन से वह परोक्ष ज्ञान तो हो जायेगा किंतु उसके बाद वेदांत के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आदि के द्वारा साक्षात् अनुभूति के होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी। किंतु इस 'साक्षात्' ज्ञान के लिए पहले 'परोक्ष' ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिए वेदांत के अध्ययन से पहले वेद–वेदांगों का सामान्य ज्ञान आवश्यक है।

(३) इस जन्म में या पहले जन्म में 'काम्य' तथा 'निषिद्ध' कर्मों के त्यागपूर्वक 'नित्य', 'नैमित्तिक', 'प्रायश्चित' तथा 'उपासन' कर्मों के अनुष्ठान के सम्पूर्ण वासनाओं के नष्ट हो जाने के कारण जिसका अंतःकरण पूर्णतः स्वच्छ हो गया है।

भाव यह है कि वेदांत के अध्ययन के पहले अंतःकरण से राग आदि वासनाओं के नाश के द्वारा अंतःकरण का निर्मल होना आवश्यक है। अंतःकरण की स्वच्छता के लिए 'काम्य' तथा 'निषिद्ध' कर्मों का त्याग आवश्यक है। 'काम्य' से तात्पर्य है ऐसे कर्म जो किसी इष्ट की प्राप्ति के लिए किये जायें, जैसे स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ। 'निषिद्ध' कर्म उन्हें कहा जाता है जो अनिष्ट के साधन हों, और इसलिए शास्त्र ने जिनका निषेध किया हो। उदाहरणार्थ ब्राह्मण–हत्या जो 'नरक' रूप अनिष्ट को प्राप्त कराती है। 'नित्य' कर्म उन्हें कहा जाता है जिन्हें नित्य करना आवश्यक हो जैसे संध्यावंदन आदि। ऐसे कर्मों के करने से कुछ लाभ तो नहीं होता किंतु न करने से हानि होती है। विशेष निमित्त अर्थात् कारण से या विशेष अवसर पर होने वाले कर्म 'नैमित्तिक' कहलाते हैं, जैसे पुत्र जन्म के कारण होने वाला जात–कर्म संस्कार। यह नित्य न होकर किसी अवसर–विशेष पर ही होगा। 'प्रायश्चित' से तात्पर्य ऐसे कर्मों से है जो किसी पाप–कर्म करने से होने वाले पाप से मुक्त होने के लिए किया जाये। शास्त्रों द्वारा बताये गये कर्मों को न करने से तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों के करने से पाप होता है। इस प्रकार के पाप से बचने के लिए शास्त्रों ने कुछ विशेष कर्मों का विधान किया है जिन्हें 'प्रायश्चित' कहा जाता है। 'उपासन' कर्म से तात्पर्य है ऐसा मन का व्यापार जिसमें मन को सगुण–ब्रह्म के प्रति एकाग्र किया जाये। इनमें नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित कर्मों के करने से मन शुद्ध होता है तथा 'उपासन' कर्मों से एकाग्र होता है।

इस प्रकार के कर्मों का महत्त्व केवल मन को शुद्ध तथा एकाग्र करने के लिए है। यदि मन पहले से ही शुद्ध हो तो वेदाध्ययन के लिए इन कर्मों के त्याग या अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु मन तभी शुद्ध हो सकता है जबकि या तो उपर्युक्त कर्मो का त्याग तथा अनुष्ठान इस जन्म में किया गया हो या पूर्व–जन्म में। फलतः किसी एक जन्म में इन कर्मों का त्याग तथा अनुष्ठान आवश्यक है।

(४) जो साधन–चतुष्टय अर्थात् चार प्रकार के साधनों से संपन्न हो। ये चार प्रकार के साधन हैं –

(क) नित्यानित्यवस्तुविवेक – नित्य वस्तु अर्थात् ब्रह्म, तथा अनित्य वस्तु अर्थात् संसार आदि इन दोनों की पथक्ता का ज्ञान।

(ख) इहामुत्रर्थफलभोगविराग – इस संसार के विषयों, जैसे माला, चंदन, स्त्री आदि तथा परलोक के विषयों जैसे अमत आदि के फल के भोग के प्रति विरक्ति होना।

(ग) शमादि छः सम्पत्तियाँ – ये छः सम्पत्तियाँ हैं – शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा।

(घ) मुमुक्षुत्व – अर्थात् मोक्ष के प्रति इच्छा का होना।

उपर्युक्त सभी विशेषताओं से युक्त पुरुष वेदांत के या वेदांतसार के अध्ययन का अधिकारी होगा।

विषय – वेदांत का विषय है – जीव तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन जो शुद्ध चैतन्य के रूप में है। यही प्रमाता रूप अधिकार का 'प्रमेय' अर्थात् 'सम्यक् ज्ञान का विषय' है।

संबंध – वेदांत या वेदांतसार तथा उपर्युक्त विषय का संबंध यह है कि विषय अर्थात् जीव तथा ब्रह्म की एकता रूप जो प्रमेय है, वह 'बोध्य' है, तथा वेदांत या वेदांतसार 'बोधक' है। दोनों में बोध्य–बोधक संबंध है।

प्रयोजन – वेदांत या वेदांतसार के अध्ययन का प्रयोजन है – जीव तथा ब्रह्म की एकता से संबंधित जो अज्ञान है उसका नाश और अज्ञान के नाश से प्रमाता को अपने स्वरूप अर्थात् शुद्ध ब्रह्म के आनंद की प्राप्ति।

२. आत्मा विवेचन

'आत्मा' के स्वरूप के विषय में प्रारम्भ से ही भारतीय ग्रंथों में पर्याप्त विवाद रहा है। ऋग्वेद में हम आत्मा को 'शरीर', 'प्राणवायु', 'वस्तु के तात्त्विक स्वरूप', 'चेतन सत्ता', 'आनन्ददायक' तथा 'निजवाचक सर्वनाम' अर्थों में प्राप्त करते हैं। दार्शनिक दष्टि से यदि देखा जाये तो आत्मा शब्द जब निजवाचक सर्वनाम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा तब प्रश्न उठा होगा कि 'आत्मा' अर्थात् 'मैं' क्या है। अपने ही स्वरूप या आत्मा के विषय में जिन विचारों का विकास हुआ उनको हम प्रथमतः दो भागों में बाँट सकते हैं – एक तो चार्वाक मत जिसके अनुसार यह शरीर ही आत्मा है तथा चैतन्य केवल इसका गुण है, तथा दूसरी ओर अन्य भारतीय दार्शनिक मत जिनके अनुसार शरीर तो जड़–वस्तु है, उसमें रहने वाला चेतन तत्त्व आत्मा है।

वेदांतसार में आत्मा–संबंधी बहुत–से मत दिये गये हैं जो अतिप्राकत से लेकर माध्यमिक बौद्धों के मत तक स्थूलता से क्रमशः सूक्ष्मता की ओर बढ़ते गये हैं। अंत में इन सभी मतों का खंडन करके सदानंद वेदांत के मत का प्रतिपादन करता है। इन मतों में वेदों को प्रमाण मानने वाले आस्तिक दर्शनों के साथ वेदों को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक तथा बौद्ध रूप नास्तिक दर्शनों के मतों को भी दिया गया है और सभी के मतों के समर्थन में श्रुतियों के प्रमाण उद्धत नहीं कर सकते; यह इस ग्रंथ के रचयिता की अपनी ही कल्पना है। ग्रंथकार ने विभिन्न मतों के अनुरूप वाक्यों को श्रुति से लेकर यहाँ उद्धत कर दिया है। श्रुतियों में भी जहाँ से इन वाक्यों को उद्धत किया गया है, वहाँ इन वाक्यों का उद्देश्य आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझाना नहीं है। अतः इन मतों को पढ़कर यह नहीं समझना चाहिये कि सचमुच में श्रुति इन मतों को पुष्ट करती है, अथवा उस समय ऐसे व्यक्ति थे जो इन मतों को मानते थे। आरंभ में ग्रंथकार ने 'अतिप्राकत' मत को उद्धत किया है जिसके अनुसार पुत्र ही आत्मा है। पुत्र को प्रायः साहित्य में अपना स्वरूप माना गया है, यह माना जाता रहा है कि मनुष्य स्वयं अपने पुत्र के रूप में जन्म लेता है, इसलिए लाक्षणिक दष्टि से पुत्र को आत्मा कह दिया जाता है। किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि किसी समय ऐसा दार्शनिक मत रहा होगा जो पुत्र को आत्मा मानता होगा। इसी प्रकार 'इन्द्रिय', 'प्राण', तथा 'मन' को आत्मा मानने वाले भी कोई दार्शनिक मत प्रतीत नहीं होते। स्पष्टतः वेदान्तसार के रचयिता का उद्देश्य इस प्रकार के मतों को उद्धत करने में कोई ऐतिहासिक तथ्य देना नहीं है, अपितु स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए सभी प्रकार की सम्भावनाओं का निरूपण करके, उनके खण्डनपूर्वक अपने मत का प्रतिपादन करना है। जिन मतों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है, उनमें जहाँ नास्तविक दार्शनिक मतों के रूप में हमें प्राप्त होते हैं वे हैं–चार्वाक, योगाचार बौद्ध, प्राभाकर मीमांसक, भा मामांसक, न्याय–वैशेषिक तथा माध्यमिक बौद्ध। अब हम अद्वैत–वेदान्त के मत का निरूपण करके तुलनात्मक दष्टि से अन्य दार्शनिक मतों का निरूपण करेंगे।

अद्वैत–वेदान्त आत्मा को तात्त्विक दष्टि से ब्रह्म से भिन्न नहीं मानता। हमारे शरीर में स्थित जो आन्तरिक चेतन तत्व है, वही आत्मा है। उसे बाह्य शरीर से पथक् दिखलाने के लिए 'प्रत्यगात्मा' अर्थात् 'अन्तरात्मा' भी कहा गया है। ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण जो स्वरूप ब्रह्मा का ऊपर बताया गया है, वही स्वरूप आत्मा का भी है। वास्तव में वेदान्तसार का रचयिता आरम्भिक मंगलाचरण में जो 'अखण्ड', 'सच्चिदानन्द', 'अवाङ्मनसगोचर' तथा 'अखिलाधार' विशेषण प्रस्तुत करता है वे

आत्मा के ही हैं। इसके अनुसार आत्मा 'अखण्ड' अर्थात् सब प्रकार के भेदों से रहित है, 'सत', 'चित' तथा 'आनन्द' स्वरूप है, वाणी तथा मन का विषय नहीं है तथा सम्पूर्ण सष्टि का आधार है। अद्वैत–वेदान्त की दष्टि से आत्मा के विषय में जो ध्यान देने की बातें हैं वे निम्नलिखित हैं :–

(१) आत्मा ब्रह्म से अभिन्न तथा एक है। अनेक रूप में जो आत्मा प्रतीत होती है वह अज्ञानरूप उपाधि के कारण है। जैसे घट–आकाश घट–रूप उपाधि के कारण मूल आकाश से भिन्न तथा अनेक प्रतीत होते हैं, वैसे ही एक आत्मा अज्ञान–रूप उपाधि के कारण अनेक प्रतीत होती है।

(१) आत्मा सर्वव्यापक, निरवयव तथा कूटस्थ है। कूटस्थ से तात्पर्य है कि किसी भी प्रकार का विकार या परिवर्तन उसमें सम्भव नहीं है।

(२) आत्मा 'सत्', 'चित्' तथा 'आनन्द' स्वरूप है। 'सत्' से तात्पर्य है कि वह त्रिकाल–अबाधित है, कभी उसका नाश नहीं होता। 'चित्' अर्थात् 'चैतन्य' तथा 'आनन्द' उसका स्वभाव हैं, गुण नहीं।

(३) आत्मा 'अकर्ता' है। कूटस्थ होने के कारण उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। अतः उसमें किसी प्रकार की क्रिया का कर्ता हो सकता है, क्योंकि क्रिया–युक्त होते ही उसकी कूटस्थता समाप्त हो जायेगी। अज्ञान–युक्त होकर वह 'जीव; की स्थिति में आता है, और तभी वह 'कर्ता' बनता है।

(४) आत्मा अपने शुद्ध रूप में नित्य–मुक्त है, अतः सभी प्रकार के जन्म–मरण के बन्धनों से परे है। ये सभी प्रकार के बन्धन जीवन में होते हैं जो आत्मा का अज्ञान–युक्त रूप है।

(५) आत्मा स्वयं प्रकाशमान है। उसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं।

(६) आत्मा की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं–सिद्ध है। शंकराचार्य के अनुसार आत्मा का निराकरण करना सम्भव नहीं है क्योंकि जो उसका निराकरण करेगा वही आत्मा होगा। सभी 'आत्मा' के अस्तित्व का अनुभव करते हैं, कोई यह अनुभव नहीं करता कि 'मैं नहीं हूं'।

विभिन्न दर्शनों के आत्मा के विषय में मान्यताएं

चार्वाक-मत – अन्य दर्शनों के मतों में चार्वाक दर्शन का मत वेदान्त के मत से सबसे दूर पड़ता है। चार्वाक के अनुसार यह शरीर ही आत्मा है तथा उसमें दिखलायी पड़ने वाला चैतन्य कोई शरीर से पथक् तत्व नहीं है, केवल उसका गुण है। जैसे कत्था–चूना आदि के मिलने से पान में एक नया गुण लालिमा उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न जड़–भूतों के विशिष्ट मिश्रण से 'चैतन्य' रूपी गुण उत्पन्न हो जाता है। शरीर के नाश के साथ–साथ यह भी नष्ट हो जाता है। न यह मत वेदान्त के समान आत्मा को शरीर से भिन्न तत्व मानता है, न उसे स्थायी मानता है।

सांख्य-मत – अन्य दर्शनों में जो मत वेदान्त के सर्वाधिक निकट है, वह सांख्य का है। सांख्य का मत कई दष्टियों से वेदान्त–मत से मिलता है। सांख्य के अनुसार भी आत्मा या पुरुष शरीर से भिन्न एक चेतन–तत्व है जो अपने शुद्ध रूप में सर्वव्यापक, कूटस्थ तथा अकर्ता है। वेदान्त के समान ही सांख्य भी आत्मा को नित्य–मुक्त मानता है, उसका बन्धन केवल उसके भ्रम के कारण है, जब वह बुद्धि आदि अचेतन तत्वों के साथ अपने को अभिन्न समझने लगता है। इसी प्रकार सांख्य वेदान्त के समान ही आत्मा का अस्तित्व स्वयं–सिद्ध मानता है। किन्तु सांख्य तथा वेदान्त के मत में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर भी हैं :–

(१) वेदान्त के अनुसार आत्मा या ब्रह्म अकेला ही सत्–तत्व है, शेष सब प्रतीति–मात्र हैं, किन्तु सांख्य जड़ प्रकति को भी सत्–तत्व मानता है।

(२) वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, जबकि सांख्य आत्माओं को अनेक मानता है।

(१) वेदान्त के अनुसार 'चैतन्य' तथा 'आनन्द' आत्मा का स्वभाव है किन्तु सांख्य चैतन्य को तो आत्मा का स्वभाव मानता है, आनन्द को नहीं। सांख्य के अनुसार 'आनन्द' एक प्रकार का ज्ञान है और अन्य ज्ञानों की भाँति बुद्धि के विकार से उत्पन्न है।

न्याय-वैशेषिक – न्याय–वैशेषिक के अनुसार नौ प्रकार के द्रव्यों (पाँच भूत, दिक् काल, मनस् तथा आत्मा) में आत्मा एक द्रव्य है। वेदान्त–मत के समान यह सर्वव्यापी तथा नित्य है। किन्तु वेदान्त–मत से इस मत में अन्तर अधिक है। प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं :–

(१) वेदान्त में आत्मा अकेला ही तत्त्व है, जबकि न्याय–वैशेषिक में पचभूत, दिश्, काल, मनस् अनेक तत्त्व माने गये हैं।

(२) वेदान्त में आत्मा 'एक' है किन्तु न्याय–वैशेषिक में प्रथमतः आत्मा को दो प्रकार का बताया गया है– जीवात्मा तथा परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर एक है तथा जीवात्मा अनेक।

(३) वेदान्त में 'चैतन्य' तथा 'आनन्द' आत्मा के स्वभाव है किन्तु न्याय–वैशेषिक इन दोनों को ज्ञान–स्वरूप मानता है और ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है। अपने शुद्ध रूप में आत्मा, न्याय–वैशेषिक मत में, चैतन्य तथा आनन्द दोनों से रहित है। ये आत्मा के आगन्तुक गुण हैं।

(४) वेदान्त आत्मा को कूटस्थ–नित्य मानता है–उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। न्याय–वैशेषिक आत्मा को नित्य तो मानता है किन्तु इसे इस मत में कूटस्थ–नित्य नहीं कह सकते। ईश्वर तो नित्य इच्छा, ज्ञान आदि से युक्त है, जीवात्मा भी शरीर, इन्द्रिय तथा मनस् से युक्त होकर इच्छा, ज्ञान, सुख–दुःख आदि से युक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में इसे पूर्णतः निर्विकार या कूटस्थ कहना सम्भव नहीं है।

(५) वेदान्त की आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता, किन्तु न्याय–वैशेषिक की आत्मा ऐसी नहीं है। ईश्वर तो साक्षात् सष्टि का कर्त्ता है ही, जीवात्मा भी शरीरादि से संयुक्त होकर कर्तत्व–भोक्तत्व से युक्त हो जाती है। वेदान्त–मत में जहाँ आत्मा का कर्तत्य–भोक्तत्व केवल प्रतीयमान है, भ्रमात्मक है, वहाँ न्याय–वैशेषिक मत में यह वास्तविक है।

(६) वेदान्त–मत में आत्मा नित्य–मुक्त है, बन्धन केवल भ्रान्ति है, किन्तु न्याय–वैशेषिक में आत्मा शरीर आदि से संयुक्त होकर वास्तव में बन्धन–युक्त हो जाती है और उनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती है।

(७) वेदान्त–मत में आत्मा को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, वह तो सभी के अनुभव का विषय है, किन्तु न्याय आत्मा को अनुमान द्वारा सिद्ध करता है।

मीमांसा-मत –मीमांसा–दर्शन में दो सम्प्रदाय हैं–भाट्ट तथा प्राभाकर। प्रथम कुमारिल भट्ट द्वारा प्रवर्तित है तथा दूसरा प्रभाकर द्वारा। प्राभाकर मत में आत्मा को न्याय–वैशेषिक की तरह नित्य–अविनाशी तथा सर्वव्यापक द्रव्य माना गया है तथा चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है। न्याय–वैशेषिक की भाँति ही यहाँ आत्मा शरीरादि से संयुक्त होकर बन्धन में पड़ती है और उनसे मुक्त होकर मुक्त होती है। अन्य बातों में भी प्राभाकर–मत न्याय–वैषेशिक के समान है। अतः इस मत की वेदान्त से तुलना में भी वही कहा जा सकता है जो न्यायवैशेषिक के साथ वेदान्त की तुलना में कहा गया है। किन्तु भाट्ट–मत में आत्मा के स्वरूप में कुछ अन्तर है। इस मत के अनुसार आत्मा को अपने स्वरूप में पूर्णतः चैतन्य नहीं कहा जा सकता, चैतन्य इसमें एक गुप्त शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है। अतः आत्मा को बोधात्मक तथा जड़ात्मक दोनों स्वीकार किया गया है। इसीलिए वेदान्तसार के रचयिता ने उसे 'अज्ञानोपहित–चैतन्य' कहा है। भाट्ट–मत की स्थिति इस दष्टि से वेदान्त तथा प्राभाकार–मत के मध्य में पड़ती है।

बोद्ध-मत – बौद्धों के चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध है : वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इनमे वैभाषिक सभी वस्तुओं के तीनों कालों के अस्तित्व को मानते हैं, अतः 'सर्वास्तवादी' कहे जाते हैं, सौत्रान्तिक बाह्य–वस्तुओं को प्रत्यक्ष–गम्य न मानकर अनुमान–गम्य मानते हैं, अतः 'बाह्यनुमेयवादी' कहे जाते हैं, योगाचार बाह्य वस्तुओं की सत्ता को विज्ञान या ज्ञान से अभिन्न मानते हैं, अतः 'विज्ञानवादी' कहे जाते हैं और माध्यमिक अद्वैत–वेदान्त के समान सभी धर्मो से रहित केवल एक तत्त्व स्वीकार करते हैं जिसे वे 'शून्य' कहते हैं, जिस कारण इनका मत 'शून्यवाद' कहा जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में बौद्धों की सामान्य स्थिति यह है कि वे शरीर–स्थित चैतन्य को आत्मा मानते हैं। किन्तु उनका यह चैतन्य सभी वस्तुओं की भाँति क्षणिक है। वह प्रत्येक क्षण नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर एक नया चैतन्य–क्षण आ जाता है। इसी प्रकार चैतन्य–क्षणें की परम्परा चलती रहती है जिसे चेतना–सन्तान कहा गया है। इसी को बौध –मत में आत्मा कहा जा सकता है। किन्तु वेदान्त की आत्मा में तथा इस चेतना–सन्तान में बहुत अन्तर है। जहाँ वेदान्त की आत्मा नित्य तथा सर्वव्यापक पदार्थ है, वहाँ यह चेतना–सन्तान न नित्य है न सर्वव्यापक है। वेदान्त की आत्मा कूटस्थ है किन्तु बौद्धों की चेतना–सन्तान हर क्षण नष्ट होने के कारण परिवर्तनशील है। बौद्धों का माध्यमिक सम्प्रदाय सैद्धान्तिक दष्टि से अद्वैत–वेदान्त के बहुत निकट है। जिस प्रकार अद्वैत–वेदान्त सब धर्मो से शून्य केवल एक तत्त्व ब्रह्य या आत्मा को मानता है, उसी प्रकार बौद्ध माध्यमिक सम्प्रदाय सब धर्मो से रहित 'शून्य' को मानता है। वेदान्त की आत्मा तथा माध्यमिक के 'शून्य' का प्रमुख अन्तर यह है कि वेदान्त 'सच्चिदानन्द' आदि कह कर आत्मा को बहुत कुछ धर्मो से युक्त बना देता है क्योंकि सत्, चित् तथा आनन्द उसके स्थायी धर्म माने जा सकते हैं, किन्तु माध्यमिक बौद्ध अपने 'शून्य' को सभी प्रकार के धर्मो से परे स्वीकार करते हैं।

जैन-मत – जैन–मत में भी आत्मा या जीव एक चेतन द्रव्य है। वह स्वभावतः अनन्त है तथा अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य तथा अनन्त आनन्द से युक्त है। किन्तु कर्मो से उत्पन्न वासनाओं के कारण वह पुद्गल अर्थात् द्रव्य को आकष्ट कर शरीर धारण करता है और जन्म–मरण के बन्धन से युक्त हो जाता है। बन्धन की स्थिति में वह कर्त्ता तथा भोक्ता है। इस स्थिति में उसका विस्तार भी शरीर के अनुरूप होता है, जितना बड़ा शरीर उतना ही बड़ा जीव। वह यद्यपि कभी नष्ट न होने के कारण नित्य है किन्तु विस्तार बदलने के कारण उसको वेदान्त की भाँति कूटस्थ नित्य नहीं कहा जा सकता। वह दीपक की भाँति स्वयं प्रकाशमान है और अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। वेदान्त में जहाँ जीव को अकेला तत्त्व माना गया है, वहाँ जैन–मत में काल, धर्म, आकाश तथा पुद्गल रूप में अन्य अनेक तत्त्वों को भी माना गया है। वेदान्त में आत्मा एक ही है किन्तु जैन–मत में जीव अनन्त हैं।

३. अज्ञान निरूपण

अज्ञान का स्वरूप – ब्रह्म अपने आप में एक निर्गुण तथा निष्क्रिय सत्ता है। इसमें किसी प्रकार का कर्तत्व अथवा विकास सम्भव नहीं। अतः ब्रह्म स्वरूपतः न तो कर्त्ता के रूप में जगत् का निर्माण का सकता है, न स्वयं जगत् के रूप में परिवर्तित हो सकता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म न तो जगत् का निमित्त कारण हो सकता है, न उपादान कारण। किन्तु जगत् की सष्टि होती है, यह हमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता ह, इसे हम एकदम से नकार नहीं सकते। इसकी व्याख्या के लिए अद्वैत वेदान्त ने अज्ञान या माया का आश्रय लिया है। यह ब्रह्म की एक शक्ति है जो ब्रह्म के समान 'सत्' न होती हुई जो कुछ है जो ब्रह्म की प्रतीति इस जगत् के रूप में कराती है। माया–युक्त ब्रह्म ईश्वर कहलाता है जो जगत् की सष्टि करता है। इस माया या अज्ञान का स्वरूप वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया है :–

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्कं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किचिदिति वदन्ति।

यहाँ अज्ञान के पाँच विशेषण बतलाये गये हैं – 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीय', 'त्रिगुणात्मक', 'ज्ञानविरोधी', 'भावरूप' तथा 'यत्किचित्'। इनसे अज्ञान या माया के स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है :–

(१) सदसद्भ्यामनिर्वचनीय – यह 'सद्' तथा 'असद्' दोनों शब्दों से अनिर्वचनीय है, अर्थात न इसे 'सद्' कहा जा सकता है, न 'असद्'। जो सद् होता है वह त्रिकाल–अबाधित होता है, तीनों कालों में कभी भी उसका नाश नहीं होता। किन्तु ज्ञान के उदय होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है, अतः इसे 'सत्' कहना सम्भव नहीं है। जो असत् होता है उसकी कभी प्रतीति नहीं होती जैसे 'वन्ध्यापुत्र' या 'शश–श्रंग'। किन्तु अज्ञान की इस जगत् के रूप में प्रतीति होती है, अतः इसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता।

(२) त्रिगुणात्मक – अज्ञान तीन गुण – सत्त्व, रजस् तथा तमस् के स्वभाव वाला है। इन्हीं त्रिगुणों के कारण इससे उत्पन्न सष्टि सुख, दुःख, मोह स्वभाव वाली है। ये गुण अज्ञान के मात्र गुण नहीं हैं, अपितु उसके अंग है, अज्ञान इन्हीं के स्वभाव वाला है।

(३) ज्ञानविरोधी–अज्ञान ज्ञान–विरोधी अर्थात् ज्ञान द्वारा नष्ट हाने वाला (ज्ञान है विरोधी जिसका) है। ज्ञान प्राप्ति पर यह समाप्त हो जाता है।

(४) भावरूप–अज्ञान को ज्ञान का अभाव नहीं केहा जा सकता,ख अपितु यह एक भावरूप सत्ता है।

(५) यत्किंचित–'सत' तथा 'असत' से भिन्न अनिर्वचनीय होने के कारण इसे यत्किंचित कहा गया है। इसका लक्षण शब्दों द्वारा बतलाना सम्भव नहीं है, अतः यही कहा जा सकता है कि यह 'कुछ' है।

तीन प्रकार की सत्ताएं–शंकराचार्य ने तीन प्रकार की सत्ताएं स्वीकार की हैं–(१) पारमार्थिक–जिसका कभी बाध नहीं होता, अतः जो 'सत्' है। यह केवल ब्रह्म है। (२) व्यावहारिक–दश्यमान संपूर्ण जगत व्यावहारिक–सत्ता है। (३) प्रातिभासिक–जिसकी केवल भ्रम के कारण प्रतीति होती है और भ्रम–निवारण पर जिसकी प्रतीति समाप्त हो जाती है, जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति या सीपी में चाँदी की प्रतीति। इन तीनों प्रकार की सत्ताओं में अन्तिम के बारे में तो हम सभी जानते हैं कि यह भ्रमात्मक है, दूसरी अर्थात् व्यावहारिक सत्ता के विषय में भी वेदान्त का कथन है कि परम ज्ञान प्राप्त होने पर जगत् की प्रतीति उसी प्रकार समाप्त हो जाती है जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति। अतः यह भी प्रातिभासिक सत्ता के समान अज्ञान से उत्पन्न है अर्थात् भ्रमात्मक है। किन्तु भ्रमात्मक होते हुए भी अद्वेत–वेदान्त अन्तिम दोनों सत्ताओं को 'असत्' नहीं मानता क्योंकि जो असत् है उसकी तो शशश्रंग के समान कभी प्रतीति ही नहीं हो सकती। जगत् तथा शुक्ति में रजत् की प्रतीति हमें होती है, अतः इनकी सत्ता है अवश्य। किन्तु यह सत्ता ब्रह्म के समान पारमार्थिक रूप से सत् नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म की सत्ता तो परम ज्ञान प्राप्त

करने के बाद भी बनी रहती है, जबकि व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ताएं ज्ञान होते ही समाप्त हो जाती हैं। 'सत' तथा 'असत' से भिन्न वस्तु हमारी समझ से परे है, इसीलिए उसे 'अनिर्वचनीय' तथा 'यत्किंचित्' कहना अधिक उपयुक्त समझा गया है।

माया या अज्ञान ब्रह्म की शक्ति होने के कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु उसे ब्रह्म का स्वभाव भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ब्रह्म सत्–चित्–आनन्द–स्वरूप वाला है और माया अनत, जड़ तथा दुःखमय है। वास्तव में ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है। यह अनादि है किन्तु ज्ञान प्राप्ति पर नष्ट हो जाती है।

अज्ञान की दो शक्तियां – माया या अज्ञान की दो प्रकार की शक्तियां स्वीकार की गयी हैं–(१) आवरण शक्ति, तथा (२) विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति के द्वारा यह वस्तु के स्वरूप को छिपा देती है। वेदान्तसार के रचयिता के अनुसार जिस प्रकार एक छोटा–सा बादल अनेक योजनों में फैले हुए सूर्य–मण्डल को देखने वाले की दष्टि को ढक कर मानो ढक देता है उसी प्रकार अज्ञान भी स्वयं सीमित होते हुए भी असीमित तथा संसरण न करने वाली आत्मा को देखने वाले की बुद्धि को ढक कर मानों ढक देता है। तात्पर्य यह है कि मेघ छोटा होता है, सूर्य अत्यन्त विस्तत, अतः मेघ सूर्य को ढक नहीं सकता। किन्तु वह द्रष्टा के दष्टि–पथ को ढक देता है जिससे द्रष्टा समझता है कि सूर्य ही ढक गया। इसी प्रकार अज्ञान सीमित है और आत्मा असीमित। अज्ञान आत्मा को ढकने में तो समर्थ नहीं है किन्तु वह द्रष्टा की बुद्धि को ढक देता है जिससे आत्मा का स्वरूप ढका हुआ प्रतीत होने लगता है। आवरण–शक्ति द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप जब ढक जाता है तो उसमें नाना रूप वाले जगत् की प्रतीति की सम्भावना हो जाती है। इस जगत् की प्रतीति को उत्पन्न कराने का काम है विक्षेप–शक्ति का, जिसके कारण एक तथा अपरिवर्तित आत्मा में नाना रूप वाली सष्टि दिखलायी पड़ने लगती है। दोनों शक्तियों को रस्सी में सर्प की प्रतीति के उदाहरण द्वारा भी समझाया जा सकता है। जैसे रज्जु–संबंधी अज्ञान आवरण–शक्ति से रज्जु के स्वरूप को ढक देता है और विक्षेप–शक्ति से उसमें सर्प की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार मायारूप अज्ञान आवरण–शक्ति द्वारा आत्मा के स्वरूप को छिपाकर विक्षेप–शक्ति द्वारा आत्मा के स्वरूप को छिपाकर विक्षेप–शक्ति द्वारा उसमें सष्टि की प्रतीति करता है।

अज्ञान, माया तथा अविद्या का अन्तर–शंकराचार्य ने 'अज्ञान', 'माया' तथा 'अविद्या' शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है किन्तु परवर्ती अद्वैत–दार्शनिकों ने इनके अर्थों में कुछ अन्तर स्थापित कर दिया। 'अज्ञान' को तो उन्होंने प्रायः सामान्य अर्थ में ही रखा किन्तु 'माया' को 'समष्टि–अज्ञान' के अर्थ में तथा 'अविद्या' को व्यटि–अज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त किया। विद्यारण्य स्वामी ने मूल अज्ञान के लिए 'प्रकति' शब्द का प्रयोग करके उसके दो रूप बताये–माया तथा अविद्या। माया उनके अनुसार ईश्वर की उपाधि है तथा अविद्या जीव की। माया शुद्ध सत्वप्रधान है तथा अविद्या मलिन सत्वप्रधान। माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर है तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव है।

वेदान्त की माया तथा सांख्य की प्रकति की तुलना–सांख्य दर्शन में स्वीकार की गयी 'प्रकति' तथा वेदान्त की 'माया', दोनों का मूल उपनिषद् है। उपनिषदों का ही आश्रय लेकर सांख्य–दर्शन ने इस जड़ सष्टि के कारण के रूप में जड़ प्रकति की कल्पना की। यह प्रकति अपने मूल रूप में अव्यक्त है तथा तीन गुणों–सत्व, रजस्, तमस्–के स्वरूप वाली है। इसके तीनों गुणों के मिश्रण से सष्टि का निर्माण होता है जो व्यक्त है। वेदान्त की माया तथा सांख्य की प्रकति में निम्नलिखित समानताएं देखी जा सकती हैं :–

(१) वेदांत की माया भी जड़ सष्टि का कारण है और सांख्य की प्रकति भी।

(२) वेदांत की माया भी त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों के स्वरूप वाली है तथा सांख्य की प्रकति भी।

(३) वेदांत की माया भी अपने मूल रूप में अव्यक्त होती है तथा सांख्य की प्रकति भी मूलतः अव्यक्त होती है।

दोनों में विषमताएँ निम्न लिखित हैं :–

(१) वेदांत की माया ब्रह्म से पथक् कोई तत्व नहीं है, उसी की शक्ति है जबकि सांख्य की प्रकति एक पथक् तत्व है।

(२) वेदांत की माया को सत् नहीं कहा जा सकता, वह सत् तथा असत् दोनों से भिन्न अनिर्वचनीय स्वरूप वाली है, जबकि सांख्य की प्रकति सत् है, एक पारमार्थिक सत्ता है।

(३) वेदांत की माया पूर्णतः जड़ है और बिना ब्रह्म की प्रेरणा के कार्य नहीं कर सकती। इसीलिए वेदांत में ब्रह्म को चैतन्य की दष्टि से सष्टि का निमित्त कारण तथा उपाधि अर्थात् अज्ञान या माया की दष्टि से उपादान कारण बताया गया

है। किंतु सांख्य में प्रकति स्वतः बिना किसी प्रेरणा के कार्य करती है। उसका सष्टि रचने का कार्य पुरुष के भोग तथा मोक्ष के लिए अवश्य है, किंतु पुरुष उसको प्रेरित नहीं करता।

४. ईश्वर

ईश्वर की आवश्यकता—यह समस्या संसार के प्रत्येक विचारक के सम्मुख रही है कि यहा जगत् कहाँ से आया। उसके पास दो ही विकल्प होते हैं, या तो वह इस जगत् को अनादि मानकर यह स्वीकार कर ले कि इसका रचयिता कोई नहीं है, या यह माने कि संसार के अन्य कार्यों की भांति जगत् भी एक कार्य है और इसका कर्ता अवश्य होगा। यदि जगत् को अनादि भी मान लिया जाये तो भी समस्या आती है कि जगत् में जो इतना सुनियोजित परिवर्तन हो रहा है वह स्वतः ही हो रहा है, अथवा इसके पीछे किसी नियोजक का हाथ है। इस प्रकार जगत् के रचयिता तथा नियामक के रूप में जिस शक्ति या व्यक्ति की कल्पना की गयी उसे ईश्वर नाम दिया गया। साथ ही उसे एक कार्य और सौंप दिया गया—जगत् का संहार करना। इस प्रकार जगत् के उत्पादक, नियामक, तथा संहर्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना आयी। किंतु जिन विचारकों ने ईश्वर की कल्पना की उन्होंने जो इसके स्वरूप का निर्धारण किया उसमें कुछ अंतर पाया जाता है।

भारतीय दर्शनों में नास्तिक दर्शन—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन तो ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, आस्तिक दर्शनों में भी मीमांसा ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। सांख्य में ईश्वर के विषय में दोनों प्रकार के मत हैं, कुछ लोग ईश्वर को स्वीकार करते हैं, कुछ नहीं करते। सांख्य का सहयोगी योगदर्शन ईश्वर को स्वीकार करता है। न्याय—वैशेषिक में ईश्वर की कल्पना निमित्त कारण के रूप में है, किंतु वेदांत इसे उपादान तथा निमित्त दोनों प्रकार के कारणों के रूप में मानता है।

अद्वैत—वेदांत में ईश्वर का स्वरूप—अद्वैत—वेदांत केवल एक पारमार्थिक तत्व 'ब्रह्म' को स्वीकार करता है जो सब प्रकार के गुणों से रहित है, साथ ही निष्क्रिय भी है। ऐसी स्थिति में उपने मूल रूप में रहते हुए वह जगत् का कर्ता नहीं हो सकता। उसको जगत् का रचयिता बनाने के लिए अद्वैत—वेदांत में 'माया' की कल्पना है, जिससे संयुक्त होकर ब्रह्म सगुण प्रतीत होने लगता है। शंकराचार्य के अनुसार—

द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबंधं निरस्तोपाधिसंबंधं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदांतेषूपदिश्यते।

'ब्रह्म दो रूपों में जाना जाता है—(एक) नामरूप रूपी विकारों के भेद रूपी उपाधि से विशिष्ट तथा (दूसरा) इसके विपरीत सब उपाधियों से रहित। इस प्रकार एक ही ब्रह्म उपाधि—संबंध—सहित तथा उपाधि—संबंध—रहित (क्रमशः) उपास्य रूप में तथा ज्ञेय रूप में वेदांत में बतलाया जाता है।'

तथा—निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रेपदिश्यते।

'निर्गुण होते हुए भी ब्रह्म उपासना के लिए जगह—जगह नाम रूप गत गुणों से सगुण बतलाया जाता है'

इस प्रकार वही ब्रह्म नाम—रूप उपाधि धारण करके सगुण बन जाता है। यही सगुण ब्रह्म उपासना का भी विषय है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की उपासना सम्भव नहीं है। इसी सगुण ब्रह्म को ईश्वर कहा जाता है जो इस जगत् का कर्ता, नियंता तथा संहर्ता है।

वेदांतसार में सदानंद विशुद्ध सत्व—प्रधान समष्टि—अज्ञान से उपहित चैतन्य को ईश्वर बतलाते हैं—

एतद् (विशुद्धसत्वप्रधानसमष्ट्यज्ञान) उपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियंतत्वादिगुणकमव्यक्तमंतर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते।

'यह (विशुद्धसत्वप्रधान समष्टि—अज्ञान) से उपहित चैतन्य सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियंतत्व आदि गुण वाला, अव्यक्त, अंतर्यामी, जगत् का कारण तथा ईश्वर कहलाता है।'

इस कथन से स्पष्ट है कि ईश्वर जगत् का कारण है, सर्वज्ञ है, सर्वेश्वर अर्थात् सबका स्वामी है, सम्पूर्ण जगत् का नियंता है, अंतर्यामी है तथा अव्यक्त है। समष्टि—अज्ञान अर्थात् सभी अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण वह 'सर्वज्ञ' है, सभी जीवों को कर्मानुसार फल देने के कारण वह 'सर्वेश्वर' है, सभी जीवों को कर्म में प्रेरित करने के कारण सर्वनियंता है, सभी जीवों के हृदय में स्थित होकर नियंत्रण करने के कारण अंतर्यामी है तथा प्रमाणों द्वारा ग्रहण न किये जा सकने के कारण अव्यक्त है।

ईश्वर विशुद्ध—सत्व—गुण—प्रधान अज्ञान से उपहित होने के कारण अज्ञान को अपने वश में रखता है जबकि जीव

मलिन–सत्व–गुण–प्रधान होने के कारण स्वयं अज्ञान के वश में हो जाता है। जीव की भाँति ईश्वर भोक्ता न होकर केवल साक्षी है। वह जीव की भँति दुःख से युक्त भी नहीं है।

अद्वैत–वेदान्त के ईश्वर में एक ध्यान देने की बात यह है कि वह इस जगत् का निमित्त कारण भी है तथा उपादान कारण भी है।

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्त स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।

('आवरण' तथा 'विक्षेप' इन) दोनों शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य अपनी प्रधानता से निमित्त (कारण) और अपनी उपाधि (अर्थात् अज्ञान) की प्रधानता से उपादान (कारण) होता है। जैसे मकड़ी (जाले के) तन्तू रूपी कार्य के प्रति अपनी (अर्थात् चैतन्य की) प्रधानता से निमित्त (कारण) और अपनी शरीर की प्रधानता से उपादान (कारण होती) है।

इस कथन से स्पष्ट है कि अज्ञान ईश्वर का शरीर–स्वरूप है और ब्रह्म उसकी चेतना–स्वरूप। यह अज्ञान परिणत होकर जगत् के रूप में आ जाता है, अतः ईश्वर को जगत् का उपादान कारण माना गया है। किन्तु अज्ञान को जगत् के रूप में परिणत होने की प्रेरणा चैतन्य से प्राप्त होती है, अतः चैतन्य की दष्टि से ईश्वर जगत् का निमित्त कारण भी है।

अद्वैत–वेदान्त के ईश्वर के विषय में एक ध्यान देने की बात यह भी है कि अद्वैत–वेदान्त में अज्ञान या माया के पारमार्थिक सत्ता न होने के कारण ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। किन्तु अद्वैत–वेदान्त व्यावहारिक दष्टि से माया तथा जगत् को सत्य मानता है, अतः ईश्वर की भी व्यावहारिक सत्ता है। जब तक जीव अज्ञान से युक्त है तब तक ईश्वरा उसके लिए है, जब वह ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, उसके लिए ईश्वर की सत्ता समाप्त हो जाती है। पारमार्थिक दष्टि से ईश्वर की सत्ता के तुच्छ होने पर भी व्यावहारिक दष्टि से अद्वैत–वेदान्त में ईश्वर को पर्याप्त महत्व दिया गया है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म तक पहुंचने के लिए सगुण ब्रह्म की उपासना को तहत्वपूर्ण माना गया है।

५ जीव निरूपण

जीव का स्वरूप–जहाँ विशुद्ध–सत्व–प्रधान समष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य या आत्मा को 'ईश्वर' कहा गया है, वहाँ मलिनसत्व–प्रधान व्यष्टि–अज्ञान से उपहित आत्मा 'जीव' कही गयी है। सष्टि–प्रक्रिया में इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शरीर की उत्पत्ति होने पर इनसे उपहित आत्मा जीव कहलाती है। शंकराचार्य के अनुसार–

'अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपंजराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी।'

अर्थात् शरीर तथा इन्द्रिय रूपी पिंजड़े को स्वामी तथा कर्म–फल से सम्बन्धित आत्मा 'जीव' नाम वाली है।'

इनसे स्पष्ट है कि शरीर तथा इन्द्रियों से युक्त होकर कर्मों के फलों का भोग करने वाली आत्मा को ही जीव कहते हैं। इन्द्रियों के साथ यहां मन तथा बुद्धि को भी लिया जा सकता है क्योंकि वे भी अन्तःकरण अर्थात् आन्तरिक इन्द्रियां हैं। परमार्थतः जीव आत्मा से भिन्न नहीं है किन्तु अविद्या–जनित उपाधि से युक्त होने के कारण भिन्न प्रतीत होने लगता है। आत्मा अपने पारमार्थिक रूप में अतीन्द्रिय चैतन्य है किन्तु जीव उसका इन्द्रिय–ग्राह्य व्यावहारिक रूप है। जीव की यह उपाधि अविद्या–जन्य होने के कारण पारमार्थिक रूप से सत् नहीं है, अतः जीव भी प्रतीयमान रूप में पारमार्थिक दष्टि से सत् नहीं है। जीव प्रमाता, कर्ता, भोक्ता तथा संसरणकर्ता है अर्थात् जगत्! के पदार्थों का ज्ञान उसे होता है, वह कर्म करता है और उनके फलों को भोगता है और इसीलिए संसरण करता है अर्थात् एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त करता है। किन्तु उसका यह जन्म, मरण आदि उसके अपने वास्तविक स्वरूप का नहीं, उसके शरीर का ही है। वह सर्वव्यापक होते हुए भी उपाधि के कारण सीमित प्रतीत होता है।

सष्टि विकास में जीव की तीन अवस्थाएं प्राप्त होती हैं–प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व। जिस समय अज्ञान अव्यक्त अवस्था में रहता है उस समय उसके व्यष्टि–रूप से उपहित चैतन्य का नाम 'प्राज्ञ' है। जीव की इस अवस्था को 'सुषुप्ति' भी कहा जाता है। इस अवस्था में वह अज्ञान की सूक्ष्म वत्तियों द्वारा आनन्द का अनुभव करता रहता है। अज्ञान जब व्यक्तावस्था में आता है तो पहले उससे सूक्ष्म या लिंग–शरीरों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयवों से निर्मित होता है जो इस प्रकार हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा मन, पाँच वायु। इस व्यष्टि–रूप सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहा जाता है। जीव की इस अवस्था को 'स्वप्न' भी कहा जाता है। जीव की इस अवस्था को 'स्वप्न' भी कहा जाता है। इस अवस्था में तैजस अपने मन की वत्तियों द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करता रहता है। सष्टि के अगले क्रम में स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है और स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य 'विश्व' कहलाता है। जीव की यह स्थिति 'जाग्रत्' कही जाती है। इस अवस्था में वह

स्थूल विषयों का अनुभव करता है।

यहां एक बात विचारणीय है। सदानन्द ने वेदान्तसार में बुद्धि को ज्ञानेन्द्रियों सहित विज्ञानमयकोश बतलाया है' और इस विज्ञानमयकोश को कर्तव्य, भेक्तत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का अभिमानी होने के कारण इस लोक तथा परलोक में गमन करने वाला व्यावहारिक जीव कहा है।

(७) जीव और ईश्वर का सम्बन्ध

अद्वैत–वेदान्त में न जीव की पारमार्थिक सत्ता है, न ईश्वर की। पारमार्थिक दष्टि से दोनों ब्रह्म हैं, अतः दोनों अभिन्न हैं। उनका भेद केवल प्रतीयमान है, केवल व्यावहारिक दष्टि से है।

ईश्वर और जीव का प्रमुख अन्तर यह है कि ईश्वर समष्टि–अज्ञान रूप उपाधि से युक्त होता है और जीव व्यष्टि–अज्ञान रूप उपाधि से युक्त। साथ ही ईश्वर की उपाधि शुद्ध–सत्व–प्रधान होती है और जीव की मलिन–सत्व–प्रधान। इसी कारण ईश्वर अज्ञान को अपने वश में रखता है, जब कि जीव अज्ञान के वश में हो जाता है। इससे दोनों के गुणों में भी अन्तर आ जाता है। ईश्वर दुःख आदि के अनुभव से रहित, स्वामित्व से युक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा पूर्ण है। वह बंधन में नहीं बन्धता अतः पाप–पुण्य के परे है। वह कर्म–फल का भोक्ता नहीं है, केवल साक्षी है। किन्तु जीव बन्धन में पड़ कर कर्म–फल का भोक्ता होता है। वह अल्पज्ञ, अल्प–शक्तिमान् तथा अपूर्ण है। कर्म–फल का भोग करने के कारण वह संसरण करता है।

सदानन्द ने वेदान्तसार में बार–बार ईश्वर तथा जीव की एकता का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार ईश्वर तथा जीव का सम्बन्ध केवल समष्टि और व्यष्टि का है। जैसे वन को समष्टि की दष्टि से वन कहते हैं, तथा व्यष्टि की दष्टि से वक्ष कहते हैं किन्तु वास्तव में वे अभिन्न हैं, उसी प्रकार समष्टि–अज्ञान तथा व्यष्टि–अज्ञान भी वास्तव में अभिन्न हैं। साथ ही जिस प्रकार वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वक्ष से अवच्छिन्न आकाश भिन्न प्रतीत होते हुए भी वास्तव में एक ही हैं, उसी प्रकार समष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य तथा व्यष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य भी वास्तव में एक हैं। सदानन्द की दूसरी उपमा के अनुसार जिस प्रकार जलों को व्यष्टि की दष्टि से जल तथा समष्टि की दष्टि से सरोवर कहते हैं, किन्तु वे एक ही हैं, उसी प्रकार व्यक्ति–अज्ञान तथा समष्टि–अज्ञान भी वास्तव में एक हैं। साथ ही जिस प्रकार जलों में प्रतिबिम्बित आकाश तथा सरोवर में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही है उसी प्रकार व्यष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य तथा समष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य भी एक है। सदानन्द की इन उपमाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि जीव तथा ब्रह्म का सम्बन्ध केवल अंश और अंशी का सम्बन्ध है। किन्तु ऐसा मानने पर जीवगत सभी दोष ईश्वर में भी मानने पड़ेंगे जो वेदान्त को स्वीकार्य नहीं है। स्वयं सदानन्द ने ईश्वर की उपाधि को विशुद्ध–सत्व–प्रधान और जीवन की उपाधि को मलिन–सत्व–प्रधान कहा है।इससे स्पष्ट है कि उपाधिगत भेद केवल अंश–अंशी का ही भेद नहीं है।

६ अध्यारोप तथा सष्टि प्र क्रिया

सष्टि–विचार का आधार श्रुति – अद्वैत–वेदान्त में जो कुछ सष्टि–विचार हुआ है उसके लिए कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया, अपितु श्रुति में बतायी गयी सष्टि प्र क्रिया की व्याख्या ही उसने की है। श्रुति के मत को वेदान्त–सम्मत प्रस्तुत करने के लिए अवश्य तर्क दिये गये है। उदाहरणार्थ शंकराचार्य विस्तार से इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि श्रुतियों में जो सष्टि–प्रक्रिया बतलायी गयी है उसमें मूल कारण चेतन ब्रह्म है, न कि अचेतन प्रकति।

अद्वैत–वेदान्त की सष्टि–प्रक्रिया का आधारभूत सिद्धान्त : अध्यारोप – अद्वैत–वेदान्त में जो भी सष्टि–प्रक्रिया बतलायी गयी है उसका मूल आधार 'अध्यारोप' है। अध्यारोप की परिभाषा देते हुए सदानन्द कहते हैं–

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोध्यारोपः।

अर्थात् 'जो सर्प नहीं है, ऐसी रस्सी पर सर्प के आरोप के समान "वस्तु" पर "अवस्तु" का आरोप अध्यारोप है।

अतः अध्यारोप केवल एक मिथ्या प्रतीति या भ्रान्ति है जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति अथवा सीपी में चाँदी की भ्रान्ति। इस अध्यारोप में हम किसी वस्तु को ऐसी वस्तु समझ बैठते हैं जो वह नहीं है। सष्टि–प्रसंग में वस्तु है 'सच्चिदानन्द स्वरूप वाला अनन्त तथा अखण्ड ब्रह्म' तथा उस पर जिसका आरोप किया जाता है वह है 'अज्ञान से आरम्भ कर सम्पूर्ण जड़–समूह'। तात्पर्य यह है कि यह सारी सष्टि ब्रह्म में केवल मिथ्या प्रतीति है, वास्तविक सष्टि नहीं। वेदान्त के शब्दों में यह ब्रह्म का 'विवर्त' है, 'परिणाम' नहीं है। 'विवर्त' उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के रूप में प्रतीत होने लगे किन्तु वास्तव में दूसरी वस्तु न बन जाये। 'परिणाम' वस्तु के वास्तव में दूसरे रूप में परिणत हो जाने को कहते हैं। वेदान्त यद्यपि पारमार्थिक दष्टि से सम्पूर्ण सष्टि को ब्रह्म का विवर्त मानता है किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि व्यावहारिक दष्टि से वेदान्त

'परिणामवाद' में भी विश्वास करता है और सम्पूर्ण सष्टि–प्र क्रिया का वर्णन ऐसे करता है जैसे यह सष्टि विवर्त न होकर परिणाम हो।

सष्टि-प्रक्रिया – अद्वैत–वेदान्त के अनुसार सारी सष्टि का मूल कारण अज्ञान से उपहित चैतन्य है। यह निमित्त कारण भी है, उपादान कारण भी। चैतन्य की दष्टि से यह निमित्त कारण है तथा अज्ञान की दष्टि से उपादान कारण। शुद्ध–चैतन्य वास्तव में अविकत करता है, जितना भी विकास होता है, सब अज्ञान में और उस विकत अज्ञान से उपहित होकर चैतन्य नाना प्रकार से सष्टि के रूप में प्रतीत होने लगता है।

अज्ञान को दो दष्टियों से देखा जा सकता है, एक समष्टि की दष्टि से अर्थात् सम्पूर्ण अज्ञान को एक रूप में, और दूसरे व्यष्टि के रूप में अर्थात् अज्ञान के अवयवों को अलग–अलग देखते हुए। इस समष्टि–अज्ञान को 'कारण–शरीर' भी कहा जाता है क्योंकि यह सम्पूर्ण सष्टि का कारण है। इसे 'आनन्दमयकोश' भी कहा जाता है क्योंकि आनन्दमय चैतन्य का आच्छादक होने के कारण यह उसके कोश के समान है। इसे सुषुप्ति भी कहा जाता है क्योंकि सम्पूर्ण सष्टि और प्रलय–काल में इसमें लीन हो जाती है। इसी कारण इसे 'स्थूलसूक्ष्मप्रपचलस्थान' कहा जाता है – क्योंकि स्थूल तथा सूक्ष्म, दोनों प्रकार की सष्टि का इसमें लय हो जाता है। इस समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य को ही 'ईश्वर' कहा जाता है जो सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियन्तत्व आदि गुणों वाला है, अव्यक्त है, अन्तर्यामी है तथा जगत् का कारण है। समष्टि–अज्ञान उत्कष्ट ईश्वर की उपाधि होने के कारण शुद्ध–सत्त्व–गुण–प्रधान माना गया है। दूसरी ओर व्यष्टि–अज्ञान जीव की उपाधि है अतः इसमें मलिन–सत्त्व–गुण अर्थात् रजस् तथा तमस् गुणों से अभिभूत सत्त्व–गुण की प्रधानता है। व्यष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य अल्पज्ञत्व तथा अनीश्वरत्व आदि गुणों वाला होता है और इसे 'प्राज्ञ' कहा जाता है। ईश्वर के समान ही प्राज्ञ के भी दूसरे नाम 'कारण–शरीर', 'आनन्दमयकोश', 'सुषुप्ति' तथा 'स्थूलसूक्ष्मप्रपचलयस्थान' हैं।

'ईश्वर' तथा 'प्राज्ञ' कारणवस्था में ही होते हैं, अभी इनमें विकार उत्पन्न नहीं होता। इनमें तमोगुण–प्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश उत्पन्न होता है आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पथिवी उत्पन्न होती है। ये पाँच सूक्ष्म भूत हैं जिन्हें 'तन्मात्र' या 'अपचीकत भूत' भी कहा जाता है क्योंकि इनमें भूत अपनी शुद्ध अवस्था में रहते हैं (तन्मात्र – तत् मात्र), इनमें अभी परस्पर मिश्रण नही होता। ये सब जड़ है अतः इनमें तमोगुण की प्रधानता होती है, यद्यपि इनके कारण में सत्त्व तथा रजस् गुण होने के कारण इनमें भी ये दोनों गुण आ जाते हैं। इन सूक्ष्म भूतों से दो प्रकार की सष्टि होती है – एक ओर तो सूक्ष्म शरीर या लिङ्.ग – शरीर उत्पन्न होते हैं, दूसरी और स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। लिङ्.ग–शरीर सत्रह अवयवों का समूह होता है। सत्रह अवयव है – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा मनस्, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथ ध्राण। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आकाशादि के सात्त्विक अंशों से अलग–अलग उत्पन्न होती हैं अर्थात् आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वचा, अग्नि से चक्षु, जल से जिह्वा तथा पथिवी से घ्राण। 'बुद्धि' अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वत्ति है तथा 'मनस्' संकल्पविकल्पात्मक। 'चित्' तथा 'अहंकार भी अन्तकरण के भाग माने गये है किन्तु इनका अन्तर्भाव बुद्धि तथा मनस् में (चित्त का बुद्धि में तथा अहंकार का मनस् में) हो जाता है। बुद्धि तथा मनस् की उत्पत्ति आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के साविक्त्क अंशों के मिले हुए रूप में होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा मनस् प्रकाशात्मक है, इनका स्वरूप है अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करना, अतः इनको सत्त्वगुण का कार्य माना गया है। बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ 'विज्ञानमयकोश' कहलाती है। बुद्धि तथा मनस् से उपहित चैतन्य कर्तत्व, भोक्तत्व, सुखितत्त्व तथा दुःखितम्व का अभिमानी होता है, अर्थात् वह यह समझता है कि इन सब कार्यो को वह स्वयं कर रहा है। सदानन्द इसे ही इस लोक तथा परलोक में गमन करने वाला 'जीव' मानते है। किन्तु वेदान्त में सामान्यतः पूरा लिङ्.ग–शरीर ही संसरण करने वाला माना गया है। मनस् ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनोमय–कोश कहलाता है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ है 'वाक्', 'पाणि', 'पाद', 'पायु' (गुदा) तथा 'उपस्थ' (जननेन्द्रिय) तथा पाँच वायु हैं प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। पाँच कर्मेन्द्रियां आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के रसज्–गुण के अंश से अलग–अलग क्रमशः उत्पन्न होती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच वायुओं के समूह को 'प्राणमयकोश' कहा गया है। ये सब क्रियात्मक हैं, अतः इनको रजोगुण का कार्य माना गया है। ऊपर बताये गये लिङ्.ग–शरीर के सत्रह अवयव तीन प्रकार के कोशों – विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश तथा प्राणमयकोश – के अन्तर्गत आ जाते हैं, अतः इन तीनों कोशों के समूह को लिङ्.ग शरीर कह सकते हैं। लिङ्.ग–शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य को 'सूत्रात्मा', 'हिरण्यगर्भ' तथा 'प्राज्ञ' भी कहा जाता है, तथा व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहा जाता है। 'सूत्रात्मा' तथा 'तैजस' इन दोनों की स्थिति 'स्वप्न' कहलाती है क्योंकि इनमें जाग्रत् अवस्था की वासनाएँ या सूक्ष्म संस्कार रहते हैं। प्रलय की प्रक्रिया में इन्हीं में स्थूल शरीर लीन होते हैं अतः इन्हें 'स्थूल–शरीरलयस्थान भी कहा जाता है। ये दोनों सूत्रात्मा तथा तैजस इस स्वप्नावस्था में मनोवत्तियों के द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते रहते है।

पचीकरण – सूक्ष्म भूतों से दूसरी ओर स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है जो पचीकरण प्रक्रिया द्वारा होती है। पचीकरण में प्रत्येक भूत का आधा अंश तो अपने में ही बना रहता है और शेष आधा अन्य चारों भूतों में बराबर–बराबर मिल जाता है। इस प्रकार प्रत्येक भूत में आधा अंश अपना रहता है तथा शेष आधे में बाकी चारों भूतों के अश आ जाते हैं। पचीकत भूत ही स्थूल भूत होते हैं। इनकी उत्पत्ति होने पर क्रमशः इनके गुण भी इनमें प्रकट हो जाते हैं – आकाश में शब्द, वायु में शब्द तथा स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप, जलों में शब्द, स्पर्श, रूप, तथा रस और पथिवी में शब्द स्पर्श, रूप, रस तथा गंध गुणों की उत्पत्ति हो जाती है।

इन स्थूल भूतों से सात ऊपर के लोक – भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य – तथा सात नीचे विद्यमान लोक–अतल, वितल, सुतल, रसाताल, तलातल, महातल तथा पाताल – उत्पन्न हो जाते हैं। ये चौदह लोक लोकालोक पर्वत, पथिवी तथा समुद्रों सहित बह्माण्ड कहलाते हैं। स्थूल भूतों से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चार प्रकार के शरीर तथा उन शरीरों के लिए भोजन तथा पेय की उत्पत्ति होती है। चार प्रकार के शरीर हैं – जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज। गर्भ से उत्पन्न मनुष्य, पशु आदि को 'जरायुज', अण्डे से उत्पन्न पक्षी, सर्प आदि को 'अण्डज', भूमि को भेदकर उत्पन्न लता, तण तथा वक्ष आदि को 'उद्भिज्ज' तथा पसीने से उत्पन्न ज ूँ, मच्छर आदि को 'स्वेदज' कहा जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण स्थूल सष्टि उत्पन्न हो जाती है। यहाँ स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को 'वैश्वानर' या 'विराट्' कहा जाता है तथा व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'विश्व' कहा जाता है। इन स्थूल शरीरों की समष्टि तथा व्यष्टि दोनों को अन्य का विकार होने के कारण 'अन्नमयकोश', कहा जाता है तथा स्थूल विषयों का अनुभव करने के कारण इन्हें 'जाग्रत्' कहा जाता है। ये वैश्वानर तथा विश्व दोनों अपने अन्तःकरण – बुद्धि, मनस्, चित्त तथा अहंकार – द्वारा स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं।

साथ ही चैतन्य की व्यष्टि तथा समाष्टि रूप में विकास–प्रक्रिया को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

शरीर-नाम	**समष्टि-नाम**	**व्यष्टि-नाम**	**सामान्य नाम**
१. कारण–शरीर	ईश्वर	प्राज्ञ	आनन्दमयकोश, सुषुप्ति, स्थूल–सूक्ष्म–प्रपचलयस्थान
२. लिंड्.ग(सूक्ष्म) शरीर	सूत्रात्मा, हिरणयगर्भ, प्राण	तैजस	कोशत्रय (विज्ञानमय़ मनोमय़ प्राणमय) स्वप्न, स्थूल–शरीरलयस्थान
३. स्थूल शरीर	वैश्वानर, विराट्	विश्व	अन्नमयकोश, जाग्रत्

अपवाद तथा प्रलय

'अध्यारोप' का उलटा 'अपवाद' है। अध्यारोप में हम 'वस्तु' पर 'अवस्तु' का आरोप करते हैं। यह आरोप एक मिथ्या ज्ञान है। इस मिथ्या ज्ञान की समाप्ति पर जब हम वस्तु को उसके वास्तविक रूप से जान लेते हैं तो वह अपवाद होता है। उदाहरण के लिए रज्जु में सर्प का ज्ञान 'अध्यारोप' है और रज्जु में सर्प का ज्ञान समाप्त होकर उसे रज्जु–रूप में जान लेना 'अपवाद' है। सष्टि–प्र क्रिया के प्रसंग में ब्रह्म पर सम्पूर्ण सष्टि का आरोप 'अध्यारोप' है तथा सष्टि के मिथ्यात्व का ज्ञान होने पर उसके प्रलय के साथ शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान होना 'अपवाद' है।

अपवाद के होने पर सष्टि के उलटे क्रम का अनुसरण कर हम शुद्ध–चैतन्य पर पहुँच जाते हैं। सबसे पहले चारों शरीर, भोजन, पेय, चौदह लोक तथा ब्रह्माण्ड अपने कारण स्थूल भूतों में लय हो जाते हैं। शब्द आदि विषयों सहित स्थूल भूत तथा सूक्ष्म शरीर अपने कारण सूक्ष्म भूतों में लीन हो जाते हैं। सूक्ष्म भूत अपने कारण अज्ञान से उपहित चैतन्य में लीन हो जाते हैं। अन्त में अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य–ईश्वर आदि – अपने आधारभूत शुद्ध चैतन्य या तुरीय चैतन्य में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध–चैतन्य मात्र की अनुभूति रह जाती है।

महावाक्य

वेदान्तसार में स्थान–स्थान पर महावाक्य का प्रसंग आया है, अतः इसको जान लेना उपयोगी होगा। वैसे भी अद्वैत–वेदान्त में महावाक्यों का अत्याधिक महत्त्व है।

महावाक्यों में प्रायः जीव तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया है या ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है। वास्तव

में उपनिषद्–ज्ञान का यही सार है। अतः इन वाक्यों के अर्थ को समझने तथा अनुभव करने से मुक्ति–प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए इन्हें महावाक्य कहा गया है।

वेदान्त में तत्त्वमसि

महाकाव्य बहुत प्रसिद्ध है जिसका विवेचन इस प्रकार है शिष्य जब गुरू के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाता है तो गुरू उसे अध्यारोप तथा अपवाद की प्रक्रिया समझाने के बाद उपदेश देता है – 'तत्त्वमसि'–'तुम वह हो' जिसमें जीव की और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन है। इस एकता के ज्ञान से वह 'अखण्ड–चैतन्य' का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किन्तु जीव और ईश्वर आपाततः पथक् हैं, उनमें एकता का ग्रहण कैसे हो सकता है? अद्वैत–वेदान्त के अनुसार इस उपदेश–वाक्य का अर्थ समझने के लिए शिष्यों को तीन प्रकार के सम्बन्धों का सहारा लेना पड़ता है :–

(१) सामानधिकरण्य (२) विशेषण–विशेष्य–भाव (३) लक्ष्य–लक्षण–सम्बन्ध।

सामानाधिकरण्य का अर्थ है समान अधिकरण अर्थात् आधार वाला होना। इस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न अर्थ वाले शब्दों का भी तात्पर्य एक ही वस्तु से सम्बद्ध किया जाता है। उदाहरणार्थ 'सोयं देवदत्तः' इस वाक्य में हमने देवदत्त नामक किसी व्यक्ति को कभी पहले देखा है और अब भी देख रहे हैं और अब देखकर हम पहचान रहे हैं कि 'यह वही देवदत्त है'। इस वाक्य में 'सः' तत्कालविशिष्ट देवदत्त का वाचक है और 'अयं' एतत्कालविशिष्ट देवदत्त का। दोनों भिन्न अर्थो के वाचक है। सामानाधिकरण्य द्वारा दोनों पदों का एक ही पिण्ड–'देवदत्त' में तात्पर्य रूप सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है – यह समझा जाता है कि दोनों पदों के अर्थों का आधार एक ही देवदत्त रूपी पिण्ड है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' 'ईश्वर' अर्थात् 'परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' का वाचक है तथा 'त्वम्' 'जीव', अर्थात् 'अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' का। सामानाधिकरण्य सम्बन्ध द्वारा 'तत्' तथा 'त्वम्' इन दोनों पदों का एक ही चैतन्य में तात्पर्य रूप सम्बन्ध हो जाता है।

विशेषणविशेष्यभाव–सम्बन्ध का अर्थ है दोनों पदों के अर्थों का एक–दूसरे के प्रति विशेषण तथा विशेष्य हो जाना। विशेषण सदैव विशेष्य में अपने से भिन्न प्रकार के पदार्थो का व्यावर्तन अर्थात् निषेध कर देता है। उदाहरणार्थ :–

जब हम कहते है कि 'यह कमल नीला है' तो इसमें 'नीला' विशेषण 'कमल' रूप विशेष्य में नीले से भिन्न रंगों का व्यावर्तन अर्थात् निषेध कर देता है। 'सोयं देवदत्तः' इस वाक्य में विशेषणविशेष्य–भाव–सम्बन्ध के द्वारा 'सः' पद का अर्थ (तत्कालविशिष्ट देवदत्त) अयम् पद के अर्थ (एतत्कालविशिष्ट देवदत्त) का विशेषण बनकर अपने विशेष्य 'अयम्' पद के अर्थ में 'सः' पद के अर्थ से भिन्न प्रकार के अर्थ का व्यावर्तन कर देता है तथा 'अयम्' पद के अर्थ में 'सः' पद के अर्थ का विशेषण बनकर अपने विशेष्य 'अयम्' पद के अर्थ में 'सः' पद के अर्थ से भिन्न प्रकार के अर्थो का व्यावर्तन कर देता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में विशेषण–विशेष्य–भाव–सम्बन्ध द्वारा 'तत्' पद का अर्थ (परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य) 'त्वम्' पद के अर्थ (अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य) का विशेषण बनकर 'त्वम्' पद के अर्थ रूप विशेष्य में अपने से भिन्न प्रकार के अर्थ का व्यावर्तन कर देता है और 'त्वम्' पद का अर्थ (अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य) 'तत्' पद के अर्थ (परोक्षत्वादिविशिष्टि चैतन्य) का विशेषण बनकर अपने विशेष्य 'तत्' पद के अर्थ में अपने से भिन्न अर्थ का व्यावर्तन कर देता है।

किन्तु अपने से भिन्न प्रकार के अर्थो का व्यावर्तन यहाँ वाक्य की अभिधा शक्ति से नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ विशेषण तथा विशेष्य अर्थो में विरोधी तत्त्व उपस्थित हैं। अतः इन विरोधी तत्त्वों के व्यावर्तन के लिए हमें लक्षणा–शक्ति का आश्रय लेकर अर्थ ग्रहण करना होता है। लक्ष्य–लक्षण–सम्बन्ध द्वारा 'सोयं देवदत्तः' इन वाक्य में 'सः' शब्द अथवा इसका अर्थ (तत्कालविशिष्ट देवदत्त) लक्षक होकर 'तत्कालविशिष्टत्व' रूप विरोधी अंश को छोड़कर अविरूद्ध देवदत्त को लक्षित करता है तथा 'अयम्' पद या इसका अर्थ (एतत्कालविशिष्ट देवदत्त) लक्षक बनकर 'एतत्काल–विशिष्टत्व' रूप विरोधी अंश का परित्याग कर अविरूद्ध देवदत्त को लक्षित करता है। इस प्रकार लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध द्वारा 'सः' तथा 'अयम्' दोनों पदों का अर्थ केवल 'देवदत्त' रह जाता है और दोनों में अभिन्नता स्थापित हो जाती है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी लक्ष्यलक्षण–सम्बन्ध द्वारा 'तत्' पद अथवा इसका अर्थ (परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य) लक्षक बनकर अपने विरोधी अंश 'परोक्षत्वादिविशिष्टत्व' का त्याग कर अविरूद्ध 'शुद्ध–चैतन्य' को लक्षित करता है और 'त्वम्' पद अथवा इसका अर्थ (अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य) लक्षक बनकर अपने विरोधी अंश 'अपरोक्षत्वादि विशिष्टत्व' का परित्याग कर अविरूद्ध 'शुद्ध चैतन्य' को लक्षित करता है। इस प्रकार यहाँ भी 'तत्' तथा 'त्वम्' इन दोनों पदों का अर्थ 'शुद्ध–चैतन्य' रह जाता है जिसमें कोई विरोध नहीं है और दोनों की अभिन्नता स्थापित हो जाती है। दोनों पदों के अर्थो की अभिन्नता ग्रहण करना ही वाक्य के अर्थ को ग्रहण करना है।

किन्तु 'लक्ष्य–लक्षण–सम्बन्ध' में हमने यहाँ जिस लक्षणा का आश्रय लिया है वह सामान्य लक्षणा नहीं, अपितु एक

विशिष्ट प्रकार की लक्षणा है जिसे 'जहदजहद्लक्षणा', 'भागत्याग लक्षणा' या संक्षेप में केवल 'भाग लक्षणा' कहा जाता है । अद्वैतवेदान्त इस बात पर जोर देता है कि हमें 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ को ग्रहण करने के लिए इस 'भागलक्षणा' को स्वीकार करना आवश्यक है, इसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। इसका कारण निम्नलिखित है—

सबसे पहले तो यह समझना आवश्यक है कि यहाँ हमे लक्षणा का सहारा क्यों लेना पड़ता है, भाषा की सामान्य शक्ति 'अभिधा' से काम क्यों नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि यहाँ सामान्य रूप से पाये जाने वाले विशेषण—विशेष्य—सम्बन्ध वाले वाक्यों के समान अर्थ नहीं निकल सकता। सामान्य विशेषण—विशेष्य—सम्बन्ध वाले वाक्यों में उदाहरणस्वरूप 'नीलमुत्पलम्' (कमल नीला है) वाक्य को लिया जा सकता है। इस वाक्य में अर्थ का ग्रहण अभिधा द्वारा तीन प्रकार से हो सकता है —

(१) अन्योन्यविशेषणविशेष्यभाव—संसर्ग — अर्थात् परस्पर दोनों पदों में विशेषण—विशेष्य—भाव रूप सम्बन्ध का होना— दोनों एक—दूसरे के प्रति विशेषण तथा विशेष्य हों। इसके अनुसार इसका अर्थ होगा 'नील से विशिष्ट उत्पल तथा उत्पल से विशिट नील'।

(२) अन्यतरविशिष्ट—अन्य — अर्थात् एक से विशिष्ट दूसरा। इसके अनुसार वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं — (१) नील से विशिष्ट उत्पल (२) उत्पल से विशिष्ट नील।

(३) तदैक्य — अर्थात् दोनों की एकता। इसके अनुसार वाक्य का अर्थ होगा 'जो नील है वही उत्पल है'। किन्तु दोनों की एकता का तात्पर्य यहाँ अखण्ड रूप से अभिन्न होना नहीं है क्योंकि 'नील' तथा 'उत्पल' एक ही अर्थ का कथन नहीं करते। यहाँ एकता का तात्पर्य या तो 'गुण—गुणी' होना लिया जा सकता है या यह माना जा सकता है कि दोनों का प्रवत्ति—निमित्त भिन्न होते हुए भी संकेतित अर्थ एक ही है। तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ को यहाँ नील कहा गया है, उसी को उत्पल कहा गया है।

'नीलमुत्पलम्' वाक्य में हम उपर्युक्त तीनों अर्थो में कोई भी अर्थ ले सकते है क्योंकि किसी भी अर्थ को स्वीकार करने में हमे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से कोई विरोध उत्पन्न होता हुआ दिखलायी नहीं पड़ता।

किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में यदि हम उपर्युक्त तीनों अर्थो में कोई भी अर्थ ग्रहण करना चाहे तो विरोध उपस्थित हो जाता है क्योंकि 'तत्' तथा 'त्वम्' के अर्थो में विरोधी अंश 'परोक्षत्वादि—विशिष्टत्व' तथा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' के रूप में उपस्थित है जो दोनों एक साथ नहीं रह सकते। दूसरी बात यह भी है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य में उस प्रकार की अभिन्नता अभिप्रेत भी नहीं जो 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के अर्थ में आती है क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में अभिन्नता का स्वरूप या तो 'विशिष्टता' (अन्योन्यविशिष्ट होना या किसी एक से विशिष्ट दूसरे का होना) है या 'ऐक्य' (गुणगुणी रूप ऐक्य या संकेतित अर्थ का ऐक्य) रूप सम्बन्ध है, जिनमें से कोई भी 'तत्त्वमसि' द्वारा अभ्रिप्रेत नहीं है। 'तत्त्वमसि' द्वारा तो 'अखण्ड—एकरस' रूप में वाक्यार्थ अभिप्रेत है — जिसमें दोनों पदों के अर्थो में न केवल संकेतित अर्थ की एकता हो अपितु शक्यार्थ की भी एकता हो। कहा भी गया है—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।

'(तत्त्वमसि) वाक्य में वाक्यार्थ न तो 'संसर्ग' (गुण—गुणी का सम्बन्ध या संकेतित अर्थ की एकता) रूप में स्वीकार्य है न 'विशिष्ट' रूप में। (यहाँ तो) विद्वानों द्वारा वाक्यार्थ 'अखण्ड एकरस' रूप में माना गया है।'

अतः 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ ग्रहण करने के लिए हम लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। सामान्यतः लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है — (१) 'लक्षण—लक्षणा' या 'जहल्लक्षणा', और (२) 'उपादान—लक्षणा' या 'अजहल्लक्षणा'। पहली अर्थात् जहल्लक्षणा में वाक्य या पद अपने अर्थ को पूर्णतः छोड़कर अपने अर्थ से सम्बन्धित किसी दूसरे अर्थ को ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ 'गड्.गायां घोषः प्रतिवसति' — 'गंगा पर घोष (घोसियों का गाँव) है।' इस वाक्य में अभिधा द्वारा वाक्य का अर्थ 'आधाराधेय' रूप है — गंगा रूप आधार पर घोष रूप आधेय है। किन्तु इस अर्थ में विरोध है क्योंकि गंगा का अर्थ है एक विशिष्ट जलधारा जिस पर गाँव स्थित नहीं हो सकता। अतः यहाँ हम 'गंगा' पद के मुख्य अर्थ को पूर्णतः छोड़कर उससे सम्बन्धित 'तीर' अथ ग्रहण कर लेते हैं और वाक्य का अर्थ हो जाता है — 'गंगा के तीर पर घोष है' जिसमें कोई विरोध नहीं है। दूसरी अर्थात् अजहल्लक्षणा में वाक्य या पद अपने अर्थ को छोड़ता नहीं है, अर्थ को संगत करने के लिए अपने अर्थ को भी बनाये रखता है और एक नये अर्थ का भी आक्षेप कर लेता है। उदाहरणार्थ 'शोणो धावति' — 'लाल दौड़ रहा है' वाक्य में 'शोण' पद एक गुण का वाचक है जो स्वयं दौड़ने में असमर्थ हैं। अतः शोण—गुण के आधार के रूप में हम 'अश्व' का आक्षेप कर लेते हैं और

अर्थ हो जाता है 'शोणः अश्वः धावति' – 'लाल घोड़ा दौड़ रहा है' जिसमें कोई असंगतता नहीं है।

'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ करने में न तो जहल्लक्षणा से काम चलता है न अजहल्लक्षणा से। जहल्लक्षणा में पद के अर्थ का पूर्णतः परित्याग कर दिया जाता है। 'तत्' तथा 'त्वम्' के अर्थो का पूर्णतः परित्याग उचित नहीं है क्योंकि यहाँ विरोध अर्थो के अंश (परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व) में है, अतः हम अर्थो के पूर्ण परित्याग से अपने अभिप्रेत अर्थ 'शुद्ध–चैतन्य' को प्राप्त नहीं कर सकते। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जिस प्रकार 'गङ्.गायां घोषः प्रति वसति' में 'गंगा' पद अपने अर्थ का पूर्णतः परित्याग करके 'तीर' पद के अर्थ को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद अपने अर्थ का परित्याग कर 'त्वम्' पद के अर्थ को लक्षित करे, अथवा 'त्वम्' पद अपने अर्थ का परित्याग कर 'तत्' पद के अर्थ को लक्षित करे, अतः यहाँ भी जहल्लक्षणा बन जानी चाहिये। किन्तु यह शंका उचित नहीं है। 'गङ्.गायां घोषः' में 'तीर' पद का ग्रहण न होने के कारण अभिधा द्वारा उसके अर्थ की प्रतीति नहीं हो रही, अतः लक्षणा द्वारा उसकी प्रतीति की अपेक्षा है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'तत्' तथा 'त्वम्' दोनों पदों को ग्रहण किया गया है और उनके अर्थो को प्रतीति अभिधा द्वारा ही हो रही है, अतः लक्षणा द्वारा किसी एक पद से दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा ही नहीं है।

अजहल्लक्षणा में पद अपने अर्थ को न छोड़कर अर्थ की संगति के लिए अपने से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है। 'तत्त्वमसि' में यदि 'तत्' तथा 'त्वम्' पद अपने अर्थ 'परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' तथा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' को न छोड़ते हुए किसी अन्य अर्थ का आक्षेप करते हैं तो इनके अर्थों में जो 'परोक्षत्वादिविशिष्टत्व' तथा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' में विरोध है वह किसी प्रकार भी दूर नहीं होगा। अतः यहाँ अजहल्लक्षणा द्वारा अर्थ–ग्रहण सम्भव नहीं है। यहाँ भी एक शंका हो सकती है। यदि हम यह मान लें कि 'तत्' पद अपने अर्थ के विरूद्ध–अंश 'परोक्षत्वादिविशिष्टत्व' को त्याग कर बचे हुए अंश 'चैतन्य' के साथ 'त्वम्' पद के अर्थ को लक्षित करे, अथवा 'त्वम्' पद अपने विरुद्धांश 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' को छोड़कर बचे हुए अंश चैतन्य के साथ 'तत्' पद के अर्थ को लक्षित करे, तो विरोध नहीं होगा और ऐसी भागलक्षणा की आवश्यकता नहीं होगी जिसमें दोनों पद अपने विरोधी अंशों का परित्याग करें। किन्तु यह शंका उचित नहीं है। इसमें दो दोष है : प्रथम तो एक पद द्वारा अपने अर्थ के अंश तथा दूसरे पद के अर्थ इन दोनों में एक साथ लक्षणा असम्भव है। दूसरा दोष यह है कि दूसरे पद के अर्थ का प्रतीति तो अभिधा द्वारा ही हो रही है, अतः लक्षणा द्वारा उसके अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा नहीं है।

अतः यह मानना पड़ता है कि भागलक्षणा द्वारा 'तत्' तथा 'त्वम्' पद अपने विरोधी अंशों का परित्याग करके अविरूद्ध 'चैतन्य' रूपी अर्थ लक्षित करते हैं और 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'अखण्ड–एकरस' रूप अभिन्नता का ग्रहण हो जाता है।

७ समाधि विवेचन

समाधि दो प्रकार की है – सविकल्पक तथा निर्विकल्पक समाधि

(१) सविकल्पक समाधि – सविकल्पक समाधि का अर्थ है वह समाधि जो ज्ञात, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी के साथ हो, जिसमें इनका विलय नहीं होता। प्रत्युत इनकी उपस्थिति बनी रहती है। चित्तवत्ति आत्मतत्त्व से उपरक्त होकर उसी में स्थिर हो जाती है। परन्तु इस बात का भान होता रहता है कि मैं ज्ञाता हूं, आत्मवस्तु ज्ञेय है, और इसके ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है। उस स्थिति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा बनाए गए मिट्टी के हाथी में हाथी की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्यात्व और मिट्टी के सत्यत्व का बोध होता रहता है, उसी प्रकार अद्वैतकार रूप से परिणत हुये, चित्त में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की प्रतीति होने पर भी उसे मिथ्यात्व का भान होता रहता है। साथ ही अद्वैत तत्व (ब्रह्म) की सत्यता या परमार्थता भी भासित होती रहती है।

निर्विकल्पक समाधि

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प के विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में, उसके आकार से आकारित चित्तवत्ति का आत्यन्तिक रूप से स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि है। उस समय अद्वितीय वस्तु के आकार के अकारित चित्तवत्ति का, जलाकारित लवण की भांति भान न होकर अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) मात्र का भी भान होता है। इसी से सुषुप्ति और इसमें (निर्विकल्पक समाधि में) अभेद होने की शङ्.का नहीं होती है। दोनों में चित्तवत्ति का भान न होने की समानता होने पर भी, उसका (समाधि में) अस्तित्व होने पर और (सुषुप्ति में) अभाव होने पर इन दोनों का भेद सिद्ध होता है।

निर्विकल्पक समाधि के अंङ्.ग

इस (निर्विकल्पक समाधि) के अंङ्.ग हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य (और) अपरिग्रह – ये यम हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये नियम

हैं।

यम - 'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है' ऐसा मानकर इन्द्रिय निग्रह करना यम है। अहिंसादि यमों के पालन से इन्द्रियां वश में होती हैं, जिनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है–

१. अहिंसा – मनसा, वाचा और कर्मणा या शरीर से किसी को पीड़ा न पहुंचाना अहिंसा है।

२. सत्य – यथार्थ भाषण करना सत्य है (सत्यं यथार्थभाषणम्) यह यथार्थ भाषण सर्वभूतहितकर होना चाहिए। यदि किसी यथार्थभाषण से किसी प्राणी को कष्ट होता है तो ऐसा सत्य पाप का ही कारण होगा। क्योंकि पूर्वोक्त अहिंसा का अतिक्रमण इससे होता है।

३. अस्तेय - स्वेच्छा से दी हुई परायी वस्तु को ग्रहण न करना अस्तेय है। इतना ही नहीं परायी वस्तु के प्रति स्पहा तक न होना अस्तेय है, क्योंकि किसी वस्तु के अपहरण के पूर्व ही एतद्विषयक भाव मन में उठते है जो स्तेय क्रिया की निष्पत्ति के प्रथम पादन्यास हैं। अतएव दूसरे के वस्तु का अपहरण करना मात्र ही नहीं अपितु उसके प्रति स्पहा भी न करना अस्तेय है।

४. ब्रह्मचर्य – जितेन्द्रिय व्यक्ति का अपनी उपस्थेन्द्रिय पर संयम रखना तथा अष्टाड्.ग मैथुन से विरत रहना ब्रह्मचर्य है। मैथुन के आठ अड्.ग इस प्रकार हैं

स्मरणं, कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षण गुह्यभाषणम्।

संड्.कल्पोध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।

एतन्मैथुनमष्टाड्.ग प्रवदन्ति मनीषिणः।

तात्पर्य यह है कि मात्र उपस्थेन्द्रिय पर नियंत्रण से ही ब्रह्मचर्य संभव नहीं है अपितु स्मरणादि मैथुन का भी त्याग कर वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।

सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते।।

अपरिग्रह

समाधि के असाधनभूत जो वस्तुएं हैं उनका संग्रह न करना अपरिग्रह है। सांसरिक वस्तुओ के प्रति आसक्ति बहुत ही कष्टदायिनी होती है। सर्वप्रथम तो उसका अर्जन तथा दूसरा अर्जित की रक्षा करना बड़ा ही कष्टकारक होता है और कालान्तर में उसक नष्ट हो जाने पर क्लेश भी व्यक्ति को बहुत ही व्यथित करता है। इस प्रकार के सातत्य से व्यक्ति की क्लेश में आत्यन्तिक रूप से सम्पक्ति हो जाती है। विषयों के संग्रह उसके भोग की इच्छा भी उत्पन्न करते हैं जो एक प्रकार से कष्ट में प्रवत्ति है इसलिए विषयों का संग्रह त्याज्य है।

नियम - नियमों का उल्लेख क्रमशः किया जा रहा है –

१. शौच - शौच दो प्रकार कहा गया है (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। मिट्टी जल आदि से स्वच्छ किए जाने वाले शौच को बाह्म शौच कहते हैं। जैसे अपने शरीर, घर, वस्त्र, भोजनादि की स्वच्छता बाह्मशौच कही जाती है। इसके कारण आन्तरिक या चित्त की मलिनता न उत्पन्न हो अतः बाह्य शौच आवश्यक है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, ईर्ष्या, असूया, तथा खिन्नता आदि आन्तरिक अशौच है इनका प्रक्षालन करना ही आभ्यान्तर शौच है। उक्त दोनों शौच से प्रसन्न एवं एकाग्र मन से ही इन्द्रिय निग्रह सम्भव है।

२. सन्तोष – प्रारब्ध से प्राप्त वस्तु से संतोष और न प्राप्त वस्तु के प्रति अविषाद ही संतोष है। भारतीय मनीषियों ने संतोष को परम सुख कहा है।

३. तप – क्षुधा–पिपासा, शीत–उष्ण आदि द्वन्दों से उत्पन्न करने वाले कष्टों को सहन करना तप है। कच्छू चान्द्रायण और सान्तपन आदि व्रतों का करना तप कहा गया है।

४. स्वाध्याय – "प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्रायध्ययनं वा" ओड्.करादि पवित्र मंत्रों का तप तथ मोक्षशास्त्रों या उपनिष्दों का अध्ययन स्वाध्याय है।

जप तीन प्रकार का होता है –

(१) जब कोई दूसरा व्यक्ति भी सुन सके तो उसे श्रव्य जप कहते हैं।

(२) जिसे कोई दूसरा न सुन सके उसे उपांशु जप कहते हैं।

(३) जिससे उच्चारणार्थ जिह्वा ओष्ठादि नहीं हिलते उसे मानस जप कहते हैं।

५. ईश्वर प्रणिधान – समस्त कत कर्मो को परमेश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। कहीं पर कर्म फलों का परमेश्वर के लिए त्याग ईश्वर प्रणिधान कहा गया है।

३. आसन

जिस स्थिति में सुख पूर्वक ब्रह्म चिन्तन होता रहे उसे आसन कहते हैं। सुख को नष्ट करने वाली स्थिति आसन नहीं कही जा सकती।

४. प्राणायाम

प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन क्रियाएं करनी होती है। प्राणवायु ने नासिका के किसी एक छेद से धीरे–धीरे बारह निकलना रेचक कहलाता है। जिस नासिका छिद्र से रेचक किया हो उसी नासिका छिद्र से प्राणवायु को अंदर खींचना पूरक कहलाता है। पूरक से धीरे–धीरे खींची गई वायु को अन्दर रोके रहना कुम्भक कहलाता है।

५. प्रत्याहार

इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों से हटकर चित्त के स्वरूप का अनुकरण कर लेना प्रत्याहार है। अपरोक्षानुभूति के अनुसार समस्त सांसारिक विषयों में आत्मभाव का दर्शन कर मन को चिन्तन में डुबो देना ही प्रत्याहार है।

६. धारणा

आचार्य शङ्.कर के अनुसार – यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्रदर्शनात्। मनसों धारणं चैव धारणा सा परा मता।। अर्थात् मन का सर्वत्र ब्रह्मदर्शन एवं उसी से स्थिर हो जाना सर्वोत्तम धारणा है।

७. ध्यान

योग दर्शन में चित्तवत्ति का तैलधारावत् अद्वितीय ब्रह्म में प्रवाहित होना कहा गया है जबकि अद्वैत वेदान्त में उससे भिन्न माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में रूक–रूक कर (जलधारावत्) प्रवाहित होना ध्यान कहा गया है।

८. समाधि

आठवें अंग समाधि का तो हम अध्ययन ही कर रहे हैं।

विशेष

(आठ) अड्.गों वाली इस निर्विकल्पक समाधि में लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वादन (नामक) चार विघ्न सम्भव होते हैं। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न कर चित्तवत्ति का सो जाना ही लय है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवत्ति का अन्य वस्तुओं का अवलम्बन करना विक्षेप है। लय और विक्षेप के अभाव होने पर भी रागदिवासनाओं के कारण चित्तवत्तिके स्तब्ध हो जाने से अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना कषाय है। अखण्ड वस्तु के अवलम्बन न करने पर भी चित्तवत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करने लगना रसास्वादन है, अथवा (निर्विकल्पक) समाधि के आरम्भ काल में सविकल्पक के आनन्द का आस्वादन करना रसास्वादन है। इन चार प्रकार के विघ्नों से रहित चित्त जब वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की भांति निश्चल होता हुआ अखण्डचैतन्य मात्र के रूप में स्थित होता है, तो उस समय निर्विकल्पक समाधि कही जाती है।

१०. बन्धन तथा मोक्ष

अद्वैत–वेदान्त में पारमार्थिक दष्टि से आत्मा निर्विकार, निर्लिप्त तथा नित्यमुक्त है। अतः उसके किसी प्रकार के बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पारमार्थिक दष्टि से आत्मा न बन्धन में पड़ता है न उसकी मुक्ति होती है। किन्तु अज्ञान से आच्छन्न होकर वह अपने नित्य–मुक्त स्वरूप को भूल जाता है और अपने को सांसारिक बन्धन में बँधा हुआ अनुभव करने लगता है। वह अपने को कर्मो का कर्त्ता तथा उनके फलों का भोक्ता समझने लगता है। यही उसका बन्धन है। किन्तु अज्ञान के 'सत्' वस्तु न होने के कारण उसका यह बन्धन भी सत् नहीं है, एक मिथ्या प्रतीति मात्र है। वह तो नित्य–मुक्त है। उसका यह समझ लेना ही कि वह मुक्त है, उसकी मुक्ति है। अतः मुक्ति कोई नयी उत्पन्न होने वाली वस्तु नहीं है, प्राप्त की ही प्राप्ति

है। जैसे किसी के गले में हार हो किन्तु वह कण्ठगत हार को भूलकर उसे इधर–उधर खोजे और फिर अपनी ओर देखकर हार प्राप्त कर ले। ऐसी ही पुरूष की मुक्ति है जिसकी प्राप्ति के लिए उसे इधर–उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है, केवल अपनी ओर देखने की आवश्यकता है।

बन्धन की प्रतीति क्योंकि अज्ञानजन्य है अतः मोक्षप्राप्ति के लिए अज्ञान का नाश आवश्यक है और वह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए अद्वैत–वेदान्त में मोक्ष–प्राप्ति के लिए कर्म की नहीं ज्ञान की आवश्यकता है। कर्म का तो वेदान्त में त्याग ही विहित है क्योंकि कर्म पाप–पुण्य को उत्पन्न कर पुरूष को फल प्रदान करते है और इस प्रकार उसे संसार के बन्धन में बनाये रखते हैं। किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं यह कर्मत्याग प्रायः उन्हीं कर्मो के लिए विहित है जो अन्तःकरण को मलिन कर ज्ञान–प्राप्ति में बाधक है। ऐसे कर्म काम्य तथा निषिद्ध है। दूसरी और ऐसे भी कर्म हैं जो अन्तःकरण को शुद्ध कर ज्ञान–प्राप्ति में सहायक होते हैं। नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना आदि कर्म इसी प्रकार के हैं।

पारमार्थिक दष्टि से अद्वैत–वेदान्त केवल आत्मा या ब्रह्म की सत्ता को ही मानता है, शेष सब कुछ माया या अज्ञान से उत्पन्न है। ज्ञान द्वारा उस अज्ञान का नाश हो जाता है और केवल शुद्ध आत्मा की प्रतीति रह जाती है। यही मोक्ष है। मोक्ष की स्थिति में आत्मा की अनुभूति के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान भी नहीं रहता। अतः अद्वैत–वेदान्त में वास्तव में 'मोक्ष', 'ब्रह्म', 'आत्मा' तथा 'ज्ञान' ये सब पद पर्यायवाची हैं।

तीन प्रकार के कर्म – अनादि अज्ञान या माया के कारण जीव इस प्रतीयमान बन्धन में बँध जाता है। व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करने के कारण वेदान्त इस बन्धन को व्यावहारिक दष्टि से सत्य ही मानता है। बन्धन की स्थिति में जीव जो कर्म करता है उसके संस्कार पाप–पुण्य के रूप के होते हैं जो उसे फल प्रदान करते हैं। ये कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं – (१) प्रारब्ध (२) सचित तथा (३) क्रियमाण। प्रारब्ध कर्म वे होते हैं जिनका फल मिलना आरम्भ हो गया है। जीव जो जन्म प्राप्त करता है तथा सुख–दुःख आदि का भोग करता है, वह सब प्रारब्ध कर्मो के कारण। सचित कर्म वे हैं जो अभी संस्कार के रूप में एकत्रित है और जिनका फल अभी मिलना आरम्भ नहीं हुआ है। क्रियमाण कर्म वे होते हैं जो इस समय किये जा रहे हैं। ये ही एकत्रित होकर संचित हो जाते है और जब फल देना प्रारम्भ कर देते है तो प्रारब्ध बन जाते हैं।

ज्ञान द्वारा सचित कर्मो का नाश – जिस समय मनुष्य को ज्ञान होता है, उस समय अज्ञान का बाध हो जाने के कारण सम्पूर्ण सष्टि उसके लिए समाप्त हो जाती है। किन्तु बाध होने का तात्पर्य यह ाँ पूर्णतः नष्ट हो जाना नहीं है, केवल इतना ही है कि वह उसको देखता हुआ भी उसे सत्य रूप में नही देखता। इस सष्टि के तथा उसके शरीर आदि के पूर्णतः नष्ट न होने के कारण यह है कि ज्ञान द्वारा केवल उसके सचित कर्मो का नाश होता है और क्रियमाण कर्म अपना प्रभाव डालना बन्द कर देते है, अतः उनका भी नाश समझा जा सकता है। किन्तु प्रारब्ध कर्मो का नाश तुरन्त नही होता, वह तभी होता है जब वे फलीभूत होकर समाप्त हो जाते हैं। जैसे हम कुम्हार के चाक को डण्डे से घुमाकर डण्डे को हटा लें तो चाक के घूमने के कारण के हट जाने पर भी चाक अपना घूमना तब तक बन्द नहीं करता जब तक उसका पूर्व संस्कार चाक को घुमाकर समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार जीवन का प्रारब्ध कर्म ज्ञान–प्राप्ति पर भी तब तक नष्ट नहीं होता जब तक वह फल देकर अपने को समाप्त नहीं कर देता। यही कारण है कि ज्ञान–प्राप्ति होने पर भी जीव का न तो तुरन्त शरीर नष्ट होता है, न सष्टि।

दो प्रकार की मुक्तिः जीवन्मुक्ति तथा विदेह-मुक्ति – अद्वैत–वेदान्त यह मानता है कि आत्म–ज्ञान की प्राप्ति के बाद भी यद्यपि प्रारब्ध कर्मो के नष्ट न होने के कारण शरीर आदि बने रहते हैं, किन्तु फिर भी पुरूष एक प्रकार की मुक्ति प्राप्त कर लेता है जिसे 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। शरीर–पात होने के बाद उसे पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो जाती है जिसे 'विदेह–मुक्ति' कहा जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दष्टे परावरे।।

'उस परावर (अर्थात् कारण–कार्य रूप ब्रह्म) के जान लेने पर इस (जीव) के हृदय की (अहंकार रूपी) गाँठ खुल जाती है, सारे संशय समाप्त हो जाते हैं तथा (सचित) कर्म नष्ट हो जाते हैं।

जीवन्मुक्त पुरूष के शरीर आदि के बने रहने के कारण वह अपने पूर्व–संस्कारों के फलस्वरूप कर्म तो करता है और उनके फलों का भोग भी करता है किन्तु इनके बाधित हो जाने के कारण अर्थात् इनके मिथ्या स्वरूप के समझ लिये जाने के कारण वह इनको सत्य रूप में ग्रहण नहीं करता। जैसे कोई पुरूष जब जादू के खेल के विषय में यह जान लेता है कि यह

सब जादू है, तो उसे देखते हुए भी उसे सत्य नहीं समझता है। जीवन्मुक्त पुरूष अद्वैत–ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण जाग्रत् अवस्था में द्वैत को देखता हुआ भी सोये हुए व्यक्ति के समान उसे (सत्य रूप में) नहीं देखता, (कर्म) करता हुआ भी वह निष्क्रिय है। (क्योंकि कर्म का प्रभाव उस पर नहीं होता) –

"सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्चन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।।"

जीवन्मुक्त पुरूष के लिए यद्यपि सम्पूर्ण सष्टि ब्रह्म से अभिन्न है, अतः उसके लिए न कुछ अच्छा है, न बुरा, सभी समान है, किन्तु फिर भी न तो वह कोई बुरा कर्म करता है, न उसके अन्दर कोई अशुभ वासना जन्म लेती है। इसका कारण यह है कि मोक्ष के पूर्व की कठोर साधना के कारण उसके चित्त से सभी अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती है, केवल शुभ वासनाएँ रह जाती हैं। अतः उसमें या तो शुभ वासना की ही अनुवत्ति होती है या वह शुभ व अशुभ दोनों के प्रति उदासीन बना रहता है। कर्म भी वह अपने मोक्ष–पूर्व के अभ्यास के कारण शुभ ही करता है, अशुभ नहीं। किन्तु मोक्ष–पूर्व के उसके शुभ कर्मो तथा भावनाओं में तथा इस समय के शुभ कर्मो तथा भावनाओं में यह अन्तर है कि मोक्ष–पूर्व के काल में उसके शुभ कर्म आदि साधन के रूप में थे, उन्हें वह सप्रयत्न करता था, किन्तु अब बिना प्रयत्न उनका अनुवर्तन होता है। कहा भी गया है –

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।।

'जिसमें आत्म–ज्ञान उत्पन्न हो गया है उसके लिए द्वेष न करना आदि गुण बिना प्रयत्न के होते हैं, साधनरूप नहीं।'

विदेहमुक्ति शरीर–पात के बाद मिलती है। प्रारब्ध कर्मो के फलीभूत होकर समाप्त हो चुकने के बाद मनुष्य के शरीर, अन्तःकरण आदि का नाश हो जाता है। उसके स्थूल शरीर के साथ – साथ उसका सूक्ष्म शरीर भी नष्ट हो जाता है, अतः फिर वह संसरण नहीं करता, पूर्णतः मुक्त हो जाता है।

सदानन्दयोगीन्द्रप्रणीतः

वेदान्तसार

१. अखण्डं 'सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेभीष्टसिद्धये ।।

अर्थ–(मैं अभीष्ट की सिद्धि के लिए अखण्ड, सच्चिदानन्द, वाणी तथा मन का विषय न बनने वाले, सम्पूर्ण (सष्टि) के आधार आत्मा का आश्रय लेता हूँ।

विशेष :- संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में मङ्गलाचरण की परम्परा मिलती है। सामान्य रूप से मङ्गलाचरण के तीन रूप बतलाए गए हैं–१. आशीर्वादात्मक, २. नमस्कारात्मक तथा ३. वस्तुनिर्देशात्मक। प्रस्तुत प्रकरण में नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण है, क्योंकि यहाँ लेखक परमात्मा का आश्रय लेता है अथवा ध्यान करता है।

ग्रन्थकार की अभीष्ट सिद्धि क्या है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद मिलता है। उदाहरणार्थ नसिंहसरस्वती ने अभीष्ट सिद्धि से मोक्ष का आशय ग्रहण किया है। डा० राममूर्ति शर्मा के विचार में यहाँ मोक्ष का आशय समुचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ग्रन्थलेखन के आरम्भ में लेखक के मन में ग्रन्थ के पूर्ण होने की कामना ही बलवती होती है। ग्रन्थारम्भ करते समय मोक्ष की सिद्धि की कामना वैसी संगत नहीं प्रतीत होती। इसके अतिरिक्त 'वेदान्तसार' जैसे मोक्ष–विद्या के प्रकरण–ग्रन्थ का लेखक इस तथ्य से परिचित होगा ही कि मोक्ष का अभिलाषी ग्रन्थ नहीं लिखता, वह तो 'श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' की विधि को ही अपनाता है। अतः यहाँ ग्रन्थकार की अभीष्टसिद्धि से ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्णता का ही आशय ग्रहण करना चाहिये।

जिस आत्म–त त्त्व को सदानन्द ने अखण्ड एवं वाणी तथा मन से अतीत कहा है उसका आश्रय ग्रहण करने अथवा ध्यान करने का औचित्य विचारणीय है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अद्वैत–वेदान्त के अन्तर्गत आत्मत त्त्व निर्गुण एवं निराकार होते हुए भी 'सत्' रूप है, वह शून्य–रूप नहीं है। इस सत्–स्वरूप आत्मा के प्रति ही आस्तिक लेखक ने अपनी आस्था प्रकट की है। आत्मतत्त्व को समस्त प्रपच का आधार कहकर ग्रन्थकार ने ब्रह्म के अधिष्ठान स्वरूप की ओर संकेत किया है। अद्वैत–वेदान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् अध्यास है। ब्रह्म स्वरूप अधिष्ठान में जगत् उसी प्रकार अध्यस्त है जिस प्रकार शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प अध्यस्त होता है।

२. अर्थतोप्यद्वयानन्दानतीततद्वैतभानतः।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामतिः।।

अर्थ–द्वैत की प्रतीति के समाप्त हो जाने के कारण अर्थ की दष्टि से भी अद्वयानन्द गुरु की आराधना करके (अपनी) बुद्धि के अनुसार वेदान्तसार को कहूँगा।

विशेष :- 'अर्थतोप्यद्वयानन्दान्' कहकर ग्रन्थकार ने अपने गुरुजी–अद्वयानन्द के बारे में बतलाते हुए कहा है कि वे नाम के ही अद्वयानन्द नहीं थे, अपितु गुणों से भी अद्वयानन्द थे अर्थात् अद्वैत आत्मतत्त्व में लीन होकर आनन्द का अनुभव करते थे। इससे अद्वयानन्द के जीवन्मुक्त होने का संकेत मिलता है।

'अतीतद्वैतभानतः' की व्याख्या दो प्रकार से की सकती है–

१. अतीतं द्वैतं यस्मात् तदतीतद्वैतम्, तस्य भानतः (जिस परमात्मतत्त्व से द्वैत प्रपच नष्ट हो गया है उसका साक्षात्कार होने के कारण); २. अतीतं गतं द्वैतभानं यतः तस्मान्. परमात्मसाक्षात्कार से द्वैतभान के नष्ट हो जाने के कारण।

३. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।

अर्थ–उपनिषद् रूपी प्रमाण और उसके उपकारक शारीरिक–सूत्र (वेदान्त सूत्र) आदि ग्रन्थ वेदान्त हैं।

विशेष :- इस प्रकरण में 'वेदान्त' की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि वेदान्त से यहाँ अद्वैतवेदान्त का ही आशय है।

वेदान्त को उपनिषत्प्रमाण कहने का यही आशय है कि वेदान्त–दर्शन उपनिषदों के मूल सिद्धान्तों पर आधारित है। वैसे, वेदान्तदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि, ये ६ प्रमाण स्वीकार किए गए हैं। इस प्रकार सदानन्द द्वारा गहीत उपनिषत्प्रमाण शब्दप्रमाण के ही अन्तर्गत आता है।

वेदान्त के उपासक जिस शारीरक सूत्र का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है उसका अर्थ ब्रह्मसूत्र इसलिए है कि उसमें शारीरक अर्थात् जीव के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

'शरीरमेव शारीरकं तत्र भवः शारीरकः जीवः सः निरूपितोस्ति यस्मिन् तत् शरीरकसूत्रम्' अर्थात् शरीर में रहने वाले जीव का निरूपण जिस ग्रन्थ में मिलता है, वह ब्रह्मसूत्र है।

४. अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैः तद्वत्तासिद्धेः न ते पथगालोचनीयाः।

अर्थ–इस (वेदान्तसार) के वेदान्त दर्शन का एक प्रकरण है। ग्रन्थ होने से, उस वेदान्त के अनुबन्धों से इसकी अनुबन्ध युक्तता सिद्ध हो जाने से उन पर पथक् विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

विशेष :- वेदान्तसार वेदान्त का प्रकरण–ग्रन्थ है। प्रकरण की इस परिभाषा के अनुसार प्रकरण किसी विषय के लघुग्रन्थ का नाम है। शंकराचार्य द्वारा विवेकचूड़ामणि आदि ३६ प्रख्यात प्रकरण ग्रन्थों की रचना की गई है। यह वेदान्तसार वेदान्त का प्रकरण ग्रन्थ है। अतः जो अनुबन्ध वेदान्त शास्त्र के हैं वे ही इसके भी अनुबन्ध हैं।

५. तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।

अर्थ–वहाँ (वेदान्त में) अनुबन्ध (चार) हैं। अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन।

विशेष :- किसी ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्धचतुटय का विचार स्वाभाविक है। अनुबन्धचतुष्टय के अन्तर्गत ग्रन्थ के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन आते हैं। अनुबन्धचतुटय के अभाव में न ग्रन्थ का साफल्य सिद्ध होता है और न अध्येता को ही ग्रन्थ के उद्देश्य का बोध होता है।

६. अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोधिगताखिलवेदार्थोस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।

अर्थ–(वेदान्त के अध्ययन का) अधिकारी वह प्रमाता है जिसने विधिवत् वेद और वेदाङ्गों का अध्ययन करके सम्पूर्ण वेदों के अर्थ को सामान्यतः ग्रहण कर लिया है और इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में काम्य तथा निषिद्ध कर्मों के त्याग सहित नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना कर्मों के अनुष्ठान से सम्पूर्ण वासनाओं के नष्ट हो जाने से जिसका अन्तःकरण पूर्णतः निर्मल हो गया है तथा जो साधनचतुष्टय से युक्त है।

विशेष :- प्रत्येक ग्रन्थ का निर्माण करने से पूर्व अनुबन्धचतुटय का निर्देश अत्यावश्यक है। इसमें ग्रन्थ के अध्ययन के अधिकारी एवं उस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय आदि का निर्णय होने से अध्ययन में सुविधा होती है। अनुबन्धचतुटय के अन्तर्गत अधिकारी का वेदान्त विद्या के अधिकारी से आशय है। अधिकारी का ल्रक्षण करते समय इस प्रकरण के अन्त में 'एवम्भूतः प्रमाता अधिकारी' कहकर सत्यनिष्ठ जिज्ञासु जीव को अधिकारी कहा है। प्रमाता जिज्ञासु जीव ही है। अधिकारी के विधिपूर्वक वेद–वेदांग के अध्ययन करने का तात्पर्य है कि जिसने ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करते हुए वेद–वेदांग का अनुशीलन किया है। वेदांग के अन्तर्गत शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष आते हैं। जैसा कि ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है, मुमुक्षु अधिकारी के लिए वर्तमान जन्म अथवा जन्मान्तर में वेद–वेदांग के अध्ययन के द्वारा वेदों के तात्पर्य को जानना अपेक्षित है। विदुर आदि के उदाहरण उक्त तथ्य के प्रमाण हैं। विदुर जैसे ब्रह्मज्ञानियों ने वर्तमान जन्म में वेदादि का अध्ययन नहीं किया था, अतः उनका वेदादि का ज्ञान पूर्वजन्म पर ही आधारित था। (कतिपय विद्वानों ने 'अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा' का सम्बन्ध अधिगताखिलवेदार्थः' से न कर 'काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरम्' आदि से किया है। किन्तु यह संगत नहीं प्रतीत होता। काम्यनिषिद्ध आदि का सम्बन्ध स्पष्ट ही वर्तमान जन्म में स्थित साधनचतुष्टय–सम्पन्न प्रमाता से है। इस प्रकार 'अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे' का सम्बन्ध 'अधिगताखिलवेदार्थः' से ही मानना चाहिये।

७. काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि।

अर्थ–स्वर्ग आदि इष्ट फलों को प्राप्त कराने वाले ज्योतिष्टोम आदि काम्य कर्म हैं।

विशेष :- किसी अभीष्ट की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कर्म काम्य कहलाते हैं। उदाहरणार्थ ज्योतिष्टोम यज्ञ जो स्वर्ग प्राप्ति के लिए किया जाता है।

यद्यपि ज्योतिष्टोम आदि काम्य कर्म 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' के अनुसार स्वर्गादि के साधक एवं पुण्य कर्म हैं। किन्तु अधिकारी के लिए उनका निषेध इसलिए किया गया है कि वे शुभ होने के कारण जन्ममरण के हेतु हैं, क्योंकि शुभ एवं अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों के फलभोग के लिए जन्म ग्रहण अनिवार्य है।

८. निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि।

अर्थ–नरक आदि अनिष्ट (पदार्थों) के साधन ब्राह्मण–हत्या आदि निषिद्ध कर्म है ।

विशेष :- कर्ता को अनिष्ट फल प्राप्त कराने वाले सभी कर्म निषिद्ध कर्म कहे जाते हैं। निषिद्ध कर्म यद्यपि भ्रम के आवेग के कारण इष्टफलसाधक प्रतीत होते हैं तथापि वास्तविक रूप में वे अनिष्टकारक ही होते हैं। शास्त्रों में 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि वचनों से शास्त्रज्ञों के हनन का निषेध किया गया है। आदि पद से अन्य भी सुरापान्, धूतक्रीडा आदि अनिष्टकारक कर्म निषिद्ध हैं।

९. नित्यानि अकरणे प्रत्यावायधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि।

अर्थ–न करने पर भावी दुःख के कारण सन्ध्या–वन्दन आदि नित्य कर्म हैं।

विशेष :- ऐसे कर्म जिनके करने से कोई पुण्य तो नहीं, किन्तु न करने से पाप होता है, वे नित्य कर्म कहलाते हैं। वेदान्तदर्शन के अनुसार नित्यकर्मों के न करने से कोई नया पाप नहीं लगता, किन्तु नित्यकर्मों का सम्पादन पाप करने की प्रवत्ति को अवश्य रोकता है। परन्तु मीमांसकों का विचार है कि नित्यकर्म न करने से पाप लगता है। सदानन्द ने 'नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि' कहकर नित्यकर्मों के असम्पादन को पाप का हेतु कहा है। उनका यह मत मीमांसा से प्रभावित कहा जा सकता है।

१०. नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि।

अर्थ–पुत्रजन्म आदि के सम्बन्ध से होने वाले जातेष्टि आदि नैमित्तिक कर्म है।

विशेष :- नैमित्तिक वे कर्म हैं जो किसी निमित्त से किए जाते हैं। पुत्र के उत्पन्न होने पर पिता द्वारा सम्पन्न होने वाला'जातेष्टि' या जातकर्म संस्कार नैमित्तिक कर्म ही है।

सूतसंहिता के अनुसार काम्य कर्म का प्रधान फल आर्थिक शुद्धि है, नित्य कर्म का प्रधान रूप से मनःशुद्धि फल है तथा नैमित्तिक कर्म का फल पाप की निवत्ति है।

११. प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।

अर्थ–पाप के नाश के साधन चान्द्रायण व्रत आदि प्रायश्चित कर्म हैं।

विशेष :- किए हुए पापों को धोने के लिए जो व्रत किये जाते हैं, वे प्रायश्चित कर्म कहलाते हैं–जैसे चान्द्रायण व्रत आदि।

चान्द्रायण व्रत की विधि के अनुसार तीनों सन्ध्याओं में स्नान करके पूर्णिमा के दिन १५ ग्रास भोजन करके कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से लेकर चतुर्दशीपर्यन्त क्रम से एक–एक ग्रास भोजन करना चाहिए और अमावस्या के दिन निराहार रहकर शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तिथि तक क्रम से प्रतिदिन एक–एक ग्रास बढ़ाकर भोजन करना चाहिए।

१२. उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापारूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।

अर्थ–सगुण ब्रह्म को विषय करने वाले मनोव्यापार रूप शाण्डिल्यविद्या आदि उपासना कर्म हैं।

विशेष :- सगुण ब्रह्म अर्थात् मायोपाधिक ईश्वर का ध्यान करना उपासना कर्म है। उपासना के अन्तर्गत ध्याता एवं ध्येय का भेद बना रहता है। इसलिए यह ज्ञान की स्थिति से भिन्न है।

छान्दोग्योपनिषद् में शाण्डिल्यविद्या का उल्लेख मिलता है। इस स्थल पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से आरम्भ करके "स ऋतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरे भारूपः" पर्यन्त शाण्डिल्य ऋषि ने जगत् और आत्मा की ब्रह्म–रूप में उपासना का प्रतिपादन किया है। शाण्डिल्य ऋषि के द्वारा उक्त विद्या का उपदेश होने के कारण ही इसे शाण्डिल्यविद्या कहते हैं। शाण्डिल्य विद्या आदि से तात्पर्य शतपथब्राह्मण की "स आत्मानमुपासीत मनोमयम् एवं बहदारण्यक की "मनोमयोयं पुरुषो भारूपः" सदश उक्तियों से है।

१३. एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम्, "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादि-श्रुतेः, "तपसा कल्मषं हन्ति" इत्यादिस्मतेश्च।

अर्थ–इन नित्यादि कर्मों का प्रमुख प्रयोजन बुद्धिशुद्धि है किन्तु उपासन कर्मों का प्रमुख प्रयोजन चित्त की एकाग्रता

है, 'इस आत्मा को ब्राह्मण वेद के अनुसार यज्ञ द्वारा जानने की इच्छा करते हैं' इस श्रुति के अनुसार और 'तप के द्वारा पाप का नाश करता है' इस स्मति के अनुसार।

विशेष :- नित्यादि से नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित कर्मों का आशय है। सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि के अन्तर्गत नित्य कर्मों को परम्परया तत्त्वज्ञान का कारण कहा है। सुरेश्वराचार्य का कथन है कि नित्य कर्मों से सदाचार की प्राप्ति होती है, सदाचार से पापनाश होता है और पापनाश होने पर चित्त–शुद्धि होती है। चित्त–शुद्धि होने पर संसार की वास्तविकता का बोध होता है। संसार की वास्तविकता का बोध होने पर वैराग्य उत्पन्न होता है, जिससे मोक्ष की आकांक्षा जागरित होती है। मोक्ष की आकांक्षा होने पर मोक्ष के साधनों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और इसका परिणाम समस्त कर्मों का त्याग है। इसके पश्चात् योग का अभ्यास आरम्भ होता है जिसके परिणामस्वरूप चित्तवत्ति आत्मनिष्ठ होती है। चित्तवत्ति के आत्मनिष्ठ होने पर जीव 'त्त्वमसि' जैसे महावाक्यों के तात्पर्य को जान लेता है, जिसके फलस्वरूप अज्ञान नष्ट हो जाता है और इस प्रकार अन्तिम परिणाम के अनुसार साधक मुमुक्षु मोक्षलाभ करता है।

१४. नित्यनैमित्तिकयोरुपासनानां त्ववान्तरफलं पितलोकसत्यलोकप्राप्तिः, 'कर्मणा पितलोको विद्यया देवलोक' इत्यादिश्रुते।

अर्थ–नित्यनैमित्तिक तथा उपासन कर्मों का अवान्तर फल पितलोक तथा सत्यलोक की प्राप्ति है, 'कर्म से पितलोक, विद्या से देवलोक प्राप्त होता है इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- पितलोक की प्राप्ति नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का आनुषङ्गिक फल है। पितलोक का सम्बन्ध उपरि वर्तमान सप्तलोकों में से 'भुवः' से है। सत्यलोक की प्राप्ति उपासन कर्मों का अवान्तर फल है। इय स्थल पर सत्यलोक से मोक्ष का आशय नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उपासन कर्म मोक्ष के साक्षात् कारण नहीं है। सत्यलोक का तात्पर्य भी 'भूः' आदि महालोकों के अन्तर्गत परिगणित सत्यलोक से ही है। नित्य नैमित्तिक एवं उपासन कर्मों का मुख्य फल चित्तशुद्धि है। पितलोक एवं सत्यलोक की प्राप्ति में प्रायश्चित कर्मों का योगदान नहीं है, क्योंकि इनसे तो वर्तमान जीवन के पापों का क्षयमात्र होता है, मत्यु के पश्चात् उनका कोई फल नहीं है।

१५. साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्ति मुमुक्षत्वानि।

अर्थ–चार साधन हैं–नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्रार्थ फल भोग विराग, शमादि छः सम्पत्तियाँ तथा मुमुक्षत्व।

विशेष :- नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि साधन उत्तरोत्तर एक–दूसरे के साधक हैं। नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रार्थफलभोगविराग का कारण है। इहामुत्रार्थफलभोगविराग शमादि छह प्रकार की सम्पत्ति का कारण है और शमादि षट्कसम्पत्ति मुमुक्षा का कारण है।

१६. नित्यानित्यवस्तुविवेकेस्तावद्ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्।

अर्थ–ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उससे भिन्न सब कुछ अनित्य है, ऐसा विवेचन नित्यानित्यावस्तुविवेक है।

विशेष :- ब्रह्मतत्त्व का जिज्ञासु "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः' अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणः आदि प्रमाणों के आधार पर आत्मत त्त्व एकता का बोध करता है और "यदल्पं तन्मर्त्यम्" एवं 'आगमापायिनोनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत' आदि प्रमाणों के आधार पर इन्द्रियों के विषय एवं उनके संयोग की अनित्यता का अनुभव करता है।

१७. ऐहिकानां स्त्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयानित्यत्ववदामुष्मिकाणमप्यमतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः।

अर्थ–इस संसार के माला, चन्दन, स्त्री आदि विषय–भोगों के कर्मजन्य होने के कारण अनित्य होने के समान परलोक–सम्बन्धी अमत आदि विषय–भोगों के भी कर्म जन्य होने स) अनित्य होने के कारण उनसे पूर्णतः विरक्ति हो जाना इहामुत्रार्थफलभोग विराग है।

विशेष :- ऐंहिक एवं आमुष्मिक जो स्वर्गादि फलों का भोग, यह सब कर्मजन्य होने के कारण अनित्य है। इन दोनों के प्रति विरक्ति की भावना अधिकारी के लिए अपेक्षित है।

१८. शमादयस्तु शमदमोपरतितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः।

अर्थ–शम आदि (छः सम्पत्तियाँ) हैं–शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा नामक।

विशेष :- पीछे वेदान्त के अधिकारी के लिए 'साधन चतुष्टय' से सम्पन्न होना कहा गया। साधन चतुष्टय के अन्तर्गत

ततीय साधन है—शमादि षट्क सम्पत्ति। शमादि का अभिप्राय है—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। आगे क्रमशः इनका स्वरूप बताया गया हे।

१६. शमस्तावत् श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।

अर्थ—श्रवण आदि से भिन्न विषयों से मन को रोक लेना शम है।

विशेष :- श्रवण, मनन और निदिध्यासन से भिन्न विषयों में मन को जाने से रोकना शम है। शम चित्त की वह वत्ति है जो चित्त को सांसारिक विषयों में जाने से रोकती है। वस्तुतः चित्त का निरोध ही शम है।

२०. दम बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्।

अर्थ—श्रोत्र आदि बाह्येन्द्रियों को उन (श्रवण आदि) से भिन्न विषयों को रोकना दम है।

विशेष :- बाह्य इन्द्रियों का निरोध दम है। यहाँ बाह्य इन्दियों से पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों का परिगमन है।

२१. निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिः, अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः।

अर्थ—विषयों से हटाई हुई इनका उन श्रवण आदि से भिन्न विषयों से उपरत हो जाना उपरति है, अथवा विहित कर्मों शास्त्रोक्त विधि से परित्याग उपरति है।

विशेष :- शम और दम के प्रयोग से विरुद्ध चित्त और बाह्य इन्द्रियों का पुनः श्रवणादि से भिन्न विषयों में न जाकर स्थिर हो जाना उपरति है। शम और दम साध्य अवस्था है तो उपरति सिद्ध अवस्था है। द्वितीय परिभाषा के अनुसार नित्य, नैमित्तिक कर्मो का संन्यासाश्रम में विधिपूर्वक त्याग ही उपरति है।

२२. तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता।

अर्थ—शीत—उष्ण सुख—दुःख निन्दा—स्तुति, मान—अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करना तितिक्षा है।

विशेष :- शीतोष्णादि से जन्य सुख एवं दुःख को सहन करना तितिक्षा है। वैसे तो, देहधारी के लिए शीतोष्णादि से जन्य सुख—दुःख का अनुभव स्वाभाविक है, किन्तु तितिक्षु सुख—दुःख को देहधर्म समझकर उनसे सामान्य जनों की तरह विचलित नहीं होता, यही उसकी तितिक्षा है।

२३. निगहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।

अर्थ—विषयों से हटाये हुए मन का श्रवण आदि में तथा उनके अनुकूल विषयों में लगाना समाधान है।

विशेष :- चित्त के समाहित होने का नाम समाधि है। समाधि के अनुसार जिज्ञासु चित्त को निरन्तर श्रवणादि में लगाता है—समधिरिति निरन्तरेण तच्चिन्तनमित्यर्थः।

२४. गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।

अर्थ—गुरु द्वारा उपदिष्ट वेदान्त के वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा है।

विशेष :- सदानन्द ने गुरुद्वारा उपदिष्ट वेदान्त—वाक्यों में विश्वास को श्रद्धा कहा है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दुष्टि से विचार करने पर विश्वासएवं श्रद्धा में भेद दिखाई पड़ता है। विश्वास की अपेक्षा श्रद्धा अधिक पवित्र एवं उत्कृष्ट भाव है। विश्वास की अपेक्षा यह आत्मपरक भी अधिक है। श्रद्धालु श्रद्धेय के प्रति समग्र श्रद्धा को समर्पित करने में ही आनन्दित होता है। किन्तु विश्वासवान् को विश्वास्य से यह भय भी बना रहता है कि कहीं वह विश्वास का घात न कर दे। ऐसा प्रतीत होता है कि सदानन्द ने सामान्य दष्टि से ही विश्वास एवं श्रद्धा को समान अर्थ में प्रयुक्त किया है।

२५. मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा।

अर्थ—मोक्ष की इच्छा मुमुक्षुत्व।

विशेष :- मुमुक्षुत्व साधनचतुष्टय का अन्तिम साधन है। मुमुक्षुत्व का शाब्दिक अर्थ है मोक्ष की इच्छा वाला होना। मोक्ष प्राप्ति के लिए मोक्ष की इच्छा अत्यावश्यक है।

२६. एवम्भूतः प्रमाताधिकारी "शान्तो दान्त" इत्यादि श्रुतेः।

उक्तच-

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय' यथोक्तकारिणे।

गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे।।" इति (उपदेशसाहस्री, १६, ७२)

अर्थ—इस प्रकार का प्रमाता वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी होता है, 'शम से युक्त, दम से युक्त' इत्यादि श्रुति से यह प्रमाणित है। यह भी कहा गया है—

शान्त चित्त वाले, जितेन्द्रिय, नष्ट दोषों वाले जैसा शास्त्र में कहा है उसके अनुसार करने वाले, विवेक, वैराग्य, उपरति, तितिक्षा और समाधान आदि गुणों से युक्त, गुरु के अनुगामी, मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष को यह आत्मज्ञान नित्य दिया जाना चाहिये।

विशेष :- उपर्युक्त साधनचतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी है। इस तथ्य की पष्टि के लिए ग्रन्थकार बहदारण्यक उपनिषद् से शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वो आत्मन्येवात्मानं पश्यति' इस वाक्य को उद्धत किया है जिसका भाव है कि अन्तःकरण की तष्णाओं से निवत्त हुआ उपरत अर्थात् समस्त कामनाओं से मुक्त एवं विधिपूर्वक समस्त कर्मों का त्याग करने वाला संन्यासी तथा तितिक्षु आत्मा में समाहित होकर आत्मस्वरूप में ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।

२७. **विषयः जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं' प्रमेयं तत्र एव वेदान्तानां तात्पर्यात्।**

अर्थ—जीव और ब्रह्म की एकता रूप शुद्ध चैतन्य प्रमेय, वेदान्त का विषय है, क्योंकि इसी में वेदान्त—वाक्यों का तात्पर्य है।

विशेष :- जीव एवं ब्रह्म का ऐक्य वेदान्त का 'विषय' रूप अनुबन्ध है, यही शुद्ध चैतन्य एवं प्रमेय—रूप है। अद्वैत—वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया गया है। अविद्या के कारण जीव अपने आपको ब्रह्म से भिन्न अनुभव करता है। अविद्या के परिणामस्वरूप ही ममत्व एवं परमत्व की द्वैतदष्टि देखी जाती है। किन्तु अविद्या की निवत्ति होने पर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर द्वैतदष्टि समाप्त हो जाती है—"ज्ञाते द्वैतं न विद्यते"। यही अद्वैतदष्टि जीव एवं ब्रह्म का ऐक्य है। इस स्थिति में जीव ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त करता है जो शुद्ध चित्—रूप है। इस प्रकार जीवब्रह्मैक्य का शुद्ध—चैतन्य रूप से प्रतिपादन करके यह सिद्ध किया गया है कि जीव और ब्रह्म का नीरक्षीर जैसा मिश्रण नहीं है, अपित स्वरूपैक्य है—"जीवो ब्रह्मैव नापरः।"

२८. **सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्य-बोधकभावः।**

अर्थ—उन जीव तथा ब्रह्म की एकता रूप प्रमेय का और उसके प्रतिपादक उपनिषद् रूप प्रमाण का बोध्य—बोधकभाव सम्बन्ध है।

विशेष :- ततीय अनुबन्ध सम्बन्ध है। किसी भी ग्रन्थ अध्येता को इसका ज्ञान होना चाहिए कि ग्रन्थ और विषय में क्या सम्बन्ध है। इस प्रसंग में वह सम्बन्ध बोध्य बोधक भाव रूप है।

२६. **प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवत्तिः स्वरूपानन्दावाप्तिश्च, "तरति शोकम् आत्मवित्" इत्यादिश्रुतेः, "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतेश्च।**

अर्थ—उन (जीव तथा ब्रह्म) की एकता रूपी प्रमेय से सम्बन्धित अज्ञान का नाश तथा अपने वास्तविक स्वरूप आनन्द की प्राप्ति वेदान्त का प्रयोजन है। 'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है' (छान्दोग्य०, ७, १, ३) इस श्रुति के अनुसार तथा 'ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है' इस श्रुति के अनुसार।

विशेष :- वेदान्त का प्रयोजन जीवब्रह्मैक्यस्वरूप ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवत्तिमात्र नहीं है, क्योंकि वेदान्त अभाववादी दर्शन न होकर सद्वादी या भाववादी दर्शन है। इसीलिए वेदान्त का प्रयोजन ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवत्ति के साथ आत्मा के स्वरूप अर्थात् आनन्द की प्राप्ति भी है।

३०. **अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसंतप्तोदीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरूमुपसत्य तमनुसरति, 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादिश्रुतेः।**

अर्थ—सूर्य की किरणों से जलते हुए सिर वाला मनुष्य जिस प्रकार जलराशि के समीप जाता है उसी प्रकार यह अधिकारी जन्म—मरण आदि रूप वाले संसार रूपी अग्नि से संतप्त होकर उपहार हाथ में लिये हुए, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर उसका अनुसरण करता है, 'समिधा हाथ में लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास (आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए जाना चाहिए इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- प्राचीनकाल में जिज्ञासु शिष्य का उपहारपाणि आवश्यक था। यह शिष्य की श्रद्धा का सूचक था। इसलिए कहा गया है—

रिक्तहस्तेन नोपेयाद् राजानं देवतां गुरुम्।

शंकराचार्य ने भी श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य में इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि बह्मज्ञान का उपदेश ग्रहण करने के लिए जिज्ञासु को गुरु बनाना आवश्यक है—

....तेन कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या का च अविद्या इति परिप्रश्नेन सेवया गुरुशुश्रूषया।

ग्रन्थकार ने गुरु का लक्षण श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ बतलाया है।

ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति की आस्था ब्रह्म के अतिरिक्त अनात्म विषयों में नही होती। शंकराचार्य ने स्पष्ट किया है कि शास्त्र का ज्ञाता भी बिना श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा एवं उपदेश के ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि नहीं कर सकता। छान्दोग्योपनिषद् में भी 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' कहकर गुरु के महत्त्व को बतलाया है। जिज्ञासु का समित्पाणि होकर गुरु के समीप जाना उपलक्षण मात्र है। समिधाएँ लेकर गुरु के समीप जाने का उल्लेख इसलिए किया गया प्रतीत होता है कि समिधाएँ सामान्य रूप से सभी के लिए ले जाना सम्भव है। परन्तु अपने सामर्थ्य के अनुसार जिज्ञासु को गुरु की उपयोगिता को दष्टि में रखकर उपहार ले जाना चाहिए, यही आशय है।

३१. स गुरुः परमकृपया 'अध्यारोपापवाद' न्यायेनैनमुपदिशति, 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादिश्रुतेः।

अर्थ—वह गुरु परम करुणा के साथ 'अध्यारोप—अपवाद' न्याय से इस शिष्य को उपदेश देता है; 'वह विद्वान् उस समीप में आये हुए (शिष्य को आत्मतत्त्व का) उपदेश देता है' इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- जिस 'अध्यारोपापवाद' न्याय का उल्लेख यहाँ ग्रन्थकार ने किया है यह अद्वैत सिद्धान्त का मूलमन्त्र है। इस न्याय में दो सिद्धान्त निहित हैं—एक अध्यारोप और दूसरा अपवाद। अध्यारोप के कारण द्रष्टा ब्रह्म में जगत् का आरोप करके ब्रह्म को जगत ही समझ लेता है। यह वैसे ही है, जैसे कि भ्रान्तिवश द्रष्टा शुक्ति में रजत का आरोप करके शुक्ति को रजत समझ लेता है। इस प्रकार अवस्तु एवं अनात्म जगत्, रजत एवं सर्प आदि के भ्रम का कारण अध्यारोप है। भ्रम का कारण बतलाने के पश्चात् उसकी निवत्ति का सिद्धान्त बतलाना भी वेदान्त के उपदेष्टा का प्रमुख कार्य है। यही ध्यान में रखकर सदानन्द ने अध्यारोप के साथ अपवाद को जोड़ा है। अपवाद से भ्रम के निराकरण का आशय है।

तस्मै स विद्वान् इत्यादि श्रुति के अन्तर्गत प्रयुक्त विद्वान् शब्द का अर्थ ब्रह्मवित् है, केवल शास्त्रनिष्णात नहीं।

३२. असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोध्यारोपः।

अर्थ—जो सर्प नहीं है ऐसी रस्सी पर सर्प के आरोप के समान वस्तु के ऊपर अवस्तु का आरोप, अध्यारोप है।

विशेष :- जिस रस्सी में सर्प का आरोप होता है, वस्तुतः वह सर्प नहीं है। द्रष्टा भ्रमवश पूर्वदष्ट सर्प के संस्कारों के आधार पर रज्जु में सर्प का भ्रममूलक ज्ञान करता है। इसे अध्यारोप अध्यास भी कहते हैं। शंकराचार्य के अनुसार—"पहले कहीं और देखे गये स्मतिरूप ज्ञात को कहीं और देखना" (स्मतिरूपः परम पूर्वदष्टावभासः)।

३३. वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसम२होवस्तु।

अर्थ—वस्तु है सत्, चित्, आनन्द स्वरूप वाला अनन्त और अखण्ड ब्रह्म। अज्ञान से प्रारम्भ होने वाला सम्पूर्ण जड़ वस्तुओं का समूह अवस्तु है।

विशेष :- वस्तु से यहां त्रिकालाबाधित वस्तु से तात्पर्य है। इस प्रकार आत्मा वस्तु है। किन्तु रज्जु—सर्प के उदाहरण में रज्जु वस्तु है। यद्यपि रज्जु आत्मा के समान शाश्वत वस्तु नहीं है, परन्तु सर्प की अपेक्षा वह वस्तुरूप ही है। वस्तु में आरोपित अवस्तु है। अवस्तु अनात्म एवं मिथ्या होने के कारण अनिर्वचनीय है। वस्तु अधिष्ठान रूप है। अध्यास या आरोप के लिए अधिष्ठान का होना अनिवार्य है। तुच्छ से तुच्छ वस्तु का आरोप भी बिना अधिष्ठान के सम्भव नहीं है।

३४. अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादि श्रुतेश्च।

अर्थ—अज्ञान सत् या असत् द्वारा न कथन किया जा सकने वाला, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी (=ज्ञान जिसका विरोधी है), भाव रूप कुछ है ऐसा विद्वान् कहते हैं, 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसा अनुभव होने के कारण तथा 'उन ब्रह्मवेत्ताओं ने अपने गुणों से ढकी हुई स्वयंप्रकाश आत्मा की शक्ति को देखा' इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- ग्रन्थकार ने अज्ञान के जिस सिद्धान्त का उल्लेख किया है, वह अद्वैत–वेदान्त का नितान्त उपादेय सिद्धान्त है। अज्ञान के सिद्धान्त के बिना अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अविद्या, माया, अव्यक्त, प्रकृति, अध्यास, आकाश एवं उपाधि अज्ञान के पर्यायवाची शब्द हैं। अज्ञान को वेदान्त में सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थ सत् त्रिकालाबाधित स्वीकार किया गया है। अज्ञान परमार्थ सत् नहीं है; क्योंकि ज्ञान होने पर अज्ञान की निवत्ति निश्चित है। परन्तु इसके साथ–साथ अज्ञान सर्वथा असत् भी नहीं है। सर्वथा असत् अथवा त्रैकालिक असत् के उदाहरण वन्ध्यापुत्र एवं शशश्रंग हैं, क्योंकि वन्ध्यापुत्र एवं शशश्रंग की त्रैकालिक असत्ता देखी जाती है। अज्ञान वन्ध्यापुत्र एवं शशश्रंग के समान सर्वथा असत् नहीं है। क्योंकि व्यावहारिक रूप से अज्ञान की सत्ता देखी जाती है। जगत् के सम्बन्ध में सत्यता की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला अज्ञान ही है। इसके अतिरिक्त 'मैं अज्ञानी हूँ' आदि अनुभव भी अज्ञान की व्यावहारिक सत्ता को सिद्ध करते हैं। इसी आधार पर सदानन्द ने सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अज्ञान को अनिर्वचनीय कहा है।

अज्ञान को सदानन्द ने त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी एवं भावात्मक कहा है। सत्व, रजस् एवं तमस् से विशिष्ट होने के कारण ही अज्ञान को त्रिगुणात्मक कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी माया की पर्यायवाची प्रकृति को श्वेत, लोहित एवं कृष्ण वर्णों से विशिष्ट कहकर अज्ञान की त्रिगुणात्मकता का ही संकेत किया है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में जो तेज का लोहित, जल का श्वेत एवं पथ्वी का कृष्ण वर्ण बतलाया गया है वह भी अज्ञान की त्रिगुणात्मकता का ही समर्थक है, क्योंकि शुक्लवर्ण सत्त्वगुण का, लोहितवर्ण रजोगुण का एवं कृष्ण वर्ण तमोगुण का द्योतक है। सांख्यकारिका में भी उपनिषदों के उक्त दष्टिकोण के आधार पर प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा गया है।

अज्ञान को ज्ञानविरोधी कहना अद्वैतवेदान्त में जगत् के स्वरूप को स्पष्ट करने में नितान्त सहायक है। अज्ञान ज्ञान का विरोधी है, इसका अर्थ यह है कि जहाँ ज्ञान होगा वहाँ अज्ञान नहीं होगा। दूसरे शब्दो में यों भी कह सकते हैं कि जहाँ अज्ञान होगा वहाँ ज्ञान नहीं होगा। यह अज्ञान ज्ञान द्वारा निवत्ति को प्राप्त होता है। इससे यह आशय स्पष्ट है कि त्रिगुणात्मक अज्ञानकृत जगत् की सत्ता तभी तक है जब तक कि ज्ञान का उदय नहीं होता; ज्ञान का उदय होने पर तो सर्वत्र अद्वैत परमार्थ तत्त्व का ही बोध होता है।

अज्ञान को भावरूप कहकर वेदान्तसार के लेंखक ने बौद्धों द्वारा प्रतिपादित जगत् की विज्ञानमात्रता एवं शून्यरूपता का निराकरण किया है।

अज्ञान को 'यत्किंचित्' कहकर भी वेदान्तसार के रचयिता ने अज्ञान की अभावरूपता का खण्डन किया है। अज्ञान को 'यत्किंचित्' कहने का सदानन्द का यही तात्पर्य है कि वह सदसद्विलक्षण आदि होते हुए भी नितान्त अभावरूप नहीं है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि सदानन्द अज्ञान को यत्किचित् कहकर उसकी भावरूपता सिद्ध करके अज्ञान की जगत्कारणता कदापि सिद्ध नहीं होती। गीता के "नासतो विद्यते भावः" सिद्धान्त के अनुसार अभाव रूप अज्ञान से व्यावहारिक सत् रूप जगत् की सष्टि कैसे सम्भव होती। यह दष्टि में रखकर ही यहाँ अज्ञान को 'यत् किचित्' कहा गया है। अज्ञान की श्रुति एवं युक्ति के द्वारा सिद्धि होने पर उसे अनुभव की कसौटी पर भी सिद्ध किया गया है। 'अहमज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) इस प्रकार का कथन अज्ञान की अनुभवरूपता का ही संकेत करता है।

'देवात्मशक्ति'–इस श्रुतिमन्त्र में मायी परमेश्वर एवं माया–शक्ति का उल्लेख किया गया है। परमेश्वर अधिष्ठान है। वही माया शक्ति के द्वारा जगत् की सष्टि करता है।

३५. **इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते।**

अर्थ–यह अज्ञान समष्टि तथा व्यष्टि के अभिप्राय से 'एक' तथा 'अनेक' कहा जाता है।

विशेष :- अज्ञान का निरूपण व्यष्टि एवं समष्टि के आधार पर किया गया है। व्यवहार में अज्ञान का यह भेद स्पष्ट रूप से दष्टिगोचर होता है, क्योंकि व्यवहार में प्रत्येक जीव से सम्बद्ध अज्ञान देखा जाता है। मूलतया अज्ञान एक ही है। शंकराचार्य ने भी अविद्या को एक ही कहा था।

अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः।

अतः सदानन्द द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि के आधार पर किया गया अज्ञान का विवेचन व्यावहारिक दष्टि से भी ग्राह्य है।

३६. **तथाहि यथा वक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः, 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतेः।**

अर्थ—जैसे कि वक्षों की समष्टि के अभिप्राय से 'यह वन है' इस प्रकार एकत्व का कथन होता है, अथवा जैसे जलों की समष्टि के अभिप्राय से 'यह जलाशय है' इस प्रकार एकत्व का कथन होता है, उसी प्रकार विविध रूप से प्रतीत होने वाले जीवगत अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से उसके एकत्व का कथन होता है, 'अज, एक' इत्यादि श्रुति के अनुसार।

३७. **इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना।**

अर्थ—यह अज्ञान की समष्टि उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण विशुद्ध सत्त्व (गुण) प्रधान है।

विशेष :- अज्ञान की समष्टि को उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण ही उत्कृष्ट उपाधि कहा है। अज्ञान की समष्टि को उत्कृष्ट कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर का उपाधिभूत समष्टिमूलक अज्ञान ईश्वर को आवत्त नहीं करता जबकि निकृष्टोपाधि रूप व्यष्टिमूलक अज्ञान जीव को आच्छन्न कर लेता है, जिसका यह परिणाम होता है कि वह जीवात्मा अपने स्वरूप ब्रह्मस्वरूपता का बोध नहीं कर पाता। लोक में भी कोई व्यक्ति अपने कर्मों से ही उत्कृष्ट एवं निकृष्ट होता है। व्यक्तिमूलक उपाधि का जीव को आच्छन्न करना निकृष्ट होता है। उपाधि की उत्कृष्टता एक और प्रकार से भी विचार्य है, वह यह है कि समष्टिमूलक अज्ञान उत्कृष्ट अर्थात् ईश्वर की उपाधि है और व्यष्टिमूलक अज्ञान निकृष्ट अर्थात् जीव की उपाधि है।

३८. **एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तत्वादिगुणकम व्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञनावभासकत्वात् 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुतेः।**

अर्थ—इससे उपहित अर्थात् उपाधियुक्त चैतन्य सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियन्तत्व आदि गुणों वाला, अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत् का कारण तथा ईश्वर कहा जाता है, सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशक होने के कारण, तथा 'जो सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता है' इत्यादि श्रुति से।

विशेष :- अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य को सर्वज्ञ इसलिए कहा है कि वह समस्त चराचर प्रपच का साक्षी होने के कारण सर्वज्ञ है। (यः सर्वज्ञः सर्ववित्)। वह ईश्वर इसलिए है कि समस्त जीवों को कर्मानुरूप फल प्रदान करता है। ईश्वर चैतन्य का सर्वनियन्तत्व इसलिए है कि वह समस्त जीवों के ह्वदय में स्थित होकर बुद्धि का नियामक है। इसलिए वह अन्तर्यामी भी कहा जाता है। अज्ञान की समष्टि से उपहित ईश्वरचैतन्य को जगत्कारण इसलिए कहा गया है कि वह अधिष्ठान होने के कारण जगत् का कारण है।

३६. **ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपचलयस्थानमिति चोच्यते।**

अर्थ—ईश्वर की उपाधिभूत यह अज्ञान की समष्टि सम्पूर्ण स्थूल तथा सूक्ष्म सष्टि का कारण होने से 'कारणशरीर', आनन्द की अधिकता वाली होने से तथा कोश के समान आच्छादक (=ढकने वाली) होने से 'आनन्दमय कोश', सम्पूर्ण स्थूल–सूक्ष्म सष्टि के उपरम (=लय स्थान) होने से सुषुप्ति ओर इसीलिए 'स्थूल तथा सूक्ष्म (सष्टि) का लयस्थान' कही जाती है।

विशेष :- वेदान्त में ईश्वर की उपाधिभूत अज्ञान की समष्टि एवं जीव की उपाधि भूत अज्ञानकी व्यष्टि को कारणशरीर, आनन्दमयकोश एवं सुषुप्ति कहा है। यहाँ पहले ईश्वर के उपाधिभूत अज्ञान के समष्टि का स्वरूप विचार्य है। वेदान्त में कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूल शरीर के भेद से तीन प्रकार का शरीर माना गया है। इसके साथ ही सुषुप्ति, जागत् एवं स्वप्न ये तीन अवस्थाएँ एवं आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय ये पचकोश स्वीकार किए गए हैं। ईश्वरचैतन्यविषयक समष्टिमूलक अज्ञान, सुषुप्ति अवस्था में कारणशरीर एवं आनन्दमय कोश कहलाता है। इस समष्टिमूलक अज्ञान की सुषुप्ति अवस्था प्रलयावस्था है। इस प्रलय की अवस्था को सुषुप्ति इसलिए कहा है कि जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जागत् एवं स्वप्नकाल में स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपच का लय हो जाता है, उसी प्रकार प्रलय दशा में भी समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपच का लय हो जाता है। ईश्वर–चैतन्यविषयक समष्टिमूलक अज्ञान को कारणशरीर इसलिए कहा है कि वह सम्पूर्ण प्रपच की उत्पत्ति का कारण होता है। ईश्वरचैतन्यविषयक अज्ञान को आनन्दमयकोश इसलिए कहा जाता है कि कारणावस्था में स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपच के न रहने से आनन्द की बहुलता रहती है। प्रस्तुत स्थल पर ईश्वरचैतन्यविषयक अज्ञान की समष्टि की सुषुप्ति अवस्था, कारणशरीर एवं आनन्दमयकोश से यही तात्पर्य है। जहाँ तक अज्ञान की समष्टि के इतर शरीरों, अवस्थाओं एवं कोशों का प्रश्न है, स्वप्नावस्था में उक्त अज्ञान सूक्ष्म शरीर एवं विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमयकोश के रूप में स्थित है। ईश्वरचैतन्यविषयक समष्टिमूलक अज्ञान की स्वप्नावस्था वह है जिसमें अपचीकृत अर्थात् सूक्ष्म भूतों की दष्टि के परिणामस्वरूप सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। स्वप्नावस्था में वर्तमान ईश्वर–चैतन्य को ही हिरण्यगर्भ एवं सूत्रात्मा कहते हैं। ईश्वरचैतन्यविषयक

अज्ञान की समष्टि की वह जाग्रत् अवस्था है जिसमें पचीकृत स्थूल भूतों के कार्यरूप स्थूल प्रपच की सष्टि होती है। इस अवस्था में प्रपच की सष्टि होने के कारण ही इसे स्थूल अन्नमय कोश कहते हैं।

४०. यथा वनस्य व्यष्ट्यमिप्रायेण वक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तथाज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादितश्रुतेः।

अर्थ–जैसे वन का व्यष्टियों के अभिप्राय से 'ये वक्ष हैं', इस प्रकार अनेकत्व कथन होता है, अथवा जैसे जलाशय का व्यष्टियों के अभिप्रायः से 'ये जल हैं' इस प्रकार अनेकत्व कथन होता है, उसी प्रकार अज्ञान का व्यष्टियों के अभिप्राय से अनेकत्व कहा जाता है, 'इन्द्र माया द्वारा अनेक रूपों वाला प्रतीत होता है' इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- समष्टि से जैसे अनेक वक्षों में वन रूप एकत्व का बोध होता है वैसे ही व्यष्टि रूप से वन में अनेक वक्षों का बोध होता है। व्यष्टि रूप से अज्ञान भी अनेक रूप हो जाता है।

अज्ञान की व्यष्टिरूपता का प्रतिपादन करते समय वेदान्तसार के रचयिता ने 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इस श्रुति को उद्धत किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त श्रुति में माया शब्द का प्रयोग शंकराचार्यप्रभति वेदान्तियों द्वारा प्रयुक्त माया शब्द के अनिर्वचनीयत्वसम्पन्न मिथ्यात्व के अर्थ को स्पष्ट नहीं करता। अतः निश्चय ही इस स्थल पर माया शब्द का अर्थ शाङ्कर वेदान्त में प्रयुक्त माया के अर्थ से भिन्न है।

४१. अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः।।

अर्थ–यहाँ इस अज्ञान में व्यष्टि तथा समष्टि नाम अलग–अलग तथा समूह रूप में व्याप्त करने के कारण हैं।

४२. इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना।

अर्थ–अज्ञान की यह व्यष्टि निकृष्ट उपाधि होने के कारण मलिन सत्त्व की प्रधानता वाली है।

विशेष :- जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, अज्ञान की व्यष्टि को निकृष्टोपाधि इसलिए कहा जा सकता है कि वह जीव के स्वरूप को आच्छन्न किये रहती है और दूसरे इसलिए कि वह ईश्वर की अपेक्षा निकृष्ट जीव की उपाधि है। अज्ञान की व्यष्टि की मलिनसत्त्वप्रधानता का कारण यह है कि इसमें सत्त्व, रजस् एवं तमस् से अभिभूत होकर मलिन रहता है तथा रजत् एवं तमस् की ही प्रधानता रहती है।

४३. एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते एकाज्ञानावभासकत्वात्।

अर्थ–इस व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदि गुणों वाला तथा प्राज्ञ कहा जाता है, एक अज्ञान का प्रकाशक होने के कारण।

विशेष :- अज्ञान की व्यष्टि से उपहित जीव को प्राज्ञ कहा है। प्राज्ञ सुषुप्ति अवस्था में वर्तमान जीव है। जाग्रत् अवस्था में वर्तमान जीव विश्व एवं स्वप्न अवस्था में वर्तमान जीव तैजस कहलाता है। इस सन्दर्भ में प्राज्ञ शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित हैं। प्राज्ञ शब्द के निम्नलिखित प्रमुख अर्थ मिलते हैं :–

(१) प्रकषेण जानाति, इति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राज्ञ का अर्थ होगा जो प्रकर्ष रूप से जानता है। हिरिन्ना ने उक्त अर्थ का निर्देश करते हुए भी 'प्रायेण अज्ञः' इस व्युत्पत्ति को ही ग्राह्य माना है।

(२) शंकराचार्य ने प्राज्ञ के दो अर्थ किये हैं–एक तो यह कि भूत एवं भविष्यत् तथा समस्त विषयों का ज्ञाता प्राज्ञ है और दूसरा यह कि केवल प्रज्ञप्ति इसी का असाधारण रूप है, इसलिए इसकी प्राज्ञता है।

(३) विद्वन्मनोरंजनीकार के अनुसार प्राज्ञ शब्द का अर्थ प्रायः अज्ञ है। यहाँ अल्पज्ञ एवं अनीश्वर जीव के सम्बन्ध में स्वामी रामतीर्थ का अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि जीव मलिन–सत्त्वप्रधान अज्ञान की उपाधि से उपहित होने से प्रायः अज्ञ ही होता है। शंकराचार्य द्वारा प्रद त्त प्रथम अर्थ ईश्वर के विषय में ही संगत हो सकता है, क्योंकि वही भूत, भविष्यत् एवं समस्त विषयों का ज्ञाता है न कि जीव। शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त दूसरा प्रज्ञप्ति मात्रता का अर्थ रामतीर्थ के अर्थ का विरोधी न होकर समर्थक ही है।

४४. अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयानतिप्रकाशकत्वात्।

अर्थ–इस का प्राज्ञत्व अस्पष्ट अर्थात् मलिनसत्त्वप्रधान उपाधि वाला होने से अधिक प्रकाशक न होने के कारण है।

विशेष :- प्राज्ञ की अनतिप्रकाशता में अस्पष्टोपाधिता का हेतु प्रदर्शित करते हुए यह तर्क दिया गया है कि अज्ञान की

व्यष्टि मलिन—सत्त्वप्रधान होने के कारण रजस् एवं तमस् से अभिभूत होने से सत्त्व गुण द्वारा प्रकाश्य सांसारिक विषयों को प्रभावित करने में असमर्थ होती है, इसलिए अज्ञान की व्यष्टि से उपहित जीव चैतन्य को अल्पज्ञ कहा गया है।

४५. अस्यापीयमहङ्कारादिकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवादाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूल-सूक्ष्मशरीरप्रपचलयस्थानमिति चोच्यते।

अर्थ—इसकी भी यह अज्ञान की व्यष्टि अहंकार आदि का कारण होने से 'कारणशरीर' आनन्द की अधिकता से तथा कोश के समान ढकने वाली होने से 'आनन्दमय कोश', सम्पूर्ण स्थूल तथा सूक्ष्म सष्टि के उपरम अर्थात् लयस्थान होने से 'सुषुप्ति' और इसी कारण 'स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों की सष्टि का लयस्थान' कही जाती है।

विशेष :- ईश्वर को अज्ञान की समष्टि के सदश ही प्राज्ञ की अज्ञानव्यष्टि भी कारणशरीर, आनन्दमयकोश एवं सुषुप्ति कहलाती है। सुषुप्ति अवस्था में व्यष्टिरूप अज्ञान कारणशरीर इसलिए कहलाता है कि वह सुषुप्ति अवस्था में अहंकारादि का उत्पादक होता है। सुषुप्तिकालीन अज्ञान की व्यष्टि को आनन्दमय इसलिए कहा जाता है कि उस समय इन्द्रियों एवं उनके विषयों की स्थिति न होने के कारण आनन्द की प्रचुरता रहती है। जैसा कि कह चुके हैं सुषुप्ति में यह व्यष्टि प्राज्ञ चैतन्य को खोल की तरह आच्छादित किए रहती है, इसीलिए यह आनन्दमयकोश कहलाती है। इसे सुषुप्ति इसलिए कहते हैं कि इस अवस्था में, समस्त पचीकृत स्थूलप्रपच रूप जाग्रत् अवस्था की व्यावहारिक सत्ता का अपचीकृत सूक्ष्म—शरीररूप स्वप्नावस्था में वर्तमान प्रातिभासिक सत्ता में हो जाता है और उस स्वप्नकालिक प्रातिभासिक सत्ता का लय अपने कारणरूप अज्ञान में हो जाता है, यही सर्वोपरक है।

४६. तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवत्तिभिरानन्दमनुभवत 'आनन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः, 'सुखमहमस्वाप्सं न किचिदवेदिषम्' इत्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च।

अर्थ—उस समय अर्थात् सुषुप्ति की अवथा में) ये ईश्वर और प्राज्ञ चैतन्य द्वारा प्रकाशित अत्यन्त सूक्ष्म अज्ञान की वत्तियों द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं, 'चैतन्य द्वारा आनन्द का भोग करने वाला प्राज्ञ इस श्रुति के अनुसार तथा 'मैं सुख से सोया, मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार (सोकर) उठे हुए (मनुष्य) को अनुभव होने से।

विश्रेष :- जिस प्रकार प्रलयवर्ती एवं सुषुप्तिवर्ती अज्ञान वस्तुतः एक ही है, भेद समष्टि एवं व्ष्टिपरक है, उसी प्रकार अज्ञान की समष्टि से उपहित ईश्वर एवं व्यष्टि से उपहित प्राज्ञ अर्थात् जीव में भी क्रमशः प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में अभेद ही है, भेद समष्टि एवं व्यष्टि के ही कारण हैं। दोनों की प्रयलकालीन एवं सुषुप्तिकालीन समानता का प्रतिपादन करते हुए प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में दोनों के आनन्दीभोक्तत्व को सिद्ध करते हुए 'आनन्दभुक्मचेतोमुखः' इस श्रुति एवं 'सुखमहमस्वाप्सं न किचिदवेदिषम्' इस अनुभूति—रूप युक्ति को उद्धत किया है। दोनों की अभेदता का प्रतिपादन करते हुए सदानन्द का कथन है कि ईश्वर एवं जीव दोनों ही प्रलय एवं सुषुप्ति में आनन्दभोक्ता भी हैं। यहाँ यह आक्षेप स्वाभाविक है कि प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न अवस्थाओं के विपरीत ईश्वर एवं प्राज्ञ में अन्तःकरण की वत्ति का अभाव होने के कारण ईश्वर एवं प्राज्ञ आनन्द का अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं, जबकि दुःख एवं सुख दोनों के ही भोग के लिए अन्तःकरण की अज्ञान वत्ति की नितान्त अपेक्षा है। इस आक्षेप का समाधान करते हुए उक्त स्थल पर कहा गया है कि प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में अज्ञान तो शेष नही रहता, किन्तु अज्ञान की सूक्ष्मवत्ति अर्थात् संस्कार शेष रहते हैं, उन्हीं के माध्यम से ईश्वर एवं प्राज्ञ आनन्द का अनुभव करते हैं। प्राज्ञ आनन्द का अनुभव करता है, इसका प्रमाण 'मुखमहमस्वाप्सम्' यह परामर्श और अज्ञान की सूक्ष्मवत्तियां शेष रहती हैं, इसका प्रमाण 'न किचिदवेदिषम्' यह परामर्श है।

अज्ञान की सूक्ष्मवत्तियों द्वारा जो कि जड़ है, किस प्रकार आनन्द का अनुभव होता है, यह शंका स्वाभाविक है। किन्तु इसका समाधान यह है कि अज्ञान की सूक्ष्म वत्तियां चित् के प्रतिबिम्ब से युक्त होती हैं, इसीलिये ये आनन्दभोग में सक्षम हैं।

४७. अनयोः समष्टिव्यष्टयोर्वनवक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाभेदः।

अर्थ—अज्ञान की इन समष्टि तथा व्यष्टियों में वन तथा वक्षों के समान एवं जलाशय तथा जलों के समान अभेद है।

४८. एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशय-जलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वा अभेद 'एष सर्वेश्वर' इत्यादिश्रुतेः।

अर्थ—इन समष्टि तथा व्यष्टि अज्ञानों से उपहित ईश्वर तथा प्राज्ञ में भी वन तथा वक्षों से ढके हुए आकाशों के समान, अथवा जलाशय तथा जलों में स्थित प्रतिबिम्ब रूप आकाशों के समान अभेद है, 'यह प्राज्ञ ही सर्वेश्वर है' इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- इस प्रकार समष्टिमूलक अज्ञान एवं व्यष्टिमूलक अज्ञान से उपहित ईश्वर एवं प्राज्ञ अर्थात् जीव के स्वरूपैक्य का प्रतिपादन करते हुए वनावच्छिन्न आकाश एवं वक्षावच्छिन्नाकाश तथा जलाशयगत आकाशप्रतिबिम्ब एवं जलगत आकाशप्रतिबिम्ब की अभेदता के दष्टान्त दिए हैं। वस्तुतः जिस प्रकार जलाशय एवं जी की उपाधियों के कारण ही आकाशप्रतिबिम्ब का भेद है, उसी प्रकार उपाधि के कारण ही ईश्वर एवं प्राज्ञ का भेद है। उपाधि के कारण ही ईश्वर कारणोपाधि एवं जीव कार्योपाधिरूप है।

जीव और ब्रह्म के स्वरूपैक्य का प्रतिपादन करते हुए सदानन्द ने 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौ हि भूतानाम्'। श्रुति को उद्धत किया है, जिसके अनुसार प्राज्ञ अर्थात् जीव ही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी एवं समस्त संसार के प्राणियों की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण है।

४६. वनवक्षतदवच्छिन्नकाशयोर्जलाशय जलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहित-चैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते' इत्यादिश्रुतेः।

अर्थ–वन–वक्ष तथा 'इनसे अवच्छिन्न आकाशों के, जलाशय जल तथा इनमें स्थित प्रतिबिम्ब रूप आकाशों के आधारभूत उपाधिरहित मूल आकाश के समान इन समष्टि–व्यष्टि रूप अज्ञानों तथा इनसे उपहित चैतन्यों का आधारभूत जो उपाधिरहित चैतन्य है, वह तुरीय (=चतुर्थ) कहा जाता है, 'विद्वान् आत्मा को शिव (=आनन्दमय या कल्याणकारक) अद्वैत तथा चतुर्थ मानते हैं', इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- यहाँ ईश्वर एवं जीवचैतन्य की अद्वैतता का प्रतिपादन करते हुए इन दोनों के आधार के रूप में अनुपहित चैतन्य अर्थात् तुरीयचैतन्य का उल्लेख किया है। प्राज्ञ (जीव) ईश्वर के आधारभूत चैतन्य का प्रतिपादन करने के लिए सोपाधिक आकाश, वनावच्छिन्न आकाश एवं वक्षावच्छिन्न आकाश तथा जलाशय एवं जलगत प्रतिबिम्बाकाश तथा निरुपाधिक आकाश के दष्टान्त दिये हैं। इस दष्टान्त का आशय यही है कि जिस प्रकार उपर्युक्त वन आदि उपाधियों से उपहित वनावच्छिन्न आदि सभी आकाशों का मूलाधार एक ही आकाश है, उसी प्रकार अज्ञान की व्यष्टि से उपहित प्राज्ञ एवं समष्टि से उपहित ईश्वर में भी उपाधि के कारण ही भेद है, वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

शांकर वेदान्त को 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' आदि उक्तियां भी जीव एवं ब्रह्म की अद्वैतता का ही निरुपण करती हैं। सदानन्द ने अनुपहित चैतन्य को तुरीय कहा है। अतः तुरीय का स्वरूप विचारणीय है। वेदान्त–दर्शन में जागत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय के रूप में चार अवस्थायें बतलाई गई हैं। जाग्रत्, अवस्था में जीव लौकिक जगत् के व्यवहारों का तथा स्वप्नावस्था में स्वप्नकाल के विषयों का अनुभव करता है। स्वप्नावस्था में जाग्रत् के विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता; स्वप्न में तों विषयों की स्थिति मानसिक ही होती है। सुषुप्ति अवस्था उक्त दोनों से भिन्न है, इसमें स्वप्नावस्था की तरह जीव जागतिक विषयों का स्वाप्निक अनुभव नहीं करता। सुषुप्ति अवस्था उस गहरी नींद का नाम है, जिसमें व्यक्ति कोई स्वप्न नहीं देखता, परन्तु जिससे उठने के बाद 'सुखमहास्वाप्सम्, न किंचिदवेदिषम्' के रूप में सुख का अनु भव तो करता है, परन्तु उसे सुषुप्ति अवस्था का कुछ भी स्मरण नहीं रहता। चतुर्थावस्था तुरीयावस्था है। यह अवस्था ब्रह्मबोध की स्थिति है। इस स्थिति में शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्ममात्र की स्थिति रहती है। इस स्थिति में अज्ञान का लेश भी नहीं रहता। अतः अज्ञान के शेष न होने के कारण अज्ञानजन्य अन्तःकरण के समस्त अनुभव भी समाप्त हो जाते हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को 'चतुष्पात्' कहते हुए जाग्रत आदि अवस्थाओं का वर्णन किया है। आत्मा का प्रथम पाद 'वैश्वानर' रूप है। यह स्थूल जगत् का भोजन है अतएव बहि–प्रज्ञ है। इसे माण्डूक्योपनिषद् में–उन्नीस मुख वाला कहा है। इसके उन्नीस मुख–५ ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, त्वक्, घ्राण, श्रवण, रसना), ५ कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), पच प्राण त्र(प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) तथा मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त हैं। द्वितीय पाद–प्रविविक्तभुक् एवं तेजस है। यह स्वप्नावस्थावर्ती है। स्वप्नावस्था में जाग्रत् के विषयों की सत्ता न होने के कारण केवल बाह्य विषयों की वासनारूप प्रज्ञा ही भोग्य होती है, इसलिए इसे प्रविविक्तभुक् कहते हैं। इस द्वितीय पाद को अन्तःप्रज्ञ भी कहते हैं। आत्मा का ततीय पाद 'प्राज्ञ' सुषुप्तिस्थानवर्ती प्रज्ञानघन एवं आनन्दमय है। यह 'प्राज्ञ' सुषुप्ति में न स्वप्न देखता है और न कोई कामना करता है। जिस प्रकार रात्रि में अन्धकार के कारण समस्त जगत् अविभक्त होने के कारण घनसदश होता है, उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्थाओं के समस्त अनुभव घनीभूत हो जाते हैं, इसीलिए इसे प्रज्ञानघन कहते हैं। यह ततीय पाद सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी एवं सष्टि तथा प्रलय का कारण है। आत्मा का चतुर्थ पाद आत्मा है, यही तुरीय है।

(तुरीयावस्थावर्ती) यह चतुर्थपाद न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ, न दोनों, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ और न अप्रज्ञ। यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अदष्ट, वचनादि द्वारा अव्यवहार्य, अग्राह्य, गन्धवत्त्वादि लक्षणों से अबोध्य, अन्तःकरण द्वारा अचिन्त्य, पथिवी आदि तत्त्वों की तरह व्यपदेश का अविषय आत्मबोध स्वरूप, प्रपचाभावरूप, शान्त, शिव, अद्वैत एवं चतुर्थ अर्थात् तुरीय है, वह आत्मा है, वह जानने के योग्य है। यहाँ 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते' इस श्रुत्यंश के अन्तर्गत यद्यपि तुरीय को चतुर्थ कहा है, परन्तु तुरीय को चतुर्थ कहना जाग्रदादि की अपेक्षा से ही है। वस्तुतः संख्यातीत है। उसको 'चतुष्पात्' कहना भी अविद्या के ही कारण है।

५०. इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं संल्लक्ष्यमिति चोच्यते।

अर्थ–यही तुरीय शुद्ध–चैतन्य अज्ञान आदि तथा उससे उपहित चैतन्य से, तपाये हुए लोहे के गोले के समान, भिन्न न माना जाता हुआ महाकाव्य का वाच्यार्थ तथा भेद किया जाता हुआ लक्ष्यार्थ कहा जाता है।

विशेष :- ग्रन्थकार तुरीय शुद्धचैतन्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि वह 'तत्त्वमसि' का वाच्यार्थ भी है और लक्ष्यार्थ भी। वाच्यार्थ इस प्रकार है कि तत्त्वमसि का वाच्यार्थ–'वह शुद्धचैतन्य तुम जीव हो' 'त्वम् पद से बोध्य जीव एवं तत् पद से बोध्य शुद्धचैतन्य के अद्वैतभाव का बोध कराता है। इस प्रकार तुरीय शुद्ध–चैतन्य का बोध (तत्त्वमसि) इस महावाक्य के वाच्यार्थ से ही सिद्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'तप्तायःपिण्ड' का दष्टान्त दिया है। 'तप्तायपिण्ड' का वाच्यार्थ है–अग्नि के सन्तप्त लोहे का गोला। इस वाच्यार्थ से अग्नि और उससे सन्तप्त लोहे के गोले में अभेदता का बोध होता है, इसी प्रकार जैसा किऊपर कहा गया है, 'तत्त्वमसि' के वाच्यार्थ 'वह तुम हो, द्वारा भी अद्वैत का बोध होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ द्वारा 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में अभेदविवक्षा स्पष्ट है। अब लक्ष्यार्थ की प्रक्रिया से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य द्वारा तुरीय शुद्ध चैतन्य के बोध को लीजिये। लक्षणा के सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार का कथन है कि मुख्यार्थ का बाध होने पर, रूढि के कारण अथवा किसी अन्य प्रयोजन से, मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा हो वह लक्षणा कहलाती है।

उदाहरणार्थ 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा में घोष है) इस उदाहरण के अन्तर्गत गंगा पद के मुख्यार्थ का बाध होकर उस गंगापद के मुख्यार्थ) से सम्बद्ध तटरूप अर्थ का बोध शैत्यपावनत्व के प्रयोजन से लक्षणा शक्ति द्वारा होता है। यहाँ गंगा एवं तट की भेदविवक्षा स्पष्ट है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' का वाच्यार्थ 'वह (ब्रह्म) तुम (जीव) हो, भी बाधित होता है, क्योंकि जीव एवं शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म में ऐक्य कैसे हो सकता है; जीव तो अल्पज्ञ है और शुद्ध चैतन्य सर्वज्ञ है। इस प्रकार वाच्यार्थ के बाधित होने पर लक्षणा शक्ति से मुख्यार्थ से सम्बन्धित इस लक्ष्य अर्थ का बोध होता है कि अज्ञानोपाधि से उपहित जीव वस्तुतः शुद्ध चैतंन्य ही है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि अग्नि से तप्त लोहपिण्ड से यदि किसी व्यक्ति का अंग जल जाये और वह कहे कि 'अयो दहति' (लोहा जलाता है) तो यहाँ इसके वाच्यार्थ–'लोहा जलाता है' का बाध होगा, क्योंकि लोहे में जलाने का सामर्थ्य नहीं है। अतः यहाँ लक्ष्यार्थ होगा कि अग्नि से तप्त लौहपिण्ड जलाता है। इस प्रकार 'अयो दहति' इस उदाहरण में लौहपिण्ड से लक्षणा शक्ति के द्वारा लौहपिण्ड से सम्बद्ध अग्नि का बोध होता है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ का बोधक अभिधा एवं लक्षणा शक्ति के द्वारा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से तुरीयचैतन्य के बोध की प्रक्रिया स्पष्ट की है।

५१. अज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्।

अर्थ–अज्ञान की 'आवरण' तथा 'विक्षेप' नामक दो शक्तियाँ हैं।

विशेष :- इस स्थल पर ग्रन्थकार ने अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप शक्ति का उल्लेख किया है। उसका निरूपण शंकराचार्य ने विवेकचूडामणि के अन्तर्गत करते हुए कहा है–

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम्।।

इन दोनो आवरण शक्तियों से ही पुरुष बन्धन को प्राप्त हुआ है और इन्हीं में मोहित होकर वह देह को आत्मा मानकर संसार–चक्र में भ्रमण करता रहता है।

माया को आवरण एवं विक्षेप–शक्ति के सम्बन्ध में शंकराचार्य का उपर्युक्त विचार ही सदानन्द के आवरण एवं विक्षेपशक्ति विषयक विवेचन का आधार प्रतीत होता है।

५२. आवरणशक्तिस्तावदल्पोपि मेघोनेकयोजनायतामादित्यमण्डलमवलोकयितनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितबुद्धिपिधायकतयाच्छायतीव तादशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्-

घनच्छन्नदष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।

तथा बद्धवद्भाति यो मूढदष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोहमात्मा'। इति।। (हस्तामलक, १०)

अर्थ–जैसे छोटा–सा भी मेघ अनेक योजनों में फैले हुए सूर्य–मण्डल को देखने वाले के दष्टिपथ को ढकने के द्वारा मानों ढक लेता है, उसी प्रकार अज्ञान सीमित होता हुआ भी, असीमित तथा संसरण न करने वाली आत्मा को देखने वाले की बुद्धि को ढकने के द्वारा मानों ढक लेता है, अज्ञान की इस प्रकार की सामर्थ्य आवरण शक्ति है, ऐसा कहा भी गया है–

(अन्वय–यथा अतिमूढः घनच्छन्दष्टिः (सन्) अर्कम् घनच्छन्नम् निष्प्रभम् च मन्यते तथा मूढदष्टेः यः बद्धवत् भाति, सः नित्योपलब्धिस्वरूपः आत्मा अहम् (अस्मि।)

जैसे अत्यन्त मूर्ख मनुष्य बादलों से ढकी दटि वाला होकर सूर्य को बादलों से ढका हुआ जैसा प्रकाशरहित समझने लगता है, उसी प्रकार मूढ़ दष्टि वाले मनुष्य को जो बंधा हुआ–सा प्रतीत होता है वह नित्य ज्ञान–स्वरूप आत्मा मैं हूँ।

विशेष :- अज्ञान की आवरणशक्ति सीमित होते हुए भी असीम आत्मा को आवत सा कर लेती है। इस स्थल पर प्रायः यह शंका होती है कि सीमित अज्ञान असीम आत्मा को किस प्रकार आवत कर लेता है। किन्तु यह आक्षेप औचित्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकार ने 'आच्छादयति इव' कहा है, न कि 'आच्छादयति'। इसके अतिरिक्त इस स्थल पर सूर्य को घनावत देखने वाले घनावतदष्टिसम्पन्न व्यक्ति को अतिमूढ कहकर (यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः) ग्रन्थकार ने उक्त सिद्धान्त को और भी स्पष्ट कर दिया है। इस दष्टांत से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार मूर्खता से अत्यन्त मूढ व्यक्ति घन से ढकी दष्टि वाला होकर सूर्य को ही धनावत मान लेता है, उसी प्रकार मूढ–दष्टि वाले अज्ञानियों को आत्मा जन्म–मरण के बन्धन से बंधा प्रतीत होता है।

शंकराचार्य के प्रकरण ग्रन्थ–हस्तामलक से घनच्छन्नदष्टि० श्लोक को उद्धत करते हुए आत्मा को नित्योपलब्धिस्वरूप कहकर ग्रन्थकार ने बन्धन की अवास्तविकता सिद्ध की है। बन्धन की अवास्तविकता का यही आशय है कि आत्मा के निष्कल एवं शाश्वत सत्तास्वरूप होने के कारण उसके बन्धन का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। किन्तु जीव का बन्धन देखने में आता है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'तथा बद्धवद्भाति यो मूढदष्टेः' कहकर अज्ञान को ही बन्धन का कारण कहा है। वास्तविकता यह है कि जीव के जन्मजन्मान्तर के अज्ञानमूलक संस्कार ही जीव के बन्धन के कारण हैं। इस प्रकार अज्ञानकृत बन्धन असत्य होते हुए भी सत्य सा प्रतीत होता है।

५३. अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तत्वभोक्तत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानेनावत्तायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना।

अर्थ–अज्ञान की इसी आवरण शक्ति से ढकी हुई आत्मा में कर्तत्व, भोक्तत्व, तथा सुखदुःख–मोहरूप तुच्छ संसरण की भावना भी सम्भव होती है, जैसे अपनें अज्ञान से ढकी हुई रस्सी में सर्प होने की सम्भावना।

विशेष :- आवरण शक्ति के कार्य को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि अज्ञान की आवरण शक्ति से अवच्छिन्न आत्मा को ही कर्तत्व एवं सुखदुःखमोहात्मकरूप तुच्छ सांसारिक भावनाओं का अनुभव होता है। जहाँ तक तत्त्वज्ञानी का प्रश्न है, वह कर्तत्व आदि की भावनाओं का अनुभव नहीं करता। कर्तत्वादि की भावना को तुच्छ कहकर सदानन्द ने इसी अज्ञानमूलकता की ओर ही संकेत किया है।

५४. विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपचमुद्भावयति, तादशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्-

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्त जगत्सजेत्' इति।

अर्थ–जैसे रस्सी से सम्बन्धित अज्ञान अपने से ढकी हुई रस्सी में अपनी शक्ति से सर्प आदि को उत्पन्न कर देता है, इसी प्रकार अज्ञान भी अपने से ढकी हुई आत्मा में विक्षेप शक्ति द्वारा आकाश आदि सष्टि को उत्पन्न कर देता है, अज्ञान की इस प्रकार की सामर्थ्य विक्षेप शक्ति है। ऐसा कहा भी गया है.–'विक्षेप शक्ति लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर से आरम्भ कर ब्रह्माण्ड–पर्यन्त जगत् की रचना करती है।

विशेष :- शंकराचार्य के उत्तरकाल में भाषा को विषयिमूलक अविद्या एवं विषयमूलक माया के रूप में जो भेद मिलता है, वह माया की आवरण एवं विक्षेपशक्ति के अनुरूप ही है। जिस प्रकार कि आवरण शक्ति जीव के स्वरूपज्ञान में बाधक है, उसी प्रकार विषयि (जीव़)–मूलक अविद्या जीव को वस्तुज्ञान से वंचित रखती है। जीव की यह अविद्या संस्कारगत है। जिस प्रकार विक्षेपशक्ति जगत् की रचयित्री है, उसी प्रकार विषयमूलक माया भी जगत् की बीजशक्ति है। यही माया की विषयिमूलकता का रूप है और माया विषयमूलकता का रूप। एक ही माया कि जैसे उपर्युक्त दो आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार एक ही माया विषयी एवं विषयरूप दोनों हैं।

५५. शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति।

अर्थ–आवरण तथा विक्षेप इन दो शक्तियों से युक्त चैतन्य अपनी प्रधानता से निमित्त और अपनी उपाधि की प्रधानता से उपादान कारण होता है।

विशेष :- इस स्थल पर ग्रन्थकार ने कार्यकारणवाद की दष्टि से अज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' के आधार पर परमात्मा को जगत् के जन्म आदि का कारण कहा गया है। यहाँ यह आक्षेप उठना स्वाभाविक है कि यदि परमात्मा जगत् का कारण है तो क्या वह निमित्तकारण है अथवा उपादान–कारण ? क्योंकि उसमें दो प्रकार की कारणता ही सम्भव है। परमात्मा निमित्त–कारण तो इसलिए नहीं हो सकता कि जिस प्रकार दण्डादि निमित्तकारण घटादि कार्यों में व्याप्त देखे जाते हैं, उस प्रकार परमात्मा की स्थिति नहीं है। क्योंकि 'तत् सष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार परमात्मा जगत् की सष्टि करके उसी में प्रवेश कर जाता है। अर्थात् अनन्यत्व को प्राप्त होता है। निमित्तकारण दण्ड की यह स्थिति नहीं है। दण्डादि की तो घटादि कार्य से पथक् सत्ता ही देखी जाती है। इसलिए परमात्मा निमित्तकारण कदापि नहीं हो सकता। जहाँ तक परमात्मा की उपादान–कारणता का प्रश्न है, वह भी संगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि चेतनस्वरूप परमात्मा जड़ जगत् का उपादानकारण कैसे हो सकता है ? और यदि चेतनस्वरूप परमात्मा को जगत् का उपादानकारण मान भी लिया जाय तो उपादानरूप नित्य परमात्मा से सष्ट जगत् भी अनित्य न होकर नित्य ही सिद्ध होगा, किन्तु जगत् की अनित्यता लोक एवं वेद दोनों में ही सुप्रमाणित है।

उपर्युक्त आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत अंश में यह कहकर किया गया है कि अज्ञान से उपहित चैव्नन्य, चैतन्य की प्रधानता के कारण निमित्तकारण है एवं अज्ञान की प्रधानता के कारण उपादानकारण। नसिंहसरस्वती ने परमात्मा की निमित्तकारणता कों स्पष्ट करने के लिए यह दष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार अयस्कान्त (चुम्बक) के सान्निध्य से जड़ लौह में भी क्रिया देखी जाती है। उसी प्रकार चैतन्य के सान्निध्य से जड़ रूप अज्ञान में भी चेष्टा देखी जाती है। इस प्रकार जड़रूप अज्ञान में सष्टि की चेष्टा परमात्मा के ही सान्निध्य से है, अतः वह निमित्त–कारण है। इसी प्रकार आकाशादि प्रपच के माया के उपादान–कारण होने से मायाशक्तिसम्पन्न मायावी ईश्वर भी परम्परया उपचार से उपादान–कारण भी कहा जा सकता है।

यह आक्षेप कि परमात्मा यदि निमित्तकारण है तो 'तत् सष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुति के अनुरूप वह प्रपचरूप जगत् में प्रवेश किस प्रकार करेगा, उचित नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति उपादानकारणपरक है और हमने परमात्मा को उपादान–कारणता एवं निमित्त–कारण दोनों ही कहा है। ईश्वर की उपादानकारणता के विरोध में यह तर्क भी कि ईश्वर को उपादानकारण मानने पर उसका कार्य जगत् भी नित्य सिद्ध हो जाएगा, औचित्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के कारण (परमात्मा) एवं कार्यरूप जगत् के विषय में परिणामवाद को न स्वीकार करके विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। विवर्तवाद के अनुसार वस्तु अपने स्वरूप का त्याग न करके भिन्न स्वरूप का प्रदर्शन करती है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार शुक्ति के स्वरूप का परित्याग हुए बिना ही उसमें रजत आदि का भ्रम होता है, उसी प्रकार परमात्मा के स्वरूप में परिवर्तन बिना ही उसमें जगत् की अनेकरूपता का भ्रम होता है। इस भ्रम का कारण अज्ञान है। इस प्रकार जगत् की सत्ता अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण नित्य नहीं कही जा सकती। इसलिए वेदान्त में मायिक जगत् की सत्ता सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कही गई है।

५६. यथा लूता तन्तुकार्य प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।

अर्थ–जैसे मकड़ी जाले रूप कार्य के प्रति अपनी प्रधानता से निमित्त कारण और अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है।

विशेष :- ग्रन्थकार की निमित्तकाणता एवं उपादानकारणता के सम्बन्ध में जो मकड़ी का दष्टान्त दिया है, वह नितान्त उपयुक्त है, क्योंकि जिस प्रकार मकड़ी अपने ही तन्तुओं से, बिना किसी बाह्य साधन की अपेक्षा के जाला बुन लेती है, उसी प्रकार परमात्मा भी बिना किसी बाह्य साहाय्य के अपनी माया–शक्ति से जगत् की सष्टि करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने तन्तुओं के कारण उपादानकारण एवं अने चैतन्यांश के कारण निमित्तकरण है, उसी प्रकार परमात्मा भी माया के कारण उपादानकारण है एवं चैतन्यांश के प्राधान्य के कारण निमित्तकारण।

५७. तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोद्भ्यः पथिवी चोत्पद्यते तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः।

अर्थ–तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जलों से पथिवी उत्पन्न होती है, 'उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- यहाँ अद्वैत वेदान्त के अनुसार सष्टिक्रम निर्दिष्ट है। अज्ञान को तमोगुण प्रधान कहने का आशय यह है कि इसमें सत्त्वगुण तथा रजोगुण भी रहते हैं किन्तु अधिकता तमोगुण की रहती है। यहाँ आकाशादि की उत्पत्ति अज्ञानोपहित चैतन्य आत्मा से कही गयी है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह अज्ञान आत्मा की ही शक्ति है अतः उससे भिन्न नहीं है। इस प्रकार आकाशादि की उत्पत्ति आत्मा से ही सिद्ध होती है। इस प्रकार के प्रतिपादन से सांख्यादि मतों का निराकरण किया गया है।

५८. तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमः प्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते।

अर्थ–उन आकाश आदि में जड़ता की अधिकता के दर्शन के कारण उनके कारण का तमोगुणप्रधान होना सिद्ध होता है। तब आकाश आदि की उत्पत्ति के समय कारणगुणप्रक्रमन्याय से आकाश आदि में सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेष :- यहाँ ग्रन्थकार ने सष्टि के विकास–क्रम की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अज्ञानोपहित चैतन्य (ईश्वर) को सष्टि का कारण कहा है। तदनुरूप तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर को आकाशादि तत्वों की उत्पत्ति का कारण कहा है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अज्ञान सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों से युक्त है तो तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य ये ही आकाशादि की उत्पत्ति क्यों बतलाई गई है ? इसी आक्षेप की आशंका से ग्रन्थकार ने यह समाधान प्रस्तुत किया है कि आकाशादि कार्यों में जड़ता की अधिकता का दर्शन होने से उनके कारण अर्थात् अज्ञान में तमोगुण की प्रधानता स्वीकार की जाती है। सत्वगुण या रजोगुण की नहीं। वेदान्त का यह सिद्धान्त 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' का सिद्धान्त है। इसके परिणामस्वरूप ही आकाशादि की उत्पत्ति के समय सत्त्व, रजस् एव ंतमस् कारणवर्ती गुणों के आश्रय से आकाशादि में अभिव्यक्त होते हैं। इससे तात्पर्य है कि यदि आकाश की उत्पत्ति तमोगुण प्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से ही है तो उस आकाश में तमोगुण का प्राधान्य अनिवार्य है। यहाँ यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि यद्यपि आकाशादि पाँचों त त्त्वों में तमोगुण का प्राधान्य है किन्तु तमोगुण के अतिरिक्त एक और गुण को द्वितीयकोटि की प्रधानता है। उदाहरणार्थ आकाश में तमोगुण को छोड़कर अन्य तत्वों की अपेक्षा सत्त्व का आधिक्य है।

५६. एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपचीकृतानि चोच्यन्ते।

अर्थ–ये ही आकाश आदि सूक्ष्मभूत, तन्मात्र तथा अपचीकृत कहे जाते हैं।

विशेष :- आकाशादि पच तत्त्वों को ग्रन्थकार ने सूक्ष्मरूप, तन्मात्रारूप एवं अपचीकृत कहा है। ये सूक्ष्मभूत इसलिए हैं कि इनका स्थूल आकाशादि तत्त्वों की तरह प्रत्यक्ष नहीं होता। इन तत्त्वों को तन्मात्रा इसलिए कहा गया है कि सूक्ष्मावस्था में इनमें आकाश में शब्दमात्र, वायु में स्पर्शमात्र, तेज में, रूपमात्र, जल में रसमात्र एवं पथिवी में गन्धमात्र पाई जाती है। वैसे भी 'तन्मात्र' शब्द का अर्थ 'उतना मात्र' है। ये सूक्ष्मभूत अपचीकृत इसलिए कहे गये हैं कि इनका पचीकरण नहीं हुआ होता। जैसा कि पचीकरण के सिद्धान्त को स्पष्ट करते समय आगे कहा जायेगा। पचीकृत होकर ही आकाशादि स्थूलरूपता को ग्रहण करते हैं एवं प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं। इन्हीं आकाशादि के सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के आश्रय से सत्त्वगुण प्रधान बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीरों एवं उपर्युक्त आकाशादि स्थूलभूतों की उत्पत्ति पचीकरण की प्रक्रिया से सम्भव है, जिसका निरूपण आगे किया जायेगा।

६०. **एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।**

अर्थ–इन (आकाश आदि) से सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।

६१. **सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशवयवानि लिङ्गशरीराणि।**

अर्थ–सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयवों वाले लिङ्ग शरीर हैं।

विशेष :- सत्रह अवयव वाले सूक्ष्म शरीर को ग्रन्थकार ने लिङ्गशरीर कहा है। लिङ्ग की परिभाषा–'लीनमर्थ गमयति इति लिङ्गम' (जो छिपे अर्थ का बोध कराता है, इस परिभाषा के अनुरूप जिस प्रकार धूम (लिङ्ग) अग्नि (लिङ्गी) का बोध कराता है उसी प्रकार बुद्धि, मन आदि सत्रह अवयव वाला सूक्ष्म शरीर भी आत्मा के अस्तित्व का बोध कराता है।

यही सत्रह प्रकार का लिङ्ग शरीर जीव के भोग का साधन है।

६२. **अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपचकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपचकं, वायुपचकचेति।**

अर्थ–अवयव हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच वायु।

६३. **ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्कचक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि।**

अर्थ–श्रोत्र (कान), त्वक् (त्वचा), चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण (नासिका) नाम वाली हैं ज्ञानेन्द्रियाँ।

६४. **एतान्याकाशादीनां सात्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पथक् पथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।**

अर्थ–ये आकाश आदि के अलग–अलग सात्विक अंशों से अलग–अलग क्रमशः उत्पन्न होती हैं।

विशेष :- ग्रन्थकार सत्रह अवयव (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं पंच वायु) वाले सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में पथक्–पथक् बतलाते हुए कहते हैं कि ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और .घ्राण) आकाश आदि के सात्विक अंशों से पथक् पथक् क्रम से उत्पन्न होती है। इस क्रम के अनुरूप आकाश के सात्विक अंश से श्रोत्र; वायु के सात्विक अंश से त्वक्, तेज के सात्विक अंश से चक्षु, जल के सात्विक अंश से रसना एवं पथिवी के सात्विक अंश से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति आकाशादि के सात्विक अंश से ही क्यों होती है, यह प्रश्न स्वाभाविक है। अपने इस कार्य के अनुसार ये श्रोत्रादि इन्द्रियाँ शब्द आदि विषयों का प्रकाशन (ज्ञापन) करती हैं। इसीलिए इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहा जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विषयप्रकाशन का कार्य सत्त्व–गुण का ही है। इस प्रकार कारणगुणन्याय से ही आकाशादि के सात्विक अंश को श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का कारण कहा गया है। इसी प्रकार आकाशादि के सात्विक अंश से श्रोत्रादि की उत्पत्ति का कारण भी है। आकाश के सत्त्वांश से श्रोत्र की उत्पत्ति इसलिए मानी जाती है कि श्रोत्र में भी अपने कारण आकाश का आकाशत्व वर्तमान है। इसी प्रकार त्वक् में अपने कारण वायु का वायुत्व, चक्षु में अपने कारण तेज का तेजस्व, रसना में अपने कारण जल का रसत्व एवं घ्राण में अपने कारण–पथिवी का पथ्वीत्व वर्तमान है। इस प्रकार यहाँ पर भी कारणगुणन्याय से श्रोत्रादि की आकाशादि से उत्पत्ति कही है।

६५. **बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवत्तिः।**

अर्थ–अन्तःकरण का निश्चयात्मक व्यापार बुद्धि है।

विशेष :- बुद्धि को अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वत्ति कहा है। वेदान्तपरिभाषाकार ने वत्ति के चार भेद किए हैं। ये भेद–निश्चय, गर्व, संशय एवं स्मरण हैं। इनमें निश्चय का आधार बुद्धि, गर्व का आधार अहंकार, संशय का आधार मन एवं स्मरण का आधार चित्त है।

६६. **मनो नाम सङ्ल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवत्तिः।**

अर्थ–संकल्प तथा विकल्प स्वरूप वाला अन्तःकरण का व्यापार मन है।

विशेष :- संकल्प विकल्प करने वाली अन्तःकरण की शक्ति मन है। इसका व्यापार सहायात्मक होता है। अन्धेरे में किसी स्थाणु ञ(खम्भे) को देखकर पहले कोई सोचे कि यह मनुष्य है तो यह संकल्प होगा पुनः विचार करें कि खम्भा है तो यह विकल्प होगा। इस प्रकार ज्ञान का वह व्यापार जो किसी स्थिर कोटि में नहीं रहता वह मन कहलाता है।

६७. **अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः।**

अर्थ–इन दोनों अर्थात् बुद्धि तथा मन में ही चित्त तथा अहंकार का अन्तर्भाव हो जाता है।

विशेष :- यहाँ ग्रन्थकार ने चित्त एवं अहंकार का भी क्रमशः बुद्धि तथा मन में अन्तर्भाव किया है। चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव इसीलिए स्वीकार किया जाता है कि चित्त की स्मरणात्मिका वत्ति एवं बुद्धि की निश्चयात्मिका वत्ति प्रायः एक ही है; क्योंकि 'सोयं देवदतः' (वह यह देवदत्त है) रूप स्मरणज्ञान निश्चयात्मक ज्ञान ही है। इसी प्रकार अहंकार का अन्तर्भाव मन में इसलिए माना जाता है कि जिस प्रकार मन संकल्पविकल्पात्मक है उसी प्रकार अहंकार भी संकल्पविकल्पात्मक है। इस प्रक्रिया के अनुसार अन्तःकरण कारणचतुत्ष्टय का सिद्धान्त वेदान्त का विरोधी सिद्धान्त नहीं है। यह मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकाररूप अन्तःकरणचतुष्टय भी आकाशादि सूक्ष्म भूतों में वर्तमान सम्मिलित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होता है। अन्तःकरणचतुष्टय का आकाशादि के सात्त्विक अंश से उत्पन्न होना भी कारणगुणन्याय के अनुसार ही है।

६८. **एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।**

अर्थ—ये आकाश आदि में स्थित मिले हुए सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं।

६६. **एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्।**

अर्थ—इन ञज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि को प्रकाशात्मक होने के कारण सात्त्विक अंश का कार्य माना गया है।

७०. **इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति।**

अर्थ—यह बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों सहित विज्ञानमय कोश होती है।

७१. **अयं कर्तुत्वभोक्तत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते।**

अर्थ—यह विज्ञानमय कोश कर्तत्व, भोक्तत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का अभिमानी होने के कारण इस लोक में तथा परलोक में गमन करने वाला व्यावहारिक जीव कहा जाता है।

विशेष :- अन्तःकरणचतुष्टय में से बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होकर विज्ञानमय कोश कहलाती है और यही विज्ञानमयकोश कर्तत्व–भोक्तत्व आदि का अभिमानी होकर जीव कहलाता है। वस्तुतः जब चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राणी लौकिक पुष्प–आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है तो पहिले वह यह निश्चय करता है कि वह पुष्प देख रहा है और इसके पश्चात् जब वह यह अभिमान करता है कि मैं पुष्प को देखता हूँ, तो वह जीव कहलाता है। इसी प्रकार सुखित्व एवं दुःखित्व आदि के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। सुख एवं दुःख आत्मा के धर्म नहीं हैं, न आत्मा सुखभोक्ता है, न दुःखभोक्ता और न कर्ता। इस प्रकार आत्मा का न परलोकगमन संभव है और न उसका कोई लौकिक व्यवहार सम्भव है। अतः समस्त गमनागमनादि व्यवहार उक्त जीव के ही सम्बन्ध में सम्भव है आत्मा के सम्बन्ध में नहीं।

७२. **मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।**

अर्थ—मन ज्ञानेन्द्रियों सहित मनोमय कोश होता है।

विशेष :- ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मनरूपी अन्तःकरण को 'मनोमयकोश' कहा है। लौकिक वस्तुओं को ज्ञानेन्द्रियों (चक्षुरादि से प्रत्यक्ष करके जब द्रष्टा इस प्रकार का संकल्प विकल्प करता है कि यह वस्तु वही है या अन्य कोई, तो यह संकल्पविकल्पात्मक क्रिया मनोमयकोश में ही होती है।

७३. **कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि।**

अर्थ—वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) नाम वाली कर्मेन्द्रियाँ हैं।

७४. **एतानि पुनराकाशादीनां रजोंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पथक् पथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।**

अर्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ आकाश आदि के अलग–अलग रजोगुण के अंशों से अलग–अलग क्रमशः उत्पन्न होती है।

विशेष :- ग्रन्थकार ने वाक् आदि कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण आकाश आदि सूक्ष्म तत्त्वो के पथक् पथक् रजोगुण के अंशों को बतलाया है। इसका कारण यह है कि रजोगण का स्वभाव उपष्टम्भन एवं चलन–रूप है। अपने इस स्वभाव के कारण रजोगुणसत्त्व एवं तमोगुण–जो स्वभाव से ही निष्क्रिय हैं, उनमें प्रवत्ति उत्पन्न कर देता है। यह उसी प्रकार है कि जिस प्रकार लाठी किसी वद्ध को चलने के लिए प्रोत्साहित कर देती है एवं उसे स्वकार्य में प्रव़त्त कर देती है। इससे रजोगुण के दो विशेष कार्य देखे जाते हैं। एक प्रवत्ति उत्पन्न करना और दूसरा स्वयं का क्रियाशील होना। ये दोनों ही गुण कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर आदि) क्रियाशील भी हैं और परस्पर एक–दूसरे की उपष्टम्भक अर्थात् प्रेरक भी हैं। हाथ–पैर आदि की सक्रियता तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति हाथ से किसी वस्तु को ग्रहण करता है एवं पैर से चल कर उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचता है। जहाँ तक हाथ–पैर

आदि की उपष्टम्भकता का प्रश्न है वह भी इन कर्मेन्द्रियों में वर्तमान है, उदाहरण के लिए हाथ आदि किसी वस्तु को ग्रहण करना चाहते हैं तो वे मन द्वारा पैरों को वहाँ चलने के लिए प्रव त्त करते हैं। अतः कर्मेन्द्रियों का आकाश आदि के रजोगुण रूप अंशों से उत्पन्न कहना संगत है। जहां तक आकाश आदि के पथक् पथक् रजोगुणांशों से वाणी आदि कर्मेन्द्रियों के उत्पन्न होने का प्रश्न है, वह भी असंगत नहीं है। इस प्रकार आकाश के रजोगुण रूप अंश से पाद, जल, के रजोगुण का अंश से पायु और पथिवी के रजोगुण रूप अंश से उपस्थ इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। आकाश आदि के पथक् पथक् रजोगुण अंश से वाक् आदि का सम्बन्ध है। इसलिए आकाश को शब्द गुण वाला कहा है। यह बात स्पष्ट ही है कि जहाँ आकाश है, वहीं शब्द है, अन्यत्र नहीं। यही दोनों का अनिवार्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार वायु और पाणि का सम्बन्ध है। वायु में जो स्पर्श–क्रिया की क्षमता है, वह विशेष रूप से हाथ में ही पायी जाती है। इसी प्रकार अग्नि और पाद का सम्बन्ध है।

७५. **वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः।**

अर्थ–पाँच वायु हैं–प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान।

विशेष :- कर्मेन्द्रियों के पश्चात् सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत प्राणादि पच वायु आते हैं। प्राण को ग्रन्थकार ने नासिका के अग्रभाग पर वर्तमान कहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राणवायु का स्थान हृदय में बतलाया है। प्राण को हृदयवर्ती इसलिए कहा गया है कि उसका मूल स्थान हृदय है, किन्तु इसका प्रत्यक्ष नासिका के अग्रभाग पर होता है, इसलिए इसे सदानन्द ने 'नासाग्रस्थानवर्ती' कहा है। माठरवत्ति में प्राण को शरीर–धारण करने वाला होने के कारण 'प्राण' कहा है। इस प्रकार यदि देखा जाये तो प्राण सभी का मूल है। प्राण का संचार नासिका, हृदय, नाभि, पैर तथा अङ्गुष्ठ में होता है। अपान वायु को सदानन्द ने उपस्थ आदि में वर्तमान तथा नीचे की ओर जाने वाला कहा है। अपान वायु का संचरण घंटी, पीठ, पैर, पायु, उपस्थ एवं पार्श्व में होता है। इसे, मल–मूत्र का अपनयन करने वाला होने के कारण अपान कहा है। व्यान नामक वायु सदानन्द के अनुसार समस्त शरीर में विद्यमान रहता है और सब तरफ गमन करने वाला है। व्यान का संचरण त्वचा में होता है। इसे कठोर कर्मों में प्रवर्त्तक कहा गया है। 'समान' भुक्त एवं पीत, रोटी एवं पानी आदि पदार्थों का समीकरण करने वाला वायु है। समीकरण क्रिया के द्वारा उदर में पहुँचा हुआ अन्न का तात्त्विक अंश अलग–अलग रस एवं रुधिर आदि सप्त धातुओं के रूप में परिपाक को प्राप्त होता है और अग्राह्य अंश मल–मूत्र के रूप में पथक्–पथक् रूप ग्रहण करता है। समान वायु का संचरण, हृदय, नाभि तथा शरीर के समस्त जोड़ों में होता है। माठरवत्ति में इसे हृदय में अवस्थित तथा सहभाव के कारण समान कहा है। इस परिभाषा के अनुसार यह नाड़ियों में समान रूप से रस का संचार करता है। उदान वह वायु है, जो मत्यु के समय ऊपर की ओर उत्क्रमण करता है। बहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार उदान–वायु चक्षु अथवा वायु का संचार हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा तथा भौवों के मध्य होता है विशेष रूप से उदान वायु का कार्य रस आदि का उत्कर्ष है।

७६. **प्राणोनाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती।**

अर्थ–आगे की ओर जाने वाली नासिका के अग्रभाग में रहने वाला (वायु) प्राण है।

७७. **अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती।**

अर्थ–नीचे की ओर जाने वाली (तथा) गुदा आदि स्थानों में रहने वाली वायु अपान है।

७८. **व्यानो नाम विष्वग्मगनर्वानखिलशरीरवर्ती।**

अर्थ–सब ओर जाने वाली तथा सम्पूर्ण शरीर में रहने वाली वायु व्यान है।

७६. **उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः।**

अर्थ–कण्ठ में स्थित तथा ऊपर की ओर जाने वाली उत्क्रमण वायु उदान है।

८०. **समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नदिसमीकरणकरः।**

अर्थ–शरीर के मध्य में स्थित तथा खाये गये और पिये गये अन्न आदि का समीकरण करने वाली वायु समान है।

८१. **केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनजयाख्याः पचान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति।**

अर्थ–कुछ लोग 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनजय नाम वाली पांच अन्न वायु है' ऐसा कहते हैं।

विशेष :- कपिल आदि सांख्य के आचार्यों ने उक्त पच वायुओं के स्थान पर नाग, कूर्म, कृकल देवदत्त और धनजय–ये पाँच वायु माने हैं। सुरोश्वराचार्य ने इन वायुओं के कार्य के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए कहा है कि नाग हिक्का अर्थात् हिचकी

लाने वाला है, कूर्म आँखों को खोलने तथा बन्द करने वाला है। कृकल क्षुधा उत्पन्न करने वाला है, देवदत्त विजम्भण (जम्भाई) लाने वाला है, और धनजय शरीर की पुष्टि करने वाला तथा मत्यु के पश्चात् भी शरीर में वर्तमान रहने वाला है। विद्वन्मनोरजनीकार ने उक्त नाग आदि वायु पचक का अर्न्तभाव उदानादि के अन्तर्गत ही कर लिया है। उनकी अन्तर्भाव क्रिया के अनुसार नाग का उदान में, कूर्म का व्यान में, कृकल और धनजय का समान में एवं देवदत्त का अपान में अन्तर्भाव होता है।

८२. **तत्र नाग उद्‌गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकल क्षुत्करः। देवदत्तो जम्भणकरः। धनजयः पोषणकरः।**

अर्थ—इनमें नाग उद्‌गिरण (=वमन तथा डकार) उत्पन्न करवे वाली वायु है। कूर्म नेत्रों को खोलने तथा बन्द करने वाली है। कृकल भूख उत्पन्न करती है। देवदत्त जम्भाई उत्पन्न करती है। धनजय शरीर का पोषण करती है।

८३. **एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात् प्राणादयः पचैवेति केचित्।**

अर्थ—इन नाग आदि पाँच वायुओं के प्राण आदि में ही अन्तर्भाव हो जाने से प्राण आदि पाँच ही वायुएं हैं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

८४. **एतत्प्राणादिपचकमाकाशादिगतरजोंशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते।**

अर्थ—यह प्राण आदि पाँच वायुओं का समूह आकाश आदि में स्थित मिले हुए रजोगुण के अंशों से उत्पन्न होता हैं।

८५. **इदं प्राणादिपचकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंशकार्यत्वम्।**

अर्थ—यह प्राण आदि पाँच इन्द्रियों का समूह कर्मेन्द्रियों सहित प्राणमय कोश होता है। क्रियात्मक होने के कारण इसको रजोगुण का कार्य माना गया है।

विशेष :- यह प्राणादिपचक कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर प्राणमय कोश कहलाता है। यद्यपि प्राणमयकोश के अन्तर्गत पाँचों वायु सम्मिलित रूप से वर्तमान रहते हैं, परन्तु फिर भी उसे प्राणमयकोश इसलिए कहा गया है कि पाँचों वायुओं में प्राण का भी प्राधान्य है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राणादि वायुपचक मुख्य प्राण की ही पाँच वत्तियां हैं। प्राण की क्रिया समस्त इन्द्रिय—समूह में वर्तमान रहती हैं। इसी से उसका प्राधान्य समझा जा सकता है। इसी प्राधान्य के कारण कर्मेन्द्रियों से सम्मिलित वायुपचक को प्राणमयकोश की सज्ञा दी गई प्रतीत होती है।

८६. **एतेषु कोशेषु मध्य विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।**

अर्थ—इन कोशों में विज्ञानमय कोश ज्ञान—शक्ति से युक्त तथा कर्त्तारूप है। मनोमय इच्छाशक्ति से युक्त तथा करण रूप है। प्राणमय क्रियाशक्ति से युक्त तथा कार्यरूप है। इनका इस प्रकार का विभाग इनकी योग्यता के कारण है। यह तीनों कोशों का समूह मिलकर सूक्ष्म शरीर कहा जाता है।

विशेष :- इस प्रकार विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय—इस कोशमय को ग्रन्थकार ने क्रमशः कर्तरूप, कारणरूप और कार्यरूप कहकर क्रम से ज्ञान—शक्ति; इच्छा—शक्ति एवं क्रियाशक्ति से सम्पन्न बतलाया है। वस्तुतः यह शक्तित्रय का समन्वय सर्वथा वैज्ञानिक है, क्योंकि विज्ञानमय—कोश के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियों की अधिष्ठानरूप बुद्धि है, अतः निश्चयात्मिका बुद्धि के कारण विज्ञानमय कोश को ज्ञानशक्तिसम्पन्न एवं कर्तरूप कहना संगत ही है, क्योंकि बुद्धि ज्ञानस्वरूपिणी एवं निश्चयात्मिका होने के कारण कर्तरूपा है। इसी प्रकार मनोमयकोश का इच्छा—शक्तिसम्पन्न एवं कारणरूप होना भी समीचीन ही है। क्योंकि सुखदुःखादि की उपलब्धि की इच्छा मन में ही उत्पन्न होती है। इसे कारणरूप इसलिए कहा जाता है कि मन ही सुखदुःखादि की उपलब्धि की साधनभूत इन्द्रिय है। इसी प्रकार प्राणमय कोश क्रियाशक्तिसम्पन्न एवं कार्यरूप कहना भी युक्तियुक्त है। प्राणादि की सक्रियता के कारण ही प्राणमयकोश को क्रियाशक्तिसम्पन्न कहना संगत है। प्राणमयकोश की कार्यरूपता भी इसी से स्पष्ट है कि प्राणमयकोश में कर्मेन्द्रियों का योग है। कर्मेन्द्रियों के कारण ही प्राणमयकोश की कार्यरूपता कही गई है। वस्तुतः किसी भी कार्य के सम्पादन के लिए उक्त तीनों शक्तियों का समन्वय अत्यन्त अपेक्षित है।

८७. **अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।**

अर्थ—यहाँ सूक्ष्म शरीरों में भी सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर एकत्व—ज्ञान का विषय होने से वन के समान या जलाशय के समान समष्टि तथा अनेकत्व—ज्ञान का विषय होने से वक्षों के समान या जलों के समान व्यष्टि भी होता है।

८८. एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यम् सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च।

अर्थ–इस सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ तथा प्राण कहा जाता है, सब जगह व्याप्त होने के कारण तथा ज्ञानशक्तिमान् (विज्ञानमय कोश), इच्छाशक्तिमान् (मनोमय कोश) एवं क्रियाशक्तिमान् (प्राणमय कोश) से उपहित होने के कारण।

विशेष :- पूर्वव्याख्यात अज्ञान की प्रक्रिया के समान ही यहाँ ग्रन्थकार ने समष्टि एवं व्यष्टि के आधार पर सूक्ष्मशीर के समष्टिमूलक एवं व्यष्टिमूलक भेद में भी अभेद की स्थापना की है। सूक्ष्मशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ एवं प्राणरूप परमात्मा हैं। प्रत्येक जीव का अलग–अलग सूक्ष्म शरीर व्यष्टि–रूप है। समष्टि से उपहित चैतन्य के जो सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ एवं प्राणरूप ग्रन्थकार ने बतलाए हैं, वे सयुक्तिक है। वह सूत्रात्मा इसलिए है कि समस्त प्राणियों के शरीर में सूत्र के समान अनुस्यूत है। वह (समष्टि से उपहित चैतन्य) हिरण्यगर्भ इसलिए कहलाता है कि ज्ञान–शक्ति से युक्त अन्तःकरण से उपहित है।

स्वामी रामतीर्थ का कथन है कि क्रिया–शक्ति से युक्त अधिदैवत प्राणरूप होने के कारण प्राण कहलाता है। स्वामी जी ने इस सम्बन्ध में एक और दष्टि प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ज्ञान–क्रिया शक्ति से युक्त समष्टिरूप प्राण एवं इन्द्रिय समुदायरूप समष्टिरूप–लिङ्ग शरीर ज्ञानक्रिया शक्ति से युक्त होने के कारण ज्ञान–शक्ति की प्रधानता से प्राण कहलाता है।

८९. अस्यैषासमष्टिः स्थूलप्रपचापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं, जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोत एव स्थूलप्रपचलयस्थानमिति चोच्यते।

अर्थ–इस सूत्रात्मा की यह लिङ्ग शरीरों की समष्टि अर्थात् विज्ञानमय आदि कोशत्रय स्थूल सष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण 'सूक्ष्म शरीर', जाग्रत् अवस्था की वासनाओं (=संस्कारों) से युक्त होने के कारण 'स्वप्न' और इसी कारण 'स्थूल सष्टि का लय–स्थान' कही जाती है।

९०. एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्।

अर्थ–इस सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि अर्थात् एक सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य 'तैजस' होता है, तेजोमय अन्तःकरण से उपहित होने के कारण।

९१. अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।

अर्थ–इस सूक्ष्म शरीर की भी यह व्यष्टि, जो कि विज्ञानमय आदि तीन कोशों के स्वरूप वाली है, स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण ही 'सूक्ष्म शरीर', जाग्रत् अवस्था की वासना से युक्त होने के कारण 'स्वप्न' और इसी कारण 'स्थूल शरीर का लयस्थान' कही जाती है।

९२. एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक् तैजस' इत्यादिश्रुतेः।

अर्थ–ये सूत्रात्मा तथा तैजस् उस समय (स्वप्नावस्था में) मनस् की वत्तियों द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं, 'तैजस् ही सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है' इत्यादि श्रुति के अनुसार।

९३. अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गत-प्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः।

अर्थ–यहाँ लिङ्ग शरीरों के विषय में भी समष्टि तथा व्यष्टियों का तथा उनसे उपहित सूत्रात्मा तथा तैजस् का वन तथा वक्षों के तथा उनसे अवच्छिन्न आकाशों के, और जलाशय तथा जलों के तथा उनसे अविच्छन्न आकाशों के समान अभेद है।

९४. एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।

अर्थ–इस प्रकार सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति होती है।

९५. स्थूलभूतानि तु पचीकृतानि।

अर्थ–स्थूलभूत पचीकृत होते हैं।

६६. **पचीकरणं त्वाकाशादिपचस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पचभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्। तदुक्तम्-**

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।

स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पच पच ते।।' इति।।

अर्थ–पचीकरण का प्रकार–आकाश आदि पाँचों भूतों में प्रत्येक को बराबर–बराबर दो भागों में बांटकर, उन दस भागों में से पहले पाँच भागों में प्रत्येक को बराबर–बराबर चार भागों में बाँटकर, उन चार भागों का अपने–अपने (भूत के) द्वितीय अर्धभाग को छोड़कर दूसरे भूतों के अर्ध भागों में जोड़ देना। ऐसा ही कहा भी गया है।

'प्रत्येक को दो भागों में बाँटकर, फिर प्रथम भाग को चार भागों में बाँटकर अपने–अपने से भिन्न (भूत) के द्वितीय अंशों में जोड़ देने से वे आकाश आदि पाँच सूक्ष्म भूत पचीकृत बन जाते हैं।'

विशेष :- पचीकरण की प्रक्रिया वेदान्त की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। वह इस प्रकार है–पहले प्रत्येक भूत को बराबर बराबर दो भागों में विभक्त करके फिर प्रत्येक भूत के एक अर्धांश को चार–चार भागों में बाँटने पर प्रत्येक भूत एक अर्धांश तथा चार अष्टमांशों में विभक्त हो जायेगा। अब प्रत्येक भूत के एक–एक अष्टमांश को अपने अर्धांश को छोड़कर शेष भूतों के अर्धांशों के सथ जोड़ देंगे। ऐसा करने पर प्रत्येक भूत में आधा तो अपना अंश होगा और शेष आधे में बाकी भूतों का अष्टमांश होगा। भूतों की यह पचीकृत अवस्था कहलायेगी। अधोलिखित सारिणी द्वारा इसे सरलता से समझा जा सकता है।

आकाश	आकाश १/२	वायु १/८	अग्नि १/८	जल १/८	पथिवी १/८
वायु	वायु १/२	आकाश १/८	अग्नि १/८	जल १/८	पथिवी १/८
अग्नि	अग्नि १/२	आकाश १/८	वायु १/८	जल १/८	पथिवी १/८
जल	जल १/२	आकाश १/८	वायु १/८	अग्नि १/८	पथिवी १/८
पथिवी	पथिवी १/२	आकाश १/८	वायु १/८	अग्नि १/८	जल १/८

६७. **अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवत्करणश्रुतेः पचीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्।**

अर्थ–इस पचीकरण की अप्रमाणिकता की आशंका नहीं करनी चाहिये, त्रिवत्करण की श्रुति के पचीकरण का भी उपलक्षण होने के कारण।

६८. **पचानां पचात्मकत्वे समानेपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति।**

अर्थ–पाँचों पचीकृत भूतों के पचात्मक रूप में समान होने पर भी विशेषता केकारण उस भूत का नाम होता है इस न्याय से आकाश आदि नाम सम्भव होता है।

६९. **तदानीमाकाशे शब्दोभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धश्च।**

अर्थ–उस समय आकाश में शब्द प्रकट होता है। वायु में शब्द तथा स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप, जलों में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस और पथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध प्रकट होते हैं।

१००. एतेभ्यः पचीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भूवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरिविद्यमानानामतलवितल-सुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानोमधोधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्गतचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति।

अर्थ—इन पचीकृत भूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य इन नामों वाले ऊपर विद्यमान लोकों की, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल नाम वाले नीचे विद्यमान लोकों की, ब्रह्माण्ड की, उस ब्राह्मण्ड के अन्तर्गत चार प्रकार के स्थूल शरीरों की, और उन स्थूल शरीरों के लिए उचित भोजन तथा पेय आदि की उत्पत्ति होती है।

विशेष :- सामान्य रूप से स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल के नाम से लोकत्रय की ही चर्चा मिलती है। प्रधान लोक ये तीन ही हैं। जिन चतुर्दश लोकों का यहाँ उल्लेख किया गया है वे उक्त लोकत्रय के ही विस्तत भेद कहे जा सकते हैं। भू आदि ७ लोकों में 'भूलोक' यह पथ्वीलोक ही है, 'भुवः' पथिवी एवं सूर्य के मध्यवर्ती आकाश का नाम है। यह मुनियों एवं सिद्धों के निवास का स्थान है। 'स्वः' इन्द्र का लोक है। इसे ही स्वर्गलोक भी कहते हैं। यह सूर्य स्वयं ध्रुव नक्षत्र के बीच का स्थान है। 'महः' लोक ध्रुव के भी उपरिवर्ती लोक है। इसमें भगु एवं अन्य ऋषियों का निवासस्थान बतलाया जाता है। 'जनः' ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार का लोक है। 'तपः' लोक में देवतुल्य वैरागियों का निवास है। 'सत्य लोक का दूसरा नाम ब्रह्मलोक है। इस लोक में ब्रह्मा का निवास है। अतल आदि सप्तलोक पथ्वी के नीचे वर्तमान लोक हैं।

१०१. चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि।

अर्थ—चार प्रकार के शरीर जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज नाम वाले हैं।

१०२. जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि।

अर्थ—जरायु से उत्पन्न मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं।

१०३. अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि।

अर्थ—अण्डों से उत्पन्न पक्षि, सर्प आदि अण्डज हैं।

१०४. उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि लतावक्षादीनि।

अर्थ—भूमि को भेद कर उत्पन्न हुए लता, तण तथा वक्ष आदि उद् भिज्ज हैं।

१०५. स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकमशकादीनि।

अर्थ—पसीने से उत्पन्न जूँ, मच्छर आदि स्वेदज हैं।

१०६. अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।

अर्थ—यहाँ भी चार प्रकार के सभी स्थूल शरीर एकत्व या अनेकत्व ज्ञान के विषय होने से वन के समान अथवा जलाशय के समान समष्टि और वक्ष के समान अथवा जल के समान व्यष्टि भी होते हैं।

१०७. एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च।

अर्थ—इन स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य 'वैश्वानर' तथा 'विराट्' कहा जाता है, सभी नरों का अभिमानी होने के कारण तथा विविध प्रकार से विराजमान होने के कारण।

विशेष :- समष्टि की पद्धति से स्थूल प्रपच का निरूपण करते हुए जरायुज, अण्डल, उद्भिज्ज एवं स्वेदज इस चतुर्विध स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को ग्रन्थकार ने वैश्वानर एवं विराट् कहा है। वैश्वानर होने का हेतु यह दिया है कि सर्व नरों का अभिमानी है और विराट् होने का हेतु यह है कि यह विविध रूपों में राजमान है।

वैश्वानर का वैश्वानरत्व इसलिए है कि वह सभी प्राणियों में 'अहम्' इस अभिमान का कारण है। स्थूल शरी की समष्टि से उपहित चैतन्य को विविध रूप से सुशोभित होने के कारण विराट् कहा है। विराट्, संसार के समस्त प्राणियों में अनेक रूपों में स्थित रहता है, यही इसकी विराटता है।

१०८. अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरम् अन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते।

अर्थ—इस वैश्वानर या विराट् की यह स्थूल शरीर रूप समष्टि अन्न का विकार होने के कारण तथा कोश के समान

आत्मा का आच्छादक होने के कारण 'अन्नमयकोश', स्थूल भोगों का आयतन होने के कारण ''स्थूलशरीर' तथा 'जाग्रत्' कही जाती है।

विशेष :- स्थूलशरीर की इस समष्टि को अन्नमयकोश इसलिए कहा है कि चतुर्विध स्थूलशरीर की उत्पत्ति माता–पिता द्वारा भुक्त अन्न से होती है तथा वह स्थूलशरीर, आत्मा का आच्छादक है। स्थूल भोगों का आधार होने के कारण इसे स्थूलशरीर इसलिए कहा गया है कि प्राणी रूप, रस आदि स्थूल पदार्थों का भोग नेत्र एवं रसना आदि स्थूल शरीर के अवयवों द्वारा ही करता है। स्थूल शरीर की समष्टि को जाग्रत इसलिए कहा गया है कि वह (स्थूल शरीर) इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोक्ता है। स्थूल शरीर की यह समष्टि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीया में से जाग्रत अवस्था में ही व्यवहार करने में समर्थ है, इसलिए इसे 'जाग्रत' कहा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय में तो शरीर का भोग देखा नहीं जाता।

१०६. एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्।

अर्थ–इस स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'विश्व' कहा जाता है, सूक्ष्म शरीर के अभिमान अर्थात् उसके साथ तादात्म्य–प्रतीति को बिना त्यागे हुए स्थूल शरीर में प्रवेश करने के कारण।

विशेष :- चतुर्विध स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को विश्व इसलिए कहा है कि वह सूक्ष्मशरीर का अभिमान छोड, कर स्थूल शरीर में प्रवेश करता है। विश्व शरीर ञ(समस्त शरीर) में प्रवेश करने के कारण ही विश्व (जीव) की विश्वता है। विश्व शब्द की व्युत्पत्ति–'विशति (प्रवेश करता है) इति विश्वः' भी उक्त अर्थ की ही बोधिका है। स्वामी रामतीर्थ ने भी विश्व की उक्त विश्वता के सम्बन्ध में कहा है–

सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद् विश्व इत्युक्तं भवति'।

विश्व (जीव) के सूक्ष्म शरीर को न त्याग कर स्थूल शरीर में प्रवेश करने की बात इसलिए कही गयी है कि जीव जन्मजन्मान्तर में अपने स्थूलशरीर का त्याग तो कर देता है, किन्तु पूर्वजन्म के संस्कारों का त्याग नहीं करता।

११०. अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते।

अर्थ–इसकी भी यह स्थूल शरीर रूप व्यष्टि अन्न का विकार होने के कारण ही तथा कोश के समान आत्मा का आच्छादक होने से 'अन्नमय कोश' तथा स्थूल भोगों का आधार होने के कारण 'जाग्रत्' कही जाती है।

१११. तदानीमेतो विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपचकेनक्रमाच्छब्द-स्पर्शरूपरसगन्धाान्, अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपचकेन क्रमाद्वचनादान-गमनविसर्गानन्दान्, चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतो 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' इत्यादि श्रुतेः।

अर्थ–उस जाग्रत् अवस्था में दोनों विश्व तथा वैश्वानर दिक्, वायु, सूर्य, वरुण् तथा अश्विनीकुमारों के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का, अग्नि, इन्द्र उपेन्द्र (विष्णु), यम तथा प्रजापति के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रमशः वचन (=बोलना), आदान (=ग्रहण करना), गमन (=चलना), विसर्ग (=मल–त्याग) तथा आनन्द (=सम्भोग) का, चन्द्र, चतुर्मुख (=ब्रह्मा), शङ्कर तथा अच्युत ञ(=विष्णु) के द्वारा मनस्, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त नाम वाले चार अन्तःकरणों के द्वारा क्रमशः संकल्प, निश्चय, अहंकार्य (=अहं के साथ सम्बद्ध करना) तथा चैत्त (=चित्त का विषय/खोज, परीक्षा आदि) इन सब स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं, 'जाग्रत् अवस्था वाला, बाह्य विषयों का ज्ञाता' इत्यादि श्रुति के अनुसार।

विशेष :- ग्रन्थकार ने जाग्रत अवस्था में विश्व एवं वैश्वानर को स्थूल विषयों का अनुभवकर्ता बतलाते हुए कहा है कि दिक्, वायु, सूर्य, वरुण एवं अश्विनी–कुमारों से नियन्त्रित, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण से शब्दादि का अनुभव करता है अर्थात् भोग करता है। यहाँ दिगादि से श्रोत्रादि के नियन्त्रण की बात संगत ही है। दिक् से श्रोत्र का नियन्त्रित होना इसलिए संगत है कि दिक् श्रोत्र का अधिष्ठान है। दिक् का सम्बन्ध जिस विस्तत आकाश से है, उसके किचितदंश की स्थिति श्रोत्र में भी वर्तमान है। इसी प्रकार वात त्वक् का अधिष्ठातदेवता है, सूर्य चक्षु का अधिष्ठात देवता है, वरुण रसना का अधिष्ठात देवता है तथा अश्विनीकुमार घ्राण के अधिष्ठात देवता हैं। ये त्वक् आदि भी वातादि अपने–अपने अधिष्ठात देवताओं से नियन्त्रित होते हैं।

११२. अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः।

अर्थ–यहाँ भी स्थूल शरीरों की व्यष्टियों तथा समष्टि में, तथा उनसे उपहित विश्व तथा वैश्वानर में वन तथा वक्ष के समान और उनसे ढके हुए आकाश के समान, एवं जलाशय तथा जल के समान और उनमें प्रतिबिम्बित आकाश के समान पूर्ववत् अभेद है।

११३. एवं पचीकृतपचभूतेभ्यः स्थूलप्रपचोत्पत्तिः।

अर्थ–इस प्रकार पचीकृत पाँच भूतों से स्थूल सष्टि की उत्पत्ति होती है।

११४. एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपचानामपि समष्टिरेको महान् प्रपचो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वावान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः।

अर्थ–इन स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण–सष्टियों की भी समष्टि एक महान् सष्टि होती है, जैसे अवान्तर वनों की समष्टि एक महान् वन होती है, अथवा जैसे अवान्तर जलाशयों की समष्टि एक महान् जलाशय होती है।

११५. एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव।

अर्थ–इस महान् सष्टि से उपहित वैश्वानर से लेकर ईश्वर तक चैतन्य भी अवान्तर वनों से घिरे हुए आकाश के समान और अवान्तर जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश के समान एक ही है।

११६. आभ्यां महाप्रपचतदुपहितचैन्तयाभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति।

अर्थ–इन दोनों महान् सष्टि तथा उससे उपहित चैतन्य से, तपाये हुए लोहे के गोले के समान, अलग न समझा जाता हुआ अनुपहित शुद्ध चैतन्य 'यह सब कुछ ब्रह्म है' इस वाक्य का वाच्यार्थ हो जाता है, और अलग समझा जाता हुआ लक्ष्यार्थ भी हो जाता है।

११७. एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः।

अर्थ–इस प्रकार वस्तु (शुद्ध ब्रह्म) में अवस्तु अज्ञान तथा उससे उत्पन्न सष्टि के आरोप के स्वरूप वाला अध्यारोप सामान्य रूप से प्रदर्शित किया गया।

११८. इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते।

अर्थ–इस समय 'यह यह मतावलम्बी अन्तरात्मा में इस इस को आरोपित करते हैं' इस बात को विशेष रूप से बताया जा रहा है।

विशेष :- इस प्रकरण के अन्तर्गत प्रत्यगात्मा अर्थात् अन्तरात्मा या जीवात्मा में पुत्रादि के आरोप का वर्णन किया गया है। यहाँ यह स्मरण रखना अपेक्षित है कि जीवात्मा में पुत्रादि का आरोप कहना पूर्वपक्ष ही है, सिद्धान्तपक्ष नहीं। आगे चलकर ग्रन्थकार के द्वारा इस पूर्वपक्ष का निराकरण किया जायेगा। ग्रन्थकार के द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में आरोप का जो क्रम प्रस्तुत किया गया है वह क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर है।

प्रथम मत का उल्लेख करते हुए, जिस अत्यन्त साधारण व्यक्ति का दष्टान्त दिया गया है, वह कोई अनात्मज्ञ व्यक्ति ही हो सकता है। इस मत को प्रमाणित करने के लिए जिस श्रुति को उद्धत किया गया है, वह इस प्रकार है–"आत्मा वै जायते पुत्रः।"

द्वितीय मत चार्वाक का है। ग्रन्थकार ने चार्वाक के नाम से चार मतों का उल्लेख किया है। द्वितीय मत स्थूलशरीरात्मवादी चार्वाक का है। स्थूल शरीरात्मवादी चार्वाक के मत के समर्थन में ग्रन्थकार ने पूर्वपक्ष के रूप में जिस श्रुति को उद्धत किया है, वह इस प्रकार है–

"स वा एष पुरुषोन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमु त्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।

चार्वाक शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं :–

१. बार्हस्पत्यदर्शन के प्रवर्तक बहस्पति का एक शिष्य चार्वाक था। जिसने भोतिकतावादी इस दर्शन का प्रचार किया था। उसके अनुयायी भी चार्वाक कहलाये थे। (राजतरङ्गिणी ४।३४५)

२. महाभारत में चार्वाक नाम से एक राक्षस का भी उल्लेख मिलता है जो दुर्योधन का मित्र था ओर जिसने एक भिक्षुक ब्राह्मण का रूप ग्रहण कर लिया था, किन्तु जिसका ब्राह्मणों द्वारा वध कर दिया गया था। हो सकता है, भौतिकतावादी चार्वाक राक्षस के आधार पर ही भौतिकतावादी चार्वाक दर्शन का नाम प्रसिद्ध हुआ हो।

३. चर् (गतिभक्षणयोः) धातु से चार्वाक शब्द की उत्पत्ति सिद्ध करने वाले विद्वान् भोगप्रधानवादी दर्शन को चार्वाक दर्शन का नाम देते हैं।

४. व्हिटने ने चार्वाक की चारुवाक् दर्शन कहा है। इस विद्वान् का कथन है कि चारुवाक् का अर्थ मधुरवाणी है और भोगप्रधान होने के कारण चार्वाक दर्शन की वाणी प्रायशः मधुर लगती है। इस तर्क के आधार पर चारुवाक् ही चार्वाक के रूप में प्रसिद्ध हुआ कहा जा सकता है।

ततीय मत इन्द्रियात्मवादी चार्वाक का है। इन्द्रियात्मवादी चार्वाक के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए निम्नलिखित श्रुति को उद्धत किया गया है—

ते ह प्राणा प्रजापति पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति तान् होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दश्येत स वः श्रेष्ठ इति।

यहाँ प्राण शब्द का अर्थ इन्द्रिय ग्रहण किया गया है, न कि प्राण वायु।

चतुर्थ मत प्राणात्मवादी चार्वाक का है। प्राणात्मवादी चार्वाक के मत के सम्बन्ध में जिस श्रुति को उद्धत किया गया है वह इस प्रकार है—

अन्योन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव.....।

पचम मत, जो मन आत्मवादी चार्वाक का है, के अनुसार मन के सो जाने पर प्राणादि का अभाव कहा गया है। यहाँ मन की मूर्च्छा से तात्पर्य है। किन्तु यहाँ यह आशंका हो सकती है कि व्यक्ति के मूर्च्छित होने पर प्राणादि का अभाव नहीं देखा जाता। अतः यहाँ प्राणादि के अभाव से प्राणादि के अभाव का सादश्य अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। मन आत्मवादी के पक्ष के समर्थन में उद्धत श्रुति इस प्रकार है—

'अन्योन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः।

षष्ठ मत विज्ञानवादी बौद्ध का है, जिसके प्रधान आचार्य असङ्ग तथा बसुबन्धु हैं। विज्ञानवादी के मतानुसार एकमात्र विज्ञानमात्र की ही सत्यता स्वीकार की गई है। यहां तक कि विज्ञानवादी बौद्ध के अनुसार जगत् के बाह्य विषय विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सप्तम मत के प्रवर्तक प्रभाकर मत के अनुयायी मीमांसक तथा नैयायिक हैं। ये दोनों आत्मा को आनन्दरूप सिद्ध करते हुए तथा बुद्धि, सुख, दुःख एवं इच्छादि का अज्ञान में लय देखते हुए, अज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। इस मत के अनुसार सुषुप्ति में आत्मा को किसी विषय का ज्ञान नहीं होता।

इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने बुद्धि के अज्ञान में लय होने पर होने वाली अनुभूति का उदाहरण 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ' दिया है। इसका आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति को किसी वस्तु या विषय का ज्ञान नहीं होता तो वह यही कहता है कि 'मैं इस वस्तु या विषय को नहीं जानता। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति की बुद्धि तद्वस्तुविषयक अज्ञान में ही लीन होती है।

अष्टम मत के अनुयायी कुमारिलभट्ट एवं उनके अनुयायी मीमांसक आज्ञानोपहित चैतन्य को आत्मा कहते हैं। चैतन्य की अज्ञानोपहितता के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने सुषुप्ति का उदाहरण दिया है। सुषुप्ति में ज्ञान के प्रकाश एवं अज्ञान के अप्रकाश की स्थिति देखी जाती है। ज्ञान का प्रकाश चैतन्य का स्वरूप है। इसलि चैतन्य को अज्ञानोपहित कहा है। ज्ञानाज्ञान की स्थिति का प्रमाण सुषुप्ति के पश्चात् अनुभूत उस स्थिति में देखा जा सकता है जब सुषुप्ति से उठने के पश्चात् व्यक्ति, 'सुखमहमस्वाप्सं न किचिदवेदिषम्' (मैं सुखपूर्वक सोया (किन्तु) कुछ नहीं जाना) कहता है। यहाँ मैं सुखपूर्वक सोया, यह अनुभूति ज्ञान के प्रकाश की सूचक है और किन्तु 'कुछ नहीं जाना' यह अनुभूति अज्ञानरूप अप्रकाश की सूचक है। इस प्रकार सुषुप्ति में चैतन्य का अज्ञानोपहित होना सिद्ध हो जाता है। अज्ञानोपहित चैतन्य के सम्बन्ध में —स्वयमहं न जानामि' (मैं अपने आपको नहीं जानता इस अनुभूति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। 'स्वयमहं न जानामि' (मैं अपने आपको नहीं जानता) इस अनुभूति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। 'स्वयमहं न जानामि' (मैं अपने आपको नहीं जानता) सुषुप्ति की वह अनुभूति है, जिसमें आत्मा का अस्तित्व

तो रहता है, किन्तु ज्ञातत्व नहीं रहता।

नवम मत शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध का है। इसके प्रमुख दार्शनिक नागार्जुन हैं। शून्यवादी बौद्ध आत्मा को द्रव्य रूप न मान कर सर्वाभावरूप स्वीकार करता है। यह सर्वाभावरूपता ही शून्यता है। शून्यवादी के मत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने सुषुप्ति अवस्था की अभावरूपता का दष्टान्त दिया है। ग्रन्थकार का कथन है कि जब व्यक्ति सुषुप्ति से उठता है तो उसे सुषुप्ति अवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए वह कहता है कि मुझे सुषुप्ति का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस प्रकार सुषुप्ति के पश्चात् वह यही अनुभव करता है कि मैं सुषुप्ति में नहीं था। इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था अभावरूपता की ही स्थिति है। इस तर्क के आधार पर आत्मा शून्यता ही है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में ग्रन्थकार ने पुत्र से लेकर शून्य तक की आत्मस्वरूपता का निरूपण किया है। जैसा कि कहा जा चुका है, यहाँ उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है, क्योंकि पुत्र की अपेक्षा स्थूलशरीर, स्थूलशरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ, इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण, प्राण की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि, बुद्धि की अपेक्षा अज्ञान, अज्ञान की अपेक्षा अज्ञानोपहित चैतन्य एवं अज्ञानोपहित चैतन्य की अपेक्षा शून्य सूक्ष्म है। ग्रन्थकार ने उपर्युक्त पूर्वपक्षों को प्रस्तुत करते हुए श्रुति, युक्ति एवं अनुभव का आश्रय लिया है।

११९. अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।

अर्थ—अत्यन्त सामान्य व्यक्ति तो 'आत्मा ही पुत्र रूप में उत्पन्न होता है' इस श्रुति के अनुसार, अपने समान ही अपने पुत्र के प्रति भी प्रेम देखने के कारण और पुत्र के पुष्ट होने या नष्ट होने पर 'मैं ही पुष्ट हो गया या नष्ट हो गया' इत्यादि अनुभव के कारण 'पुत्र आत्मा है' ऐसा कहता है।

१२०. चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोन्नरसमय' इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्स्थूलोहं कृशोहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।

अर्थ—चार्वाक 'यही अन्न के रस (वीर्य) से बना हुआ शरीर वह पुरुष आत्मा है' इत्यादि श्रुति के अनुसार, जलते हुए घर से अपने पुत्र को भी त्याग कर अपना निकल जाना दिखलायी पड़ने से तथा 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ' इथ्यादि अनुभव के कारण 'स्थूल शरीर आत्मा है' ऐसा कहता है।

१२१. अपरश्चार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोहं बधिरोहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।

अर्थ—दूसरा चार्वाक 'वे प्राण इन्द्रियाँ पिता प्रजापति के पास जाकर बोले' इस श्रुति के अनुसार, इन्द्रियों के अभाव में शरीर के चलने के अभाव के कारण, तथा 'मैं काणा हूँ', 'मैं बहरा हूँ' इत्यादि अनुभव के कारण 'इन्द्रियाँ आत्मा हैं' ऐसा कहता है।

१२२. अपरश्चार्वाकः 'अन्योन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।

अर्थ—अपर चार्वाक 'आत्मा इस शरीर से भिन्न अन्दर स्थित प्राणमय है' इस श्रुति के अनुसार प्राणों के अभाव में इन्द्रिय आदि के काम न करने के कारण, तथा 'मैं भूख से युक्त हूँ', 'मैं प्यास से युक्त हूँ', इत्यादि अनुभव के कारण, 'प्राण आत्मा है', ऐसा कहता है।

१२३. अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योन्तर आत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति।

अर्थ—अन्य चार्वाक 'आत्मा इस प्राण से भिन्न इसके अन्दर रहने वाला मनोमय है' इत्यादि श्रुति के अनुसार, मनस् के सो जाने पर प्राण आदि के अभाव हो जाने के कारण, तथा 'मैं संकल्प से युक्त हूँ', 'मैं विकल्प से युक्त हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'मनस् आत्मा है' ऐसा कहता है।

१२४. बौद्धस्तु 'अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इत्यादिश्रुतेः कर्त्तुरभावे करणस्य शक्त्वभावाद् अहं कर्त्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।

अर्थ—विज्ञानवादी बौद्ध 'आत्मा इस मनस से भिन्न इससे भी अन्दर रहने वाला विज्ञानमय है' इत्यादि श्रुति के अनुसार कर्ता के अभाव में करण की शक्ति के अभाव हो जाने के कारण, तथा 'मैं कर्ता हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ', इत्यादि अनुभव होने के कारण, 'बुद्धि आत्मा है' ऐसा कहता है।

१२५. प्राभाकरतार्किकौ तु 'अन्योन्तर आत्मानन्दमय' इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोहम ज्ञानी'त्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः।

अर्थ—प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक तथा तार्किक (नैयायिक) 'आत्मा विज्ञानमय कोश से भिन्न इससे भी अन्दर स्थित आनन्दमय है' इत्यादि श्रुति के अनुसार, बुद्धि आदि के अज्ञान में लय दिखलायी पड़ने के कारण, तथा 'मैं ज्ञानरहित हूँ', 'मैं ज्ञानवान् हूँ' इत्यादि अनुभव के कारण, 'अज्ञान आत्मा है' ऐसा कहते हैं।

१२६. भाट्टस्तु 'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यं आत्मेति वदति।

अर्थ—कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक 'केवल घनीभूत ज्ञानस्वरूप आनन्दमय' इस श्रुति के अनुसार, सुषुप्ति में प्रकाश ज्ञान तथा अप्रकाश (=अज्ञान) के रहने के कारण तथा 'मैं अपने को नहीं जानता' इत्यादि अनुभव के कारण, 'अज्ञान से उपहित चैतन्य आत्मा है' ऐसा कहता है।

१२७. अपरो बौद्धः 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति।

अर्थ—दूसरा शून्यवादी बौद्ध 'आरम्भ में यह नामरूपात्मक जगत् असत् ही था' इस श्रुति के अनुसार, सुषुप्ति में सबका अभाव हो जाने के कारण, तथा 'मैं सुषुप्ति में नहीं था' इस प्रकार सोकर उठे हुए व्यक्ति का अपने अभाव—ज्ञान को विषय करने वाला अनुभव होने के कारण 'शून्य आत्मा है' ऐसा कहता है।

१२८. एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते।

अर्थ—इन पुत्रादि का आत्मा न होना अब बताया जा रहा है।

पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त के आत्मत्व का विचार ग्रन्थकार ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया था। पुत्र से लेकर अज्ञानोपहित चैतन्य तक के सम्बन्ध में जो श्रुति, युक्ति एवं अनुभवाभास प्रस्तुत किये गए हैं, उनका निराकरण उत्तरोत्तर प्रस्तुत श्रुति आदि से स्वतः हो गया है। वहां केवल शून्यता की आत्मता का निराकरण नहीं हुआ था। पता नहीं, ग्रन्थकार ने शून्यता की आत्मता का निराकरण न होने पर भी 'एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु....आत्मत्वबाधदर्शनात् पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव" क्यों कह दिया ? यहाँ ग्रन्थकार पुत्र से लेकर शून्य तक के अनात्मत्व का प्रतिपादन करते हुए आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार पुत्रादि के अनात्मत्व के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने ये हेतु दिये हैं—

१. पहले उद्धत श्रुतियों का प्रबल श्रुतियों से विरोध देखा जाता है।

२. पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त समस्त प्रपच जड़ होने पर भी चैतन्य रूप से भासित होता है, किन्तु वह घटादि के समान अनित्य है।

३. अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ), इस प्रकार के ज्ञानी के अनुभव की प्रबलता के कारण पूर्वोक्त श्रुति, युक्ति एवं अनुभवाभासों का बाध होता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि उपर्युक्त प्रथम हेतु के अन्तर्गत प्रदर्शित प्रबल श्रुतियों के द्वारा पूर्वोक्त श्रुतियों का बाध होने के कारण पूर्वोक्त (आत्मा वै जायते पुत्रः) आदि श्रुतियों की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है, किन्तु श्रुति के एक भाग को अप्रामाणिक कहना तथा दूसरे को प्रामाणिक कहना संगत नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में भी यही समाधान है कि यहाँ उद्धत श्रुतियों की प्रामाणिकता सोपानारोहणन्याय से ही है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति सोपान पर पैर रखकर ही अपने गन्तव्य को प्राप्त करता है और गन्तव्य पर पहुँचने पर पहले का वैयर्थ्य सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति लक्ष्य पर पहुँच जाता है तो सभी सोपानों की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी उत्तरोत्तर श्रुतियों द्वारा पूर्व—पूर्व श्रुतियों का बाध होता चलता है, किन्तु आत्मतत्त्व का प्रतिपादन होने पर सभी की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है, यही बात अरुन्धती न्याय से भी समझी जा सकती है। अरुन्धती (जो अत्यन्त लघु तारा है) को बोध कराने के लिए पहले व्यक्ति को चन्द्रमा को ही अरुन्धती

बतलाया जाता है। इसके बाद जब व्यक्ति चन्द्रमा को देख लेता है तो उसे चन्द्रमा का समीपवर्ती नक्षत्र दिखलाया जाता है और कहा जाता है कि यही अरुन्धती है। तदनन्तर सात तारों (सप्तर्षिमण्डल) को ही अरुन्धती कह कर फिर उन तीन के मध्यवर्ती को अरुन्धती कहा जाता है। इसके पश्चात् उन तीनों में जो सूक्ष्मतम–अरुन्धती है, उसको बतलाया जाता है।

यद्यपि इन सब में विरोध की प्रतीति होती है, किन्तु वस्तुतः विरोध नहीं है, क्योंकि चन्द्रादि अरुन्धती का बोध कराने में साधक हैं, बाधक नहीं।

इसी प्रकार यही बात पुत्रादि के आत्मत्व के विरोध के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पुत्र आदि का आत्मत्व भी क्रमशः आत्मतत्त्व के बोध में सहायक ही है। क्योंकि पुत्रादि के आत्मत्व के निरूपण में क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है।

पुत्रादि की अनात्मता सिद्ध करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने आत्मतत्त्व की स्थापना करते हुए कहा है कि विभिन्न अनात्मप्रपच का अवभासक आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सत्य स्वभाव वाला एवं प्रत्यक्‌चैतन्यस्वरूप (अन्तःकरण में अनुस्यूत) है। यहाँ आत्मा को अवभासक इसलिए कहा है कि स्वतः प्रकाशस्वरूप होने के कारण आत्मा अनात्मविषयों का प्रकाशक है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार दीपक इतर वस्तुओं को अपने प्रकाश से अवभासित करता है।

१२६. एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु' श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु, पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुति-युक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव।

अर्थ–इन अतिप्राकृत आदि वादियों द्वारा बताये गये श्रुतियों, युक्तियों तथा अनुभवों के आभासों में पहले–पहल श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के आभासों का बाद–बाद के श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के आभासों द्वारा आत्मत्व का खण्डन दिखलायी पड़ने के कारण पुत्र आदि का आत्मा न होना स्पष्ट ही है।

१३०. किच प्रत्यगस्थूलोचक्षुरप्राणोमना अकर्त्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्य्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव।

अर्थ–इसके अतिरिक्त आत्मा के स्वरूप के विषय में 'प्रत्यक् अर्थात् आन्तरिक 'अस्थूलः' 'अचक्षुः' 'अप्राणः' 'अमना' 'अकर्त्ता', 'चैतन्यम्', 'चिन्मात्रम्', तथा 'असत्' इत्यादि अधिक बलशाली श्रुतियों के साथ विरोध होने के कारण, इस 'पुत्र' से लेकर 'शून्य' तक जड़ वस्तुओं के चैतन्य द्वारा प्रकाशित किये जाने से घट आदि के समान अनित्य होने के कारण, तथा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के विद्वानों के अनुभव की (अन्य लोगों के अनुभवों की अपेक्षा) प्रबलता के कारण उन–उन श्रुति, युक्ति तथा अनुभवों के आभासों के खण्डित हो जाने के कारण भी, 'पुत्र' से लेकर 'शून्य' तक सब आत्मा नहीं है।

१३१. अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्‌चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः।

अर्थ–अतः उन उन पुत्र आदि को प्रकाशित करने वाला, नित्य शुद्ध, बुद्ध चैतन्य, मुक्त तथा सत्य स्वभाव वाला, आन्तरिक चैतन्यरूप ही आत्मा रूप तृत्त्व है, ऐसा वेदान्त के ज्ञाताओं का अनुभव है।

१३२. एवमध्यारोपः।

अर्थ–इस प्रकार का अध्यारोप है।

१३३. अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोज्ञानादेः प्रपचस्य वस्तुमात्रत्वम्।

अर्थ–रस्सी के विवर्त अर्थात् भ्रान्तिजन्य प्रतीति सर्प के रस्सी मात्र रह जाने के समान, ब्रह्म रूप तत्त्व के विवर्त अतत्त्वभूत अज्ञान आदि सष्टि का ब्रह्म रूप तत्त्व मात्र रह जाना अपवाद है।

विशेष :- इससे पूर्व के प्रकरण तक ब्रह्म मे जगत् के अध्यारोप का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म में जगत् का आरोप अद्वैतवेदान्त का सिद्धान्त मत नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि ब्रह्म में जगत् का आरोप सिद्ध होने पर तो द्वैत की सिद्धि होगी। अतः यहाँ ग्रन्थकार अद्वैतसिद्धि के निमित्त अपवाद की प्रक्रिया से यह सिद्ध कर रहे हैं कि जगत् का आरोप मिथ्या है। अपवाद के सम्बन्ध में विवेचन करने से पूर्व इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिए। सुबोधनीकार ने अपवाद शब्द का अर्थ नाश किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार रज्जु–सर्प के उदाहरण के अन्तर्गत रज्जु के स्वरूप का परित्याग हुए बिना सर्प के आकार से भासमान रज्जु के विवर्त का अपवाद अर्थात नाश होता है

और इस नाश के फलस्वरूप अधिष्ठानरूप रज्जुमात्र की स्थिति देखी जाती है उसी प्रकार चित् तत्त्व के विवर्तरूप प्रपच का नाश हो जाता है एवं उसके फलस्वरूप अधिष्ठानरूप चित्तत्व की ही स्थिति देखी जाती है। अतः जिस प्रकार रज्जुसर्प एवं शुक्तिरजत के उदाहरणों में रज्जु एवं शुक्ति की ही सत्यता है, उन पर अध्यस्त सर्प एवं रजत की प्रतीति मिथ्या एवं अज्ञानमूलक है, उसी प्रकार ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में भी ब्रह्म ही स्वरूप्तः सत्य है, जगत् की प्रतीति मिथ्या एवं अज्ञानमूलक है।'

रज्जुसर्पादि के उदाहरणों के आधार पर आत्मतत्त्व की एकमात्रसत्यता सिद्ध करने वाले प्रत्येक अद्वैतसिद्धिकार पर प्रत्यक्ष अनुभूत जगत् के स्चरूप की सिद्धि का उत्तरदायित्व स्वतः आ जाता है।

१३४. तदुक्तम्-

सतत्त्वतोन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।

अतत्त्वतोन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः।। इति।

अर्थ–ऐसा कहा भी गया है :–

'वास्तव में अन्य रूप में हो जाना "विकार" कहा गया है, अवास्तविक रूप में अन्य रूप में प्रतीत होना "विवर्त" कहा गया है।

विशेष :- यहाँ अद्वैत के प्रतिपादक सदानन्द ने 'सतत्त्वतोन्यथा प्रथा' इत्यादि उद्धरण के द्वारा दो सिद्धान्तों–विकारवाद एवं विवर्त्तवाद–की ओर संकेत किया है। इनमें विकारवाद का सिद्धान्त ही परिणामवाद भी कहलाता है। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को त्याग कर स्वरूपान्तर को प्राप्त करती है, तो इस प्रक्रिया को परिणामवाद कहते हैं। उदाहरण के लिए, दुग्ध का दधिरूप से परिणत होना परिणामवाद की ही प्रक्रिया के अन्तर्गत आयेगा, क्योंकि दधि की अवस्था दूध की स्थिति में नहीं देखी जाती। अतः दही दूध का परिणाम ही है। इस सिद्धान्त का अनुयायी सांख्यदर्शन है क्योंकि वहाँ भी जगत् को अव्यक्त प्रकृति का कार्य एवं परिणामरूप ही कहा गया है। परिणामवादी के अनुसार कार्यरूप जगत् का मिथ्यात्व नहीं स्वीकार किया गया है। परिणामवादी के अनुसार जगत् की वस्तुएं सत्य ही हैं, न कि मिथ्या।

परिणामवाद का उपर्युक्त सिद्धान्त अद्वैतवाद के अनुरूप नहीं है, क्योकि जिस प्रकार दधि दूध का परिणाम या विकार है, उसी प्रकार जगत् ब्रह्म का विकार नहीं है। ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में दिए गए रज्जु एवं सर्प के उदाहरण के अन्तर्गत भी सर्प रज्जु का विकार नहीं है। इसीलिए अद्वैतवाद के लिए विवर्तवार का ही सिद्धान्त अनुकूल है।

विवर्तवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करती, अपितु उसके अतिरिक्त स्वरूप से भिन्न दूसरी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होती है। रज्जु में सर्प एवं शुक्ति में रजत की प्रतीति विवर्त रूप ही है। क्योंकि सर्प एवं रजत अपने अधिष्ठान रज्जु एवं शुक्ति से नितान्त विलक्षण है। इसी प्रकार विवर्तवाद के अनुसार जगत् की प्रतीति ब्रह्म से सर्वथा विलक्षण है एवं सर्पादि के समान अवास्तविक है। ज्ञानदशा में जिस प्रकार रज्जुमात्र की सत्यता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान की स्थिति में 'सर्व खल्विदं ब्रह्म,' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार ब्रह्मवाक्य की ही सत्यता है और यही अद्वैतसम्प्रदाय का अभीष्ट है।

यहाँ यह विचारणीय है कि विवर्ततवाद के अनुरूप ब्रह्म और जगत् में अनिन्यता होने पर प्रत्यक्ष अनुभूयमान जगत् की क्या स्थिति है ? क्या अद्वैतता की स्थिति में जैसा कि जगत् दिखाई पड़ता है, वैसा नहीं रहता ? इस सम्बन्ध में अद्वैतियों का उत्तर है कि जगत् शून्यरूप नहीं है, वह ज्ञानी के समक्ष भी बना रहता है, किन्तु अन्तर यही है कि अज्ञानी जगत् को नामरूपात्मक एवं ममत्व, परत्व की भावना से देखता है, किन्तु ज्ञानी जगत् का ब्रह्मस्वरूप ही देखता है। गौडपादाचार्य ने 'ज्ञात द्वैतं न विद्यते' कह कर यही बात स्पष्ट की है। ब्रह्म और जगत् की अनेकरूपता के बीच अद्वैतता की स्थापना के सम्बन्ध में यह उदाहरण उपयुक्त ही है जिस प्रकार जमे हुए घी के अनेक भाग (दाने आदि) दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु जब घी पिघल जाता है, तो समस्त भेद समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान होने पर अद्वैत ब्रह्म का ही अनुभव होता है। जगत् को ब्रह्म का विवर्त कह कर ग्रन्थकार ने अद्वैतसिद्धि का युक्तियुक्त प्रयास किया हैं यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि जिस जगत् को ब्रह्म को विवर्त कहा गया है, उसका अपवाद के द्वारा निराकरण किया जाता है।

विवर्तवाद और विकारवाद का भेद स्पष्ट है। जहाँ परिणाम या विकार अपनी कारणरूप वस्तु की समान सत्ता वाला है, वहाँ विवर्त की सत्ता अपने कारण से सर्वथा विषम है। जहाँ विकार सत्ता यथार्थ है, वहां विवर्त सर्वथा अवास्तविक है। इस प्रकार जहाँ कारण से अभिन्न कार्य परिणाम या विकार हैं, वहाँ कारण से भिन्न कार्य विवर्त हैं।

१३५. तथाहि एतद्भोगायतनं चतुर्विध'सकल स्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूत-भूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतषां कारणरूपं पचीकृतभूतमात्रं भवति।

अर्थ–जैसा कि भोगों का आधार यह चार प्रकार का सम्पूर्ण स्थूल शरीरों का समूह, स्थूल शरीर के भोग्य रूप अन्न–जल आदि, इन शरीर तथा भोग्य वस्तुओं के आधार रूप भूः आदि चौदह भुवन तथा इनका आधार रूप ब्रह्माण्ड, यह सब अपने कारण रूप पचीकृत भूत मात्र हो जाता है।

१३६. एतानि शब्दादिविषयसहितानि पचीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापचीकृतभूतमात्रं भवति।

अर्थ–ये शब्द आदि विषयों सहित पचीकृत भूत तथा सूक्ष्म शरीरों का समूह–यह सब अपने कारण रूप अपचीकृत भूत मात्र हो जाते हैं।

१३७. एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपचीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूतज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति।

अर्थ–ये सत्त्व आदि गुणों से युक्त अपचीकृत सूक्ष्म भूत उत्पत्ति के उलटे क्रम से अपने कारणरूप अज्ञान से उपहित चैतन्य मात्र हो जाते हैं।

१३८. एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यचेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।

अर्थ–यह अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य–ईश्वर आदि–अपने आधारभूत अनुपहित चैतन्य रूप तुरीय ब्रह्म मात्र हो जाते हैं।

विशेष :- उपर्युक्त अपवाद एवं विवर्त की प्रक्रिया के अनुसार ग्रन्थकार ने समस्त प्रपच रूप रूप जगत् का निराकरण करके परमार्थवस्तुस्वरूप ब्रह्ममात्र की सत्यता स्थापित की है। इसीलिए ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट किया है कि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर का लय होने के पश्चात् अधिष्ठानस्वरूप चैतन्य ही शेष रहता है। स्थूल शरीर अपने आश्रयरूप ब्रह्माण्ड के सहित अपने कारणभूत पचीकृत पच महाभूतों में लीन होकर तन्मात्ररूप में स्थित रहता है, यही सूक्ष्म शरीर है। इस प्रकार स्थूल शरीर का लय सूक्ष्म शरीर में होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सहित सब पचीकृत तथा पूर्वोक्त १७ अवयवों वाले सूक्ष्मशरीर अपचीकृत महाभूतों में लीन हो जाते हैं। यही सूक्ष्म शरीर का कारण शरीर में लय है। सत्त्वादिगुणसहित अपचीकृत महाभूत अपने कारणरूप अज्ञानोपहित सर्वज्ञत्वादिगुण विशिष्ट चैतन्य ईश्वरादि अपने आधारभूत अनुपहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार चैतन्यमात्र ही शेष रहता है।

१३९. आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति।

अर्थ–इन अध्यारोप तथा अपवाद से तत्त्वमसि इस महावाव्य के 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों के अर्थों का शोधन भी हो जाता है।

विशेष :- इससे पूर्व ग्रन्थकार ने अध्यारोप एवं अपवादन्याय के द्वारा ब्रह्म एवं जगत् की अद्वैतता का प्रतिपादन किया है। अध्यारोप के अनुसार ब्रह्मस्वरूप वस्तु में जगत्रूप अवस्तु का आरोप होता है तथा अपवादन्याय के द्वारा जगत् का निराकरण किया जाता है। यह सिद्धान्त अभी स्पष्ट किया जा चुका है। यहां यह वक्तव्य है कि अध्यारोप एवं अपवादन्याय के द्वारा अद्वैतता की स्थापना होने पर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अन्तर्गत तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। उक्त न्यायों के समान 'तत्त्वमसि' महावाक्य भी जीव एवं ब्रह्म की अद्वैतता का ही प्रतिपादक है। इसलिए अद्वैतता के प्रतिपादक उक्त न्यायों का तत्त्वमसि के अद्वैतता–प्रतिपादक तत् एवं त्वम् पदों के अर्थ के स्पष्टीकरण में सहायक बतलाया गया है।

'तत्त्वमसि' यह महावाक्य उद्दालक द्वारा श्वेतकेतु को दिया गया उपदेश है। इसके उपदेश में उद्दालक श्वेतकेतु से कह रहे हैं कि तुम परमात्मस्वरूप ही हो। इस प्रकार इस महावाक्य के द्वारा जीव एवं ब्रह्म की अद्वैतता का उपदेश किया गया है। 'तत्त्वमसि' के 'तत्' एवं 'त्वम्' दोनों ही पदों के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ अद्वैतता के प्रतिपादक हैं। पहले तत् पद के वाच्यार्थ को लिया जायेगा।

अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर की समष्टि, उससे उपहित चैतन्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा चैतन्य (तुरीय चैतन्य इन सब का तप्त लौहपिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना 'तत्' पद का वाच्यार्थ है। अज्ञानावच्छिन्न ईश्वर–चैतन्य का आधारभूत जो अनुपहित चैतन्य उसका अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वरचैतन्य से विविक्त होकर भिन्न–भिन्न

अवभासित होना तत् का लक्ष्यार्थ है। 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ–अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर की व्यष्टि एवं प्राण तैजस तथा विश्वचैतन्य और इनसे अनुपहित चैतन्य–इन तीनों का तप्त लोह–पिण्ड के समान अभेद–विवक्षा से एक रूप से अवभासित होना है। 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ–व्यष्टिभूत जो अज्ञान आदि एवं तदुपहित जीवचैतन्य तथा इनका आधारभूत अनुपहित चैतन्य–प्रत्यगात्मास्वरूप तुरीयचैतन्य, इन सबका भेद–विवक्षा में पथक्–पथक् प्रतीत होना है।

१४०. **तथाहि। अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति।**

अर्थ–जैसा कि अज्ञान आदि अर्थात् अज्ञान, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर की समष्टि, इससे उपहित सर्वज्ञत्व आदि से विशिष्ट ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा विराट् नाम वाला चैतन्य तथा इससे अनुपहित शुद्ध चैतन्य, ये तीनों तपाये हुए लोहे के पिण्ड के समान एक रूप में प्रतीत होते हुए 'तत्' पद के वाच्यार्थ होते हैं।

१४१. **एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति।**

अर्थ–इस अज्ञान आदि उपाधि तथा उससे उपहित चैतन्य का आधार रूप अनुपहित शुद्ध चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

१४२. **अज्ञज्ञनादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति।**

अर्थ–अज्ञान आदि अर्थात् अज्ञान, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर की व्यष्टि, इससे उपहित अल्पज्ञत्व आदि से विशिष्ट ('प्राज्ञ–, 'तैजस' तथा 'विश्व' नाम वाला) चैतन्य तथा इनसे अनुपहित (शुद्ध चैतन्य), ये तीनों तपाये हुए लोहे के पिण्ड के समान एक रूप में प्रतीत होते हुए 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ होते हैं।

१४३. **एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।**

अर्थ–यह अज्ञान आदि उपाधि तथा इससे उपहित चैतन्यका आधार रूप अनुपहित आन्तरिक आनन्द रूप तुरीय चैतन्य 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

१४४. **अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति।**

अर्थ–अब महावाक्य के अर्थ को बतलाया जा रहा है। यह 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य उप० ५, ८, ७) वाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ का बोधक होता है।

विशेष :- ग्रन्थकार ने यहाँ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अखण्डार्थबोध का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः अद्वैत तत्त्व के बोध के लिए महावाक्य का तात्पर्य बोध नितान्त उपादेय है।

वेदान्त में द्वादश प्रकार के महावाक्य माने गये हैं जिनमें' प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐ० ५।१), अहं ब्रह्मास्मि (ब० १।४।१०), अयमात्मा ब्रह्म (ब० २।५।१६ और तत्त्वमसि (छा०उ० २।२।७।) ये चार महावाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध हैं।

यहाँ हमें सामवेद शाखा के छान्दोग्योपनिषद् के महावाक्य–तत्त्वमसि द्वारा होने वाले अखण्डार्थबोध का प्रतिपादन करना है। छान्दोग्य उपनिषद् में तत्त्वमसि का उपदेश उद्दालक द्वारा श्वेतकेतु को दिया गया है। यहाँ ग्रन्थकार ने जिस सम्बन्धत्रय कबे द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य से अखण्डार्थबोध की बात कही है, उसमें पहला सामानाधिकरण्यसम्बन्ध है। यहाँ क्रमशः तीनों के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

१४५. **सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति।**

अर्थ–तीन सम्बन्ध हैं–(१) पदों का समान आधार वाला हो जाना, (२) (दोनों) पदों के अर्थों का विश्लेषण–विशेष्य भाव होना, (३) अन्तरात्मा तथा वाचकों (=पदों) का लक्ष्य–लक्षण भाव होना।

१४६. **तदुक्तम्-**

'सामानाधिकरण्यच विशेषणविशेष्यता।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।। इति।

अर्थ–कहा भी गया है :–

महावाक्य के दो पदों में सामानाधिकरण्य, पदों के वाच्यार्थों में विशेषण–विशेष्य भाव, पुनः पदों के वाच्यार्थों तथा अन्तरात्मा में लक्ष्य–लक्षण सम्बन्ध है।

१४७. सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्काल-विशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च' तत्त्वमसीति वाक्येपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्र्िंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

अर्थ–समानाधिकरण्य सम्बन्ध इस प्रकार है–जैसे 'सोयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है इस वाक्य में उस भूत काल से विशिष्ट देवदत्त के वाचक 'सः' शब्द का तथा इस वर्तमान काल से विशिष्ट देवदत्त के वाचक 'अयं' शब्द का एक पिण्ड व्यक्ति में तात्पर्य रूप सम्बन्ध है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'तत् पद का तथा अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'त्वम्' पद का एक चैतन्य में तात्पर्य रूप सम्बन्ध हो जाना।

विशेष :- जिस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न–भिन्न अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यबोध होता है, वह सम्बन्ध सामानाधिकरण्यसम्बन्ध कहलाता है। इस सम्बन्ध के द्वारा 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध कराने के लिए ग्रन्थकार ने सोयं देवदत्तः – वह यह देवदत्त है – यह उदाहरण दिया है। यह वाक्य किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा कहा गया है, जिसने देवदत्त को दश–पांच वर्ष पूर्व देख रखा है। दश–पाँच वर्ष के बाद मिलने पर देवदत्त में परिवर्तन स्वाभाविक है। अतः जब देवदत्त का मित्र देवदत्त को दश पांच वर्ष के बाद मिलता है, तो उसे देवदत्त के पूर्वदष्ट स्वरूप का स्मरण हो जाता है और वह कह उठता है–वह यह देवदत्त है (सोयं देवदत्तः)। इस वाक्य में सः (वह) और 'अयम् (यह) पद एक ही देवदत्त के बोधक है। सः (वह)–पद का अर्थ अतीत काल एवं देश से सम्बन्धित देवदत्त है। 'अयम्' (यह) पद वर्तमान काल एवं देश में स्थित देवदत्त का बोध कराता है। यहाँ दोनों पदों–'सः' एवं 'अयम्' से बोधित होने वाले अतीत काल एवं देश तथा वर्तमानकाल एवं देश में विरोध प्रतीत होता है, परन्तु दोनों पदों का अर्थ समन्वित रूप से एक ही देवदत्त के शरीर का बोधक है। इसी प्रकार तत्त्वमसि इस महावाक्य में भी 'तत्' यह परोक्षत्व एवं सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य (तुरीय चैतन्य) का बोधक है और 'त्वम्' यह प्रत्यक्षत्व एवं अल्पज्ञत्व आदि विशिष्ट चैतन्य (जीवचैतन्य) का बोध कराता है। यहाँ भी 'तत्' पद द्वारा बोध्य परोक्षत्व एवं सर्वज्ञत्व का तथा 'त्वम्' पद द्वारा बोध तुरीय चैतन्य एवं 'त्वम्' पद द्वारा बोध्य अल्पज्ञ चैतन्य–जीव चैतन्य में भेद नहीं है।

'जीवो ब्रह्मैव नापरः" (जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं) –अद्वैत–दर्शन का यह सिद्धान्त जीव तथा ब्रह्म की अद्वैतता का ही प्रतिपादन करता है। अब यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि 'सोयं देवदत्तः' इस उदाहरण में तो अतीत काल एवं वर्तमान की स्थिति सम्भव है, क्योंकि देवदत्त का सम्बन्ध अतीत एवं वर्तमान देशकाल से है, किन्तु 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत तुरीय चैतन्य को परोक्षत्वादिविशिष्ट कहना संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि तुरीय चैतन्य (ब्रह्म) तो सर्वकाल एवं सर्वदेश में व्याप्त रहता है। इसके उत्तर में यह कथन संगत होगा कि यद्यपि ब्रह्म सर्वदेश एवं सर्वकालव्यापी है, किन्तु कालविशेष में वर्णित एवं उपदिष्ट होने के कारण उसके लिए परोक्ष–काल का 'तत्' ऐसा व्यवहार सम्भव है।

१४८. विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

अर्थ–विशेषणविशेष्यभाव रूप सम्बन्ध इस प्रकार है–जैसे उसी (सोयं देवदत्तः) वाक्य में 'सः' शब्द के अर्थ उस भूत काल से विशिष्ट देवदत्त का तथा 'अयं' शब्द के अर्थ इस वर्तमान काल से विशिष्ट देवदत्त का एक–दूसरे के भेद के व्यावर्तक होने से विशेषण–विशेष्यभाव है, उसी प्रकार इस तत्त्वमसि वाक्य में भी 'तत्' पद के अर्थ परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य का तथा 'त्वम्' पद के अर्थ अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य का एक–दूसरे के भेद के व्यावर्तक होने से विशेषणविशेष्य भाव है।

विशेष :- ग्रन्थकार ने विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध की व्याख्या करते हुए–'वह यह देवदत्त है, (सः अयम् देवदत्तः) इस उदाहरण के अन्तर्गत 'वह' और 'यह में अन्योन्य के भेद का व्यावर्त्तक होने के कारण, विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध माना है। यहाँ अन्योन्य के भेद के व्यावर्त्तकत्व को समझ लेना चाहिए। जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शब्दों से व्यावत्त कर देता है उसे विशेषण कहते हैं और जो शब्द व्यावत्त हो जाता है, उसे विशेष्य कहते हैं। इस प्रकार विशेषण व्यावर्त्तक है और विशेष्य व्यावर्त्य है। प्रकृत उदाहरण के अन्तर्गत 'वह' (सः) पद 'यह' (अयम्) का विशेषण है। विशेषण रूप 'वह' पद विशेष्य रूप 'यह' पद के अन्य विशेषणों का बाधक है। यही विशेषण का व्यावर्त्तकत्व है। यही बात 'वह तुम हो' (तत्त्वमसि) के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। 'वह' पद जो कि 'तुम' का विशेषण है, 'तुम' पद के अन्य विशेषणों का बाधक है। यही 'वह' (तत्) पद का

व्यावर्त्तकत्व है।

१४६. लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वाविरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्ध-देवदत्तेन सह लक्ष्य-लक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्व-परित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः।

अर्थ—लक्षलक्षणसम्बन्ध इस प्रकार है—जेसे उसी (सोयं देवदत्तः) वाक्य में 'सः' शब्द तथा 'अयं' शब्द का अथवा उनके अर्थों का विरुद्ध तत्कालविशिष्टत्व तथा एतत्कालविशिष्टत्व रूप अंश के परित्याग से अविरुद्ध देवदत्त रूप अर्थ के साथ लक्ष्यलक्षणभाव है, इसी प्रकार इस तत्त्वमसि वाक्य में भी 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों का अथवा उनके अर्थों का विरुद्ध परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व रूप अंशों के परित्याग से अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्षलक्षणभाव होना।

विशेष :- लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध के द्वारा भी 'वह तू है'—(तत् त्वम् असि)—वाक्य से अद्वैत चैतन्य का बोध होता है। ग्रन्थकार ने भागलक्षणा के द्वारा 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से अद्वैतचैतन्यरूप अर्थ की निष्पत्ति की है। यहाँ लक्ष्य अर्थ अद्वैतचैतन्यरूप है और उसके लक्षणपद 'तत्' एवं 'त्वम्' है। सामान्यतया लक्षणा में मम्मट के अनुसार मुख्यार्थ को बाध उसका लक्ष्यार्थ के साथ योग एवं रूढ़ि अथवा प्रयोजन अपेक्षित होते हैं। पहले मुख्यार्थबोध को लीजिये। प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' (गंगा में बस्ती है) के अन्तर्गत लक्षणाशक्ति के द्वारा गंगापद के वाच्यार्थ—प्रवाह का बाध हो जाता है और गंगा पद तट अर्थ का बोध कराता है, किन्तु यह बात 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि यहाँ 'तत्' (वह) पद और त्वम् (तुम) पदों के समग्र मुख्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य एवं अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य का बाध नहीं होता, अपितु विरुद्ध (तत् पद् द्वारा बोध्य) परोक्षत्व एवं (त्वम् पद द्वारा बोध्य) प्रत्यक्षत्व रूप अंश का ही बाध होता है। इस प्रकार लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ के कुछ अंश का बाध एवं कुछ अंश का ग्रहण होता है, इसीलिये इसे ग्रन्थकार ने 'भागलक्षणा' ऐसा कहा है। इसे भागत्यागलक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा भी कहते हैं। जहाँ तक लक्षणा के अन्तर्गत मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ के योग (सम्बन्ध) की बात है, वह 'तत् त्वम् असि' के अन्तर्गत वर्तमान ही है; क्योंकि परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यांश का अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यांश से सम्बन्ध निश्चित ही है। यद्यपि यह सम्बन्ध पारमार्थिक नहीं है, परन्तु परमार्थतत्त्व का बोध होने से पूर्व तो उपदेशावस्था में सम्बन्ध कहा ही जा सकता है।

१५० इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।

अर्थ—यही भागलक्षणा कही जाती है।

१५१. अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।

अर्थ—इस तत्त्वमसि वाक्य में 'नीलमुत्पलम्' (=नीला कमल) अथवा 'कमल नीला है' इस वाक्य के समान वाक्यार्थ नहीं बनता।

विशेष :- यहाँ ग्रन्थकार ने 'तत्त्वमसि' के तात्पर्यबोध के लिए पूर्वोक्त भागलक्षणा की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए विशेषणविशेष्यभावसंसर्गसिद्ध अर्थ एवं एक—दूसरे से विशिष्ट अर्थ का निराकरण किया है। विशेषणविशेष्यभाव संसर्ग या जो नीलगणविशिष्ट है, वही उत्पन्न है या जो उत्पलविशिष्ट है वही नीलगुण है। इन दोनों सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार का तर्क है कि 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में 'नीलमुत्पलम्' की तरह उक्त सम्बन्ध नहीं हो सकते। इन सम्बन्ध में ग्रन्थकार का तर्क है कि 'नीलमुत्पलम्' के सम्बन्ध में तो उक्त सम्बन्ध उचित है क्योंकि वहां नीलगुण एवं उत्पल—द्रव्य में तो उक्त सम्बन्ध मान लेने पर प्रत्यक्ष में कोई विरोध नहीं आता; क्योंकि लीन गुण के उत्पल द्रव्य का विशेषण मान लेने पर या जो 'नील गुणविशिष्ट है, वही उत्पल द्रव्य है', ऐसा स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का कोई विरोध नहीं आता क्योंकि दोनों में किसी प्रकार का कालसम्बन्धी विरोध नहीं आता। परन्तु 'तत्त्वमसि' के विषय में यह अविरोध सिद्ध नहीं होता क्योंकि वहाँ 'तत्' (वह) परोक्ष का द्योतक है और 'त्वम्' (तुम) प्रत्यक्ष का बोध है, अतः तत् पद द्वारा बोय परोक्षत्वविशिष्टचैतन्य में परोक्ष एवं प्रत्यक्ष का प्रमाणगत विरोध होने के कारण 'तत्त्वमसि' के तात्पर्य का बोध विशेषणविशेष्यभावसंसर्ग के आधार पर नहीं होता। या जो नीलगुणविशिष्ट है, वही उत्पल है एवं जो उत्पलविशिष्ट है, वही नील गुण है। इस सिद्धान्त के आधार पर भी तत्त्वमसि का तात्पर्यबोध नहीं हो सकता, क्योंकि 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों को एक—दूसरे से विशिष्ट मानने पर भी उक्त विरोध बना रहेगा। इसी प्रकार दोनों को एक मानने पर भी उक्त विरोध बना रहता है। अतः यहाँ (तत्त्वमसि) में भागलक्षणा के द्वारा ही तात्पर्य—बोध सम्भव है।

१५२. तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयान्योन्य-विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधभावात् तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते।

अर्थ—वहाँ 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य में तो 'नील' पद के अर्थ 'नील गुण' तथा 'उत्पल' पद के अर्थ 'उत्पल—द्रव्य' के शुक्लता तथा पट आदि भिन्न अर्थों के व्यावर्तक होने से परस्पर 'विशेषण—विशेष्य—भाव सम्बन्ध' के, 'एक से विशिष्ट दूसरे' के अथवा 'दोनों की एकता' के वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार करने पर किसी दूसरे प्रमाण से विरोध न होने के कारण उस वाक्य का अर्थ ठीक बन जाता है।

१५३. अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।

अर्थ—यहाँ 'तत्त्वमसि' वाक्य में तो 'तत्' के अर्थ 'परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य' तथा 'त्वम्' के अर्थ 'अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य' के परस्पर एक—दूसरे के भेद के व्यावर्तक होने से 'विशेषण—विशेष्य—भाव सम्बन्ध' के, 'एक से विशिष्ट दूसरे' के तथा 'दोनों को एकता' के वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरोध प्रतीत होने के कारण वाक्यार्थ नहीं बनता।

१५४. तदुक्तम्-

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।। (पचदशी, ७, ७५)

अर्थ—कहा भी गया है—

इस 'तत्त्वमसि' वाक्य में संसर्ग अर्थात् भेदसंसर्ग अथवा विशिष्ट अर्थात् अभेदसंसर्ग रूप वाक्यार्थ इष्ट नहीं है, विद्वानों को अखण्ड तथा एकरस रूप में वाक्यार्थ इष्ट है।

१५५. अत्र 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इतिवाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते।

अर्थ—यहाँ तत्त्वमसि वाक्य में 'गंगा पर घोष अहीरों का गाँव स्थित है' इस वाक्य के समान जहल्लक्षणा भी नहीं बन पाती।

विशेष :- यहां ग्रन्थकार ने 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में जहत्लक्षणा का खण्डन किया है। जहां पद अपने समग्र अर्थ को छोड़ कर दूसरे अर्थ का बोध कराता है, वहां जहत्लक्षणा कहलाती है—जहाति पदम् स्वार्थ यस्यां सा जहल्लक्षणा। जहल्लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है। 'गङ्गाया घोषः' मे जहल्लक्षणा इसलिए उचित है कि वहाँ अभिध से गङ्गा और घोष के आधाराधेयभाव—सम्बन्ध का बोध होता है, जो परस्पर विरुद्ध है। 'गङ्गाया घोषः' में अभिधेय अर्थ (गंगा में घोष है) के अनुसार गंगा आधार एवं घोष आधेय है। परन्तु विरुद्ध है, क्योंकि प्रवाहरूप गंगा में घोष की स्थिति नहीं देखी जा सकती। अतः वाक्यार्थ की संगति के लिए गंगापद के समस्त अर्थ को त्याग कर गंगा से सम्बन्धित तीर में लक्षणा करना युक्त है। अतः वहां गंगा पद के समस्त अर्थ का त्याग करने के कारण जहल्लक्षणा समुचित है। परन्तु परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्वस्वरूप चैतन्य के बोधक महावाक्य 'तत्त्वमसि' में जहल्लक्षणां संगत नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि 'गङ्गाया घोषः' में तो आधार रूप गंगा पद के समग्र अर्थ का आधेयरूप घोष से विरोध है।, क्योंकि गंगा के किसी भी भाग में घोष की आधेयता असम्भव है, किन्तु 'तत्त्वमसि' में तो केवल तत् एवं 'त्वम्' पदों के अर्थ में परोक्षत्व एवं प्रत्यक्षत्व अंश में ही विरोध है। जहाँ तक 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों से बोध्य चैतन्यांश का प्रश्न है वह समान ही है, उसमें कोई विरोध नही है। अतः वह सर्वथा ग्राह्य है। फिर जहल्लक्षणा के अनुसार यहाँ तत् एवं त्वम् पदों के समस्त अर्थ का त्याग करने पर तो किसी अन्य अर्थ में लक्षणा (अनपेक्षित अर्थ में लक्षणा) के अयुक्त होने से जहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती। यदि 'गङ्गाया घोषः' के अनुरूप 'तत्त्वमसि' में जहल्लक्षणा की जायेगी तब तो अनपेक्षित विरोधी तत् एवं त्वम् पदो के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व का त्याग होगा ही, साथ ही अपेक्षित चेतनांश का भी त्याग करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में जहल्लक्षणा के द्वारा 'तत्' एवं 'त्वम्' के समग्र अर्थ का त्याग करके जिस अर्थ का बोध होगा वह सर्वथा अनभिप्रेत एवं कोई विलक्षण अर्थ ही होगा।

जहल्लक्षणा तो तभी होती है जबकि पहले समस्त अर्थ का त्याग किया जाता है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के समंस्त अर्थों का त्याग करने से तो महावाक्य तत्त्वमसि के अभिमत अर्थ की ही हानि हो जायेगी, क्योंकि इस महावाक्य का उद्देश्य सर्वज्ञत्वविशिष्टचैतन्य एवं अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य की एकता का बोध करना है।

ग्रन्थकार ने एक अन्य पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए कहा है कि जिस प्रकार 'गङ्गाया घोषः' इस उदाहरण में गंगा पद अपने ञ(प्रवाह रूप) अर्थ के परित्याग से तीर अर्थ को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' में भी तत् पद जहल्लक्षणा के अनुसार अपने अर्थ परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य का त्याग करके 'त्वम्' पद के अर्थ का बोध करायेगा तथा 'त्वम्' पद अपने अर्थ का त्याग करके 'तत्' पद के अर्थ का बोध करायेगा। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' में भी 'गङ्गाया घोषः' के समान लक्षणा सम्भव हो सकती है। ग्रन्थकार ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि 'गङ्गाया घोषः' में तो 'तीर' पद का श्रवण नहीं होता, इसलिए वक्ता के प्रयोजन के अनुसार लक्षणा की आवश्यकता है, किन्तु 'तत्त्वमसि' में उक्त प्रक्रिया के अनुसार लक्षणा की कोई अपेक्षा नहीं है, क्योंकि 'त्वम्' पद जब स्वयं अपने अर्थ का बोधक है तो फिर 'तत्' पद में 'त्वम्' की लक्षणा की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार जब 'तत्'पद स्वयं अपने अर्थ का बोधक है तो 'त्वम्' पद में 'तत्' की लक्षणा अनपेक्षित ही कही जायेगी।

१५६. तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते।

अर्थ—वहाँ 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' वाक्य में तो 'गंगा' तथा 'घोष' के आधार—आधेय—भाव स्वरूप वाले वाक्यार्थ के पूर्णतः विरुद्ध होने के कारण वाक्यार्थ को पूर्णतः छोड़कर उस गंगा से सम्बन्धित तट में लक्षणा उचित होने के कारण जहल्लक्षणा बन जाती है।

१५७. अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद् भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।

अर्थ—यहाँ 'तत्त्वमसि' वाक्य में तो परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य की एकता के स्वरूप वाले वाक्यार्थ के केवल एक भाग में विरोध होने के कारण दूसरे भाग को भी त्याग कर अन्य अर्थ में लक्षणा अनुचित होने के कारण जहल्लक्षणा नहीं बनती।

१५८. न च गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वंपदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम्।

अर्थ—और ऐसा भी नहीं कहना चाहिये—जिस प्रकार गंगा पद अपने अर्थ का परित्याग कर तीर पद के अर्थ को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत्' पद अथवा 'त्वम्' पद अपने अर्थ को छोड़कर क्रमशः 'त्वम्' पद के अर्थ को अथवा 'तत्' पद के अर्थ को लक्षित करें, अतः जहल्लक्षणा क्यों नहीं ठीक बनती ?

१५९. तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्वंपदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्।

अर्थ—वहाँ 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति— इस वाक्य में तीरपद के सुनाई न पड़ने के कारण उसके अर्थ की प्रतीति न होने पर लक्षणा द्वारा उसकी प्रतीति की अपेक्षा होने के कारण, किन्तु 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों के श्रूयमाण होने के कारण, इनके अर्थ की प्रतीति होने से लक्षणा के द्वारा किसी एक पद से किसी दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा न होने के कारण यहाँ जहल्लक्षणा उचित नहीं है।

१६०. अत्र 'शोणो धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति।

अर्थ—यहाँ तत्त्वमसि वाक्य में 'शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) इस वाक्य के समान अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती।

विशेष :- इस स्थल पर 'तत् त्वमसि' सम्बन्ध में अजहल्लक्षणा का निराकरण किया गया है। अजहल्लक्षणा के अन्तर्गत पद अपने अर्थ का त्याग न करके अन्य अर्थ का बोध कराता है—'न जहाति पदं स्वार्थ यस्यां सा।' इस सम्बन्ध में ग्रन्थकर्ता ने —शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) उदाहरण प्रस्तुत किया है। पूर्वपक्षी के मत को प्रस्तुत करते हुए इस स्थल पर कहा गया है कि उक्त उदाहरण में अभिधा से लाल गुण का जो दौड़ना अर्थ प्रतीत होता है, वह परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि रक्त गुण का दौड़ना सम्भव नहीं है। अतः अजहल्लक्षणा के अनुसार शाोण गुण अपने अर्थ का परित्याग न करके अपने आश्रयरूप, जिसमें

कि वह रहता है–अश्व का लक्षणा से बोध कराता है। इस प्रकार अजहल्लक्षणा के अन्तर्गत 'शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) इस वाक्य का अर्थ होता है–"रक्त गुण से विशिष्ट अश्व दौड़ता है।" इस प्रकार लक्ष्यार्थ मानने पर उक्त विरोध का शमन हो जाता है। ग्रन्थकर्त्ता ने 'तत् त्वमसि' के सम्बन्ध में उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए कहा है कि 'तत्त्वमसि' में उक्त प्रकार से अजहल्लक्षणा सम्भव नहीं है, क्योंकि यहाँ वाक्य को अभिधेयार्थ परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य ('तत्' पद का अर्थ) एवं अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य (त्वम्' पद का अर्थ) का ऐक्य है। इस अर्थ में स्पष्ट ही परोक्षत्व अपरोक्षत्व का विरोध है, क्योंकि एक ही चैतन्य को परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व के विशिष्ट कहना उचित नहीं है। इससे तो द्वैत की ही सिद्धि होती है। अब यदि अजहल्लक्षणा के अनुसार 'तत्' एवं 'त्वम्' पद अपने उक्त अर्थ का त्याग नहीं करेंगे, तब तो उक्त भेद बना ही रहेगा और इससे सिद्धान्त की हानि ही ञ(अद्वैत सिद्धान्त हानि) निश्चित है। अतः 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में अजहल्लक्षणा मानना अनुचित ही है। तब तो ल्रक्षणा किसी विचित्र, (अनभिगत्) अर्थ का ही बोध होगा और इस प्रकार परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व विशिष्ट–चैतन्य का जो विरोध है, उसका परिहार न हो सकेगा। इस प्रकार अजहल्लक्षणा से तो अद्वैत–सिद्धान्त की हानि ही होगी। ग्रन्थसम्मत भाग–लक्षणा (जहजहल्लक्षणा) के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि यदि 'तत्' पद अपने विरुद्ध अंश (परोक्षत्व) का एवं 'त्वम्' पद अपने विरुद्ध अंश का त्याग करके चैतन्यांश के साथ क्रमशः 'त्वम्' पद के अर्थ को तथा तत् पद के अर्थ को लक्षित करे, तो इस प्रक्रिया के अनुरूप तत्त्वमसि का अर्थबोध स्वतः हो जायेगा। इसलिए प्रकारान्तर से लक्षणा के मानने की क्या आवश्यकता है। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए सदानन्द ने कहा है कि एक ही पद स्वाथा र्ंश (विरोधी परोक्षत्व अथवा अपरोक्षत्व) का लक्षणा से त्याग करे तथा दूसरे पद के अविरुद्ध अर्थ को भी बतलावे–यह उभयगत ल्रक्षणा सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त जब 'त्वम्' पद के अर्थ की लक्षणा की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार जब 'तत्' पद के अर्थ–बोध के लिए 'तत्' पद वर्तमान है, तो 'त्वम्' पद में 'तत्' पद के अर्थ की लक्षणा की क्या आवश्यकता है ?

१६१. तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहार-सम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति।

अर्थ–वहाँ 'शोणो धावति' वाक्य में 'शोण लाल गुण के गमन' स्वरूप वाले वाक्यार्थ के विरुद्ध होने के कारण उस (लाल गुण रूप अर्थ) को बिना त्यागे हुए 'अश्व' आदि रूप वाले उसके आश्रय से उस वाक्यार्थ के विरोध के परिहार के सम्भव होने के कारण अजहल्लक्षणा सम्भव है।

१६२. अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य' वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।

अर्थ–किन्तु यहाँ 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य की एकता' स्वरूप वाले वाक्यार्थ के विरुद्ध होने के कारण उसको बिना त्यागे हुए उससे सम्बन्धित जिस किसी अर्थ के लक्षणा द्वारा लक्षित होने पर भी उसके विरोध का परिहार न हो सकने के कारण अजहल्लक्षणा नहीं हो सकती।

१६३. न च तत्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वं पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्।

अर्थ–और यह भी नहीं कहना चाहिये–'तत्' पद अथवा 'त्वम्' पद अपने अर्थ के विरुद्ध अंश 'परोक्षत्वादिविशिष्टत्व' अथवा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' को त्याग कर दूसरे अवशिष्ट अंश चैतन्य सहित 'त्वम्' पद के अर्थ को अथवा 'तत्' पद के अर्थ को लक्षित करें, अतः दूसरे ढंग से भागलक्षणा को क्यों स्वीकार किया जाये ?

विशेष :- ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने 'न च तत् पदं' इत्यादि से पूर्वपक्ष के रूप में एक अन्य भाग–लक्षणा की कल्पना की है, जिसके अनुसार 'तत्' पद या 'त्वम्' पद अपने विरोधी अंश का त्याग करते हैं तथा अविरोधी चैतन्यांश के साथ दूसरे पद के ('त्वम्'' पद के) अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा ('तत्' पद के) सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य अर्थ को लक्षणा से बोधित करते हैं। इसलिए पूर्वपक्ष के रूप में इस भागलक्षणा को प्रस्तुत करते हुए प्रकारान्तर से (अद्वैतसम्मत) भागलक्षणा की अनावश्यकता बतलाते हुए ग्रन्थकार ने कहा है–

"न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वं पदार्थं तत्पदार्थ वा लक्षयतु, अतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्।"

१६४. एकेन पदेन स्वार्थांशंपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात् पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च।

अर्थ–एक पद द्वारा 'अपने अर्थ के अंश' तथा 'दूसरे पद के अर्थ' इन दोनों में लक्षणा असम्भव होने के कारण तथा दूसरे पद द्वारा उस पद के अर्थ की प्रतीति होने पर फिर लक्षणा द्वारा उस अर्थ की प्रतीति की आवश्यकता न होने के कारण प्रतिपक्षी द्वारा बतायी गयी लक्षणा उचित नहीं है।

१६५. **तस्माद्यथा 'सोयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वाशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्वमसि' इति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्त्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।**

अर्थ–अतः जिस प्रकार 'सोयं देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है) यह वाक्य अथवा इसका अर्थ 'तत्काल (अतीतकाल) तथा एतत्काल (वर्तमान काल) से विशिष्ट देवदत्त' स्वरूप वाले वाक्यार्थ के अंश के विरोध होने के कारण तत्कालविशिष्टत्व तथा एतत्कालविशिष्टत्व रूप विरुद्ध अंशों को त्याग कर अविरुद्ध देवदत्त रूप अंश मात्र को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' यह वाक्य अथवा इसका अर्थ 'परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य की एकता' रूप वाले वाक्यार्थ के अंश के विरोध होने के कारण परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व रूप विरुद्ध अंशों का परित्याग कर अविरुद्ध चैतन्य मात्र को लक्षित करता है।

विशेष :- इस स्थल पर ग्रन्थकार ने 'तत्त्वमसि' के तात्पर्यबोध के लिए भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा की कल्पना की है। भागलक्षणा वहाँ होती है जहाँ पद लक्षणाशक्ति से अपने आंशिक अर्थ का परित्याग करता है तथा आंशिक अर्थ का बोध कराता है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'सोयं देवदत्तः' (वह यह देवदत्त है) उदाहरण दिया है। जब कोई व्यक्ति देवदत्त को बहुत दिनों के बाद देखता है, तो उसे पहिले देखे गए देवदत्त का स्मरण हो आता है और वह सामने उपस्थित देवदत्त को पूर्व–संस्कारों के आधार पर पहिचान कर कह उठता है–वह यह देवदत्त है–(सोयं देवदत्तः)। 'सोयं देवदत्तः'–इस उदाहरण में भागलक्षणा मानते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि उक्त उदाहरण में तत् काल एवं एतत् काल का विरोध है। वाक्य में 'सः' (वह) तत्काल का बोधक है और 'अयम्' ञ(यह) एतत्काल का (वर्तमान काल का) वाचक है। अतः दोनों में विरोध है। भागलक्षणा के द्वारा कालसम्बन्धी–विरोधी अंश का परित्याग कर दिया जाता है तथा देवदत्त पिण्डरूप अंश, जो कि भूतकाल में देखे गये देवदत्त एवं वर्तमान में देखे गए देवदत्त में समान ही है, का लक्षणा से बोध होता है। इस प्रकार भागलक्षणा के द्वारा 'सोयं देवदत्तः' इस वाक्य से अविरोधी देवदत्त का बोध होता है। यह उदाहरण 'तत् त्वमसि' के सम्बन्ध में भी पूर्णतया चरितार्थ होता है। 'तत् त्वमसि' (वह तुम हो) इस वाक्य में 'तत्' से बोध्य परोक्षत्व एवं 'त्वम्' से बोध्य अपरोक्षत्व का विरोध है, अतः भागलक्षणा के द्वारा वाक्य के पदों–तत् एवं 'त्वम्' के विरोधी अंश का परित्याग हो जाता है और इस प्रकार ये पद अविरोधी अखण्ड चैतन्य मात्र का लक्षणा से बोध कराते हैं।

१६६. **अथाधुना 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते।**

अर्थ–इसके बाद अब 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव–वाक्य का वर्णन किया जा रहा है।

१६७. **एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेवबोधितेधिकारिणोहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवत्तिरुदेति।**

अर्थ–इस प्रकार आचार्य द्वारा अध्यारोप तथा अपवादपूर्वक 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों के अर्थों को शुद्ध करके, तत्त्वमसि वाक्य द्वारा अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ के बोध करा दिये जाने पर, अधिकारी की 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध चेतन, मुक्त तथा सत्व स्वभाव वाला, परम आनन्द–रूप, अनन्त तथा अखण्ड ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की अखण्ड ब्रह्म के आकार से युक्त चित्त–वत्ति का उदय होता है।

विशेष :- जब आध्यात्मिक, गुरु के द्वारा अधिकारी शिष्य को 'तत्त्वमसि' का उपदेश किया जाता है, तो जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा शान्त हो जाती है और वह 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस वत्ति का अनुभव करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति मुक्ति की स्थिति नहीं है, यह तो वत्तिमात्र है, जो परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर नष्ट हो जाती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' के सम्बन्ध में विवेचन करने से पूर्व वत्ति को स्पष्ट करना आवश्यक है।

अन्तःकरण के व्यापार को वत्ति कहते हैं।

वत्ति के निम्नलिखित दो भेद किये जा सकते हैं–

१. लौकिक विषयों से सम्बन्धित वत्ति।

२. आध्यात्मिक वत्ति (अहं ब्रह्मास्मि वत्ति)।

लौकिक वत्ति का कार्य लौकिकविषयगत अज्ञान को दूर करके उस विषय का बोध कराना है। इस प्रकार वेदान्त के लौकिक ज्ञान की यह प्रक्रिया है कि जब कोई व्यक्ति किसी पुष्प को देखता है तो इस क्रिया में अन्तःकरण की निश्चयात्मक वत्ति उस व्यक्ति के पुष्पविषयक अज्ञान को दूर करती है और इसके पश्चात् चित्–प्रतिबिम्ब से युक्त पुष्प के आकार में परिणमित होकर पुष्प को प्रकाशित करती है।

दूसरी वत्ति–आध्यात्मिक वत्ति (अहं ब्रह्मास्मि) है। ग्रन्थकार ने 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य को अनुभववाक्य इसलिए कहा है कि जब अधिकारी गुरु के तत्त्वमसि का उपदेश ग्रहण कर लेता है, तो स्वयं ब्रह्मस्वरूपता का अनुभव करता है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' वत्ति अनुभव की स्थिति का नाम है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कथन है कि जब आध्यात्मिक गुण अध्यारोप एवं अपवादन्याय से 'तत्त्वमसि' के तत् एवं त्वम् पदों के अर्थ को शोध कर लेता है, तो अधिकारी को अखण्ड अर्थ का बोध होता है और उस अधिकारी में, मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि अद्वैत ब्रह्म हूँ, ऐसी चित्तवत्ति का उदय होता है।

१६८. सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकार्यकारणेज्ञाने' बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवत्तिरपि बाधिता भवति।

अर्थ–वह चित्तवत्ति चैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त होती हुई अन्तरात्मा से अभिन्न, अज्ञात पर ब्रह्म को अपना विषय बना कर केवल उस (ब्रह्म) में स्थित अज्ञान को नष्ट करती है। तब पट के कारण तन्तुओं के जल जाने पर पट के जल जाने के समान सम्पूर्ण सष्टि रूप कार्य के कारण अज्ञान के नष्ट हो जाने पर उसके कार्य सम्पूर्ण सष्टि के नष्ट हो जाने के कारण, उस के अन्दर स्थित अखण्ड ब्रह्म के आकार से युक्त चित्तवत्ति भी नष्ट हो जाती है।

विशेष :- 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वत्ति के स्वरूप एवं कार्य के सम्बन्ध में बतलाते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि अन्तःकरण में रहने वाली इस वत्ति में सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्म के चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है और यह उस चित् से युक्त वत्ति ही प्रत्यगभिन्न चैतन्यगत ब्रह्म को विषय बनाकर चैतन्य के अज्ञान को दूर करके चैतन्य की ब्रह्मस्वरूपताप्राप्ति में सहायक होती है। यही उसका प्रयोजन है–'तस्याश्चैतन्यावकाज्ञाननिवत्तिरेव प्रयोजनम्' कहीं यह शंका न हो जाये कि जड़ चित्तवत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय किस प्रकार बनाती है, इसीलिए ग्रन्थकार ने स्पष्ट कह दिया है–

'प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तदगताज्ञानमेव वाधते।।

इस प्रकार उक्त वत्ति का विषय शुद्ध ब्रह्म नहीं है, अपितु वह अज्ञान विशिष्ट प्रत्यगभिन्नपरब्रह्मविषयिणी है।

उक्त वत्ति एवं उससे प्रकाशित परब्रह्म की स्थिति से उत्पन्न होने वाली द्वैत के भ्रम की निवत्ति के लिए सदानन्द ने पट–तन्तुदाह–के उदाहरण से यह स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार पट के कारण तन्तुओं के जलने पर तन्तुओं के कार्यरूप पट का दाह हो जाता है, उसी प्रकार समस्त प्रपच के कारण–चैतन्य के अज्ञान के निवत्त हो जाने पर समस्त कार्यप्रपच के बाधित होने पर अज्ञान एवं उसके कार्यप्रपच के अन्तर्गत आने वाली उक्त वत्ति का भी बाध हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि इन्धन को जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है और जिस प्रकार उदर में स्थित दूषित जल की शान्ति के लिए पिया गया उष्ण जल उदरस्थ दूषित जल को शान्त करके स्वयं भी शान्त हो जाता है, शीतल हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान का बाध करके उक्त चित्तवत्ति भी शान्त हो जाती है।

१६६. तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमान-प्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत् स्वोपाधिभूतखण्डचित्तवत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावेमुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।

अर्थ–उस चित्तवत्ति में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य भी, जैसे दीपक की प्रभा सूर्य की प्रभा को प्रकाशित करने में असमर्थ होती हुई उस से अभिभूत हो जाती है, उसी प्रकार स्वयं प्रकाशमान, अन्तरात्मा से अभिन्न परब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ होने के कारण, उस परब्रह्म से अभिभूत होता हुआ, अपनी उपाधिस्वरूप अखण्ड आकार वाली चित्तवत्ति के नष्ट हो जाने के कारण, दर्पण के अभाव में मुख–प्रतिबिम्ब के मुख–मात्र रह जाने के समान, अन्तरात्मा से अभिन्न परब्रह्म मात्र हो जाता है।

विशेष :- वत्ति एवं समस्त कार्यप्रपच का बाध होने पर अद्वैत सिद्धान्त सर्वथा सिद्ध हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब उक्त वत्ति नहीं रहती, तो उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यांश का क्या होता है ? इस शंका के आभास को भी ग्रन्थकार

ने दीपप्रभा के दष्टान्त से निराकृत कर दिया है। जिस प्रकार दीपक की प्रभा सूर्य के आलोक के प्रकाशन में असमर्थ होकर उसमें अभिभूत हो जाती है, उसी प्रकार स्वयं प्रकाशमान–प्रत्यगभिन्न परब्रह्म के प्रकाशन में असमर्थ चैतन्याभास भी उस ब्रह्मालोक में अभिभूत हो जाता है और अपनी (आधारस्वरूप) उपाधिभूत अखण्डचित्तवत्ति के बाधित होने के कारण ब्रह्मस्वरूप में शेष रह जाता है। जब आधार (वत्ति) ही नहीं रहता तो आधेय (चित्तप्रतिबिम्ब) कैसा ? न होगा बांस न बजेगी बाँसुरी। ग्रन्थकार ने इस सम्बन्ध में दर्पण का दष्टान्त देते हुए कहा है कि जब दर्पण नहीं होता, तो उसमें पड़ने वाला मुख का प्रतिबिम्ब भी नहीं रहता और प्रतिबिम्ब के स्थान पर मुखमात्र ही शेष रह जाता है। यही बात वत्ति में पड़ने वाले चित् के प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये।

१७०. एवचसति 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयो' श्रुत्योरविरोधे वत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्।

अर्थ–और ऐसा होने पर 'मन के द्वारा ही ब्रह्म को देखना चाहिये तथा 'जो मन द्वारा नहीं जाना जाता' इन दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं रहता, ब्रह्म के चित्तवत्ति द्वारा व्याप्त होने को स्वीकार करने के कारण तथा फलव्याप्यता का प्रतिषेध प्रतिपादित करने के कारण।

विशेष :- पूर्व प्रकरण में अखण्डाकाराकारित 'अहं ब्रह्मास्मि' इन चित्तवत्ति के चैतन्य के आवरक अज्ञान की निवत्तिकर्त्री सिद्ध हो जाने पर तथा यह स्पष्ट हो जाने पर कि उक्त वत्ति परब्रह्म के प्रकाशन में असमर्थ है, इस स्थल पर यह सिद्ध किया गया है कि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'ञ(मन से ही देखना चाहिए और 'यन्मनसा न मनुते' (जो मन से नहीं जाना जाता – इन श्रुतिवाक्यों में परस्पर विरोध न होकर सामजस्य है। उक्त दोनों श्रुतिवाक्यों का विरोध तो स्पष्ट ही प्रतीत होता है, क्योंकि एक वाक्य 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' – यह प्रतिपादन करता है कि ब्रह्म तत्त्व मन के साक्षात्कार का विषय है, तो दूसरा वाक्य –'मन्मनसा न मनुते' उसे मन का अविषय सिद्ध करता है। इस विरोध की शान्ति करते हुए सदानन्द का तर्क है कि अज्ञात ब्रह्म के साक्षात्कार में वत्ति की व्या प्यता नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि व्याप्य कौन है तथा व्यापक कौन है ? नसिंह सरस्वती के अनुसार अन्तःकरण की वत्ति आवरण की निवत्ति के लिए अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य को व्याप्त करती है, यही वत्तिव्याप्यत्व है। इस प्रकार वत्ति–व्याप्य तथा ब्रह्म व्यापक है। वत्तिव्याप्यत्व के अनुसार 'अहं ब्रह्मस्मि' यह वत्ति जीव–चैतन्य के ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवत्ति करती है, अतः 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'–यह श्रुतिवाक्य संगत है। उक्त वत्ति चैतन्य के अज्ञान की निवत्ति होने के पश्चात् उसके फलस्वरूप साक्षात्कृत स्वयं प्रकाशमानस्वरूप परब्रह्म के प्रकाशन में असमर्थ है, यही उसकी (वत्ति की) ब्रह्मज्ञानरूप फल के प्रति व्याप्यता का निषेघ है।

१७१. तदुक्तम्-

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।'

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।' इति

अर्थ–कहा भी गया है–'शास्त्रकारों के द्वारा इस ब्रह्म के फलव्याप्यत्व का ही निषेध किया गया है "ब्रह्म में स्थित अज्ञान के नाश के लिए वत्ति–व्याप्ति अर्थात् चित्त द्वारा ब्रह्म के आकार से आकारित होना अपेक्षित है।

विशेष :- वत्ति की ब्रह्मज्ञान रूप फल के प्रति व्याप्यता का निषेध होने से 'यन्मनसा न मनुते' इस श्रुति–वाक्य की संगति स्पष्ट हो जाती है। अतः उक्त दोनों श्रुतिवाक्यों को समन्वित अर्थ इस प्रकार होगा कि अन्तःकरण की 'अहं ब्रह्मास्मि' वत्ति के द्वारा चैतन्य के अज्ञानाचरण के निवत्त होने के कारण ब्रह्मतत्त्व परम्परया मन के साक्षात्कार का विषय है किन्तु अज्ञान निवत्ति के फलस्वरूप साक्षात्कार को प्राप्त हुआ परब्रह्म उक्त वत्ति का विषय नहीं है। यह कथन 'यन्मनसा न मनुते' का समर्थक है। अतः दोनों श्रुतिवाक्यों में कोई विरोध नहीं है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए पचदशी में विद्यारण्य ने कहा कि वत्ति की फलव्याप्यता का शास्त्रकारों ने निषेध किया है, किन्तु चैतन्यगत ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवत्ति के लिए वत्ति की व्याप्यता अपेक्षित है। विद्यारण्य का कथन है कि ब्रह्म के स्वयं प्रकाशमान होने के कारण वत्ति के द्वारा उसका आभास (प्रकाशन) उपयुक्त नहीं है।

१७२. स्वयंप्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते' इति च।

अर्थ–(ब्रह्म के) 'स्वयंप्रकाशमान होने के कारण इसको प्रकाशित करने के लिए चिदाभास का उपयोग नहीं है'।

१७३. जडपदार्थाकाराकारितचित्तवत्तेर्विशेषोस्ति।

अर्थ–जड़ पदार्थों के आकार से आकारित चित्तवत्ति में अखण्डाकाराकारित चित्तवत्ति की अपेक्षा विश्लेषता है।

१७३. तथाहि-अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडघटमपि भासयति।

अर्थ—वह विशेषता इस प्रकार है—'यह घट है' इस प्रकार घट के आकार से आकारित चित्तवत्ति अज्ञात घट को अपना विषय बनाकर उसमें स्थित अज्ञान का नाश करके अपने अन्दर स्थित चिदाभास द्वारा जड़ घट को भी प्रकाशित कर देती है।

विशेष :- इस स्थल पर उपर्युक्त 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अलौकिक वत्ति से लौकिक वत्ति की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। जहाँ उपर्युक्त 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अलौकिक वत्ति परब्रह्म के प्रकाशन में असमर्थ है, वहाँ द्रष्टा को घट में 'अयं घटः' (यह घट है)—इस प्रकार की घट के आकार से आकारित चित्तवत्ति जिसके अनुसार द्रष्टा 'घट—विषयक ज्ञानवान् अहम्' (मुझे घट विषयक ज्ञान है)'—ऐसा अनुभव करता है, पहले अज्ञात घट को द्रष्टा के प्रत्यक्ष का विषय बनाती है और फिर उक्त वत्ति घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान का निराकरण करके अपने में वर्तमान ब्रह्म के चित् तत्त्व के आभास से जड़ घट को भी प्रकाशित करती है। वेदान्त में लौकिक विषय के ज्ञान की यही प्रक्रिया है।

१७४. तदुक्तम्-

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।

तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।' इति।

अर्थ—कहा भी गया है :—

'बुद्धि तथा उसमें स्थित चिदाभास, ये दोनों घट को व्याप्त करते हैं। इनमें बुद्धि द्वारा घटस्थित अज्ञान नष्ट होता है तथा चिदाभास द्वारा घट प्रकाशित होता है।

विशेष :- पचदशी में यह कहा गया है कि वृत्ति (धी) और वर्तमान चित् तत्त्व का आभास—ये दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं। वत्ति के द्वारा तो घट विषयक अज्ञान की निवत्ति होती है किन्तु जड़ वत्ति घट को प्रकाशित करने में असमर्थ है, अतः वत्ति मं स्थित चित् के आभास से ही घट प्रकाशित होता है। इस सम्बन्ध में यह दष्टान्त उपयुक्त ही है कि जिस प्रकार दीपक का प्रभामण्डल अन्धकार में स्थित घट—पट आदि को विषय बनाकर उनसे सम्बन्धित अन्धकार का निवारण करता है उसी प्रकार बुद्धि एवं उसमें स्थित चित् का आभास, ये दोनों भी क्रमशः घटादिविषयक अज्ञान को दूर करते हैं तथा घटादि का प्रकाशन करते हैं। जैसा कि कह चुके हैं, यह बात 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस अलौकिक वत्ति के सम्बन्ध में नहीं हैं, क्योंकि वह चैतन्य के अज्ञान को तो दूर करती है, परन्तु परब्रह्म को प्रकाशित नहीं करती। यही दोनों का भेद है।

१७५. यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।

अर्थ—जैसे दीपक का प्रभा—मण्डल अन्धकार में स्थित घट, पट आदि को अपना विषय बनाकर उनमें स्थित अन्धकार को नष्ट करके अपने प्रकाश से उन घट, पट आदि को भी प्रकाशित कर देता है।

१७६. एवंस्वभूतस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेपि प्रदर्श्यन्ते।

अर्थ—अपना स्वरूप जो चैतन्य है उसके इस प्रकार साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि के अनुष्ठान नियमपूर्वक करने की अपेक्षा होने के कारण उनको भी प्रदर्शित किया जा रहा है।

विशेष :- इस प्रकरण के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने परमात्मसाक्षात्काररूप अनुभव की दढ़ता के लिए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का विधान किया गया है। शंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि के अन्तर्गत आत्मसाक्षात्कार की दढ़ता के लिए श्रवणादि की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि श्रवण की अपेक्षा मनन का सौगुना, मनन की अपेक्षा निदिध्यासन का लाख गुना और निदिध्यासन की अपेक्षा निर्विकल्पक समाधि का अनन्त गुना महत्त्व है।

शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की परमात्मसाक्षात्कार की कारणता के सम्बन्ध में अनेकविध मत मिलते हैं। प्रकाशात्मयति मनन को ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रधानकारण मानते हैं। मनन एवं निदिध्यासन को वे परम्परया कारण स्वीकार करते हैं, किन्तु पचदशी के लेखक विद्यारण्य ने श्रवणादि के अतिरिक्त चित्तशुद्धकर्त्री होने के कारण उपासना की भी मोक्षसाधनता स्वीकार की है। लघुचन्द्रिका के लेखक ब्रह्मानन्द ने न्यायरत्नावली के अन्तर्गत श्रवण, मनन एवं निंदिध्यासन को तर्करूप में ग्रहण किया है। यदि 'तत्त्वमसि' के रूप में जीव और ब्रह्म का ऐक्य न हुआ होता तो तत्त्वमसि आदि के द्वारा ब्रह्मज्ञान का होना असम्भव था, इस प्रकार के तर्कों को ब्रह्मानन्द श्रवण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को दढ़ करने के लिए प्रवत्त होना मनन के अन्तर्गत आता है। ब्रह्मानन्द के अनुसार यह भी तर्क का विचार है कि श्रवण एवं मनन से उत्पन्न ज्ञान को निदिध्यासन ब्रह्म—साक्षात्कार के मूल आनन्द रूप में परिणत कर

देता है।

१७७. श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि' तात्पर्यावधारणम्।

अर्थ—छः प्रकार के लिङ्गों से सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में तात्पर्च निश्चित करना श्रवण है।

विशेष :- श्रवणादि में श्रवण की विवेचना करत हुए ग्रन्थकार ने उपक्रम एवं उपसंहारादि छः प्रकार के लिङ्गों के द्वारा समस्त वेदान्त सिद्धान्तों के अद्वैत–ब्रह्म में तात्पर्यनिश्चय को श्रवण कहा है। उपक्रम एवं उपसंहारादि को लिङ्ग इसलिए कहा है कि वे ब्रह्म एवं आत्मा की अद्वैतता के निश्चायक हैं। इस प्रकार यहां लिङ्ग शब्द को "लीनम् अर्थ गमयति, इति लिङ्गम्" यह व्युत्पत्ति ही उपयुक्त है। व्यासरचित बहत् संहिता के अन्तर्गत उपयुक्त छः प्रकार के लिङ्गों का उल्लेख मिलता है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये।।

छान्दोग्योपनिषद् के उपर्युक्त स्थल के अतिरिक्त बहदारण्यक उपनिषद् आदि अन्य उपनिषदों में उपक्रम आदि षड्विध लिङ्ग की स्थिति स्पष्ट देखी जाती है। इस प्रकार उपक्रम एवं उपसंहार प्रत्येक ग्रन्थ में किसी न किसी प्रकार से अवश्य ही मिलते हैं। किसी भी विषय के प्रतिपादन के लिए दोनों की महती उपादेयता है। अभ्यास के द्वारा किसी भी वस्तु के प्रतिपादन में दढ़ता आती है। अपूर्वता शास्त्र की वह अद्भुत विशेषता है जिसके द्वारा प्रमाणादि द्वारा अज्ञात तत्त्व–ब्रह्म का निरूपण किया जाता है। इस अद्भुतता को ही मीमांसकों एवं वेदान्तियों ने अलौकिकता कहा है। ग्रन्थकार ने आत्मज्ञान या उसके अनुष्ठान के श्रूयमाण प्रयोजन को फल कहा है। 'ब्रह्मविद्' ब्रह्मैव भवति' तथा 'तरति शोकमात्मवित्'। अर्थवाद का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने श्रुति का वह स्थल उद्धत किया है, जिसमें अद्वैत ब्रह्म की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जिस अद्वैत ब्रह्म तत्त्व के जान लेने पर अश्रुत–श्रुत, अविचारित–विचारित एवं अविज्ञान विज्ञान हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या ब्रह्म तत्त्व के ज्ञात होने पर समस्त अश्रुत–श्रुत, अविचरित–विचरित एवं अज्ञात जगत् का प्रपच ज्ञात हो जाता है ? यदि ऐसा है, तब तो ज्ञानी की भी 'द्वैतदष्टि बनी ही रहेगी। क्योंकि जगत् का ज्ञान तो द्वैतरूप ही है। अतः प्रस्तुत स्थल में ब्रह्म को जान लेने पर समस्त के जान लेने का यही आशय है कि–समस्त जगत् 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य के अनुरूप ब्रह्मस्वरूप ही है और इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने पर कुछ भी ज्ञेय शेष नही बचता। षष्ठ लिङ्ग–उत्पत्ति (युक्ति) प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य–अद्वैत तत्त्व के सिद्ध करने के लिए उपयोगी है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि श्रुति उद्धत की है। यहाँ विकार शब्द का प्रयोग वाचारम्भण–मात्र जगत् के प्रपच के लिए किया गया है। तदनुसार मत्तिका के घट आदि विकार वाचिक प्रपचमात्र हैं, वस्तुतः तो मत्तिका ही सत्य है इसी प्रकार ब्रह्म मात्र की ही सत्यता है। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त जागतिक विकार वाचिक प्रपचमा है, परमार्थतः ब्रह्म ही सत्य है।

इस प्रकार उपर्युक्त ६ प्रकार के लिङ्गों द्वारा अद्वैततत्त्वस्वरूप ब्रह्म के तात्पर्य के निश्चय को ही श्रवण कहते हैं।

१७८. लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि'।

अर्थ—उपक्रम (=आरम्भ), उपसंहार (=समप्ति), अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति नाम वाले लिङ्ग हैं।

१७६. तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये' प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्।

अर्थ—इनमें प्रकरण में प्रतिपादित किये जाने वाले विषय का उसके आरम्भ तथा अन्त में उपपादन करना 'उपक्रम' तथा 'उपसंहार' है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में छठे अध्याय में प्रकरण में प्रतिपादित की जाने वाली ब्रह्म रूप वस्तु का 'एकमेवाद्वितीयम्'–'एकमात्र अद्वितीय'–'इस प्रकार आरम्भ में, तथा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' – 'यह सम्पूर्ण जगत् इस आत्मा वाला अर्थात् इससे व्याप्त है' इस प्रकार अन्त में प्रतिपादन है।

१८०. प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः।

यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्।

अर्थ—प्रकरण में प्रतिपादित की जाने वाली वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में बार–बार प्रतिपादन करना 'अभ्यास' है। जैसे वहीं छान्दोग्य के छठे अध्याय में अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का मध्य में 'तत्त्वमसि' इस रूप में नौ बार प्रतिपादन है।

१८१. प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविष्ज्ञयीकरणम्।

अर्थ—प्रकरण में प्रतिपादित की जाने वाली अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का श्रुति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण द्वारा विषय

न बनाया जाना 'अपूर्वता' है। जैसे वहीं (छान्दोग्य के छठे अध्याय में अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का मध्य में 'तत्त्वमसि' इस रूप में नौ बार प्रतिपादन है।

१८२. फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिर् यावन्न विमोक्ष्येथसम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते।

अर्थ—प्रकरण में प्रतिपादित किये जाने वाले आत्मज्ञान का अथवा उसके लिए अनुष्ठान का जगह–जगह वर्णन किया गया प्रयोजन फल है। जैसे वहाँ छान्दोग्य के छठे अध्याय में "आचार्य से युक्त पुरुष ही आत्मा को जानता है, उसके लिए तभी तक देर है जब तक शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता, उसके बाद ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।" इस वाक्य में ही अद्वितीय वस्तु ब्रह्म के ज्ञान का 'उस ब्रह्म की प्राप्ति' रूप प्रयोजन वर्णित है।

१८३. प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्।

अर्थ—प्रकरण द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले विषय की प्रकरण के मध्य में जगह–जगह प्रशंसा करना 'अर्थवाद' है। जैसे वहीं पर छान्दोग्य के छठे अध्याय में 'क्या तुमने अपने गुरु से वह उपदेश पूछा है जिससे न सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है, न विचार किया हुआ विचार किया हुआ हो जाता है तथा न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है।' इस प्रकार अद्वितीय वस्तु ब्रह्म की प्रशंसा की गयी है।

१८४. प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र 'यथा सौम्यैकेन मत्पिण्डेन सर्व मण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।

अर्थ—प्रकरण में प्रतिपादित किये जाने वाले विषय को सिद्ध करने के लिए स्थान–स्थान पर सुनाई पड़ती हुई युक्ति 'उपपत्ति' है। जैसे वहीं छान्दोग्य के छठे अध्याय में 'जिस प्रकार हे सौम्य, एक मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से सब कुछ मिट्टी का बना हुआ जान लिया जाता है, विकार तो वाणी पर आश्रित नाम मात्र है, यह सब कारणभूत मिट्टी है, यही सत्य है।' इत्यादि में अद्वितीय वस्तु ब्रह्म को सिद्ध करने में विकार के वाणी पर आश्रित नाम मात्र होने में युक्ति सुनाई पड़ती है।

१८५. मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।

अर्थ—श्रवण की गयी अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा निरन्तर चिन्तन करना मनन है।

विशेष :- वेदान्त सिद्धान्त की अनुकूल युक्तियों के द्वारा अद्वैततत्त्व–ब्रह्म काअनवरत चिन्तन मनन कहलाता है। वेदान्त के अनुकूल युक्तियों का आश्रय लेकर ब्रह्मचिन्तन का विधान इसलिए किया गया है कि इतर शास्त्र की युक्तियां जिज्ञासु के मस्तिष्क में भ्रम का कारण ही बनेंगी। विद्वन्मनोरंजनीकार ने यहाँ पुरुष को अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से उत्प्रेक्षित शुष्क तर्क–भावना की व्यावत्ति (विरोध) के लिए वेदान्तानुगुण युक्तियों का तात्पर्य ग्रहण किया है। मनु ने भी धर्मोपदेश के ज्ञान के लिए वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क की अनिवार्यता को स्वीकार किया है।

१८६. विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्।

अर्थ—विजातीय शरीर आदि के ज्ञान से रहित अद्वितीय वस्तु आत्मा का सजातीय ज्ञान–प्रवाह 'निदिध्यासन' है।

विशेष :- निदिध्यासन के अन्तर्गत विजातीय वेदादि प्रत्ययों से रहित अद्वैत ब्रह्म विषयक सजातीय प्रत्ययों के प्रवाह–सातत्य को निदिध्यासन कहा है। देह से लेकर बुद्धि–पर्यन्त अनात्म तत्त्वों के प्रत्यय विचार को विजातीय इसलिए कहा है कि वे जड़ विषयक होने के कारण अद्वैत तत्त्व स्वरूप चित्तत्त्व के विरोधी हैं। अद्वैत तत्त्व के सजातीय विचारों में वे विचार आयेंगे जो चित्स्वरूप अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादक हैं।

१८७. समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति।

अर्थ—समाधि दो प्रकार की है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक।

विशेष :- चित्त के समाहित होने को समाधि कहते हैं। सुबोधिनीकार नसिंह सरस्वती ने व्युत्थान एवं संस्कारों के क्रमशः तिरोधान एवं प्रादुर्भाव के हाने पर चित्त के एकाग्रतारूप परिणाम को समाधि कहा है। योगदर्शन के अनुसार चित्त में वत्तियों का कार्यरूप में उत्थान देखा जाता हैं। इसीलिए इसे व्युत्थानावस्था कहा है। दूसरी निरोधावस्था चित्त की वह अवस्था है जिसमें वत्तियाँ ही निरुद्ध हो जाती हैं। इस अवस्था में जातियों की कार्यता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार व्युत्थान एवं निरुद्ध रूप

से चित्त के संस्कारों का तिरोभाव एवं आविर्भाव चलता रहता है। परन्तु जब समाधि के अभ्यास से व्युत्थान का पूर्णतया विलय हो जाता है तो निरुद्धावस्था की स्थिति में चित्त स्थायिनी शान्ति को प्राप्त करता है।

विद्वन्मनोरंजनीकार रामतीर्थ के अनुसार समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि चित्त की ज्ञेय आत्मा की दष्टि से निश्चल स्थिति का नाम समाधि है। समाधि का सविकल्पक भेद योग–दर्शन की सम्प्रज्ञात समाधि का ही दूसरा नाम है। निर्विकल्प समाधि असम्प्रज्ञात समाधि है।

१८८. तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवत्तेरवस्थानम् तदा मण्मयगजादिभानेपि मद्भानवद् द्वैतभानेप्यद्वैतं वस्तु भासते।

तदुक्तम्-

'दशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।

अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त ओम्।।

अर्थ–इनमें ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्पों अर्थात् प्रतीतियों के लय की अपेक्षा न करके अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में उसके आकार से आकारित चित्तवत्ति की स्थिति सविकल्पक समाधि है। उस समय मिट्टी से बने हुए हाथी आदि खिलौनों की प्रतीति होने पर भी उनमें मिट्टी की प्रतीति होने के समान द्वैत की प्रतीति होने पर भी अद्वैत वस्तु भासित होती रहती है। यह कहा भी गया है–

जो चैतन्य स्वरूप, आकाश के समान सर्वव्यापक या अमूर्त, पर अर्थात् मायातीत, एकरूप में प्रकाशित होने वाला, अजन्मा, एक सजातीय तथा विजातीय भेद से रहित, अक्षर, निर्लिप्त अर्थात् अविद्यादि दोषों से रहित, सर्वव्यापक और अद्वय है, वही निरन्तर मुक्त ओम् ब्रह्म मैं हूँ।

विशेष :- सविकल्प या सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की कल्पना बनी रहती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने ज्ञाता, ज्ञान आदि के विकल्प के लय की अपेक्षा बतलाई है। इसे सबीज समाधि भी कहते हैं। इस समाधि में प्रज्ञान का आधार बना रहता है, इसीलिए इसे सबीज समाधि कहते हैं। सविकल्पक समाधि के अन्तर्गत चित्त की समस्त वत्तियाँ समाप्त होकर एकमात्र आत्मवत्ति ही शेष रहती है। इस प्रकार इस दशा में आत्मतत्त्व ज्ञेय रूप से वर्तमान रहता है। इसलिए सविकल्पक में नामजात्यादि की योजना का ग्रहण किया है–

नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्।

सम्प्रज्ञातन समाधि के भी योगदर्शन में–वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत के रूप में चार भेद किए गए हैं।

सविकल्पक समाधि को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने मिट्टी से बने गजादि का दष्टान्त दिया है। इस दष्टान्त का यही आशय है कि जिस प्रकार मिट्टी के हाथी को देखकर हाथी के बोध के साथ–साथ मिट्टी का भी बोध बना रहता है, परन्तु मिट्टी से बने गज एवं अश्वादि मूल तत्त्व अद्वैत रूप से मिट्टी ही समझी जाती है, उसी प्रकार सविकल्पक में ज्ञेय एवं ज्ञान के रूप में द्वैत का भान होने पर भी परमात्मतत्त्व रूप से अद्वैत तत्त्व का ही भान होता है। इससे ज्ञाता आदि विकल्पों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने उपदेशसाहस्री के 'दशिस्वरूपं–श्लोक के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया है कि सविकल्प समाधि के अन्तर्गत साधक 'मैं ही परब्रह्म (ओम्) हूँ', ऐसा अनुभव करता है।

१८६. निर्विकल्पकस्तु ज्ञातज्ञानादिविकल्पलयापेक्षेयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्त्वत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवत्त्यनावभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते।

अर्थ–ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्पों के लय की अपेक्षा से अर्थात् त्रिपुटी का विलय हो जाने पर अद्वितीय वस्तु में उसके आकार से आकारित चित्तवत्ति का अत्यधिक एक रूप से अर्थात् तद्रूप होकर स्थित होना निर्विकल्पक समाधि है। उस समय जल के आकार से आकारित नमक की प्रतीति न होने से जल मात्र की प्रतीति के समान अद्वितीय वस्तु आत्मा या ब्रह्म के आकार से आकारित चित्तवत्ति की प्रतीति न होने से केवल अद्वितीय वस्तु भासित होती है।

विशेष :- निर्विर्ग्कल्पक समाधि के अन्तर्गत सविकल्पक के समान ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान के भेद कल्पना रहती है। इसीलिए 'नामजात्यादियोजनारहितं निर्विकल्पकम्' यह निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप बतलाया गया है। योगदर्शन में

निर्विकल्पक को असम्प्रज्ञात समाधि का नाम दिया गया है। जबकि सम्प्रज्ञात या सविकल्पक में ध्यान का कुछ न कुछ आलम्बन बना रहता है, असम्प्राात में कोई आलम्बन नहीं रहता। इस स्थिति में 'क्लेश' तथा कर्माशय के समाप्त होने के कारण इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि के भी दो भेद हैं–एक भवप्रत्यय और दूसरा उपायप्रत्यय। भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय का यही अन्तर है कि भवप्रत्यय में अविद्या का सम्पूर्ण नाश नहीं होता, अतः इसके अनन्तर पुनः जीव संसार में आ जाते हैं, किन्तु उपाय–प्रत्यय में 'प्रज्ञा' का पूर्णतः उदय हो जाता है तथा इस समाधि की स्थिति होने पर जीव संसार–बुद्धि से लिप्त नहीं होता।

ग्रन्थकार ने निर्विकल्पक समाधि को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निर्विकल्पक समाधि में चित्त अद्वैततत्त्वस्वरूप परब्रह्म के आकार से आकारित होकर ब्रह्म–तत्त्व के साथ एकीभाव को प्राप्त होता है–"तदाकाराकारितायास्तित्त्वत्तैरतितरामेकीभावेनावस्थानम्" यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जब ब्रह्म का कोई आकार ही नहीं है तो चित्तवत्ति के उसके आकार से आकारित होने का अवसर कहाँ उपस्थित होता है। अतः यहाँ चित्तवत्ति के ब्रह्म के आकार से आकारित होने का अर्थ परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करना चाहिए। यही बात ग्रन्थकार ने जल एवं लवण के दष्टान्त द्वारा स्पष्ट की है। जिस प्रकार कि जल में मिलने पर नमक की पथक् प्रतीति नहीं होती, अपितु जलमात्र प्रतीत होता है, उसी प्रकार जब चित्तवत्ति अद्वैत ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त होती है तो उस स्थिति में अद्वैत ब्रह्ममात्र ही अवभासित होता है। चित्तवत्ति के रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। निविकल्पक समाधि का यही लक्षण उसे सुषुप्ति से पथक् करता है। सुषुप्ति अवस्था में उक्त वत्ति की प्रतीति तो नहीं होती, किन्तु स्थिति होती है।

१६०. ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वत्यभाने समानेपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः।

अर्थ–इससे इस समाधि के तथा सुषुप्ति के अभेद की आशंका नहीं होती। क्योंकि दोनों में चित्तवत्ति की प्रतीति न होना समान होने पर भी उस वत्ति के समाधि में बने रहने तथा सुषुप्ति में न बने रहने मात्र से इन दोनों का भेद सिद्ध हो जाता है।

१६१. अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः।

अर्थ–इस निर्विकल्पक समाधि के अंग हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।

विशेष :- इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने निर्विकल्पक समाधि के साधनभूत अंगों का निरूपण किया है। यम आदि जिन आठ अंगों की चर्चा यहाँ की गई है, वे अन्तरंगभूत साधन हैं।

यम के अन्तर्गत जिन अहिंसा आदि पाँच साधनों का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं :–

(१) अहिंसा–वाणी, मन एवं शरीर से दूसरे को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। (२) यथार्थ भाषण सत्य है। (३) बिना दिए हुए दूसरे के धन को ग्रहण न करना अस्तेय है। (४) अष्टांग मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य है। (५) समाधि के अनुष्ठान में अनुपयोगी वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह है।

शौचादि नियम इस प्रकार हैं–

१. शौच का अर्थ बाह्य एवं आन्तरिक पवित्रता है–

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मज्जलाभ्यां स्मतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्।।

२. सन्तोष –

यदच्छालाभ से सन्तुष्ट होना तथा लाभ न होने पर दुःखी न होना ही सन्तोष है। यदच्छालाभसन्तुष्ट वह व्यक्ति है जो बिना मांगे अपने आप अर्थात् बिना प्रयास के ही प्राप्त वस्तु से सन्तुष्ट हो जाता है। अर्थात् जो वस्तु व्यक्ति को प्राप्त होती है उसे ही पर्याप्त समझ कर सन्तुष्ट हो जाता है।

३. कामनाओं का भोग न करना ही तप है।

४. प्रणव का जप एवं उपनिषद्ग्रन्थों की आवत्ति स्वाध्याय है।

५. मानस उपचारों से ईश्वर की अभ्यर्चना ईश्वरप्रणिधानं है।

पद्म एवं स्वस्तिक के साथ आदि शब्द का संकेत करके ग्रन्थकार ने भद्रासन एवं वीरासन की ओर संकेत किया है। त्रिविध प्राणायाम में रेचक प्राणायाम की क्रिया के अनुसार वाम अथवा दक्षिण नासापुट से सव्यापसव्य प्रक्रिया से धीरे–धीरे प्राण वायु को बाहर निकाला जाता है। उस प्राणवायु का उसी प्रकार से अन्दर ले जाना पूरक है। अन्दर ले जाई गई वायु

का अन्दर रोक देना ही निरोध है। इन्द्रियों को स्व विषयों से हटा लेना प्रत्याहार है। ब्रह्म या आत्मा में अन्तःकरण को स्थिर कर देना धारणा है। ध्यान के अनुसार अद्वैत ब्रह्म में चित्तवृत्ति को रोकने का यही आशय है कि वत्ति को दढ़ करने के लिए बार–बार ध्यान करना चाहिए। ध्यान का यही स्वरूप उसे समाधि से भिन्न सिद्ध करता है। समाधि तो सविकल्पक ही है, इसका यही तात्पर्य है कि निर्विकल्पक तो साध्य ही है, अतः उसके अंग होने का अवसर ही नहीं होता हे।

१९२. तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

अर्थ–इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह यम है।

१९३. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

अर्थ–शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान नियम हैं।

१९४. करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वास्तिकादीन्यासनानि।

अर्थ–हाथ–पैर आदि के विशेष प्रकार के संयोजन स्वरूप, पद्म, स्वस्तिक आदि आसन हैं।

१९५. रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामः।

अर्थ–रेचक, पूरक तथा कुम्भक स्वरूप वाले श्वास वायु को रोकने के उपाय प्राणायाम हैं।

१९६. इन्द्रियाणां स्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः।

अर्थ–इन्द्रियों को अपने विषयों से हटा लेना प्रत्याहार है।

१९७. अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा।

अर्थ–अद्वितीय वस्तु ब्रह्म या आत्मा में अन्तःकरण को लगा देना धारणा है।

१९८. तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवत्तिप्रवाहो ध्यानम्।

अर्थ–उस अद्वितीय वस्तु ब्रह्म या आत्मा में रुक–रुक कर अन्तःकरण की वत्ति का प्रवाह ध्यान है।

१९९. समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव।

अर्थ–समाधि तो ऊपर कही हुई सविकल्पक ही है।

२००. अस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति।

अर्थ–इसी अङ्गी निर्विकल्पक समाधि के लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वाद ये चार विघ्न हुआ करते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार ने निर्विकल्पक समाधि में सम्भव लयादि विघ्नचतुष्टय का वर्णन किया है। प्रथम विघ्न लय बतलाया है। लय के दो भेद हैं–एक लय तो वह है जिसके अनुसार उस अष्टाङ्गसहित निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास के पाटव से साधक की वत्ति का प्रत्यगभिन्न परमानन्दस्वरूप में उसी प्रकार लय हो जाता है, जिस प्रकार कि अत्यन्त तप्त लौहतल पर डाली गई जल की बूँद भी समाप्त हो जाती है या जिस प्रकार तैल से रहित दीपक में दीपक की बत्ती समाप्त हो जाती है। यह लय तो विघ्न न होकर मुमुक्षु के लिए सर्वथा साध्य ही है। द्वितीय लय जिसका प्रकृत स्थल में उल्लेख है, विघ्नस्वरूप है। इस द्वितीय लय के अनुरूप मूर्च्छावस्था के समान व्यक्ति की बाह्य शब्दादि विषयों के ग्रहण में तो आस्था नहीं होती, किन्तु प्रत्यगात्मस्वरूप के अवभासित न होने के कारण वत्ति स्तब्धीभूत होकर निद्रा को प्राप्त होती है। द्वितीय विघ्न विक्षेप नामक है। इसके अनुसार साधक में अखण्ड वस्तु के साक्षात्कार के निमित्त अन्तर्मुखी प्रवत्त चित्तवत्ति के चित् का आश्रय न लेकर पुनः बाह्य विषयों के ग्रहण के लिए प्रवत्ति देखी जाती है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि बहेलिए आदि से डरा हुआ पक्षी तुरन्त बाहर आकर भाग जाना चाहता है। रागादि की वासना के कारण स्तब्धीभूत होने से अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का आश्रय ग्रहण न करने को कषाय (ततीय विघ्न) कहा गया है। ये रागादि तीन प्रकार के हैं–बाह्य, आभ्यन्तर तथा मात्र वासना रूप। पुत्रादि से सम्बन्धित बाह्य राग है। आन्तरिक राग मन का राज्य है। मन के राज्य मे मन के अभिमानी होने का तात्पर्य है। संस्कारमय राग वासनारूप राग है। इस प्रकार अनेक जन्मों में अभ्यस्त उक्त रागों के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से कलुषता को प्राप्त हुआ चित्त श्रवणादि से अन्तर्मुख हुआ भी चैतन्य के साक्षात्कार के सामर्थ्य के न होने से मध्य में ही स्तब्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध में सुबोधिनीकार ने एक दष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार की राजा के दर्शन के लिए अपने घर से निकल कर कोई व्यक्ति जब मन्दिर में पहुँचता है तो द्वारपाल के द्वारा रोक दिया जाता है, उसी प्रकार बाह्य विषयों को छोड़कर अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) के साक्षात्कार के लिए प्रवत्त साधक फिर जाग्रत हुए रागादि संस्कारों के द्वारा स्तब्धता को प्राप्त होता है–और अखण्ड वस्तु को उपलब्धि के मार्ग में रोक दिया जाता है। चतुर्थ विघ्न रसास्वाद है। अखण्ड वस्तु में चित्तवत्ति समाधियों में

से दूसरी शब्दों रहित त्रिपटीविशिष्ट है, उसमें जो आनन्द है वह बाह्य शब्दादि विषयों के प्रपच के भार के त्याग से जन्य है, न कि चैतन्यस्वरूप के साक्षात्कार से जन्य है। जिस प्रकार प्रेतादि से आवत धन–सम्पत्ति के लिए जाने वाला कोई व्यक्ति उस धन सम्पत्ति के प्राप्त न होने पर भी भूतादि अनिष्ट की निवत्ति मात्र से ही महान् आनन्द को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अखण्ड वस्तु के आलम्बन के बिना नित्य आनन्द के रसास्वाद के अभाव में भी अनिष्ट रूप बाह्य प्रपच की निवत्ति से जन्य सविकल्पक रूप आनन्द का ब्रह्मानन्द के भ्रम से आस्वादन करता है। रसास्वाद विघ्न की एक वह स्थिति भी हो सकती है जब कि निर्विकल्पक समाधि के आरम्भकाल में अनुभूयमान सविकल्पक समाधि के आनन्द के त्याग को सहन न करने के कारण फिर उसी का आस्वादन करता है, यही रसास्वाद है।

२०१. लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवत्तेनिद्रा।

अर्थ–अखण्ड वस्तु ब्रह्म या आत्मा का आश्रय न ले पाने के कारण चित्तवत्ति की निद्रा लय है।

२०२. अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः।

अर्थ–अखण्ड वस्तु ब्रह्म या आत्मा का आश्रय न ले पाने के कारण चित्तवत्ति का अन्य विषय का आश्रय ले लेना 'विक्षेप' है।

२०३. लयविक्षेपाभावेपि चित्तवत्तेर्रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः।

अर्थ–लय तथा विक्षेप का अभाव होने पर भी राग आदि वासना के कारण चित्तवत्ति के स्तब्ध निश्चल हो जाने के कारण अखण्ड वस्तु ब्रह्म या आत्मा का आश्रय न लेना 'कषाय' है।

२०४. अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवत्तेः सविकल्पनन्दास्वादनं रसास्वादः समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।

अर्थ–अखण्डवस्तु ब्रह्म या आत्मा का आश्रय न लेने पर भी चित्तवत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करने लगना 'रसास्वाद' है। अथवा निर्विकल्पक समाधि के आरम्भ के समय सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करना रसास्वाद है।

२०५. अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते।

अर्थ–इन चारों विघ्नों से रहित चित्त वायुरहित दीपक के समान निश्चल होता हुआ जब अखण्ड चैतन्य मात्र में स्थित हो जाता है तब इस स्थिति को निर्विकल्पक समाधि कहा जाता है।

विशेष :- इस अंश में लयादि विघ्नचतुष्टय की निवत्ति के फलस्वरूप स्थिति का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि जब उक्त चारों विघ्नों की निवत्ति हो जाती है तो चित्त उसी प्रकार अचल स्थिति को प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि वायु से रहित प्रदेश में दीपक की लौ स्थिरता को प्राप्त होती है। इस स्थिति में चित्त अर्थात् चित्तवत्ति समाप्त होती है और केवल ब्रह्म मात्र की स्थिति रह जाती है। यही स्थिति निर्विकल्पक समाधि की कहलाती है।

२०६. तदुक्तम्-

'लये सम्बोधयेच्चितं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।।
नास्वादयेद्रसं तत्र निसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।' इति,
'यथा दीपो निर्वातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मता।' इति।

अर्थ–कहा भी गया है–

'लय होने पर अर्थात् निद्रा आने पर चित्त को जगाना चाहिए, विक्षेपयुक्त होने पर अर्थात् बाह्य विषयों को ग्रहण करने पर शान्त करना चाहिये, कषायुक्त होने पर चित्त को समझ लेना चाहिए तथा शम अर्थात् शान्ति को प्राप्त होने पर उसे विचलित नहीं करना चाहिये। उस समय इस (सविकल्पक समाधि के आनन्द) का आस्वादन नहीं करना चाहिये, बुद्धिपूर्वक सावधानी से सविकल्पकजन्य आनन्द के प्रति आसक्ति–रहित हो जाना चाहिये।' तथा, 'जिस प्रकार वायु–रहित स्थान में रखा हुआ दीपक विचलित नहीं होता है, यही योगी के निर्विकल्पक–समाधि–स्थित चित्त की उपमा कही गई है।'

विशेष :- ग्रन्थकार ने उपर्युक्त विघ्नों एवे उनकी निवत्ति के उपायों के सम्बन्ध में गौडपादकारिका तथा श्रीमद्भगवद्गीता के –लये सम्बोधयेत्'–इत्यादि अंश को उद्धत किया है। आचार्य गौडपाद के उपर्युक्त कथन के अनुरूप जब चित्त में लय (जाड्योत्पन्न निद्रा) रूप विघ्न उत्पन्न हो तो साधक को चित्त के जाड्य–रूप विघ्न का परित्याग कर देना चाहिए और चित्त को परमात्मा की ओर जाग्रत करना चाहिए तथा विक्षेप होने पर विषयों के प्रति वैराग्य वत्ति के द्वारा चित्त को शान्त करना चाहिये। विषयों के प्रति वैराग्य होने से चित्त को शान्त करना चाहिए। विषयों के प्रति वैराग्य होने वे चित्त में स्वभावतः शान्ति आयेगी। जब कषाय–रूप विघ्न उपस्थित होवे तो साधक की यह दष्टि रखनी चाहिए कि रागादि की वासना से बाह्य विषयों की प्राप्ति होती है। अखण्ड वस्तुस्वरूप परब्रह्म की नहीं, अत समीचीन नहीं है, ऐसा समझकर रागादि वासना का त्याग करना चाहिए। 'सकषायं विजानीयात्' का सुबोधिनीकार ने एक अन्य अर्थ करते हुए कहा है कि जब चित्त परमात्मस्वरूप वस्तु को प्राप्त न हो तो उसे सकषाय जानना चाहिए। वह चित्त जब तक रागादि वासना के क्षय से युक्त न हो जाये तब तक उसे चलायमान न करे। वासनाक्षय के पश्चात् तो चित्त स्वतः प्रत्यक् प्रवणता को प्राप्त करता है। सविकल्पक समाधि में लौकिक विषयों के प्रपचरूप भार के त्याग के फलस्वरूप प्राप्त आनन्द का आस्वाद नहीं करना चाहिए, अपितु समस्त सुख–दुःखादि की आसक्ति से रहित होकर प्रज्ञा से युक्त अर्थात् स्थितप्रज्ञ होना चाहिए।

उपर्युक्त विघ्नचतुष्टय से रहित होकर चित् चित् तत्त्व रूप से स्थित रहता है, अतः इस निर्विकल्पक समाधि की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए वातरहित प्रदेश के दीपक की लौ को उपमा उपयुक्त ही है, क्योंकि जिस प्रकार निर्वात प्रदेश में दीपक की लौ स्थिरता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार निर्विकल्पक समाधि में स्थित चित्त भी चाचल्य को त्याग कर चिन्मात्रस्वरूप से स्थित रहता है। अब यहाँ समाधि के फलस्वरूप ब्रह्मनिष्ठ स्थिति को प्राप्त होने वाले जीवन्मुक्त के स्वरूप के सम्बन्ध के विचार किया जायेगा।

२०७. **अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते।**

अर्थ–अब जीवन्मुक्त का स्वरूप बताया जाता है।

विशेष :- इस अंश कें ग्रन्थकार ने ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि जब जीव को अपने स्वरूप अर्थात् अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तो अखण्ड ब्रह्म से सम्बन्धित अज्ञान की निवत्ति हो जाती है और अज्ञान की निवत्ति के फलस्वरूप (स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर मूलाज्ञान एवं उसके कार्यरूप समस्त स्थूल–सूक्ष्ममय द्वैतप्रपच का उच्छेद हो जाता है) ब्रह्म साक्षात्कार होने पर उन सचित कर्मों का नाश कहा गया है जो ज्ञानोत्पत्ति होने से पूर्व उत्पन्न हो गये थे, किन्तु जिनका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ है। ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर जिस संशय का नाश ग्रन्थकार द्वारा बतलाया गया है वह यह संशय है कि देहादि से अतिरिक्त ब्रह्मस्वरूप आत्मा है अथवा नहीं ? अथवा ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्ष होता है या नहीं ? इस प्रकार की विचिकित्सा ही संशय है। जिस विपर्यय के उच्छेद की बात कही गई है वह देहादि में आत्माभिमान रूप है। ग्रन्थकार ने 'विषर्ययादि' में आदि पद के द्वारा बाह्य मायिक प्रपच में सत्यत्वबुद्धि का निर्देश किया है। इन समस्त का बाध होने पर ब्रह्म–साक्षात्कार की बात कही है। यहाँ ग्रन्थकार द्वारा ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मसाक्षात्कार का भेद विचारणीय है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान साधनरूप है और ब्रह्मसाक्षात्कार साध्यस्वष्प है। यद्वपि वेदान्त में ब्रह्मसाक्षात्कार भी ज्ञान स्वरूप ही है परन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार होने से पूर्व ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान आवश्यक है।

एक बात और विचारणीय है और वह यह कि "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" के द्वारा हृदय की जिस ग्रन्थि का उल्लेख किया गया है वह चित् एवं अचित् अहंकार की ग्रन्थि है। जिस प्रकार सामान्य गांठ की दो रस्सियों अथवा वस्त्रों का संयोग होता है, उसी प्रकार सामान्य गांठा की दो रस्सियों अथवा वस्त्रों का संयोग होता है, उसी प्रकासर अहंकार में भी चित् एवं अचित् का योग ही 'हृदयग्रन्थि' कही गई है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि "भिद्यते हृदयग्रन्थिः"–इत्यादि श्रुति में क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" कह कर समस्त कर्मों का क्षय बतलाया गया है किन्तु इससे प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं समझना चाहिए, क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का भाग तो जीवन्मुक्त को भी भोगना ही पड़ता है।

२०८. **जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेज्ञानतत्कार्य-सचितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।**

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दष्टे परावरे' इत्यादिश्रुतेः।

अर्थ–अपने स्वरूप अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान से उस ब्रह्म से सम्बद्ध अज्ञान के नाश द्वारा अपने स्वरूप अखण्ड ब्रह्म के

साक्षात्कार कर लेने पर, अज्ञान तथा उसके कार्य संचित कर्म, संशय तथा विपर्यय आदि के बाधित हो जाने के कारण, सभी बन्धनों से रहित हुआ ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीवन्मुक्त होता है।

उस ब्रह्म को देख लेने पर इस जीवन्मुक्त पुरुष की हृदयगति खुल जाती है। सभी संशय नष्ट हो जाते हैं तथा संचित कर्म क्षीण हो जाते हैं।

२०६. अयं तु व्युत्थानसमय मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेणाशनायापिपासा-शोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च-

'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च श्यन्नपि चाद्वयत्वतः।

तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।।' इति।

अर्थ—यह जीवन्मुक्त व्युत्थान—काल में अर्थात् समाधि से रहित काल में मांस, रक्त, मूत्र, मल आदि के पात्र शरीर के द्वारा, अन्धेपन, मन्दता तथा अपटुत्व के पात्र इन्द्रिय—समूह द्वारा, भूख, प्यास, शोक, मोह आदि के पात्र अन्तःकरण के द्वारा, पूर्व—पूर्व वासनाओं द्वारा किये जाते हुए कर्मों को तथा भोगे जाते हुए ज्ञान के अप्रतिकूल प्रारब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी उनके बाधित हो जाने के कारण उन्हें सत्य रूप में नहीं देखता (अर्थात् उन्हें सत्य नहीं समझता। जैसे 'यह इन्द्रजाल (=जादू) है' इस बात को जानने वाला इन्द्रजाल को देखता हुआ भी 'यह सत्य है' इस रूप में (उसे) नहीं देखता। 'नेत्रयुक्त होता हुआ भी वह नेत्ररहित सा होता है, कानों से युक्त होता हुआ भी कानों से रहित सा होता है" इत्यादि श्रुति से कहा भी गया है।

जो जाग्रत अवस्था में द्वैतभाव को उसी प्रकार नहीं देखता है जैसे सुषुप्ति में। द्वैत को यदि देखता भी है तो अद्वैत के रूप में देखताहै। इसी प्रकार कर्म करता हुआ भी जो कर्मरहित है वही आत्मवेत्ता है, अन्य कोई नहीं, यह निश्चित है।

विशेष :- यहाँ जीवन्मुक्त के स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है। अखण्ड ब्रह्मनिष्ठता ही मुक्ति है। मुक्ति के स्वरूप की क्रिया को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है कि अखण्ड ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होने पर, अखण्ड ब्रह्मविषयक अज्ञान का बाध होता है और तत्फलस्वरूप अखण्डब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

इस स्थल पर ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्त के व्यवहार के सम्बन्ध में विचार किया है। जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में ये शंकायें स्वाभाविक हैं कि क्या जीवन्मुक्त के द्वारा कर्म सम्भव है अथवा नहीं ? तथा जीवन्मुक्त प्राणी क्या कर्मफलों का भोगकर्ता है? इन्हीं सम्भावित शंकाओं का उत्तर ग्रन्थकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकार का समाधान है कि जीवन्मुक्त प्राणी भी शरीर, इन्द्रियग्राम एवं अन्तःकरण के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार से पूर्व वर्तमान वासनाओं के द्वारा कर्मों का सम्पादन करता है तथा प्रारब्ध कर्मों के फलों को भोगता हुआ भी ज्ञान की अविरुद्ध दष्टि से ही भोगता है, विरोधीदष्टि से नहीं। इसका यह आशय है कि परमार्थत त्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त प्राणी के द्वारा भी प्रारब्ध कर्म के फल का भोग सम्भव है, किन्तु वह उस फल से लिप्त नहीं होता। इसलिए सदानन्द ने 'पश्यन्नपि बाधित्वात् परमार्थतो न पश्यति' के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि जीवन्मुक्त प्रारब्ध के फलभोगों को देखते हुए भी ज्ञान दष्टि से उनका बाध होने के कारण उन्हें परमार्थदष्टि से नहीं देखता है। इसी सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने इन्द्रजाल (जादू) का दष्टान्त दिया है। जिस प्रकार कि जो व्यक्ति जादू को जादू समझता है वह उसे वास्तविक नहीं समझता, उसी प्रकार जो प्राणी जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी अद्वैतब्रह्म की निष्ठा से सम्पन्न होता है यह कर्मभोग से लिप्त नहीं होता। यह तो निश्चित है कि उसे कर्म का भोग तो भोगना पड़ता है।

जीवन्मुक्त के व्यवहार के सम्बन्ध में 'सचक्षुरचक्षुरिव' श्रुति को उद्धत करके ग्रन्थकार ने यह सिद्ध किया है कि यद्यपि जीवन्मुक्त नेत्रादि इन्द्रियों से तत्तत् दर्शनादि कर्मों को अवश्य करता है, किन्तु दर्शनादि में उसकी भोगदष्टि नहीं होती और न किसी सुन्दर रमणी को देखकर उल्लसित होता है और न किसी कुरूपा को देखकर भौहें सिकोड़ता है। न लोकदष्टि से शुभ समाचार को सुनकर प्रसन्न होता है और न अशुभ समाचार को सुनकर अप्रसन्न। वह तो शुभाशुभपरित्यागी एवं समदर्शी होता है, इसी सिद्धान्त को ग्रन्थकार ने शंकराचार्य की उपदेशसाहस्री के श्लोक—सुषुप्तवज्जाग्रति० के द्वारा स्पष्ट किया है। उपदेशसाहस्री के उक्त श्लोक में शंकराचार्य ने जीवन्मुक्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस सुषुप्ति अवस्था में प्राणी की भेद—दष्टि समाप्त होती है उसी प्रकार तत्त्व ज्ञानी जीवन्मुक्त जाग्रत अवस्था में रहते हुए तथा द्वैत को देखते हुए भी नहीं देखता। इसका आशय यह है कि यद्यपि नेत्रों के द्वारा जीवन्मुक्त प्राणी जगत् की अनेकानेक वस्तुओं को देखता अवश्य

है, किन्तु उन्हें वह द्वैतदष्टि से न देखकर अद्वैतब्रह्मदष्टि से ही देखता है। अर्थात् समस्त जगत् को ब्रह्मस्वरूप ही समझता है। जीवन्मुक्त के कर्म करने पर भी निष्क्रिय रहने का यह अभिप्राय है कि वह 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' नियम के अनुसार कर्म तो अवश्य करता है किन्तु भोग दष्टि से नहीं। यही गीता का निष्काम कर्मयोग है, जहाँ फलभोग की कामना से नहीं किया जाता–"कर्मण्येवाधिकारेस्ते मा फलेषु कदाचन।" अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार यही आत्मतत्त्ववेत्ता या तत्त्वज्ञानी की स्थिति है।

२१०. अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा।

अर्थ–इस जीवन्मुक्त में ज्ञान से पूर्व विद्यमान ही आहार–विहार आदि की अनुवत्ति के समान शुभवासनाओं की ही अनुवत्ति होती है, अथवा शु भ और अशुभ दोनों के प्रति उदासीनता हो जाती है।

विशेष :- जीवन्मुक्त के द्वारा भी पूर्व वासनारूप से ही सही, कर्म–सम्पादन आवश्यक है, यह तो ठीक है, किन्तु उसके द्वारा शुभ कर्मों का सम्पादन होता है अथवा अशुभ कर्मों का यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। यदि कहा जाये कि अशुभ कर्मों का सम्पादन होता है तो यह नितान्त अनुचित है, क्योंकि ऐसा तत्त्वज्ञानी ही क्या जिसके द्वारा अशुभ कर्म का सम्पादन हो, अतः तत्त्वज्ञानी के द्वारा शुभ कर्मों के सम्पादन की ही बात संगत हो सकती है। किन्तु ऐसा मानने पर भी यह विप्रतिपत्ति सम्भव है कि जब जीवन्मुक्त 'शुभाशुभपरित्यागी' अर्थात् शुभ एवं अशुभ का परित्याग करने वाला होता है तो उससे शुभ कर्मों का सम्पादन ही क्यों होता है, इसी जिज्ञासा का समाधान ग्रन्थकार द्वारा प्रकृत स्थल पर किया गया है। ग्रन्थकार का आशय है कि तत्त्वज्ञानी यद्यपि शुभाशुभपरित्यागी होता है, किन्तु फिर भी तत्त्वज्ञान से पूर्व उसकी वासनायें शुभ कर्मों की होती है, अतः उसके द्वारा सहज रूप से सहज कृत्यों का ही सम्पादन होता है, ऐसा वह किसी कामना से नहीं करता।

जिस प्रकार कि कुशल नत्यकार के पैर स्वभावतः ही ठीक पड़ते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी के कर्म भी सहजरूप से ही शुभ होते हैं। शुभ वासनाओं की अनुव त्ति जीवन्मुक्ति की स्थिति में उसी प्रकार देखी जाती है, जिस प्रकार की आहार विहारादि की। यही शुभाशुभ की उदासीनता की स्थिति है।

२११. तदुक्तम्-

'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।

शुनां तत्त्वदशां चैव को भेदोशुचिभक्षणे।।' इति

'ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः' इति च।।

अर्थ–कहा भी गया है–

'अद्वैत–तत्त्व को जानने वाले पुरुष का भी यदि मनमाना आचरण हो तो अशुचि–भक्षण मल आदि को खाने के प्रति कुत्तों तथा तत्त्व–ज्ञानियों में क्या भेद होगा' ? और

'तथा ब्रह्मज्ञानी होने के अभिमान को छोड़कर वह पुरुष आत्मज्ञानी होता है, कोई अन्य नहीं होता।

२१२. तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते। तदुक्तम्-

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टत्वादयो गुणाः।

अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।। इति।।

अर्थ–उस जीवन्मुक्त अवस्था में अमानित्व अभिमानरहितता आदि ज्ञान के साधन तथा अद्वेष्टत्व (द्वेषरहितता) आदि सद्गुण आभूषण के समान अनुवर्तित होते रहते हैं। कहा भी गया है–

–जिसको आत्म–ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसको अद्वेष्टत्व आदि गुण बिना प्रयत्न के बने रहते हैं, साधन के रूप में नहीं होते।'

विशेष :- ग्रन्थकार का कथन है कि जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी में अमानित्व, अद्वेषत्व आदि सद्गुणरूप ज्ञान के साधन अलंकारों के समान स्वभावतः देखे जाते हैं अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा तथा आर्जव ग्राह्य है–'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्'। अलंकारों के समान होने का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वाभाविक अलंकार (आभूषण) किसी नागरिक सुन्दरी के सौन्दर्य की सहज रूप से वद्धि करते हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार अमानित्व आदि गुणों की स्थिति भी जीवन्मुक्त में सहज रूप में ही देखी जाती है। यहाँ अलंकारों की उपमा से सहजता का ही आशय प्रधान है। या इस प्रकार कहना उचित होगा कि जिस प्रकार उत्तम काव्य में अलंकार स्वभावतः ही आते हैं, उसी प्रकार सद्गुण भी ज्ञानी में स्वाभाविक ही होते हैं

जिस प्रकार अलंकार रसात्मा काव्य–सौन्दर्य के अनिवार्य साधन हैं उसी प्रकार ज्ञानी के लिए भी उक्त गुणों की साधनरूप अनिवार्यता नहीं है। इस प्रकार यह दष्टांत स्पष्टतया काव्य–शास्त्र का ही प्रतीत होता है। ज्ञानी में अद्वेषत्व का सहज रूप से होना उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार कि काव्य में माधुर्यादि गुण रस के धर्म–रूप से अनिवार्यता स्थित रहते हैं। नैष्कर्म्यसिद्धि की 'उत्पन्नात्मावबोधस्य' इत्यादि कारिका के द्वारा गुणों की साधनरूपता का खण्डन इस दष्टि से किया गया है कि तत्त्वज्ञानरूप साध्य की प्राप्ति हो जाने पर साधन की अपेक्षा ही नहीं रहती। हाँ, ज्ञान होने से पूर्व इनकी साधनता अवश्य स्वीकार्य है।

२१३. किं बहुनायं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरण-भासादीनामवभासकः सस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति', 'अत्रैव समवलीयन्ते', 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादि श्रुतेः।

अर्थ–अधिक कहने से क्या लाभ, यह जीवन्मुक्त केवल शरीर–यात्रा के लिए इच्छा, अनिच्छा अथवा दूसरों की इच्छा से प्राप्त कराये गये सुख–दुःख स्वरूप वाले आरब्ध कर्मों के फलों का अनुभव करता हुआ, अन्तःकरण के आभास अर्थात् अन्तःकरण की विषयाकार वत्तियों आदि का प्रकाशक होता हुआ, उस प्रारब्ध कर्मों के भोग की समाप्ति हो जाने पर प्राण के प्रत्यगानन्द रूप परब्रह्म में लीन हो जाने पर अज्ञान और उसके कार्य तथा संस्कारों के भी विनाश हो जाने से परमकैवल्यरूप, आनन्द की एकरसता वाले, सम्पूर्ण भेद की प्रतीतियों से रहित अखण्ड ब्रह्म में स्थित हो जाता है। 'उस ब्रह्मज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वे प्राण यहीं ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं।' 'अविद्याकृत कर्मादि के बन्धन से मुक्त हुआ जीवन्मुक्त शरीरपात होने पर विमुक्त अर्थात् विदेह मुक्त हो जाता है' इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है।

विशेष :- यहाँ ग्रन्थकार ने विदेहमुक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि जीवन्मुक्त प्राणी केवल देहयात्रा के लिए–देह की स्थिति के लिए, न कि इन्द्रियों की प्रीति के कारण, इच्छा, अनिच्छा एवं परेच्छा द्वारा प्राप्त कराए गए त्रिविध प्रारब्ध फलों का असंग रूप से अनुभव करता है। इनमें स्वेच्छा से प्राप्त प्रारब्ध फल के अन्तर्गत अकस्मात् काँटे को लगना आदि है। परेच्छा से प्राप्त फल भिक्षाटन आदि हैं। प्रापित फल के अन्तर्गत शिष्यों द्वारा बिना कहे प्रदत्त अन्नादि का प्राप्त करना है। इन विविध प्रारब्ध फलों के भोगानुभव की स्थिति के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का विचार है कि इस स्थिति में तत्त्वज्ञानी विषयाकारवत्तिरूप अन्तःकरण के आभासादि का साक्षिरूप से प्रकाशक होता है। इस प्रकार जब प्रारब्ध कर्मों के फलभोगरूप आश्रय के न रहने के कारण जीवन्मुक्त प्राणी के प्राणों की भी समाप्ति हो जाती है तो वे अर्न्तवर्ती परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इस स्थिति में पूर्वसिद्ध ज्ञान के द्वारा प्रारब्ध कर्मों से आक्षिप्त अज्ञान एवं उसके कार्यरूप संस्कारों का भी विनाश होने के कारण परम अद्वैत स्वरूप, मात्र ब्रह्मानन्दस्वरूप, समस्त द्वैतप्रपच के रहित अखण्ड ब्रह्म मात्र के स्वरूप से जीवन्मुक्त प्राणी की स्थिति देखी जाती है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी के प्राणों का कही गमन न होकर वे परब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाते हैं, जिस प्रकार तप्त लौह में डाली हुई जल की बूँद, विलीन हो जाती है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' एवं 'अत्रैव समवलीयन्ते' का यही आशय है। 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (मुक्त होकर भी फिर मुक्त होता है) इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि जीव तो वस्तुतः मुक्त ही है किन्तु अविद्या के कारण द्वैतरूप संसाराभास का ब्रह्मज्ञान होने पर लय अपेक्षित है। इसीलिए विमुक्त की भी विमुक्ति कही गई है।

२१४. इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचितो वेदान्तसारः समाप्तः।

अर्थ–इस प्रकार श्रीमान् परमहंस, परिव्राजकाचार्य, सदानन्द द्वारा रचित वेदान्तसार समाप्त हुआ।